

# संस्कृत अभिलेखों का साहित्यिक मूल्याङ्कन

( प्रथम शताब्दी ईसवी से सप्तम शताब्दी पर्यन्त )

## A Literary Evaluation of Sanskrit Inscriptions

( From 1st to 7th Century A. D. )

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

**शोध-प्रबन्ध**



लक्ष्मीविलस उच्चरत्न एम० ए०



संस्कृत विभाग  
प्रयाग विश्वविद्यालय

१६६७

## आमुख

यह 'विपुला पृथ्वी', 'निरवधि काल' तक खोदी जाती रहेगी । प्रत्येक खुदान नूतन ज्ञान सामग्री उपस्थित करेगी; किन्तु मा 'वसुन्धरा' का कोई अन्त नहीं है कि वह कब तक अपने गर्भीन वैभव को प्रकट कर अपने को 'वसुधा' कहलाना बन्द कर देगी । खुदान तो मानवप्रयत्न है, वह तत् तत् प्रयोजनवशात् भी हो सकता है या अनजाने में भी । मोहनजोदड़ो या हड़प्पा की खुदाई में दोनों प्रयत्नों का सानुपातिक मिश्रण है। मूलप्रयोजन रेल की पटरी बिछाने के लिए भूमिखनन था, किन्तु सत्सा यह प्रयत्न एक महान् अनदेखी असुनी सभ्यता के आविष्कार का प्रयत्न बन गया । अनजाने प्रयत्न के लिए हम भास्करवर्मन् के दूबि शासन-पत्र<sup>१</sup> के आविष्कार को ले सकते हैं । इस शासन-पत्र की प्राप्ति, एक शिव-मन्दिर के पास भूमि खोदते हुए अनजाने में ही हो गई । ये तो मानव के जाने अनजाने प्रयत्न हैं । अब मानवज्ञान बढ़ाने में प्रकृति की भी सहायता देखिए । १६४६ के वर्षाकाल में शिवना नदी में जड़ आई और उसने मन्दसौर नगर (५०५०) का कुछ भाग बहा दिया । खेतों की पर्याप्त मिट्टी बह जाने के परिणाम-स्वरूप श्री मिर्जा नाइम बेग के खेत में एक पत्थर दिखलाई दिया, जिस पर एक लेख उत्कीर्ण है ।<sup>२</sup> विद्वानों ने इसका अध्ययन करके पता लगाया कि यह महाराज गौरी (पाँचवीं सदी उत्तरार्द्ध) का लेख है, जिसका नाम, भ्रमरसोमविरचित छोटी साद्री लेख<sup>३</sup> से भी सम्बन्धित है । प्रकृति के इस छोटे से उद्घाटन से साहित्य के अन्वेषकों को एक अतिरिक्त लेख प्राप्त हुआ; पुरालिपिवेत्ताओं को एक अतिरिक्त लेख प्राप्त हुआ, होने के <sup>अने</sup> अन्तर, उक्त दोनों लेखों में लिपि-साम्य देखा और इतिहास के जिज्ञासुओं ने पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध में गौरी के राज्य-विस्तार का अनुमान लगाया । इस प्रकार जहाँ मानव को <sup>अने</sup> प्रयत्नों से उसे ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ यदा-कदा उसकी अन्यान्य क्रियाओं से भी उसे ज्ञान का अप्र-

१: २० ई०, भाग ३०, पृ० २८७-३०४

२: २०ई०, भाग ३०, पृ० १२७-१३२

३. वही, भाग ३०, पाठ्य पृ० १२४-१२६



त्याशित भण्डार प्राप्त हो जाता है। उसी अनुपात से प्रकृति के बाढ़-भूकम्प भी कभी-कभी प्रकारान्तर से मानव के लिए लाभदायक सिद्ध हो जाते हैं।

जब तक मानव मन में जिज्ञासा है, जब तक उसकी भुजाओं में शक्ति है, या जब तक प्रकृति अपने कार्य से उपरत नहीं होती, जब तक नये-नये ज्ञान-दिज्ञातिजों का तारतम्य बना रहेगा। आज के ज्ञान की सीमाओं को 'कल' बदल देगा। फिर ज्ञान में दम्भ कैसा? और शोध कार्य तो प्रयत्नमात्र है। रास्ता अत्यन्त दुःख और अनन्त है। आज की गाड़ी को हम जहाँ बड़ी करके विश्राम करने लेंगे, कल का मानव उस गाड़ी को वहाँ से आगे चलाना प्रारम्भ कर देगा। पता नहीं प्रकृति अभी बाढ़-भूकम्पों के द्वारा भूमिगर्भ में सोयी कितनी (उत्कीर्ण लेखों वाली) बट्टानों के आवरण हटाकर उनको मुक्त आकाश देखने का अवसर देती है। पता नहीं, अभी कितने सिञ्चे, नदियों के किनारे बहते या घट्टों में बन्द किसी घाटी में मिलते हैं। पता नहीं मानव की भुजाओं में कितनी शक्ति है अथवा उसकी जिज्ञासा की सीमा क्या है? एक दिज्ञातिज को लॉचने पर दूसरा धुन्ध दिज्ञातिज पिलार्ड देने लगता है। प्रत्येक नया प्रयत्न, नये दिज्ञातिज को पास बुलायेगा एक ओर दिज्ञातिजों का अनन्त्य है और दूसरी ओर-कूत्सी मानव के सीमित साधन और उस पर भी दमफूली विवशता। किन्तु विवशता ने मानव की जिज्ञासा का कभी दम नहीं घोटा।

एक साहित्यिक जिज्ञासा ने मुझे भी अभिलेखों की ओर उन्मुख किया। सन् १९६३ में प्रयाग विश्वविद्यालय ने मेरे इस अभिलिखित विषय पर शोध कार्य की अनुमति देकर मुझे अनुगृहीत किया। प्राचीनता का भक्त मेरा हृदय कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पंक्तियों को दुहराने लगा—

हे अतीत तुमि हृदय आमार

कथा कओ ।

कथा कओ ॥

ऐतिहासिक स्थलों के भ्रमण अनेक संग्रहालयों के अवलोकन और इतिहास के ग्रंथों के अध्ययन से भारतीय इतिहास के प्रति मेरी रुचि पहले से ही अधिक थी। इधर साहित्य की हिलोरों से मेरा मानस किशोरा-वस्था से ही तरंगित था। इस समय तक मुझे अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी स्थान मिल चुका था। 'रैत की छाया' काव्य संग्रह प्रकाशित होकर

हिन्दी के पाठकों तक पहुँच गया था। इसलिए मैंने साहित्य के अन्वेषण को ही अपना लक्ष्य बनाया। अन्वेषण शब्द की सार्थकता मुझे अन्धकार में ही युक्तिवस्तु लगी; जिसमें देखा कम और टटोला अधिक जाता है। अन्धकार है प्राचीनभारत का, जिसके साहित्य में अश्वघोष कालिदासादि जाज्ज्वल्य नक्षत्र चमक तो रहे हैं, किन्तु अण्डित घाटियों का अन्धकार अक्षुण्ण बना हुआ है। इन दृष्टिनिष्फल करने वाले गह्वरों में रत्नों की कमी नहीं, किन्तु वे मिट्टी की परतों में युग-युगों से गहरे दबे पड़े हैं। मुझे इन्हीं गह्वरों में सच्चे पाँव जाकर बार-बार टटोलना था और छिपे रत्नों को धो-धो कर उनकी साहित्यिक चमक उन्हें वापिस देनी थी; जिससे इन घाटियों की शताब्दियों लम्बी नील-निराशा में अज्ञान-आशा की किरणें व्याप्त हो जायँ और वे स्वतः आलोकित हो उठें। ये रत्न वत्सभट्ट, भट्टशर्षगुप्त, दामोदर, जात, खिकीर्ति, सुमंगल आदि अभिलेखीय कवि एवं स्वयं उनके अभिलेख हैं। इतिहास का पुरुष इन रत्नों से अच्छी तरह परिचित था, किन्तु साहित्य का भावुक देवता कालिदासादि नक्षत्रों पर ही दृष्टि केन्द्रित किए रहा। वह इन रत्नों की चमक के विषय में अनजान सा बना रहा। इतिहास के आगे हाथ फैलाकर यही चमक मुझे बतानी थी। चमक बताने का कार्य ही साहित्यान्वेषण था। रत्नमाला, इतिहास की ही धरोहर सम्पत्ति बनी रही। दृश्य, इतिहास के थे, किन्तु मेरी दृष्टि साहित्यिक थी। विषय निर्णीत हुआ—‘संस्कृत अभिलेखों का साहित्यिक मूल्यांकन’ (प्रथम शताब्दी ई० से सातवीं शताब्दी ई० पर्यन्त)। यह समय गौरवमय साम्राज्यवादी आर्य-भारत का है। सातवीं शताब्दी पर्यन्त ही प्रस्तुत कालावधि को सीमित करने में एक संगठित इतिहास के साथ, एक-रूप अभिलेखीय साहित्य भी सामने आता है।

अभिलेखों पर सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय दृष्टिकेन्द्रित करने का श्रेय ठूलर महोदय को है। ठूलर ने रुद्रदामन् के गिरिनार लेख के ‘स्फुटलघुमधुर.....’ (पं० १४) वाली पंक्ति से प्रेरित होकर एक लेख लिखा, जिसे श्री वी०एस० घाटे महोदय ने ‘ANTIQUEITY OF INDIAN ARTIFICIAL POETRY’ शीर्षक देकर अंग्रेजी में इण्डियन रेपिडक्वेरी (भाग ४२) में प्रकाशित करवाया। ठूलर महोदय ने केवल चार ही लेख अपनी समालोचना के निमित्त निर्वाचित किए (१) वत्सभट्टरचित बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख (२) हरिषेण-रचित समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति (३) रुद्रदामन् का गिरिनार लेख तथा (४) सिरि पुलमायि का

नासिक लेख (प्रकृत) इन चार लेखों को साहित्यिक मान्यताओं तथा परम्पराओं का निर्वहण करते हुए दिखाया गया है। बहूलर महोदय ने काव्यादर्श आदि लक्षणाग्रन्थों की मान्यताओं के निक्षेप पर इन लेखों को रूखा। यह सब होते हुए भी उनकी आलोचना का ढंग पाश्चात्य ही रहा। पाश्चात्य आलोचना में कवि के कृतित्व के साथ उसके जीवन एवं परिस्थितियों को भी नहीं भुलाया जाता। बहूलर महोदय ने भी यही किया। वत्सभट्ट की कृति को जहाँ वे आलोचना के निक्षेप पर उतारते हैं, वहाँ यह कहना भी नहीं भूलते —

"he was private man of learning ..... making money by composing a piece of poetry occasionally, even when such a low class of people as the silk-weavers required his services"

— ई० रेफुटो, भाग ४२, पृ० १४७

✓ भारतीय समालोचक, न इस प्रकार की व्यक्तिगत जीवन संबंधी आलोचना लिखने के और न भारतीय श्रोता या पाठक सुनने के अभ्यस्त हैं। साहित्यकार की विषम परिस्थितियों को लेकर उसके साहित्य के प्रति अन्यथा धारणा बनाना उचित नहीं। भारतीय काव्यशास्त्र को यह व्यक्तिगत आलोचना सज्ज नहीं।

दूसरी बात यह है कि इस पाश्चात्य आलोचना प्रणाली में सद्बानुभूति के दर्शन कम होते हैं। बहूलर ने भी जहाँ किसी की होंटी भी चुट्टि देखी, वहाँ वह वज्रप्रहार करना न भूला। आने वाले कवि सदैव पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव ग्रहण करते रहे हैं, यह बात संसार के किसी भी साहित्य में देखी जा सकती है। वत्सभट्ट ने भी कालिदासादि पूर्ववर्ती कवियों की कृपा ग्रहण की। इस तथ्य के आधार पर अथवा वत्सभट्ट की ही "पूर्वा चैव प्रयत्नेन रविता वत्सभट्टिना" (का० ७० ई० भाग ३, सं० १८, श्लोक ४४) — इस पंक्ति को लेकर उसके कृतित्व पर अधोलिखित टिप्पणी देना सहानुभूतिपूर्ण नहीं —

"Thus Vatsabhatti was not at all a man to whom we can give the credit of originality; nor can we name him as a poetic genius capable of giving new ideas. He shows several weaknesses which characterise the poets of second and third class, who compile their verses labori-

कूलर महोदय को केवल चार अभिलेखों की समालोचना करने में भले ही शब्द-शब्द को टटोलने एवं तोलने का पर्याप्त अवसर मिल गया हो, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने इन अभिलेखीय कवियों की समालोचना भारतीय-सहानुभूति से नहीं की ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध दो चार अभिलेखों का नहीं, अपितु सात सौ वर्षों की वृद्ध कालावधि के सभी प्रमुख साहित्यिक लेखों का काव्य-शास्त्रीय अनुशीलन है । इसमें केवल काव्य-शास्त्र का निरूपण ही भारतीय नहीं, अपितु परीक्षा-प्रणाली भी भारतीय है ।

विषय स्वीकृत हो जाने के पश्चात् मेरे समक्ष सबसे बड़ी समस्या थी सामग्री संकय की । एपिग्राफिया इण्डिका, इंडियन ऐपिटक्वेरी, स्म्यल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल ( वह भी बंगाल, बम्बई एवं ग्रेट-ब्रिटेन-आयरलैण्ड की शाखाओं को लिए हुए ), आदि अनेक वृहद् भागों में विभक्त शताब्दी-प्राचीन ऐसे दुर्लभ जर्नल और ग्रन्थ हैं, जिनका क्रय या संग्रहण सामान्य पुस्तकालयों के वश की बात नहीं ।

ऐसी विकट परिस्थिति में जर्नलों के जो भी भागजहाँ कहीं प्राप्त हुए, इस आशंका से कि कहीं वे भाग फिर सहज सुलभ न हों, मैं उनसे सम्बन्धित अभिलेखों की प्रतिलिपि तैयार करने लगा । सामग्री-संकय का यह समय-साध्य क्रम उत्तर भारत के प्रसिद्ध पुस्तकालयों, शोध-संस्थानों, संग्रहालयों तथा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में एक अधि तक अनवरत चलता रहा । यह भी उचित नहीं था कि केवल साहित्यिक लेख ही संचित किए जाते, क्योंकि प्रथम चार अध्यायों के लिए, जिनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, पुरालेखन, वर्गीकरण तथा प्रारूप-गठन आते हैं, साहित्यिक-असाहित्यिक सभी प्रकार के अभिलेखों का अध्ययन अपेक्षित था । इन चार अध्यायों में अनेक ऐसे लेख भी हैं, साहित्यिक-अनुशीलन में जिनकी आवश्यकता एक बार भी नहीं पड़ी । वास्तव में पुरालिपि तथा प्राचीन लेख सम्बन्धी विवरण वाले द्वितीय अध्याय और "वर्गीकरण" वाले तृतीय अध्याय में तो काल-सीमा का ध्यान भी होड़ना पड़ा । अभिलेखों के वर्गीकरण के समय तो सातवीं सदी के उत्तरवर्ती अनेक लेखों का भी अनुशीलन करना आवश्यक था । इस तरह अकेले इसी तृतीय अध्याय के लिए समस्त भारतीय अभिलेखों पर एक विहंगम दृष्टि डालनी आवश्यक हो गई ।

भारतीय अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ तैयार हो जाने के

पश्चात् काम्बोज, चम्पा, मलाया और इण्डोनेशिया आदि बृहत्तर भारत के अभिलेखों के लिए मुझे 'आर्कैलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (दिल्ली) के पुस्तकालय की शरणा लेनी पड़ी। वहाँ मुझे वांछित सामग्री प्राप्त हुई और मैं उसकी प्रतिलिपि करने के लिए दिल्ली-निवास करने लगा।

संचय के पश्चात् संचित सामग्री के अनुशीलन में उसी पाठ्य को अपनाया गया, जो विद्वानों के <sup>द्वारा</sup> बहुमत से अथवा अन्तिमरूप से स्वीकृत हो चुका हो। जैसे स्कन्दगुप्त के भितरी लेख<sup>1</sup> में आयी—'समुदित-ब[ल]-कोशा[न्पुष्यमित्रांश्च जि]त्वा"(श्लोक ४) पंक्ति में 'पुष्यमित्र' के स्थान में कतिपय विद्वान् 'युद्धमित्र' पढ़ते हैं। इससे वे किसी युद्धप्रिय जाति का अर्थ ग्रहण करते हैं, किन्तु जब पुष्यमित्र नामक एक लड़ाकू जाति से अर्थ अधिक युक्तिसंगत लग रहा है, तो क्यों न इसी पद को स्थान दिया जाता। अधिकांश विद्वान् भी इसमें अन्तिम रूप से सहमत हैं। अन्यान्य अभिलेखों के भी ऐसे विवादास्पद स्थल, इसी मापदण्ड से स्थिर करके, स्वीकृत किए गए हैं।

तीव्रदेव आदि जिन नृपतियों की तिथि विवादास्पद है, उनके सन्दर्भ में भी मान्य उत्तरवर्ती-गवेषणाओं का आश्रय लिया गया है।

समालोचना के लिए शुद्ध भारतीय शास्त्रीय पद्धति अपनाई गई। पाश्चात्य शैली की कमजोरियों के उदाहरण हमें ऊपर प्राप्त हो चुके हैं। दूसरी बात यह भी है, कि पाश्चात्य आलोचनात्मक पद्धति अपने आप में चाहे कितनी ही स्वस्थ और समृद्ध हो, वह भारतीय वातावरण से मेल नहीं खाती। इसलिए अभिलेखों के साहित्य के लिए स्वदेशी मान्यताएं ही उपयुक्त प्रतीत हुईं। भारत<sup>सम्बन्धित</sup> देशों के अभिलेख, क्योंकि भारतीय भाषा 'संस्कृत' में लिखे गए और भारतीय संस्कृत के ही पोषक हैं, इसलिए उनका मूल्यांकन भी भारतीय काव्यशास्त्र के ही निकष पर किया गया है। प्रथम सदी से लेकर सातवीं तक के अभिलेखों का ही साहित्यिक मूल्य निर्धारण होने पर भी, 'भरत' से लेकर 'पण्डितराज जगन्नाथ' तक प्रायः समस्त प्रमुख आचार्यों की यथावसर शरणा ली गई है। यदि व्यक्तित्व-चित्रण के प्रसंग में नाट्याचार्यों की मान्यताओं को युक्तियुक्त समझा गया, तो रसनिरूपण के लिए ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों की। फिर भी अनुपात की दृष्टि से काव्यप्रकाश ने जितना आकृष्ट किया, उतना अन्य लक्षण ग्रन्थों ने नहीं।



प्रस्तुत निबन्ध में तेरह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में अभिलेख शब्द की परिभाषा और परिभाषा की सीमा स्थिर करने के साथ, प्रथम सदी से लेकर सातवीं सदी तक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है। ऐतिहासिक आधार के बिना इनका साहित्यिक मूल्यांकन अपूर्ण रहता। प्रमुख अभिलेखों की सूची भी इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में पिरोई गई है। तत्त्वतः देखा जाय, तो इस अध्याय में इतिहास लिखना उद्देश्य नहीं था, अपितु भांगोलिक परिस्थितियों में इतिहास की ढोर में वंशक्रम से अभिलेखों की सूची प्रस्तुत करना ही एकमात्र लक्ष्य था। यदि समस्त अभिलेखों की एक विस्तृत सूची तैयार की जाती तो एतदर्थ कम से कम दो-तीन सौ पृष्ठों की आवश्यकता होती। कीलहॉर्न, ल्यूडर्स और भाण्डारकर की सूचियाँ अधुना अपूर्ण होने पर भी बृहद्ग्रन्थों का रूप धारण कर चुकी हैं। इसलिए अध्यायों को सानुपातिक भारवहन करने की क्षमता देने के लिए यहाँ प्रमुख-प्रमुख (विशेषतः साहित्यिक) अभिलेखों के निर्वाचन में ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। कहीं-कहीं इतिहास की ज़ीठाकड़ी को जोड़ने के लिए गाँठा और प्राकृत लेखों का भी आश्रय ले लिया गया है।

द्वितीय अध्याय में भाषा और पुरालिपि विषयक विवरण है। अभिलेखीय लेखन सामग्री, शासन पत्रों के अधिकारी, रचयिता और लेखक, सम्बन्ध आदि भी इस अध्याय के विवेच्य विषय हैं। अभिलेखों के अनुशीलन के लिए यह अध्याय एक वातावरण स्वरूप है।

तृतीय अध्याय में अभिलेखों का सूक्ष्म वर्गीकरण है। समस्त अभिलेखों का स्वरूप निर्धारित करके उन्हें चौदह वर्गों में रखा गया है। चतुर्थ अध्याय के अन्त में इन वर्गीकृत लेखों में साहित्य की तुलनात्मक उपलब्धि स्पष्ट की गयी है। चतुर्थ अध्याय <sup>मुख्यतः</sup> प्रारूप-गठन-विषयक है। एकरूपता के दृष्टिकोण से स्थूलरूप से तीन वर्गों में रखे अभिलेखों के अर्थ से लेकर इतिहास के मध्यान्तर मोड़ों पर बदलती हुई भाषा और उसके कारण आगामी विवेच्य विषय की मिलती हुई सूचना पर इस अध्याय में विशेष रुचि केन्द्रित की गई। यह प्रारूप-गठन वाला अध्याय अभिलेखों के शारीरिक-सन्धिस्थलों की एक पहचान है। निबन्ध में व्यवहृत घोषणा भाग, शापवेदिन् भाग, प्रशंसागर्भभाग—अभिलेखीय-शरीर रचना सम्बन्धी इन पारिभाषिक शब्दों के परिज्ञान के लिए यह अध्याय आवश्यक समझा गया। पंचम अध्याय में पद्य-गद्य और चम्पू की सामान्य उपलब्धि, स्तर और विकास दिखाया गया है। वस्तुतः यही इस निबन्ध का विषय प्रवेश है। इस

आधार से सन्तुष्ट होकर ही इनका काव्यात्मक अध्ययन सम्भव था ।

षष्ठ अध्याय रस-निरूपण का है । प्रौढ़ ध्वनिवादी आचार्य रस की ही काव्य की आत्मा मानते हैं, इसलिए पद्य-गद्य की उपलब्धि और स्तर देखकर सर्व प्रथम इसी निकष पर अभिलेखों को देखा गया । सप्तम अध्याय में रसों की उपकरी रीति और काव्य के गुणों का विवेचन है ।

अष्टम अध्याय अंकारों के लिए सुरक्षित किया गया । काव्य की आत्मा के पक्षों से उसके बाह्य सौन्दर्य पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक था । वास्तव में सातवीं शताब्दी तक अंकार सम्प्रदाय का ही अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव था । अभिलेखीय कवि यद्यपि अंकारों के विषय में अधिक आग्रशील नहीं देखे गए, किन्तु उनकी कृतियों में अप्रयास जड़े हुए अंकारों की स्वाभाविक जगमगाहट मन को मुग्ध करती है । नवम अध्याय में साहित्यिक अभिलेखों में आए शास्त्रीय दोषों का संक्षिप्त विवेचन है । इस प्रसंग में अभिलेखीय कवियों की परिस्थितियों को देखते हुए न्याय बुद्धि का ही आश्रय लिया गया है । साधारण दोषों की उपेक्षा करना ही पथ्यकर समझा गया । दशम अध्याय में, लौकिक साहित्य में प्रकृतिचित्रण की परम्परा के विश्लेषण के साथ अभिलेखों में समानान्तर प्रकृति चित्रण वाले स्थलों का अन्वेषण और तुलनात्मक विवेचन किया गया है । प्रकृति के उपादानों का चित्रण और स्तुति इस अध्याय के दो मुख्य अंग हैं । एकादश अध्याय में अभिलेखों के प्रमुख उच्च वंशज नायकों के व्यक्तित्व का शास्त्रीय परीक्षण है । दशरूपक, साहित्य-दर्पण आदि में जो अपेक्षित गुण, 'नेता' के लिए निर्धारित किए गए हैं, उनका सम्मिश्रण भरतनिर्धारित नरपतियों के आवश्यकीय गुणों से करके, अभिलेखों में वर्णित राजाओं का चरित्र-चित्रण किया गया है क्योंकि अभिलेखों के नेता प्रायः नृपति ही हैं । नायकों के चित्रण के साथ प्रमुख स्त्रियों का चित्रण भी भरत की मान्यताओं के अनुसार किया गया है । राजकर्मचारियों का व्यक्तित्वचित्रण सामान्य इतिहासग्रन्थों की पद्धति पर हुआ है । सात सौ वर्षों के सभी नृपतियों का व्यक्तित्व चित्रण अध्यायों के सानुपातिक क्लेवर में सम्भव नहीं था । इस दृष्टि से 'गुणों के शीर्षकों' में तत् तद् गुणविशिष्ट नेताओं को रखा गया है । प्रयत्न यह भी किया गया है कि अधिक से अधिक नृपतियों को गुणों की तुला पर रखा जाय ।

द्वादश अध्याय तीन भागों में विभाजित है,—आदान, समकालीन-प्रभाव और प्रदान । पूर्ववर्ती साहित्य ने उत्तरवर्ती अभिलेखीय साहित्य

को भाव और भाषा में किस तरह प्रभावित किया, समकालीन अभिलेखों और संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों में पारस्परिक समानता क्या है। अथवा पूर्ववर्ती अभिलेखों में ऐसी कौन-सी उक्तियाँ हैं, जो उत्तरवर्ती संस्कृत के ग्रन्थों को प्रभावित सी करती जान पड़ती है — यही इस अध्याय का वार्याविषय है। अभिलेखों का प्रायः समानान्तर महत्त्व स्थापित करने के दृष्टिकोण से यह परिच्छेद आवश्यक प्रतीत हुआ। काव्यों में उपजीव्य-उपजीवक भाव तो आचार्यों से भी समर्थित है।

त्रयोदश में, जो कि निबन्ध का अन्तिम अध्याय है, विदेशी (विशेषतः बृहत्तर भारत के) <sup>संस्कृत</sup> अभिलेखों पर एक संक्षिप्त साहित्यिक दृष्टि डाली गई है। बिना तत्कालीन विदेशी अभिलेखों के अध्ययन के, भारतीय अभिलेखों का अनुशीलन अपूर्ण होता, इसीलिए इस अध्याय की आवश्यकता प्रतीत हुई। इतना अवश्य है कि इन लेखों का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व ही अधिक है। फिर भी यत्किंचित् उपलब्ध साहित्यिकता के धरातल पर उनमें संक्षेप में लगभग उन्हीं काव्यतत्त्वों की गवेषणा की गयी, जिनकी सविस्तार खोज भारतीय अभिलेखों में की गई है।

विवेच्य विषय के ऊपर अध्यायानुसार कहने के उपरान्त यहाँ अभिलेखों के प्रतिलिपीकरण (TRANSCRIPTION) के सम्बन्ध में अपनाये गये नियमों के विषय में कहना प्रसंगानुकूल और आवश्यक है। प्रतिलिपीकरण में सपिगापिया इंडिका की पद्धति का अनुसरण किया गया है। समास-सूचक (HYPHEN) बिह्न मूल अभिलेखों में नहीं हैं, किन्तु अक्षरों की पृथक् स्थिति-निदर्शन के लिए <sup>यदि</sup> यदाकदा अपनाया गया है। इसी प्रकार पंक्तियों के पहले ऐसे गए अंक, अमुक पंक्ति की क्रमिक-संख्या की सूचना देते हैं, जैसे — [पं० ६] \* अत्र च व्यासगीतां द्वां श्लोकौ \*<sup>१</sup>

जहाँ कोई अक्षर या पाठ्य खण्डित है अथवा जहाँ कोई शब्द मूल से कूट गया है, वहाँ अनुमान से रखा गया पाठ्य 'सीधे' कोष्ठकों से व्यक्त किया गया है, उदाहरणार्थ— \* तीत्वा सप्तमुत्तान येन [स]म [रि]सिन्धोज्जिता [व]ाह्लिका : \* २ जहाँ श्लोकों में विराम बिह्न नहीं हैं

१. कोरोषण्ड आसन-पत्र, २०६०, भाग २१, पृ० २४

२. मेहरौली लेख, का०६०६०, भाग ३, सं० ३२, श्लोक १



वहाँ वे भी ऐसे ही 'लड़े कोष्टकों' में रखे गए हैं ।

सामान्य भूलों के संशोधन अथवा अग्रह के चिह्न धनुषाकार कोष्टकों में रखे गये हैं ; जैसे — 'त्त'(त)स्यापि द्वध(ध)र्मसुतशान्तस्व-  
भावमूर्तिः<sup>१</sup> अथवा 'ओ'(ऽ)पि यो वयसि संपरिवर्तमानः'<sup>२</sup>

प्रश्नवाचक चिह्न लठित पाठ्य के विषय में सन्देह सूचक है । जहाँ लड़े कोष्टकों में पाठ्य देकर यह चिह्न लगाया गया है, वहाँ इसकी सार्थकता यह है कि अमुक स्थान पर वह पाठ्य प्रस्तावित हो सकता है ।<sup>३</sup> समयानुसार अन्य संकेत स्वतः स्पष्ट हैं ।

अभिलेखों के वर्णविन्यास( ORTHOGRAPHY ) की अपनी विशेषताएँ हैं । रेफ के संयोग से अधिकांश स्थलों पर अक्षर दुहराए गए मिलते हैं, जैसे—शर्वनाथ, चन्द्राकर्क, वज्जित आदि ।<sup>४</sup> कतिपय स्थलों में 'ह' के स्थान पर 'रि' का प्रयोग मिलता है, जैसे क्रिमिः (कृमिः के लिए )<sup>५</sup> । ऐसे अक्षरों को यथावत् रख दिया गया है, किन्तु क्रिमिः जैसे शब्दों के लिए धनुषाकार कोष्टकों में शुद्ध-शब्द या अक्षर रख दिए गए हैं । स्वात में प्राप्त तीन बौद्ध लेखों में से प्रथम और तृतीय में क्रमशः 'ध्य' के लिए 'द्ध्य' और 'प्र' के लिए 'प्प्र' लिखे प्रयुक्त हैं ।<sup>६</sup> निबन्ध में आए समान अक्षरों को भी एक बार पूर्ववत् लिखकर फिर धनुषाकार कोष्टकों में (शुद्ध वर्ण लिखने से) शुद्ध कर दिया गया है । जहाँ आगे आने वाले 'र' के संयोग से 'त्' के स्थान पर 'त्त' लिखा हुआ मिलता है जैसे यत्त (यत्न के लिए) अथवा 'पात्तनेपा'<sup>७</sup> ; ऐसे स्थलों पर विशेष क्लेशाह नहीं

---

१. छोटी सादही लेख (कवि प्रमरसोम), स०ई०, भाग ३०, पृ० १२५ ,  
श्लोक ७

२. विश्ववर्मन् कालीन गंगधार लेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ७५, श्लोक १२

३. उदा०—'यो [(ऽ)जायतास्मात् क्षु]पणदितात् ?' सान्दगुप्त का जूना-  
गढ़ लेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ६०, श्लोक २५

४. द्र०—तीनों उदाहरण—शर्ववर्मन् का सोहावल ताम्रपत्र, स०ई०, भाग १६,  
पृ० १२६(तीनों), पं० ७, ६, १० क्रमशः

५. विनयादित्य का जेजुरी आसन-पत्र, स०ई०, भाग १८, पृ० ६५, पं० ३५

६. स०ई०, भाग ४, पृ० १३३—१३५

७. उदयपुर लेख, स०ई०, भाग ४, पृ० ३१—३२, क्रमशः श्लोक ६, ११

की गई है। हाँ, जहाँ विशेष आपत्तिजनक वर्णविन्यास हो, जैसे 'व' के स्थान पर 'व' 'वृक्षारिणः'<sup>१</sup>, अथवा 'ग' के स्थान के लिए 'ग', यथा 'मागृशीर्ष'<sup>२</sup> या 'ठ' के लिए 'थ' उदाहरणार्थ कुथाराः'<sup>३</sup> ऐसे स्थलों में शुद्ध शब्द या अक्षर आगे कुटिल कोष्ठकों में रख दिए गए हैं। इसी भाँति 'सिंघ' और 'भूमहोग' जैसे शब्दों के लिए<sup>४</sup> अथवा जहाँ अनुस्वार के स्थान पर 'न्'का प्रयोग मिलता है, जैसे 'अन्श',<sup>५</sup> वहाँ भी शुद्धीकरण की यह कोष्ठक वाली परिपाटी अपनाई गई है। इसी तरह अभिलेखों के वर्णविन्यास की ओर भी अनेक विशेषताएँ हैं, स्थानाभाव के कारण जिसके सम्बन्ध में विस्तार से नहीं कहा जा सकता है। उपध्मानीय और जिह्वामूलीय के लिए भी अनेक संकेत प्रयुक्त हैं। इन्द्रवर्मन् के पूर्ण शासन-पत्र<sup>६</sup> में प्रथम के लिए ऋ तथा द्वितीय के लिए म, ये संकेत प्रयुक्त हैं। प्रस्तुत निबन्ध में दोनों के लिए मात्र विसर्ग से काम लिया गया है।

वॉल्यूम ( VOLUME ) शब्द के लिए 'जिल्द' का प्रयोग मुझे कुछ बलका और उथला लगा। इसलिए मैंने उसके लिए सदैव 'भाग' शब्द उचित समझा, जैसे २०ई०, भाग-(भाग)इत्यादि। 'श्लोक' शब्द सामान्य व्यवहार में संस्कृत छन्द के लिए प्रयुक्त होता है। इस निबन्ध में भी पद्य-सामान्य के लिए श्लोक शब्द व्यवहार में लाया गया है; अनुष्टुप् छन्द मात्र के लिए ही नहीं।<sup>७</sup>

विविध जर्नल, ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रंथों के लिए निबन्ध में उनके संज्ञोपों का आश्रय लेकर, स्थान की रक्षा की गई है, किन्तु कम प्रयुक्त पुस्तकों के लिए उसके संज्ञोपों की आवश्यकता नहीं समझी गई।

१. उदयपुर लेख, २०ई०, भाग ४, पृ० ३१-३२, श्लोक ११

२. वही, उदयपुर लेख, पं० १२

३. वही, श्लोक २

४. कौटी साद्री लेख, २०ई०, भाग ३०, पृ० १२४, श्लोक १ (दोनों शब्द)

५. का०२०ई०, भाग ३, संख्या ४६, श्लोक ३

६. २०ई०, भाग १४, पृ० २६०-२६२

७. अनुष्टुप् छन्द के लिए श्लोक भी कहा जाता है। ५०-२०२० हि०२०,  
(आष्टे) पृ० ६४६, (परि०)(दिल्ली १६६३)

अन्त में एक बार फिर मेरा मस्तक, उन समस्त विदेशी एवं भारतीय विद्वानों के समक्ष अर्पित है, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय अभिलेखों की वर्णमाला तैयार करने, पढ़कर उनको सम्पादित करने और सम्पादित कर उन्हें सर्वजनसुलभ करने में बिताया। इन विदेशी विद्वानों में जे० प्रिन्सेप, कनिंघम, जी० ब्रूकर, ई० सेनर्ट, एफ० कीलहॉर्न, ई० ह्यूश, स्टेन कोनो, एल० राइस, हब्ल्यू० ड० इलियट, जे० एफ० प्लीट आदि प्रमुख हैं। भारतीय विद्वानों में भगवान् लाल इन्द्रजी, राजेन्द्रलाल मित्र, आर० जी भाट्टाकर, आर० डी० बनर्जी, डी० आर० भाट्टाकर, एच० पी० शास्त्री, वी० वेंकया, एच० कृष्णाशास्त्री, एम० एम० -- वी० वी० मिराशी तथा डा० डी० सी० सरकार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने जहाँ इतिहास के भग्नमन्दिर के चिरगद कपाट खोले, वहाँ उसे अपने सतत अध्यवसाय से पुनः संस्कृत भी किया। इन्होंने अतीत के अन्धकार में प्रवेश करने के लिए जहाँ एक उदार गवाक्ष का उद्घाटन किया, वहाँ जिज्ञासुओं के हाथों में प्रकाश की अमन्द मशालें भी थमा दी। परिमित शब्दों से इनकी यशोगाथा गाना सम्भव नहीं। इन्हीं के दिज्ञाए हुए गवाक्ष में मैंने इन्हीं के दिए हुए दीप के सहारे प्रवेश किया। समुद्र का दर्शन इन्होंने करवाया। सागर-विज्ञान इन्होंने समझाया। मैंने तो केवल गोता लगाकर सागर-तल से साहित्य की मोतियों निर्वारित कीं और फिर तटस्थ होकर उनकी एकावली तैयार की। विश्वास था, कि सरस्वती के कण्ठ में दुहरी माला अच्छी लगेगी। 'यह एकावली कैसी है?' इसका निणय तो उन्हीं विद्वानों पर है, जिनके निष्कर्षों और मान्यताओं पर स्वयं सरस्वती भी निःसंकोच हस्ताक्षर कर देती है।

इस माला के लिए मोतियों को संचित करने की क्रिया में, उनके पारस्परिक महत्व को आँककर सूत्र में उनका स्थान निर्देश करने में प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल ने अपने ज्ञान और व्यक्तित्व के प्रकाश से जो मेरा मार्ग-दर्शन किया, इसके लिए मेरे जीवन की अर्द्धा उनसे चरणों में समर्पित है। मेरे अभिलषित विषय को स्वीकृत कराने से लेकर निबन्ध की 'इति' तक का सम्पूर्ण मार्ग उनकी कृपा-प्रभा से आलोकित है। शोध-कार्य का काल, मेरे व्यक्तिगत जीवन में अनेक आंधी, अन्ध, भीम फंफटा-फंफोरों तथा उत्पातों का समय रहा। परिस्थितियों की क्रूर और सर्पकुटिल उद्देलित तरंगों में न जाने कितनी बार मेरे भयवस्तु कम्पित हाथों से पतवार छूट गई। ऐसी मृत्यु-सवर्ण परिस्थितियों में

अन्त में एक बार फिर मेरा मस्तक, उन समस्त विदेशी एवं भारतीय विद्वानों के समक्ष अर्पण है, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय अभिलेखों की वर्णमाला तैयार करने, पढ़कर उनको सम्पादित करने और सम्पादित कर उन्हें सर्वजनसुलभ करने में बिताया। इन विदेशी विद्वानों में जे० प्रिन्सेप, कनिंघम, जी० ब्रूस्टर, ई० सेनर्ट, एफ० कीलहॉर्न, ई० हल्स, स्टेन कोनो, एल० राइस, हब्ल्यू० ड० इलियट, जे० एफ० प्लीट आदि प्रमुख हैं। भारतीय विद्वानों में भगवान् लाल इन्द्रजी, राजेन्द्रलाल मित्र, आर० जी भाट्टाकर, आर० डी० बनर्जी, डी० आर० भाट्टाकर, एच० पी० शास्त्री, वी० वैक्या, एच० कृष्णशास्त्री, एम० एम०—वी० वी० मिराशी तथा डा० डी० सी० सरकार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने जहाँ इतिहास के भग्नमन्दिर के चिरगुह्य कपाट खोले, वहाँ उसे अपने सतत अध्यवसाय से पुनः संस्कृत भी किया। इन्होंने अतीत के ग्रन्थकारों में प्रवेश करने के लिए जहाँ एक उदार गवाज का उद्घाटन किया, वहाँ जिज्ञासुओं के हाथों में प्रकाश की अमन्द मशालें भी थमा दी। परिमित शब्दों से इनकी यशोगाथा गाना सम्भव नहीं। इन्हीं के दिवाएँ हुए गवाज में मैंने इन्हीं के दिए हुए दीप के सहारे प्रवेश किया। समुद्र का दर्शन इन्होंने कराया। सागर-विज्ञान इन्होंने समझाया। मैंने तो केवल गोता लगाकर सागर-तल से सारहित्य की मोतियों निर्वारित कीं और फिर तटस्थ होकर उनकी एकावली तैयार की। विश्वास था, कि सरस्वती के कण्ठ में दुहरी माला अच्छी लगेगी। 'यह एकावली कैसी है?' इसका निणय तो उनकी विद्वानों पर है, जिनके निष्कर्षों और मान्यताओं पर स्वयं सरस्वती भी निःसंकोच हस्ताक्षर कर देती है।

इस माला के लिए मोतियों को संचित करने की क्रिया में, उनके पारस्परिक महत्व को आँककर सूत्र में उनका स्थान निर्देश करने में प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य डा० बट्टिकाप्रसाद शुक्ल ने अपने ज्ञान और व्यक्तित्व के प्रकाश से जो मेरा मार्ग-दर्शन किया, इसके लिए मेरे जीवन की अर्द्धा उनसे चरणों में समर्पित है। मेरे अभिलषित विषयों को स्वीकृत कराने से लेकर निबन्ध की 'इति' तक का सम्पूर्ण मार्ग उनकी कृपा-प्रभा से आलोकित है। शोध-कार्य का काल, मेरे व्यक्तिगत जीवन में अनेक बाँधी, अन्ध, भीम भँफा-भँफोरों तथा उत्पातों का समय रहा। परिस्थितियों की क्रूर और सर्पकुटिल उद्धेलित तरंगों में न जाने कितनी बार मेरे भयवस्तु कम्पित हाथों से पतवार छूट गई। ऐसी मृत्यु-सवर्ण परिस्थितियों में

गुरुवर्य ने ही धैर्य बंधाकर मुझे कर्तव्य-मथपर स्थिर रखा । 'गोविन्द दियो बताय' का सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं को जाता है, मैं तो किर्तव्यविमूढ़ सा था ।

आदरणीय गुरुवर्य पूज्यपाद पं० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी (तत्कालीन विभागाध्यक्ष) का भी मैं अतीव कृतज्ञ हूँ, शोधकार्य में जिनकी सतत कृपा मुझे प्राप्त होती रही ।

अन्त में डा० वैजनाथपुरी, डा० जी०एन० सालेटूर तथा डा० शिवप्रसाद डबराल का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, समय-समय पर जिनके बहुमूल्य सुझावों से मैं विशेष लाभान्वित हुआ ।

आर्कैलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (दिल्ली), राष्ट्रीय अभिलेखागार(दिल्ली), राजकीय अभिलेखागार उ०प्र०(इलाहाबाद), राजकीय केन्द्रीय पुस्तकालय उ०प्र०, प्रयाग संग्रहालय, गंगानाथ फा रिसर्च इंस्टीट्यूट (प्रयाग), प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा अन्यान्य संस्थाओं के अधिकारियों एवं कर्मचारियों से मैं लाभान्वित हुआ, अतः उनकी कृपा के लिए मैं अनुगृहीत हूँ ।

मित्रता के धरातल पर मैं श्री मेवालाल मिश्र का आभार कैसे व्यक्त करूँ । उनकी एकनिष्ठ लगन और तत्परता से ही टंकणकार्य एक निश्चित अधि के भीतर समाप्त हो सका ।

—लक्ष्मी विलास डबराल

लक्ष्मी विलास डबराल

प्रयाग

दिनांक १५-४-१९६१

शब्द-संकेत

|             |                           |          |                            |
|-------------|---------------------------|----------|----------------------------|
| अ० —        | अंक                       | पू० —    | पूर्व या पूर्वीय (वेदों के |
| अ० —        | अध्याय                    |          | प्रसंग में पूर्वाचिक)      |
| ई० —        | ईसवीय                     | पृ० —    | पृष्ठ                      |
| ई०पू० —     | ईसा पूर्व                 | प्र० —   | प्रथम(वेदों के सन्दर्भ में |
| उदा० —      | उदाहरणार्थ                |          | प्रपाठक)                   |
| कल०वे०सं० — | कलचुरि-वेदि संवत्         | प्रका० — | प्रकाशक                    |
| गां०सं० —   | गान्धेय संवत्             | फ० —     | फलक                        |
| गु०सं० —    | गुप्त संवत्               | भा० —    | भाग                        |
| च० —        | चतुर्थ                    | मं० —    | मंत्र                      |
| चौ० —       | चौखम्भा संस्कृत सीरिज     | मा०सं० — | मालव संवत्                 |
|             | या चौखम्भा विद्या भवन     | म्यू० —  | म्यूजियम                   |
|             | वाराणसी                   | र० —     | रचयिता                     |
| टि० —       | टिप्पणी                   | ल० —     | लगभग                       |
| तृ० —       | तृतीय                     | लि० —    | लिस्ट                      |
| द० —        | दशति(सामवेद के संदर्भमें) | वि०सं० — | विक्रम संवत्               |
| द्र० —      | द्रष्टव्य                 | श०सं० —  | शक संवत्                   |
| द्वि० —     | द्वितीय                   | शा०प० —  | शासन पत्र                  |
| निर्णयि० —  | निर्णयसागर प्रेस, बंबई    | श्लो० —  | श्लोक                      |
| पं० —       | पंक्ति                    | सं० —    | संस्था                     |
| परि० —      | परिशिष्ट                  | संस्क० — | संस्करण                    |
| पा०टि० —    | पाद टिप्पणी               | सम्पा० — | सम्पादक । सम्पादकीय        |
|             |                           | सू० —    | सूची                       |

टि० — जर्नल या सन्दर्भ ग्रंथों के संक्षेप सहायक ग्रंथों की सूची के साथ परिशिष्ट में द्रष्टव्य हैं ।

## अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय—

पृ० १-३७

### प्रमुख संस्कृत अभिलेखों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—

अभिलेख, प्रस्तुत कालसीमा, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि— उत्तर भारत  
विदेशी आक्रमणकारी— शक सत्रप— गणराज्य— राजतंत्र—  
अयोध्या— वाकाटक— मौखरि— माघराज्य— गुप्तसाम्राज्य—  
परिव्राजक— पूर्वी भारत के कुछ स्थानीय राजा— उत्तरगुप्त—  
मौखरी— पश्चिमी मध्यप्रदेश एवं राजस्थान; शौलिकर और हूण  
(वर्मन्), शौलिकर और हूण—माहिष्मती बल्लभमहाराज—  
गुहिल—वलभी—गारुलक— गुजरात के चालुक्य— गुर्जर,—  
वर्द्धन एवं अन्यान्य समकालीन राजवंश—शशांक (विग्रह)—कामरूप  
प्राज्योत्तिष्ठ (भौमनारक)— उत्तरी सीमावर्ती राज्य— पौरव,  
गुह, यदुवंशी, वरसगोत्रीय ।

दक्कन— चालुक्य, पूर्वीय चालुक्य, आन्ध्र भू-भाग— हर्षाक—  
आनन्दवंशीय— सालंकायन— विष्णुकुण्डिन्, पश्चिमी दक्कन—  
भोज, मानपुर के राष्ट्रकूट—वराह के राष्ट्रकूट—त्रैलोक्यवंश—  
कलचुरि; पूर्वीय दक्कन— नलवंशी— शूर— शरभपुरिय— पाण्डु-  
वंशी— मेकलाप्रदेश के पाण्डुवंशी— शैलोद्भव, कलिंग— पितृभक्त—  
माठरकुल(मागध)—वासिष्ठ—पूर्वीय गांग— तुष्टिकार ।

दक्षिणभारत— पल्लव— कदम्ब— सेन्द्रक— पश्चिमी गांग ।

द्वितीय अध्याय

पृ० ३८-५६

### पुरा-लेखन—

भाषा—लिपि तथा उसकी प्राचीनता—विषयान्तर्गत लिपियाँ—  
ब्राह्मी—ग्राही— ग्राही का पढ़ा जाना ।



अभिलेखीय लेखन सामग्री, आधारभूत सामग्री—लकड़ी—इंटें, पृष्ठात्र एवं मृणमुद्राएँ—सोना, चाँदी—टिन, काँसा, पीतल, लोहा—ताम्र—वृषताम्र—प्रस्तर (शिला)—चित्रार्पित लेख, माध्यमभूतलेखन सामग्री, शिलालेखों के स्थान, शासनपत्रों से सम्बन्धित प्रमुख राजकीय अधिकारी—लेखक—रचयिता और लेखक—शिल्पिन्—मुद्रा अधिकारी—साक्षीरूप अधिकारी ।

अभिलेखों की असावधानियाँ— शुद्धीकरण—विरामचिह्न— पृष्ठसंख्याङ्कन; तिथियाँ— विक्रमसंवत्—शकसंवत्—कलचुरि, वैदि, त्रैकूटक संवत्— गुप्त संवत् (गुप्तवलभी)— गार्गेय संवत्—हर्षसं- भाटिक संवत्— तिथियों के अंक— शब्दात्मक अंक लेखन प्रणाली ।

### तृतीय अध्याय

पृ० ६०— ७५

#### अभिलेखों का वर्गीकरण—

- (१) धार्मिक लेख ( धार्मिक पुस्तक, अनुवाद, तन्त्रमन्त्र, बीजादि, यात्रालेख, <sup>आलोचनात्मक</sup> माहात्म्य, देयधर्मसमर्पण (संकल्पात्मक) लेख, मूर्ति-नामलेख, धम्मलेख) — (२) साहित्यिक कृतियाँ —
- (३) शास्त्रीयविषय सम्बन्धी लेख—(४) अप्यासात्मक (प्रयोगा-त्मक)लेख, (५) सामाजिक और सांस्कृतिक लेख— (६) वाणिज्य व्यवसाय और विज्ञापन सम्बन्धी लेख ,
- (७) स्मारक और यूपलेख , (८) प्रशासकीय लेख (आज्ञापत्र) —
- (९) प्रशस्तियाँ और स्तोत्र—(१०) वंशावली लेख—(११) विरू-दावलीलेख--(१२) विनिमय माध्यम (सिक्के)— (१३) मुद्रा और मुद्राचिह्न—(१४) दानलेख ।

### चतुर्थ अध्याय

पृ० ७६— ८६

#### प्रारूप गठन—

दानादिलेख— प्रारम्भ—घोषणास्थान—राजवंशावली <sup>न-</sup> सम्बोधन—प्रयोजन—असर—दानग्राही—सीमा <sup>नसम्बन्ध</sup> नामनुपालन <sup>न-</sup> इंटें और अधिकार— दान स्थायित्व— कामना



लेख । अन्य लेख—प्रारम्भ—स्तुति प्रार्थना—विषय-प्रवेश—  
आशीर्वादात्मक भाग—प्रशंसागर्भ भाग—कृत्यानुपासन आदेश—  
उपसंहार ।

अभिलेखों में साहित्य के स्थल और उनकी चौत्रसीमारें ।

पंचम अध्याय

पृ० १००—१४४

अभिलेखों में पद्य, गद्य तथा चम्पूशिल्प—

क—पद्य का स्तर, उपलब्धि और विकास (प्रथम शताब्दी से सप्तम  
शताब्दी तक), अपूर्ण छन्दों की परम्परा, ख—गद्य का स्तर,  
उपलब्धि और विकास ( प्रथम सदी से सप्तम सदी तक ) ,

ग—अभिलेखों में सप्तम सदी तक चम्पूशिल्प (प्रथम सदी से  
सप्तम सदी तक ) ।

षष्ठ अध्याय

पृ० १४५—१७१

रसभावाभिव्यक्ति—

शृंगार, सम्भोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार—हास्य—करुणा—  
रौद्र—वीर—सुद्वीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर—भयानक—  
बीभत्स—अद्भुत—शान्तरस—भाव ।

सप्तम अध्याय

पृ० १७२—१८८

रीतिगुणसमुच्चय—

क—रीतिनिरूपण—अभिलेखों की रीतिमान्यता—अभिलेखों में  
रीतिनिर्वाह—वैदभी—गोही—पांचाली ।

ख—गुण विवेचन—माधुर्य—ओजोगुण—प्रसादगुण ।

अष्टम अध्याय

पृ० १८९—२३५

काव्य सौन्दर्य— अंकार

अन्त्यानुप्रास-लाटानुप्रास-यमक-श्लेष, अर्थालंकार-उपमा-  
 उपमेयोपमा-उत्प्रेक्षा-ससन्देह-रूपक-अपह्नुति-समासोक्ति-  
 अतिशयोक्ति-प्रतिवस्तुपमा-दीपक-तुल्ययोगिता-व्यतिरेक-  
 विशेषोक्ति-यथासंस्थ-अर्थान्तरन्यास-विरोध-विरोधाभास-  
 स्वभावोक्ति-सहोक्ति-विनोक्ति-परिवृत्ति-काव्यलिंग-  
 पर्यायोक्त-उदात्त-अनुमान-परिकर-परिसंस्था-कारणमात्ता-  
 सार-असंगति-विषम-भ्रान्तिमान्-उल्लेख-विशेष-तद्गुण-  
 अलंकार संसृष्टि-अलंकारसंकर ।

नवम अध्याय

पृ० २३६ - २४६

दोष-निरूपण —

श्रुतिकटुत्वदोष-अप्रयुक्तत्व-निरर्थकत्व-अश्लीलत्व-सन्दिग्ध-  
 विरुद्धमतिकृत-विसन्धित्व-स्तवृत्तता-न्यूनपदत्व-पुनरुक्तत्व-  
 विषाविरुद्धत्व-अन्यसंगतदोष ।

दशम अध्याय

पृ० २४७ - २६६

अभिलेखों में प्रकृति-चित्रण —

प्रकृति-चित्रण की परम्परा-अभिलेखों में प्रकृति-चित्रण का  
 निर्वाह-सूर्य-चन्द्रतारक-पर्वत-नदी-फलील-सरोवर-भूखण्ड-  
 सागर, ऋतुवर्णन-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्काल-हेमन्त-  
 शिशिर ।

एकादश अध्याय

पृ० २७० - ३०८

व्यक्तित्व-चित्रण —

कुलीनता-रूपयोवन-अनुरक्तलोक एवं प्रजापालक-कलावान् तथा  
 कलाप्रिय-शास्त्रचटु, धार्मिक, विद्वान्-त्यागी, उदार और  
 दानी-बुद्धिस्मृतिप्रज्ञा-स्वैर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, महासत्त्व-शूरा,  
 दृढ, तेजस्वी-अन्य गुण ( शीलवान्, मधुर, प्रियम्बद्,  
 वाग्मी, विदग्ध, सत्यवान्, विनयी, मानी, वक्ता आदि )

राजकर्मचारी— स्त्री पात्र चित्रण— राजमहिषियाँ— स्थानीय शासकों की पत्नियाँ— राजसेवकों की पत्नियाँ ।

द्वादश अध्याय

पृ० ३०६— ३५३

भाव-भाषा साम्य— ( आदान, समकालीन प्रभाव तथा प्रदान )

क—अहान, भास—कालिदास—सुबन्धु—शुङ्ग—भारवि—बाण—भट्ट, संस्कृत नाटक और दानलेख प्रारूप ।

ख—समकालीन प्रभाव, कालिदास—भट्टि—बाणभट्ट—दण्डी—माघ ।

ग—प्रदान, भारवि—भट्टि—दण्डी—सम्राट् हर्ष—बाणभट्ट—विशालदत्त—माघ—भवभूति—भट्टनारायण—मुरारि—दामोदर मिश्र—जयदेव—श्रीहर्ष—अम्बिकादत्त व्यास, चम्पू, सुभाषित ।

त्रयोदश अध्याय

पृ० ३५४— ३६०

भारतेतर देशों के संस्कृत अभिलेख(नेपाल तथा बृहत्तरभारत) —

देशों का भौगोलिक परिचय—प्राचीन मार्ग—उपनिवेशीकरण का रहस्य, प्रमुख अभिलेखों का परिचय—वर्मा—मलाया—जम्मा—सुमात्रा—बोर्नियो—चम्पा—काम्बुज, गद्य-पद्य तथा चम्पूतत्त्व—वज्र-गव—चम्पूतत्त्व, रसभाव, रीतिगुण, अस्कार, दोषनिरूपण, प्रकृति और वस्तुवर्णन ।

एक विचार

पृ० ३६१— ३६६

परिशिष्ट—

पृ० १— २६

१—अभिलेखों का महत्त्व, ऐतिहासिक महत्त्व (२) सांस्कृतिक महत्त्व (३) धार्मिक महत्त्व, (४) सामाजिक महत्त्व (५) आर्थिक महत्त्व, (६) प्रशासकीय महत्त्व, (७) निर्माण सम्बन्धी महत्त्व (८) अन्यान्य विषयक महत्त्व

२- प्राचीन अभिलेखों में संक्षेपण की प्रवृत्ति - पृ० २६-३१

सहायक ग्रंथ सूची

पृ० ३२-४८

---

प्रमुख संस्कृत अभिलेखों की ऐतिहासिक-पृष्ठभूमि

अभिलेख—

अभिलेख का शाब्दिक अर्थ है — 'अभिलेखः लेखः, अभिलेखः ।' विशेष उद्देश्य से किसी विषय पर लिखा गया लेख, अभिलेख है । सामान्य व्यवहार से उत्कीर्ण लेख, अभिलेख है । अधिकांश अभिलेखों के आधारभूत लेखन सामग्री पर कुरेद कर लिखे होने के कारण, यह दूसरी परिभाषा विशेष लोक-प्रचलित है । अंग्रेजी का इन्सक्रिप्शन (INSCRIPTION) शब्द इस परिभाषा का अपेक्षाकृत अधिक तर्क-संगत नेतृत्व करता है, क्योंकि इन्सक्राइब धातु का अर्थ उत्कीर्ण (ENGRAVE) करना है ।<sup>१</sup> इसलिए अभिलेख शब्द से कुरेदने अथवा उत्कीर्ण करने की क्रिया का अर्थ ग्रहण, कुछ सीमा तक उपयुक्त ही है । मेहरांली लेख (स्तम्भ) में बंगयुद्ध के बीच जड़ग द्वारा चन्द्र (गुप्त द्वि०) की कीर्ति शब्द के लिखे जाने की क्रिया के लिए 'अभिलिखित' पद ही प्रयुक्त हुआ है ।<sup>२</sup> वैसे अभिलिखित पद कुरेद कर लिखा हुआ या केवल लिखा हुआ—दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है ।<sup>३</sup> याज्ञवल्क्य स्मृति में 'अभिलेखित' पद शासन-पत्र (DOCUMENTS) के संदर्भ में व्यवहृत है ।<sup>४</sup>

यदि परिभाषा की भित्ति प्रायोवाद पर आधारित न की जाय, तो अभिलेख का सर्वत्र उत्कीर्ण होना आवश्यक नहीं । 'तापित' धातु पर 'लांकित'<sup>५</sup> मुद्राओं अथवा सिक्कों के लेख या अन्तः गुहा के जैसे चित्रार्पित

१. अंग्रेजी में भी इन्सक्रिप्शन शब्द के मूल धातु 'इन्सक्राइब' पर विशेष महत्व दिया गया है — "THAT WHICH IS INSCRIBED; ANYTHING WORDS etc. WRITTEN OR ENGRAVED SPECIF. (i) NAME, WORDS, RECORDS CUT ON STONE (ii) THOSE STAMPED UPON A COIN" — The Universal Dictionary of the English Language (HENRY CECIL WYLD) P. 608

२. हि० लि० ०६०, पृ० ८१, श्लोक १

३. ड०—सं० ६०, हि० लि० (आप्टे), पृ० ४१

४. या० स्मृ० २।१४६

५. ड०—'तापित' मल्लसारुल ताम्रपत्र, सि० ६० भा० ०१, पृ० ३६४, पं० २५, 'लांकि(जिह्वा)तं', परिकुड दानलेख, सं० ६०, भाग ११, पृ० २७, पं० ५८

लेख<sup>१</sup> उत्कीर्ण न होने पर भी अभिलेख हैं। अंग्रेजी कोश-ग्रन्थों में भी कुरेदने के अतिरिक्त सिक्कों आदि पर साँचे से तैयार किए गए लेखों के लिए 'इन्स-क्रिप्शन' शब्द को ही प्रयोग में लाया जाता है।<sup>२</sup>

पढ़ाए जाने से पहले ईंट की गीली मिट्टी पर बनाए गए लेख<sup>३</sup> अथवा कुरेदने की अपेक्षा आस-पास के धरातल को हटाकर उभारे गए अक्षरों वाले नोबल<sup>४</sup> या लन्जेश्वर<sup>५</sup> सरीसृप प्रस्तर लेख भी तो अभिलेखों के अन्तर्गत हैं। अंग्रेजी के अल्पशिक्षित होने की दशा में आधारभूत लेखन सामग्री पर उत्कीर्ण करने के पहले लेख, स्याही या रंग से लिखे जाते थे।

'कसिया ताम्र लेख'<sup>६</sup> की प्रथम पंक्ति उत्कीर्ण है, किन्तु अन्य पंक्तियाँ उत्कीर्ण न हो सकीं, वे स्याही से ही लिखी हुई अवशिष्ट हैं। ऐसी स्थिति में भी उत्कीर्ण अथवा अनुत्कीर्ण भाग का विचार न करके समस्त लेख को अभिलेख माना जायेगा। इसलिए अभिलेख के लिए उत्कीर्ण अथवा 'उल्लिखित'<sup>७</sup> होने का बन्धन नहीं और प्रत्येक उत्कीर्ण लेख भी अभिलेख नहीं। उ०प्र० अभिलेखागार में कुछ ग्रंथ ताड़-पत्रों पर अक्षर, लिखे नहीं, अपितु उत्कीर्ण किए गए हैं। ताड़पत्र पर अक्षरों को सुई से कुरेदा गया है। किन्तु ऐसे ग्रंथों को अभिलेख नहीं कहा जायेगा। अभिलेख होने के लिए आधारभूत-लेखन-सामग्री का स्थायी होना परम आवश्यक है। कागज, भूर्जपत्र, आदि अपेक्षाकृत अस्थायी आधारभूत लेखन सामग्री को ढोड़कर किसी स्थायी वस्तु पर प्रयोजन विशेष से लिखा गया पुरातत्त्व महत्वयुक्त लेख ही अभिलेख है। आधारभूत लेखन सामग्री का स्थायित्व ही लेख को स्थायी बना सकता है। स्थायित्व के कारण ही कोई लेख अनेक पीढ़ियों के लिए उपादेयता का केन्द्र बनने का सामर्थ्य सुरक्षित रख सकता है।

१: ड०-इ०के०टे०व०इ०, पृ० ८०-८८

२: ड०-न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी ऑफ द अमेरिकन लैंग्वेज, पृ० ७५५

३: गोपालपुर से प्राप्त बौद्धसूत्रों वाली पाँच ईंटें, प्रोसी०, ए०सी०व०, भाग ६५  
(१८६६) पृ० ६६-१०३

४: ए०इ०, भाग ६, सम्मुख, पृ० १६२

५: वही, पृ० १६६ (सम्मुख)

६: ए०इ०, भाग १८, पृ० १६

७: बुरचने के लिए 'उल्लिखित' शब्द भी साहित्य में प्राप्य है —

मीनः सर्पं कैचिदपोविगाह्य

वसन्ति कूर्मोल्लिखितः शरीरैः ॥ — बुद्ध० ७।१७

वाक्य और शब्द तो अभिलेख के अन्तर्गत ग्राह्य हैं ही, साथ ही कोई चिह्न या संकेत भी अभिलेख माना जा सकता है।<sup>१</sup> भारतीय चिह्नों (SYMBOLS) में 'ओं', 'स्वस्तिक' एवं 'सिद्धम्' के चिह्न आ जाते हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट यह तर्क संगत-सी प्रतीत नहीं होती कि हिन्दी निदेशालय ने अपने कोश में अंग्रेजी शब्द आर्काइव्स (ARCHIVES) के लिए अभिलेख, अभिलेखागार और पुरालेख, ये हिन्दी पर्याय दिए हैं।<sup>२</sup> आर्काइव्स, पुरातत्त्व विभाग से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं होते। उसमें तो केवल वर्तमान राजकीय उपयोग-हीन कागज आदि पर लिखे पुराने लेखा जोखा फरमान, भूज-ताह पत्रलेख अथवा इस्तिलिखित ग्रंथों का क्रमबद्ध व्यवस्थित पीर-जाटा रखा जाता है, जिन्हें अभिलेख (INSCRIPTION) नहीं कहा जा सकता है।

प्रस्तुत काल सीमा—

भारतीय अभिलेखों का प्रारम्भ वैसे कृष्टी-पाँचवीं सदी ई० पू० से होता है। पिप्रावा बाँद वेस-अभिलेख पाँचवीं सदी ई० पू० का है।<sup>३</sup> इस शताब्दी से लेकर उद्यवर्ली लेख प्राकृत में है। अशोक के लेखों में भी पाली-प्राकृत का प्रयोग है। प्रथम सदी ईसा पूर्व के नानाघाट गुहा लेख<sup>४</sup> की भाषा भी प्राकृत है। तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व में संस्कृत अभिलेखों का अभाव है; जिसके कारण प्रस्तुत प्रबन्ध की पूर्ववर्ती काल सीमा प्रथम सदी से पूर्व नहीं बढ़ाई जा सकती थी।

प्रथम सदी से लेकर अविच्छिन्न रूप से संस्कृत अभिलेखों की उत्तर-रौत्तर प्रवर्द्धमान प्राप्ति होने लगी। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जब भारतीय सम्राट् प्राकृत-पाली को ही अपने अभिलेखों की भाषा बनाने की परम्परा चला बैठे थे; संस्कृत को अभिलेखीय भाषा बनाने का सम्मान, सिथियन एवं कुषाण सरीखे विदेशी आक्रमणकारियों ने दिया।

१. INSCRIBE = to mark or engrave (words symbols etc) on some surface.

— वेब्स्टर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी ऑव द अमेरिकन लैंग्वेज, पृ० ७५५

२. पारिभाषिक शब्द संग्रह, पं० १०० (दिल्ली)

३. इ० — क्रि० लि० ०३०, पृ० १

४. क्रि० लि० ०३०, पृ० ४८-५०

इसीलिए प्राचीनतम संस्कृत अभिलेख उत्तर भारत के पश्चिमी भागों में प्राप्त हुए हैं। इस बात के लिए संस्कृत भाषा एवं संस्कृत अभिलेखों के प्रेमी इन विदेशी आक्रमणकारियों के सदैव कृतज्ञ रहेंगे, जिन्होंने संस्कृत को अभिलेखों की भाषा बना कर कालान्तर में भारतीय सम्राटों को भी इसी भाषा के प्रयोग के लिए प्रेरित किया। वैसे विदेशियों के लेख प्राकृत में भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं,<sup>१</sup> लेकिन उनका विशेष भुकाव संस्कृत की ओर ही रहा। इसी प्रकार, प्रथम सदी में किसी भारतीय व्यक्ति का संस्कृत अभिलेख नहीं, इसका अपवाद धनदेव का अधोध्या शुंग लेख<sup>२</sup> बन सकता है।

संस्कृत और पाली का यह संघर्ष प्रायः तीसरी सदी तक चलता रहा। उसके पश्चात् अभिलेखों में प्राकृत-प्रयोग की परम्परा मरी तो नहीं, लुप्त लेकिन मुच्छितावस्था की अवश्य पहुँच गई।

प्रारम्भिक संस्कृत लेख भले ही साहित्यिक हों, किन्तु वे उत्तर-वर्ती साहित्यिक लेखों की पृष्ठभूमि तो हैं ही। वैसे, संस्कृत का प्रथम साहित्यिक अभिलेख (गिरिनार लेख) भी विदेशी शासक (रुद्रदामन् ५०) का ही है।

उत्तरवर्ती काल सीमा सातवीं शताब्दी ही, इसलिए उपयुक्त समझी गई, क्योंकि इस सदी तक का वृत्तान्त ही हिन्दू साम्राज्यवाद का वैभवपूर्ण इतिहास है। उसके पश्चात् यादवपरिणाम को प्राप्त हुई, राजपूतों की दुःखद-कथा प्रारम्भ हो जाती है। यह कथा ही मुसलमान आक्रमणकारियों के लिए स्पष्ट आमंत्रण सिद्ध हुई।

सातवीं शताब्दी की उत्तरी काल सीमा इसलिए भी सार्थक है कि संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य का अविच्छिन्न प्रवाह इस समय तक ही विशेष रूप से प्रवाहित हुआ। बाद के ग्रंथ दुर्बल और लज्जाग्रंथों के प्रभाव से बोझिल होने लगे। अतः इस निर्धारित काल-सीमा तक पहुँचने वाले सरल और स्वाभाविक संस्कृत काव्यधारा के समानान्तर प्रवहमान अभिलेखों का साहित्यिक अध्ययन सोद्देश्य है।

१. ५०—गोण्डोफर्नेस का तस्ती बाही शिलालेख, १०१०२०, पृ० ६६

अथवा रंजुलका मथुरा सिंहाली शिलालेख, वही, पृ० ६७—६८ आदि

२. २०६०, भाग २०, पृ० ५४-५८



प्रथम शताब्दी के पट बुलते ही हम उत्तर पश्चिमी भारत को विदेशी-आक्रमणकारियों के आधिपत्य में देखते हैं। ये आक्रमणकारी यवन (ग्रीक), शक (सिथियन) और पल्लव (पार्थियन) थे। सिक्कों के आधार पर भारत में अन्तिम ग्रीक नृपति हेरमेय (लगभग २०-३० ई०) था। शक सिथियन राजाओं में मोंय, एज़िस (AES I), एज़िलिसिस और एज़िस (द्वि०) हैं, सिक्कों के माध्यम से ही जिनके इतिहास का ढाँचा तैयार होता है। पल्लव गोण्डोफर्नेस का तख्तीवाही खरोष्ठी अभिलेख है।<sup>१</sup> इसी बीच कुजुल कदफिस(प्र०) के नेतृत्व में कुषाणा-जाति जगी, जिसके पार्थिया सेसिन्ध तक विस्तृत साम्राज्य में यवन, शक, पल्लव राज्य तिरोहित-दर्शन हो गए। ग्रीक हेरमेय और कुजुल कदफिस का संयुक्त सिक्का<sup>२</sup> इसी तर्क का पोषक है कि ग्रीकों को आरुह्यदित करने से पूर्व क्रमिक बढ़े हुए कुषाणा, इस समय यवनों की सामान्तर स्थिति पर थे। दूसरा कुषाणा वीम कदफिस(द्वि०) था।<sup>३</sup> उसके उत्तराधिकारी कनिष्क का राज्यारोहण वर्ष (७८ ई०) ही शक संवत् का प्रारम्भ वर्ष है।<sup>४</sup> सारनाथ बुद्धमूर्ति लेख,<sup>५</sup> उसके प्रतिनिधि (दात्रप) वनस्फर खरपल्लान का है। अन्य कुषाणा नृपतियों और प्रशासकों में वासिष्क,<sup>६</sup> हुविष्क,<sup>७</sup> कनिष्क (द्वि०) एवं वासुदेव (प्र०) उल्लेखनीय हैं। आरा शिलालेख से स्पष्ट है कि कनिष्क (द्वि०) हुविष्क का प्रशासकीय प्रतिनिधि रहा। कुषाणा लेख<sup>अप्रुत</sup> और प्राकृतप्रभावित संस्कृत में हैं, ये साहित्यिक महत्त्व से शून्य हैं।

१: हि०लि०ई०, पृ० ६६

२: ई० क्वा० (रैप्सन), फ०-२, सं० ७

३: वही, फ०-२, सं० ११

४: कैम्ब्रि०हि०ई०, भाग १, पृ० ५२६

५: हि०लि०ई०, पृ० ६६

६: संश्य०इण्डि०(मुकजी), पृ० २२६

७. मथुरा शिलालेख, हि०लि०ई०, पृ० ७०, इ०म्प्यू०के०(स्मिथ) (प्रयाग संग्रहालय १) सं० ५, ६, १६, २०, २२, ३२, ५४ आदि; कॉम्प्रे०हि० ई०, भाग २, फ० ५, सं० ६ आदि

८. आरा शिलालेख, हि०लि०ई०, पृ० ७१

अनुमानतः यौधेय और नाग विद्रोहियों से शिथिलवृन्त कृषाणाँ का स्थान पंजाब में आकर जाति ने लिया, मध्य पंजाब में इनके समकालीन षीलदस और गहदरों का राज्य था । इन छोटे राज्यों के नाश के कारण सम्भवतः छोटे शुषाणा या क्रिदारकृषाणा हैं, जिनका एक राजा कृतवीर्य भी था । १

शक-सत्रप (जात्रप) — कृषाणा आदि विदेशी शासकों ने सत्रप (जात्रप) प्रणाली से राज्य किया । सत्रप (प्रशासन-प्रतिनिधि) पर्याप्त मात्रा में स्वातंत्र्य का उपभोग करते थे । मुख्य सत्रप केन्द्र चार थे — तक्षिला (तदाशिला), मथुरा, नासिक और उज्जयिनी । तदाशिला के सत्रपों में अस्प-वर्मन्, सस, शतवस्त्र, चुक्श आदि प्रमुख हैं । स्मृकुल, मथुरा-सिंहशीर्ष लेख २ वाले महाजात्रप रञ्जुवुल (राजुल) के सिक्के ३ भी प्राप्त होते हैं । राजुल (मथुराजात्रप) का पुत्र शोढास था । ४ पश्चिमी भारत के जात्रपों में, जिन्हें जाहरात जात्रप कहा जाता था, भूमक और नहपान उल्लेखनीय हैं । जुनार गुहालेख ५ इसी नहपान का है । उसका जामाता उषवदात था — 'जाहरातस्य-जात्रपस्य नहपानस्य जामात्रा दीनीक-पुत्रेण उषवदातेन' । ६ अभिलेखीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण उज्जयिनी के 'कार्दमक' जात्रप हैं । इस शाखा का संस्थापक 'यसामोतिक' का पुत्र 'चष्टन' था । ७ उसी का पौत्र गिरिनार लेख ८ (१५०ई०) वालारुद्रदामन् (५०) था । उत्तरवर्ती कार्दमक — जात्रपों के इतिहास का ढाँचा उसनके सिक्कों के आधार पर खड़ा किया जाता है ।

गणराज्य — कृषाणाँ के प्रायः समकालीन उत्तरी राजस्थान में यौधेय; सतलज-व्यास के बीच कुणिन्द और आगरा-जयपुर के मध्य आर्जुनायन

१: ई०क्वा०(रैप्सन) फ० २, सं० १६

२: हि०लि०इ०, पृ० ६७-६८

३: कै०क्वा०प०म्यू०(लीडॉर) संख्या १३०, पृ० १६६, तथा ई०क्वा० (रैप्सन) फ० २, संख्या ६

४: मथुरा दान संकल्पलेख, हि०लि०इ०, पृ० ६८-६९

५: वनी, पृ० ६०-६१

६: नासिक गुहालेख, हि०लि०इ०, पृ० ५८-५९

७: अन्दाऊलेख, हि०लि०इ०, पृ० ६०-६१

८: ई०, सेण्टि०, भा०, ७, पृ० २५७-२६३

गणराज्य थे । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में अर्जुनायन तथा यांधेयों का उल्लेख हुआ है ।<sup>१</sup> जातिविशेष के नृपतिविहीन संगठित शासन को ही गणराज्य की संज्ञा दी जाती थी ।<sup>२</sup> इसलिए इनके सिक्कों में (बहुवचन में) प्रायः जाति का ही उल्लेख होता था, जैसे "यांधेयानां" ।<sup>३</sup> गणशासकों के नाम भी यदाकदा प्राप्त होते हैं, जैसे "क्षत्रेश्वर" ।<sup>४</sup> क्षत्रेश्वर कुण्डान्दों का गणशासक था । इन तीनों गणराज्यों में यांधेय अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली थे, जिनके सिक्कों के "द्वि" शब्द से अनुमान लगाया जाता है कि कालान्तर में इस गणराज्य में, अन्य दो गणराज्य (कदाचित् कुण्डान्द एवं अर्जुनायन) भी अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए सम्मिलित हो गये थे ।

इन गणराज्यों के अतिरिक्त मद्र, आँदुम्बर,<sup>५</sup> शिवि (मध्यमिका-चित्तौड़ के आसपास)<sup>६</sup> और मालवादि भी गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति पर चलने वाले छोटे-छोटे राज्य थे । मालवगण पहले पश्चिमी क्षत्र-जात्रपों के अधीन था । इसके एक नेता जयसोम के पुत्र श्री- (१)-सोम' ने कृत (मालव) सं० २२ में पूर्ण स्वातंत्र्य की घोषणा की । नंदसा बलिस्तम्भ लेख<sup>७</sup> इसका प्रमाण है । अभिवर्द्धमान गुप्तसाम्राज्य से इस गणराज्य की सानुपातिक अवनति होने लगी ।

### राजतंत्र —

तृतीय एवं चतुर्थ सदी में पद्मावती (ग्वालियर) और मथुरा में दो नाग परिवार राज्य कर रहे थे । कन्धे पर अविरत शिवलिंग वहन करते

१. का० ७० ई०, भाग ३, सं० १, पं० २२

२. इ० — "यांधेयगणस्य जय" (एलन) — कै० ई०, क्वा० त्रि० म्यू० (१६३६), पृ० २७६

३. इ० — भा० सि०, पृ० २३-२४

४. इ० — भागवतक्षत्रेश्वरमहात्मनः (रिप्सन) इ० क्वा० (१८६७) फ० ३, सं० १०

५. "यांधेयगणस्य जय द्वि" — इ० क्वा० (रिप्सन) फ० ३, सं० १४

६. वा० गु० २० (अतेंकर) पृ० ३०-३१

७. इ० — संक्षेप इंडि० (मुर्जी), पृ० २५३-२५४

८. हि० लि०, इ०, पृ० ५६

रहने के कारण इन्हें भारशिव भी कहा जाता था ।<sup>१</sup> जायसवाल महोदय भारशिवों का प्रारम्भिक उत्थान कान्तिपुर में मानते हैं और नवनाग (१४०-१७०ई० के लगभग ) को इस राज्यवंश का संस्थापक कहते हैं ।<sup>२</sup> वाकाटक नृपति प्रवरसेनने अपने पुत्र 'गौतमीपुत्र' का विवाह भवनाग (भारशिव) से करवाया था । वाकाटक इस वैदाहिक सम्बन्ध का उल्लेख बड़े गौरवान्वित होकर अपने शासनपत्रों में करते थे ।<sup>३</sup> प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार चतुर्थ शताब्दी में जब नागसेन - पद्मावती का तथा गणपति मथुरा का शासक था, तब समुद्रगुप्त ने इन दोनों को हराकर इनके राज्य, गुप्त साम्राज्य में मिला लिए ।<sup>४</sup> समुद्रगुप्त ने अहिच्छत्र के नाग शासक अन्युतनाग तथा आर्यावर्त के नागदत्त को भी पछाड़ा था (पं० २१) ।

अयोध्या — प्रथम शताब्दी ई० में अयोध्या और उसके आस-पास वाले भू-प्रदेश में शुङ्ग वंशधर धनदेव राज्य कर रहा था ।<sup>५</sup> पीढ़ी-क्रम से वह पुष्यमित्र का छठा वंशज था (पुष्यमित्रस्य षष्ठेन, पं० १ ) ।

वाकाटक — प्राचीन भारत की राजशक्तियों में (विष्णुवृद्ध-गौत्रीय) वाकाटकों का स्थान प्रथम पंक्ति में सुरक्षित है । विन्ध्यशक्ति (प्र०) से संस्थापित यह राजवंश पाँचवीं सदी के अन्ततक चलता रहा । विन्ध्यशक्ति (प्र०) के पश्चात् उसके पुत्र प्रवरसेन (प्र०) के समय से इस राज-वंश की दो शाखायें हो गईं— बासिम और वत्सगुल्मशाखा । बासिम शाखा में नृपतिक्रमसूची इस प्रकार है — विन्ध्यशक्ति (प्र०)—प्रवरसेन(प्र०)—गौतमीपुत्र) रुद्रसेन(प्र०) —पृथ्वीसेन (प्र०)—रुद्रसेन (द्वि०)—प्रवरसेन (द्वि०) —पृथ्वी-सेन(द्वि०) । शाखा विभाजन के पश्चात् वत्सगुल्म शाखा में सर्वप्रथम श्वसेन आता है । तदनन्तर क्रमपूर्वक विन्ध्यसेन (विन्ध्यशक्ति द्वि०) — प्रवरसेन(द्वि०)

१. ड०—वाकाटक प्रवरसेन (द्वि०) का चम्पक ताम्रपत्र, सि०ई०, भाग १,  
पृ० ४१६, पं० ४-५

२. भारत का अन्धकारयुगीन इतिहास, पृ० ६४ (सं० २०१४ काशी नगरी  
प्रचारिणी सभा )

३. ड० —प्रवरसेन (द्वि०) का सिवनी ताम्रपत्र, भा० २० ई०, भाग ३,  
पृ० २४५, पं० ६-७

४. का०ई०ई०, भाग १, सं० १, पं० २१

५. स०ई०, भाग २०, पृ० ५४-५८

(अज्ञात) — देवसेन — हरिषोठा, यह नृपति नामावली है । इन दोनों शाखाओं के प्रमुख अभिलेखों में पूना<sup>१</sup>, रिथपुर<sup>२</sup>, खिवनी<sup>३</sup>, तिरौदी<sup>४</sup>, चम्पक<sup>५</sup>, इन्दौर<sup>६</sup> शासन-पत्र एवं हरिषोठा कालीन अजन्ता गुहालेख<sup>७</sup> वत्सगुप्त्य शाखा के उत्तर-कालीन इतिहास के निर्माण में उक्त अजन्ता गुहा-लेख का विशेष सङ्योग है ।

वाकाटक हरिषोठा कालीन अजन्ता गुहालेख(सं० ४)से एक अन्य राजवंश — “अश्मक” के विषय में पता चलता है ।<sup>८</sup> ब्लॉक सं० २१ से स्पष्ट है कि यह राज्य वाकाटकों के अधीन था । सन्दर्भित अभिलेख में इस राजपरिवार के शासकों की सूची इस प्रकार है—धृतराष्ट्र, हरिसाम्ब, शौरिसाम्ब, उपेन्द्रगुप्त, (आज या) काच, भिन्नुदास, नीलदास, काच (द्वि) और कृष्णादास ।

मौखरि—एक बलि यूप स्तम्भ<sup>९</sup> से विदित होता है कि तृतीय सदी में आधुनिक कोटा राज्य में बह्वा राज्य था, जहाँ मौखरि राज्य करते थे । २३८ ई० (कृत सं० २६५) में बह्वा राज्य का राजा ‘बल’ था । उक्त यूप, ‘बल’ के ही पुत्र (तत्कालीन सेनापति) बलवर्द्धन का है (महासेनापते: मो (मो) खरे बलपुत्रस्य बलवर्द्धनस्य यूप: ।) विहार के मौखरियों से इस परिवार का सम्बन्ध अज्ञात है ।

सम्भवतः द्वितीय सदी में बघेलखण्ड में माघराज्य था । उत्तर भारत में कुषाणों की अवनत दशा देखाकर (माघ पौठसिरि के बघेलखण्ड में ही राज्य करते रहने पर उसके पुत्र) भद्रमाघ ने कुषाणा वासुदेव(प्र०) से कौशाम्बी की नी और वहाँ का स्वतंत्र शासक बन गया । कोसल के शिलाफलक<sup>१०</sup> (वर्ष

१. स०ई०, भाग १५, पृ० ३६-४४

२. सि०ई०, भाग १, पृ० ४१५-४१८

३. का०ई०ई०, भाग ३, सं० ५६

४. स०ई०, भाग २२, पृ० १६७-१७४

५. सि०ई० भाग १, पृ० ४१८-४२५

६. हि०लि०ई०, पृ० ११८-१२०

७. ७०कै०टे०वै०ई०, पृ० ६६-७१

८. वही, पृ० ७३-७६

९. बह्वा बलि यूपस्तम्भ, हि०लि०ई०, पृ० ५५-५६

१०. सि०ई०, भाग १, पृ० ३६५, पं० १

८६ कदाचित् शक सं०, अतः १६४ ई०) पर भद्रमाघ(माघ) की उपाधि 'महाराज', उससे स्वातंत्र्य की भी परिचायक है। गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजय, अनेक राजवंशों की भाँति इस वंश की भी समाप्ति-सूचना है।

गुप्तसाम्राज्य—गुप्त राज्य का संस्थापक श्रीगुप्त (ल० २४०-२८० ई०) था।<sup>१</sup> किन्तु, वाकाटक प्रभावती गुप्ता के पूना एवं रियपुर ताम्रपत्रों में (श्रीगुप्त के पुत्र) घटोत्कच को गुप्तवंश का 'आदिराज' कहा गया है—'गुप्तान [ग]मादिराजो महाराज-श्री-घटोत्कचः'<sup>२</sup>। इससे यह सख्त अनुमित है कि श्रीगुप्त का स्तर एक साधारण जमींदार से अधिक नहीं था। पूना ताम्रपत्र के सन्दर्भ से भी रा०कु०मुक्ती का 'श्रीगुप्त' के लिए प्रथम राजा कबना प्रामाणिक नहीं है।<sup>३</sup> पूना या रियपुर ताम्रपत्रों में श्रीगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं। उनमें 'आदिराज' शब्द घटोत्कच का विशेषण है। 'गुप्तादिरा[जो]' (पूना, पं० १) से मुक्ती मजोद्व्य को श्रीगुप्त का भ्रम हुआ, जब कि यहाँ 'गुप्त' शब्द गुप्त-वंश के लिए है। रियपुर ताम्रपत्र में स्पष्ट लिखा है—'गुप्तान[ग]मादिराजो महाराज-श्री-घटोत्कचस्तस्य पुत्रो महाराज श्रीचन्द्रगुप्त(रु) तस्य पुत्रः'— (रियपुर, पं० १-३)। यहाँ 'गुप्तानाम्' पद से गुप्तवंश का अर्थ स्पष्ट है। यदि रियपुर ताम्रपत्र की प्राप्ति न भी हुई होती, तब भी पूना ताम्रपत्र के आधार पर ही 'गुप्तादिरा[जो]' और '[म] ह[र]राज[ो]-श्री-घटोत्कचः' के बीच 'तस्य पुत्रः' शब्दद्वय के अभाव में, 'गुप्तादिराज' महाराज घटोत्कच या ही विशेषण माना जायेगा; उसे स्वतंत्र नाम समझना फिर भी उचित नहीं। क्योंकि पिता को कर्ताकारक में छोड़कर तदनन्तर 'तस्यपुत्र' लिखकर ही पुत्र के नामोल्लेख लिए जाने के उदाहरण इसी ताम्रपत्र में अन्य स्थलों पर द्रष्टव्य हैं।

समुद्रगुप्त की माता कुमारदेवी, लिच्छवि वंशजा श्री, उसी लिए समुद्रगुप्त को लिच्छवि बौद्धि (पूना ताम्रपत्र पं० ३) कहा जाता है।<sup>४</sup>

१. 'महाराज-श्री[गुप्त]प्रपा[त्र]स्य महाराज-श्री-घटोत्कचमात्रस्य' कुमारगुप्त (तृ) का भितरी मुद्रा (साल) हि० लि० ६०, पृ० १०३, पं० १

२. द्र० — पूना ताम्रपत्र, हि० लि० ६०, पृ० ११३, पं० १-२ ; रियपुर शासन सि० ६०, भाग १, पृ० ४१५ पं० १-२

३. संश्य इति०, पृ० २५७

४. द्र० — पूना ताम्रपत्र, पं० ३, प्रयाग प्रज्ञप्ति पं० २६ आदि



यह लिच्छवि सम्बन्ध ही चन्द्रगुप्त (प्र०) की शक्ति का कारण था । प्राचीन भारत के महान् योद्धा-सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख<sup>१</sup> एवं हरण लेख<sup>२</sup>, अभिलेख-काव्यमाला पर जड़े महत्त्वपूर्ण रत्न हैं । उसके ज्येष्ठभ्राता का नाम 'काच' था, जिसके सिक्के<sup>३</sup> से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि समुद्र-गुप्त को 'पूर्वी का पालन करो' कहने से पहले चन्द्रगुप्त (प्र०) काच को राजा बनाकर उसकी प्रशासकीय परीक्षा ले चुका था जबकि समुद्रगुप्त के समय की वह किसी प्रदेश का स्वतंत्र शासक रहा नो । समुद्रगुप्त के उपरान्त वंग-युद्ध में बाहु विक्रम विक्रम दिखाने वाला, वास्तुिक विजेता<sup>४</sup> चन्द्रगुप्त (द्वि०) विक्रमादित्य, ३७५ ई०<sup>५</sup> में सिंहासनारूढ़ हुआ । दो उद्यागिरि गुहालेखों<sup>६</sup> से सम्बन्धित सनशानिक तथा कौत्सश्शाव वीरसेन, चन्द्रगुप्त के मंत्री थे । उसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक रुद्रसेन (द्वि०) से हुआ था ।<sup>७</sup>

चन्द्रगुप्त (द्वि०) के पश्चात् सम्भवतः ४१३ ई० में उसका पुत्र कुमारगुप्त (प्र०) सिंहासनासीन हुआ । विभिन्न प्रकार के सिक्कों के अतिरिक्त उसके समय के प्रमुख अभिलेखों में दो गहवा शिलालेख<sup>८</sup>, विलसद स्तम्भलेख,<sup>९</sup> मान-कुँवर बुद्धलेख,<sup>१०</sup> एवं धानादहन ताम्रपत्र<sup>११</sup> हैं । कुमारगुप्त (प्र०) का भाई गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति का गोप्ता था । तीरभुक्ति की प्रान्तीय राजधानी वैशाली से प्राप्त मुद्राओं (SEALS) से तत्कालीन प्रान्तीय-अधिकारियों एवं संस्थाओं की ( प्रशासकीय दृष्टिकोण से ) महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है।<sup>१२</sup>

- १: का०इ०ई०, भाग १, सं० १
- २: वही, सं० २
३. गु०मु०, फ०- २०, सं० ११ तथा 'काचो गामविजित्य दिवं कर्माभिरुत्तमैर्जयति'  
-भा०सि०, पृ० १५७
- ४: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ३२, श्लोक १
५. गुप्त सं० ६१ ( ३८० ई०) के मथुरास्तम्भलेख के समय उसका पाँचवां राज्य  
सं० चल रहा था-जि०लि०इ०, पृ० ७८, पं० ३
- ६: जि०लि०इ०, पृ० ७६ तथा वही, पृ० ८० (क्रमशः)
७. रिथपुर० पं० ७-६, पूना० पं० ७-१०; प्रभावती गुप्ता के पुत्र प्रवरसेन (द्वि०)  
का सिवनी ताम्रपत्रासन, का०इ०ई० भाग ३, सं० ५६, पृ० २४६, पं० १५-१६  
इत्यादि ।
- ८: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ८, ६
- ९: वही, सं० १०
- १०: वही, सं० ११
११. सि०इ०, भाग १, पृ० २८०-२८२ । १२-इ०-सि०इ० विहार, पृ० ८-६

कुमार गुप्त के पश्चात् पुष्यमित्रजेता (भितरीलेख श्लोक ४),  
 झुणों को करके उनके तात्कालिक आक्रमणभय को दूर करने वाला, (भितरी-  
 श्लोक ८) सुराष्ट्र में <sup>राज्य</sup> प्रभाव-संस्थापक (जुनागढ़ श्लोक १९) स्कन्दगुप्त क्लृप्त  
 सिंहासनाब्द हुआ। अपने बाहुबल के कारण ही वह "विचलितकुलतन्त्री" को  
 फिर प्रतिष्ठापित करने में सफल हो सका था (भितरी श्लोक ६)। उसके  
 समय के प्रमुख लेखों में जुनागढ़ शिलालेख,<sup>१</sup> भितरी लेख,<sup>२</sup> विहार स्तम्भ लेख<sup>३</sup>  
 कर्नाम स्तम्भ लेख<sup>४</sup> इन्दौर ताम्रपत्र<sup>५</sup> हैं।

स्कन्दगुप्त सहित बाद के गुप्त नृपतियों की तालिका<sup>६</sup> नीचे  
 द्रष्टव्य है। प्रमुख अभिलेख, सम्पन्नित नृपतियों के नीचे अंकित हैं :—

|                                     |   |   |
|-------------------------------------|---|---|
| कुमारगुप्त एवं देवकी से<br>उत्पन्न— | सम्भवतः पृथक्<br>प्रदेशों में दोनों<br>का समकालीन<br>शासन | कुमारगुप्त एवं अनन्तदेवी<br>से उत्पन्न पुरुगुप्त <sup>७</sup><br>(पूर्वासांप्राज्य का शासक ?) |
| "स्कन्दगुप्त"                       |   |   |

|   |  |
|---|--|
| कुमारगुप्त (द्रि)<br>(४७२-४७७-७८ ईसवी)<br>(सारनाथ खुदमुक्तिलेख <sup>८</sup> ) | नरसिंहुगुप्त बालादित्य<br>(४८६-४७२ ई०) |
|---|--|

|   |  |
|---|--|
| बुधगुप्त (४७७-८-५०० ई०)<br>(झुणों के कारण साम्राज्य पतन)<br>(लेख—दो दामोदरपुरपत्र <sup>९</sup> सारनाथ बौद्ध-<br>मुक्तिलेख <sup>६</sup> तथा शरणस्तम्भलेख <sup>१०</sup> ) | कुमारगुप्त (तृ०)<br>(भितरी मुद्रा) <sup>१२</sup> |
|---|--|

भानुगुप्त (५१०-११ तथा ५३३-३४ ई०) (तिथियाँ प्राप्त)  
 (झुणनेता तोरमाण एवं मिहिरकुल का अधीनस्थ शासक)  
 (भानुगुप्त तथा शरभराज दौहित्र गोपराजका शरण स्तम्भलेख<sup>११</sup>)

- 
१. का० ई० ४६०, भाग ३, सं० १४; ७. आ० स० ४६०, (एकुर्गि०) पृ० १२४  
 २. वही, सं० १३; ८. तथा प्र०— हि. कि. इ., पृ० १०२  
 ३. वही, सं० १२; ९. ए० ई०, भाग १५, पृ० १३४-१३६ (दोनों)  
 ४. वही, सं० १५; १०. वि० लि० २००, पृ० १०३-१०४  
 ५. वही, सं० १६; ११. वि० लि० २००, पृ० १०६, यह लेख बुधगुप्त के  
 ६. द्र०— वि० ४० सा० ४६० (सेवेल-आयंगर, मद्रास) पृ० ३४६-३५०  
 ७. वि० लि० २००, पृ० १०८-१०९  
 ८. इस (भितरी) मुद्रा में गुप्तवंश-क्रम

श्रीगुप्त से प्रारम्भ होकर कुमारगुप्त (तृ०) में आकर समाप्त होता है। इसकी



एक अतिरिक्त गुप्त शासक 'वैव्यगुप्त' पूर्वी बंगाल में शासन कर रहा था, जिसकी सूचना गूढाघर ताम्रपत्र<sup>१</sup> से प्राप्त होती है। किन्तु इसमें कहीं यह उल्लेख नहीं कि गुप्त सम्राटों के साथ उसका क्या सम्बन्ध था ।

गुप्त सम्राटों के सन्दर्भ में परिव्राजक नृपतियों के विषय में कहना प्रसंगानुसृत है । यह परिव्राजक राजपरिवार अपने शासन पत्रों में गुप्त संवत् का प्रयोग करता था और किसी सीमा तक गुप्त सम्राटों का आधिपत्य स्वीकार करता था । परिव्राजक हस्तिन् के १५६ ( गुप्त सं० (४७५ ई०) एवं १६३ गुप्त सं० (४८२ ई०) के दो लोह ताम्रपत्रों<sup>२</sup> और गुप्त सं० १६१ (५१० ई०) के मरुगवम् ताम्रपत्र<sup>३</sup> से स्पष्ट है कि वह, कुमारगुप्त (द्वि०) बुधगुप्त एवं कुछ सीमा तक भानुगुप्त के आधिपत्य को स्वीकार करता था । भुमरा प्रस्तरस्तम्भ लेख<sup>४</sup> वाला सर्वनाथ इसी हस्तिन् का भोगपति (राज्यपाल) (महाराजसर्वनाथ भोगे) था । हस्तिन् के पुत्र का नाम संज्ञोभ था, जिसका २०६ गुप्त सं० का लोह ताम्रपत्र है ।<sup>५</sup> उच्छकलम्प के महाराजाओं में जयनाथ के दो कन्तलाई ताम्रपत्र<sup>६</sup> एवं उसके पुत्र सर्वनाथ के चार लोह ताम्रपत्र<sup>७</sup> उल्लेखनीय हैं ।

पूर्वी भारत के कुछ स्थानीय राजा—इन शासकों में फरीदपुर ताम्रपत्रों<sup>८</sup> का गोपबन्ध, दो अन्य फरीदपुर ताम्रपत्रों में<sup>९</sup> उल्लेख-प्राप्त

पिछले पृष्ठ का शेष—कारियों के नाम नहीं हैं, वंशक्रम दूसरी शाखा (पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त एवं कुमार गुप्त तृ० ) की ओर मुड़ जाता है — द्र०, लि० लि० ६०, पृ० १०२—१०३

१: सि० ६०, भाग १, पृ० ३३१-३३५

२: का० ६० ई०, भाग ३, सं० २१, एवं २२ (दोनों)

३: वही, सं० २३

४: वही, सं० २४

५: वही, सं० २५

६: वही, सं० २६ ; २७

७: वही, सं० २८, २९, ३०, ३१

८: सि० ६०, भाग १, पृ० ३५७-३५९

९: वही, पृ० ३५०-३५६ (दोनों)

धर्मादित्य, वप्पघोषवाट दानलेख<sup>१</sup> वाला कासिवर्णार्थिधरपति जयनागऔद्युगा-  
जातिआलापत्र<sup>२</sup> का समाचारदेव, प्रसिद्ध हैं। मत्स्यपुराण शासनपत्र<sup>३</sup> की  
पुढा पर अंकित विजयसेन ("महा]राजविजय[से]नस्य") उपर्युक्त गोपचन्द्र  
का अधीनस्थ शासक था ("महाराजधिराज-श्रीगोप[चन्द्र] प्रशासति," पं० २-३)।

उत्तरगुप्त—आदित्यसेन के अपसद्<sup>४</sup> शाहपुर,<sup>५</sup> मन्दार पर्वत-लेख<sup>६</sup>  
तथा जीवितगुप्त(द्वि०) के देवहरणार्क अभिलेख<sup>७</sup> से मगध में राज्य करने वाले  
इस वंश के इतिहास का सूत्र मिलता है। इस राजकुल में ग्यारह राजा  
हू, जिनमें आदित्यसेन विशेष प्रभावशाली था। उसने हर्ष की मृत्यु के  
पश्चात् कन्नौज अथवा थानेश्वर के प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त किया।  
इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि ये उत्तरकालीन गुप्त, गुप्त-सम्राटों से  
भिन्न थे।

मौखरी—उत्तरगुप्तों के साथ सदैव युद्धनिरत रहने वाले इस राज-  
वंश के विशेष इतिहास का ज्ञान ईशानवर्मन् के हरह लेख<sup>८</sup> से प्राप्त होता  
है। ईशानवर्मन् के पूर्ववर्ती नृपति थे—हरिवर्मन्, आदित्यवर्मन् तथा ईश्वर-  
वर्मन्। उत्तरवर्ती राजाओं के इतिहास के निर्माण में शर्ववर्मन् की असीरगढ़-  
पुढा<sup>९</sup> एवं अनन्तवर्मन् के बराबर<sup>१०</sup> तथा नागार्जुनी<sup>११</sup> शैलगुहा-लेखों से सहायता

१: ए०ई०, भाग १८, पृ० ६१-६४

२: वही, भाग १८, पृ० ७४-८६

३: सि०इ०, भाग १, पृ० ३५६-३६४

४: डि०लि०इ०, पृ० १४६-१५३

५: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ४३

६: वही, सं० ४४; ४५

७: वही, सं० ४६

८: डि०लि०इ० पृ० १४१-१४४

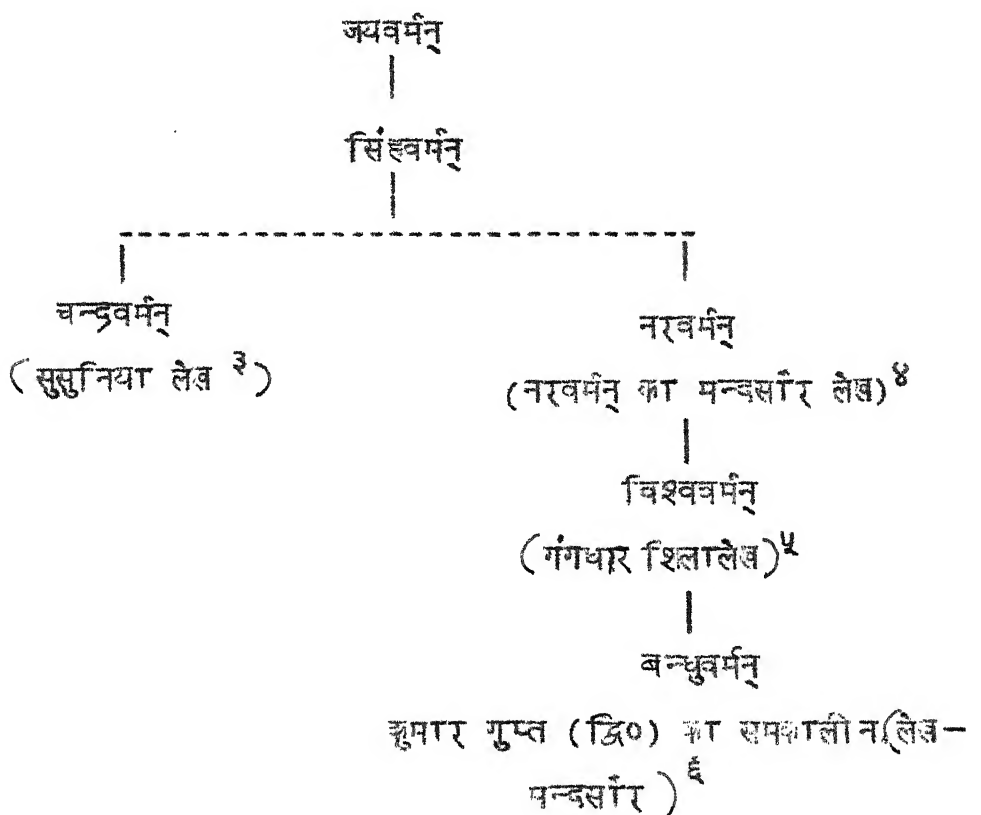
९: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ४७

१०: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ४८

११: वही, सं० ४६, एवं ५०

मिलती है। ईशानवर्मन् शर्ववर्मन् आदि के सिक्के भी प्राप्त होते हैं।<sup>१</sup> इस वंश का अन्तिम राजा गृह्वर्मा था, जिसके<sup>साथ</sup> हर्ष की कन्या राज्यश्री का विवाह हुआ था।

पश्चिमी मध्यप्रदेश एवं राजस्थान—(सम्भवतः) पुष्करणा(पोखरणा जोधपुर) को राजधानी बनाए, गुप्त सम्राटों के प्रभुत्व को मानने वाले जोधपुर और मन्दसौर के मध्यवर्ती भू-प्रदेश पर त्रिविजय राजा राज्य करते थे। सा०सं० ४७४ के विहारकोत्र लेख<sup>२</sup> में नरवर्मन् को औलिकरवंशज कहा गया है। अतः यह वंश औलिकर नाम से ही व्यवहृत होना चाहिए। अभिलेखों के आधार पर इन त्रिविजयों का वंशक्रम अधोलिखित है —



१. ड०—कै० क्ला० गु०. पा०, पृ० ३६-४०

२. ए० इ०, भाग २६, पृ० १३०-१३२ ( 'महाराज नरवर्मणाः औलिकरस्य' पंक्ति १ )

३. ए० इ०, भाग १३, पृ० १३३, टि०—जी हरप्रसाद शास्त्री ने मेहरोली लौहस्तम्भलेख (का० इ० इ०, भाग ३ सं० ३२ ) को इसी चन्द्र का माना है ( ड०—ए० इ० भाग १२, पृ० ३१८ )। लेकिन यह मत अधिकांश विद्वानों को मान्य नहीं।

४. ए० इ०, भाग १२, पृ० ३१५-३२१

५. का० इ० इ०, भाग ३, सं० १७

ऑलिकर और हूण-बन्धुवर्मन् के पश्चात् ऑलिकर-वंश अन्तः—  
सकिला की धारा बन गई । तदनन्तर इस अधीनस्थ वंश का सस्सा उत्थान  
ऑलिकर लांछन<sup>१</sup> यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन) के समय हुआ; वह पूर्ण स्वतंत्र  
होकर धूमकेतु की भाँति इतिहास के आकाश पर उदित हुआ । उसने हूण  
नृपति मिहिरकुल को परास्त किया (—[बृ]हस्पत्योपहारं भिर्माहिरकुलनृपे-  
णागच्छितं [पावयुग्मं] ?) और समग्र उत्तर भारत को अपने शौर्य से परिचित  
कराया । उसी के कारण मध्यभारत में हूणों की बढ़भूल प्रभुता उलझी ।  
गुप्त साम्राज्य की अवनति के बाह्यकारणभूत हूण, ५०० ई० के लगभग  
तोरमाण के नेतृत्व में मालवा तक पहुँच गए थे, परण बराह लेख,<sup>३</sup> उसके  
प्रथम राज्यवर्ष (मध्यभारतमें)का है । मिहिरकुल उसी का पुत्र था, जिसके  
पन्द्रहवें राज्यवर्ष में गोपगिरि (ग्वालियर) पर सूर्यमन्दिर का निर्माण  
हुआ ।<sup>४</sup>

माहिष्मती—कानाखेरा शिलालेख<sup>५</sup> (लगभग ३५९—५२ ई०) से  
माहिष्मती में सामन्तस्तरीयशासक शकनन्द पुत्र श्रीधरवर्मन् की सूचना मिलती  
है । कल० सं० १६७ ( ४१५ ई० ) में इसी नगर के समीपवर्ती भू-प्रदेश पर  
बहवानिशसन-पत्र के उद्घोषक महाराज सुवन्धु का आधिपत्य था ।<sup>६</sup>

वत्स-महाराज— वत्स से उद्घुष्ट और इन्दौर में प्राप्त स्वामि-  
दास और भुलुण्ड के शासन-पत्र<sup>७</sup> इस नये राजवंश के अस्तित्व की स्पष्ट  
सूचना देते हैं । "महाराज" और "परमभट्टारक पादानुध्यात" उपाधियों  
के प्रयोग से इन्हें स्वतंत्र राजाओं का स्तर नहीं दिया जा सकता । भुलुण्ड  
का उत्तराधिकारी रुद्रदास था, जिसका कल० सं० ११७ ( ३६५—६६ ई० )  
का सिरपुर शासन-पत्र<sup>८</sup> है ।

१. प्रख्यात ऑलिकरलांछनमात्मवंशः—यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भलेख

का० इ० ई०, भाग ३, सं० ३५, श्लोक ६

२. यशोधर्मदेव, का मन्दसौर स्तम्भ लेख, का० इ० ई०, भाग ३, सं० ३३,  
श्लोक ६

३. हि० लि० इ०, पृ० १३८—१३९

४. ग्वालियर शिलालेख, हि० लि० इ०, पृ० १३९—१४१

५. का० इ० ई०, भाग ४, सं० ५ (जे० त्रिपाठी)

६. वही, सं० ६

७. म० ई०, भाग १५, पृ० २८३—२८१ (दो शासनपत्र)

गुर्जरवंश — सातवीं सदी में, शीलादित्य और अपराजित के मेवाड़ में राज्य करते रहने की सूचना क्रमशः सामोली<sup>१</sup> और उदयपुर लेख<sup>२</sup> से प्राप्त होती है। वर्ष सं० ४८ और ८३ वाले शासनों के उद्घोषक क्रमशः 'भाववित्' और 'भामट' भी इसी वंश के शासक थे।<sup>३</sup>

वलभी — वलभी के मैत्रक राजवंश का संस्थापक, सुराष्ट्र के गोप्ता के अधीन कार्य करने वाला गुप्तसाम्राज्य का प्रान्तीय सेनापति भटार्क था। तब से सातवीं सदी तक इस वंश में शीलादित्य(च०) समेत १६ राजा हुए।<sup>४</sup> उत्कृष्ट गद्य के उदाहरणभूत वलभी शासनपत्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं। उनमें, ध्रुवसेन(प्र०) के तीन पलिताना<sup>५</sup> एवं (एक) भावनगर शासन-पत्र,<sup>६</sup> धरसेन (द्वि०) के पलिय,<sup>७</sup> पलिताना<sup>८</sup> एवं फर लेख,<sup>९</sup> शीलादित्य (प्र०) के नवलाही,<sup>१०</sup> पलिताना,<sup>११</sup> धाक शासन<sup>१२</sup>, शीलादित्य(द्वि०) का लुणसडि ताम्रपत्र<sup>१३</sup> तथा शीलादित्य (तृ०) के देवली,<sup>१४</sup> जेसर<sup>१५</sup> आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपनी ऐली एवं प्रशासकीय विषय सामग्री के लिए वलभी के मैत्रकों के सन्दर्भ में 'लोहाटा' नगर से उद्घुष्ट विष्णुधोपा का स्थिति -

१. ए०ई०, भाग २०, पृ० ६७-६६
२. वही, भाग ४, पृ० २६-३२
३. वही, भाग ३४, पृ० १६७-१७६
४. वंशतालिका, ६०-ई०ई०ई०, भाग ५, पृ० २०८
५. ए०ई०, भाग ११, पृ० १०५-११४
६. वही, भाग १५, पृ० २५५-२५८
७. का०ई०ई०, भाग ३, सं० ३८
८. ए०ई०, भाग ११, पृ० ८०-८५
९. भाव०, पृ० ३१-३२
१०. ए०ई०, भाग ११, पृ० १७४-१८०
११. वही, भाग ११, पृ० ११५-११८
१२. ई०ई०ई०, भाग ६, पृ० २३७-२३६
१३. भाव०, पृ० ४५-४६
१४. भाव०, पृ० ५५-५८
१५. ए०ई०, भाग २२, पृ० ११४-१२०

व्यवस्था-पत्र<sup>१</sup> अभिलेखों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। विष्णु-  
गीता ( लगभग ५८६-६०५ई) सम्भवतः मंत्रक था।<sup>२</sup> उसकी उपाधियों  
(पं० १) से स्पष्ट हो जाता है कि वह विषयपाति से ऊपर, 'कमिश्नर'  
के स्तर का, एक राजकीय अधिकारी मात्र था।

गारुलक-वलभी नरेशों की अपना अधिराज मानने वाले  
सामान्तस्तरीय इस वंश में सेनापति वराहदास (५०), ( उसके दो पुत्र )  
सामन्त भट्टिश्वर तथा महासामन्त वराहदास (द्वि) और सामन्तमहाराज  
सिंहादित्य (वराहदास द्वि० का पुत्र ) प्रभृति शासक हुए। यह वंशक्रम,  
सिंहादित्य के पलिताना दानपत्र<sup>३</sup> ( गु० वलभी सं० २५५= ५७४ ई० ) से  
प्राप्त होता है। उक्त वंशपरिगणन में उपाधियों की उत्तरोत्तर सशक्तता  
देकर ऐसा प्रतीत होता है कि गारुलक शासक जनेः जनेः स्वातंत्र्य की  
ओर उन्मुख होने लगे थे।

गुजरात के चालुक्य -- जिस प्रकार कुब्ज विष्णुवर्धन के  
नेतृत्व में हरीतिपुत्र चालुक्यों की एक शाखा, शासन करने के लिए पूर्व  
की ओर गई; उसी प्रकार सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, विक्रमादित्य (५०)  
के अनुज धराश्रय जयसिंह (पुलकेशिन् द्वि० के पुत्र ) के नेतृत्व में दूसरी  
शाखा दक्षिण गुजरात में भी आई। नासिक शासन-पत्र<sup>४</sup> इसी धराश्रय  
का है। उसका पुत्र युवराज ध्याश्रय शीलादित्य था, जिसके नवसारी,<sup>५</sup>  
सुरत,<sup>६</sup> मुद्गपट्ट<sup>७</sup> शासन-पत्र हैं।

गुर्जरवंश- लगभग ५७० ई०से भरकच्छ (भड़ौच) के आस-  
पास वाले प्रदेश पर कलचुरि यदि सम्बत् से अपने शासन-पत्र अंकित करने

१: ए०ई०, भाग ३०, पृ० १६३-१८१

२: वही, पृ० १६६

३: ए०ई०, भाग ११, पृ० १६-२०

४: का०ई०ई०, भाग ४, पृ० १२७-१३१

५: वही, पृ० १२३-१२७ (६६६-७०ई०)

६: वही, पृ० १३२- १३७

७: ए०ई०, भाग ३४, पृ० ११७-१२२

वर्तमान सामन्तराज्य गुर्जरनृपतियों का आधिपत्य था । विशिष्ट और सशक्त गण के लिए इस वंश के दान लेख महत्वपूर्ण हैं । शासकों की पर्यन्त गुर्जर-नृपों की नामावली<sup>१</sup> इस प्रकार है — दद (प्र०), जयभट (प्र०) 'वीतराग', दद (द्वि०) 'प्रशान्तराग', जयभट (द्वि०), दद (तृ०) 'बाहुसहाय' और जयभग (तृ०) । इनके अभिलेखों में दद (द्वि०) प्रशान्तराग के दो शिरीषपत्रक दानलेख<sup>२</sup> तथा दो (संक्षेप) शासन-पत्र (दोनों कल० सं० ३६२)<sup>३</sup> उसके भाई (वीतराग के पुत्र) रणगुप्त का संक्षेप शासन<sup>४</sup> और दद (तृ०) बाहुसहाय का प्रिन्स आब वेल्स 'व्यूजियम दानलेख'<sup>५</sup> — उल्लेखनीय हैं ।

वर्द्धन एवं अन्यान्य समकालीन राजवंश— वर्द्धन इतिहास के ज्ञानस्रोतों में यात्रा विवरण (ह्वेनसांग), हर्षचरित आल्यायिका (बाणभट्ट), ताम्र शासन,<sup>६</sup> मुद्रा<sup>७</sup> एवं सिक्के<sup>८</sup> हैं । अभिलेखों (उक्त अन्तिम तीन) के अनुसार पुत्रक्रम से इस वंश में, नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन (प्र०) आदित्यवर्द्धन, प्रभाकरवर्द्धन एवं राज्यवर्द्धन (द्वि०) नृपति हुए । 'प्राणानुष्कितवानराति भवने' — बांसखेड़ा — पं० ६ ) में राज्यवर्द्धन (द्वि०) के मारे जाने पर ६०६ ई० में 'वर्द्धनसकलान्तरापथेश्वर' हुआ, जिसकी दत्तिगोन्मुख विजयीया को चालुक्य पुलकेशिन् (द्वि०) ने नर्मदा के युद्ध में रौंद दिया था ।<sup>९</sup> इतिहासविभूत दानी होने पर भी हर्ष के दो ही दानलेख (बांसखेड़ा एवं मधुवन) उपलब्ध होते हैं । जबकि उसके नाम की अन्यान्य नृपतियों से अधिक दानलेखों से सम्बद्ध होना चाहिए था । ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष के अन्य दानलेख या सिक्के उत्तरवर्ती

१. प्र०० मिराशी की तालिका, का०६०६०, भाग ४ (क०६ १), भूमिका, पृ० १६०

२. प्रथम (कल०सं० ३८०) — प्रा००ले०मा०, भाग २, पृ० ४१-४४; द्वितीय — (कल०सं० ३८५) का०६०६०, भाग ४, सं० १७

३. ६०६ ई०, भाग ५, पाठ्य पृ० ३६-४१ (दोनों); टि० चूलर महोदय ने इन शासन-पत्रों के उद्घोषक को भ्रम से दद (प्र०) कहा । किन्तु मिराशी महोदय उसे उचित की दद (द्वि०) मानते हैं, द्र० — का०६०६०, भाग ४, सं० १६; २०

४. का०६०६०, भाग ४, सं० १८

५. ६०६ ई०, भाग २७, पृ० १६७-२०१

६. द्र० — बांसखेड़ा, हि०लि०६०, पृ० १४५-४७ और मधुवन, ६०६ ई०, भाग ७ पृ० १५५-६०

७. सोनपल मुद्रा, का०६०६०, भाग ३, सं० ५२



विदेशी आक्रमणकारियों के कारण नष्ट हो गए ।

हर्ष का ही समकालीन बंगाल में उसके अग्रज राज्यवर्द्धन का वध-कर्त्ता शशांक था । सुमण्डल एवं कणासो ताग्रपत्रों से उसके पूर्वज पृथ्वीविग्रह एवं लोकविग्रह के नाम ज्ञात होते हैं । विग्रहान्त नाम होने से श्री सत्यनारायण राजगुरु इस वंश को विग्रहवंश ही कहते हैं और इस प्रकार शशांक का पूर्ण नाम शशांकविग्रह निर्धारित करते हैं ।<sup>१</sup> शशांक का प्रभुत्व कलिंग तोषाली और काँगोदमण्डल तक व्याप्त था । ६१६ ई० के गंगाम शासन पत्र<sup>२</sup> में स्पष्ट रूप से शैलोद्भव सैन्यभीत माधववर्मा (द्वि०) उसे अपना अधिराज स्वीकारता है । दो मिदिनापुर ताग्रपत्र<sup>३</sup> इसी नृपति से सम्बद्ध हैं । रोहतासगढ़ मुद्रा<sup>४</sup> में शशांक के लिए महासामन्त कहा गया है । हो सकता है किन्हीं राजनीतिक कारणों से इस समय उसकी शक्तिक्षीण रही हो अथवा यह मुद्रा उसके पतनोन्मुख उत्तरकालीन जीवन की हो क्योंकि कुछ स्तम्भ समय पश्चात् तो शैलोद्भव नृपति भी उससे स्वतंत्र हो गए थे ।

कामरूप (प्राग्ज्योतिष) में हर्ष का समसामयिक मित्र-नृपति भामनारक वंशज भास्करवर्मा था । निधानपुर<sup>५</sup> एवं दूबि ६ शासन-पत्रों से आदि-पुरुष नरक से लेकर भास्करवर्मन् तक इस वंश की विस्तृत वंशावली का ज्ञान होता है । भास्करवर्मा इस वंश का सोलहवाँ राजा था । बहगंग लेख<sup>७</sup> इस राजवंश के नवम नृपति भूतिवर्मन् के समय का है ।

उत्तरी सीमावर्तीराज्य— गढ़वाल के कुछ भाग सहित अल्मोड़ा में पौरव नृपतियों का पर्वताक्षर राज्य था, जिसकी एक सीमा रुहेल-

१. ज० आर्० हि० रि० सो०, भाग १६, ( १६४८-१६४९ ), पृ० ११६-१२० .

२. ए० ई०, भाग ६, पृ० १४३-१४६

३. ज० आर्० हि० रि० सो० (लेटर्स), भाग ११ (१६४५), पृ० १-६

४. का० इ० ई०, भाग ३, सं० ७८

५. हि० लि० इ०, पृ० २३५-२४०

६. ए० ई०, भाग ३०, पृ० २८७-३०४

७. वही, पृ० ६२-६७ (भाग ३०)



सोह तक पहुँचती थी । सातवीं सदी के दो तलेश्वर वृषाताप शासन-पत्र<sup>१</sup> से इस वंश के दो राजाओं (धुतिवर्मन् तथा विष्णुवर्मन्) के नाम ज्ञात होते हैं । इनकी राजधानी ब्रूमपुर रही होगी, क्योंकि उल्लिखित दोनों शासन पत्र इसी स्थान से उद्भूत उद्घुष्ट हैं । बाढ़ाहाट (उत्तरकाशी) त्रिशूल लेख<sup>२</sup> के अनुसार लगभग सातवीं सदी में टिहरी गढ़-वाल के गंगोत्री-उत्तरकाशी-प्रदेश में 'गुह' नामक एक राजा राज्य करता था, जिसके पिता का नाम 'गणेश्वर' था ।

लाखामण्डल शिलालेख<sup>३</sup> से, पंजाब के कुछ भाग समेत जिनसार भास्कर के भू-प्रदेश में राज्य करने वाले बारह यदुवंशी राजाओं के इतिहास का पता चलता है । १२ वें राजा भास्कर की पुत्री ईश्वरा जालंधर के राजा चन्द्रगुप्त की व्याही थी । मण्डारकर मञ्जुदय के अनुसार लाखामण्डल लेख सातवीं सदी का है ।<sup>४</sup> चण्डेश्वरईस्तिन् के साल्ही (मण्डी) लेख<sup>५</sup> से लगभग चतुर्थसदी में वरसगौत्रीय एक राजवंश के अस्तित्व का पता चलता है। इस वंश का राज्य वर्तमान हिमाचल प्रदेश के कुछ भू-भाग पर था ।

### दक्कन —

दक्कन के इतिहास में चालुक्यों का विशिष्ट स्थान है । वातापि (वदामि) को राजधानी बनाए हुए पश्चिमी दक्कन में राज्य करने वाले चालुक्यों को पश्चिमी चालुक्य कहा जाता है, जिनका प्रारंभिक वंशक्रम<sup>६</sup> नीचे द्रष्टव्य है —

१. ए० ई०, भाग १३, पृ० १०६—१२१

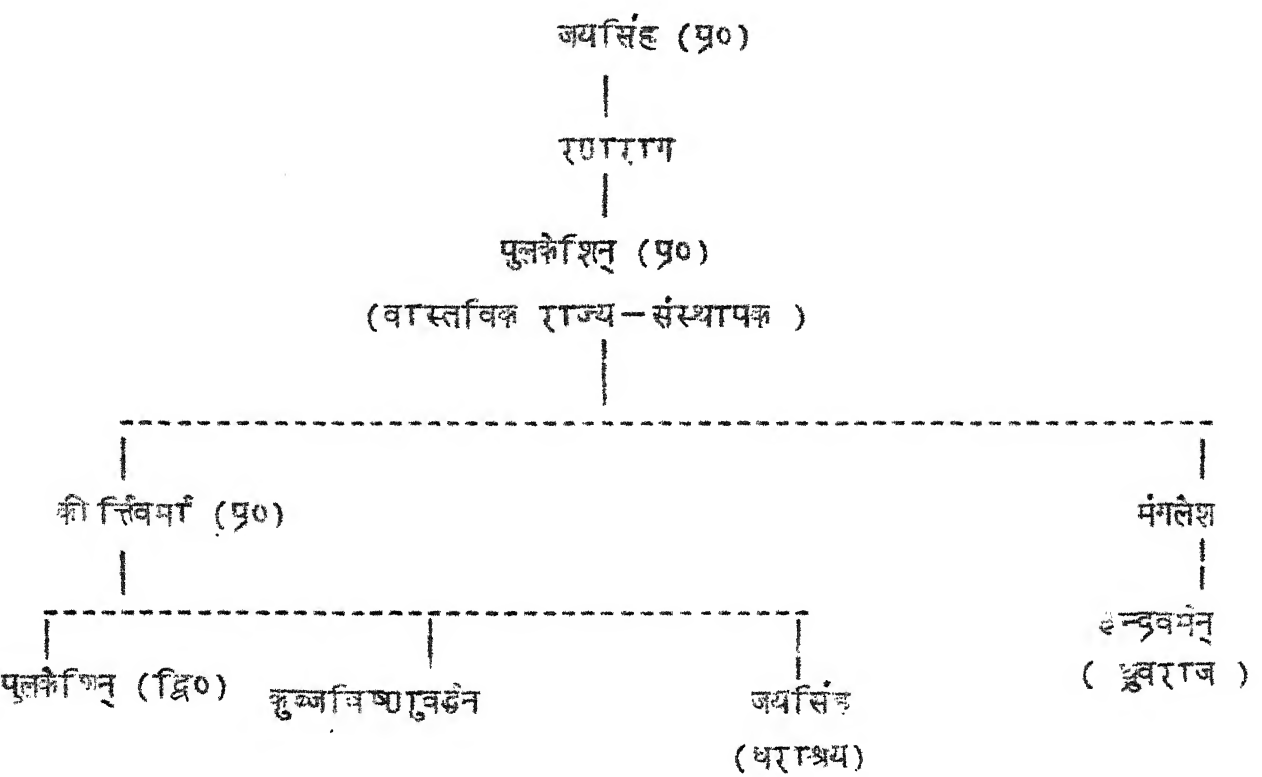
२. उ० या० द०, पृ० ५२०—५२१

३. ज० १०१०१०१० (त्रि० ग०), भाग २०, पृ० ४५२—४५७

४. मण्डारकर लि० — पृ० २५२, पा० टि० ६

५. ए० ई०, भाग ३५, पृ० ६६—६८

६. इ० — त्रि० १०१०१०१०, पृ० ३३४



ऐहोल लेख<sup>१</sup> से पुलकेशिन् (द्वि०) तक सभी प्रारम्भिक पश्चिमी चालुक्यों के व्यक्तिगत विजयों एवं गृहकलहों की जानकारी प्राप्त हो जाती है। पुलकेशिन् (द्वि०) के पश्चात् सातवीं सदी तक के पश्चिमी चालुक्यों में पुत्रक्रम से विक्रमादित्य (प्र०), विजयादित्य तथा विजयादित्य उल्लेखनीय हैं। विजयादित्य का समय ६६६-७३३ ई० निर्धारित है।<sup>२</sup> चालुक्य वंशक्रम दिखलाने वाली पिछली तालिका से स्पष्ट है कि पुलकेशिन् (प्र०) के पश्चात् कीर्तिवर्मा राजा बना; किन्तु मुघोल ताम्र-शासन<sup>३</sup> के उद्घोषक पुण्ड्रवर्मन् को पृथिवीवल्लभ (पुलकेशिन् प्र०) का 'अग्रसूनु' (पं० ५-६) कहा गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि पुण्ड्रवर्मन् की मृत्यु, अपने पिता के जीवन काल में ही हो गई थी और उसे सिंहासनारूढ़ होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। कीर्तिवर्मा (प्र०) के पश्चात् और पुलकेशिन् (द्वि०) से पहले मंगलेश सिंहासनारूढ़ हुआ था। महाकूट स्तम्भ लेख<sup>४</sup> इसी मंगलेश का है।

पुलकेशिन् (द्वि०) की पत्न्यव नरसिंह वर्मन् (प्र०) के हाथों पराजित होने की घटना लगभग ६४२ ई० की है। उसके पश्चात् ६५५ ई० में

१: ई० ऐंटी० भाग ५, पृ० ६७-७३

२: हि० इ० सा० ई०, पृ० ३३४

३: ए० ई०, भाग ३२, पृ० २६३-२६८

४: ई० ऐंटी०, भाग १६, पृ० ७-२०

उसका पुत्र विक्रमादित्य (प्र०) सिंहासनासीन हुआ । तेरह वर्ष के इस बीच के अन्धकार को भरने में अभिनवादित्य का नैलकुन्द शासन-पत्र<sup>१</sup> बहुत सहायक सिद्ध हुआ । अभिनवादित्य, जैसे कि इस शासन-पत्र में वर्णित है, पुलकेशिन् (द्वि०) के ज्येष्ठ पुत्र आदित्यवर्मा का पुत्र था । जो सक्षता है कि पश्चिमी चालुक्यों के तेरह वर्षीय इस अन्धकार युग में आदित्यवर्मा एवं अभिनवादित्य ही अपनी शक्तिशील स्थिति में राज्य करते रहे होंगे । परिणामतः प्रसिद्ध यौद्धा विक्रमादित्य (प्र०) ने कालान्तर में राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेकर चालुक्य प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित किया ।

अभिलेखीय साहित्य को पश्चिमी चालुक्यों की भी बड़ी देन है । इनके अन्यान्य उल्लेखनीय लेखों में पुलकेशिन् (द्वि०) के कोप्परम्<sup>२</sup>, नेरूर<sup>३</sup>, माकरप्पि एवं अन्य ग्राम सम्बन्धी शासन पत्र<sup>४</sup> मरुदूरु<sup>५</sup> तथा तुम्पे-यनूरु शासन<sup>६</sup> और येकैरी शिलालेख<sup>७</sup> विक्रमादित्य (प्र०) का चिन्तकूण्ठ ग्राम दानलेख<sup>८</sup> तल्लमंचि<sup>९</sup>, उपरुमकल<sup>१०</sup> वेलनल्लि<sup>११</sup> जेजुर शासन-पत्र, विनयादित्य के दम्यमादिन्ने<sup>१२</sup> जेजुरी<sup>१३</sup> कर्नूल<sup>१४</sup> हरिहर<sup>१५</sup> पणायल<sup>१६</sup>

- १: ए०ई०, भाग ३२, पृ० २१३-२१६
- २: वही, भाग १८, पृ० २५७-२६०
- ३: इ०एचि०, भाग ८, पृ० ४३-४४
- ४: इ० एचि०, भाग ६, पृ० ७२-७५
- ५: इ०-का०प्ले०इ०, आ०प्र०, म्यू०, भाग १
- ६: वही
- ७: ए०ई०, भाग ५, पृ० ६-६
- ८: इ० एचि०, भाग ६, पृ० ७५-७८
- ९: क०प्ले० क०इ०का०प्ले०स्टो०, निलोर डि०, भाग १, पृ० १८६-१८५
- १०: का०प्ले०इ०आ०प्र०म्यू०, भाग १
- ११: वही
- १२: ए०ई०, भाग २०, पृ० २४-२६
- १३: ए०ई०, भाग १६, पृ० ६२-६५
- १४: वही, इ०एचि०, भाग ६, पृ० ८८-८९
- १५: वही, पृ० ६१-६४
- १६: का०प्ले०इ०आ०प्र०म्यू०, भाग १, पृ० ६२-६३

आदि नां शासनपत्र तथा विजयादित्य के नेहरू,<sup>१</sup> मायलुर,<sup>२</sup> (७००ई० )  
आदि शासन हैं ।

पूर्वीयचालुक्य— पुलकेशिन(द्वि०) ने अपने बृहत् साम्राज्य के सम्यक् संचालन के लिये पूर्वीय भाग, जिसकी राजधानी वेंगी थी, अनुज कुब्जविष्णुवर्द्धन को प्रदान किया । कालान्तर में यह शाखा स्वतंत्र हो गई और बारहवीं सदी तक जीवित रही ।<sup>३</sup> (६३२ ई० वाला ) चीपुर-पल्ले<sup>४</sup> तथा सतारा<sup>५</sup> ताम्रशासनों का उद्घोषक यही विष्णुवर्द्धन (प्र०) है, जिसका उपनाम 'विष्णुसिद्धि' भी था । उक्त राज्य संस्थापक के दो पुत्र थे—जयसिंह (प्र०) 'सर्वसिद्धि' और इन्द्रभट्टारक । जयसिंह(प्र०) के पूलीबुद्रा,<sup>६</sup> पेहुवेंगि,<sup>७</sup> निहुपहु<sup>८</sup> दानलेख ऐतिहासिक तथा साहित्यिक, दोनों दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण हैं । इन्द्रभट्टारक( वर्मन् ) के कोण्डणागूर<sup>९</sup> दानलेख में चाणामट्ट के गद्य की सी झलक प्राप्त होती है । इन्द्रभट्टारक का पात्र ( अर्थात् विष्णुवर्द्धन द्वि० का पुत्र ) मद्रास संग्रहालय ताम्रलेख<sup>१०</sup> का उद्घोषक मंगीयुवराज था । मंगी इतिहास में 'विजयासिद्धि' या 'सर्वलोकान्ध' (द्र० —वेन्दलुर शासन<sup>११</sup> ६७३ ई० ) नामों से विख्यात हुआ ।

आन्ध्र भू-भाग — लगभग २३० ई० पूर्व से <sup>१२</sup> चले आने वाले आन्ध्रसातवाहन साम्राज्य लगभग २२५ ई० में समाप्त हो गया यह साम्राज्य

- १: इ० ऐण्टि०, भाग ६, पृ० १२५-१३०
- २: ए०ई०, भाग ३३, पृ० ३११-३१४
- ३: द्र० —हि०ई०सा०ई०, पृ० ३३६-३३७
- ४: इ०ऐण्टि०, भाग २०, पृ० १५-१८
- ५: वही, भाग १६, पृ० ३०३-३११
- ६: ए०ई०, भाग १६, पृ० २५४-२५८
- ७: वही, पृ० २५८-२६१ (ए०ई० भाग १८)
- ८: ए०ई०, भाग १८, पृ० ५५-५८
- ९: वही, पृ० १-५ (ए०ई० भाग १८)
- १०: इ०ऐण्टि०, भाग २०, पृ० १०४-१०६
- ११: ए०ई०, भाग ८, पृ० २३६-२४१
- १२: द्र० —हि० सा० ई० ( नीलकण्ठ शास्त्री ) , पृ० ८८ (मद्रास १८५२)

नर्मदा के दक्षिण से तथा कृष्णा-तुंगभद्रा के उत्तर तक फैला था ।

आन्ध्र नरपतियों के अभिलेख प्राकृत में होने के कारण यहाँ अनुत्प्रेक्षणीय हैं ।

समाप्ति के पश्चात् आन्ध्र साम्राज्य अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, जैसे दक्षिण में चूट तथा कृष्णा-गुण्टूर प्रदेश में इक्ष्वाकु आदि ।<sup>१</sup> इक्ष्वाकु 'एह्वलश्री' के नागार्जुन गोण्ड लेख<sup>२</sup> से संकेत मिलता है कि वह सातवाहनों का सामन्त था और तलवरवर (महातलवर) की उपाधि धारण करता था । इक्ष्वाकुओं के पश्चात् इसी भू-प्रदेश पर बृहत्फलायन नरेशों का राज्य रहा । गोण्डमुदि प्राकृत लेख<sup>३</sup> वाला जयवर्मन् इसी वंश का एक राजा था । गोर्न्तल ताम्रलेख से आनन्दवंशीय दो नरपतियों के नाम ज्ञात होते हैं—कन्दर और अत्तिवर्मन् ।<sup>४</sup> कन्दरपुर से उद्घुष्टमट्टेपाद दानलेख<sup>५</sup> इस वंश के तीसरे नरेश दामोदरवर्मन् का है । इस राज्य का स्थितिकाल चतुर्थ सदी उत्तरार्द्ध से पाँचवीं सदी पूर्वार्द्ध तक है । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में सालंकायन गोत्रीय वेंगी नरेश हस्तिवर्मन् का उल्लेख है । ('वैग्यक हस्तिवर्म' — पं० २०) । इस वंश में एक राजा स्कन्दवर्मन् हुआ, उसके कुडाहार ग्रामदान सम्बन्धी संस्कृत लेख<sup>६</sup> के अनुसार वह नन्दिवर्मन् (५०) का पुत्र एवं हस्तिवर्मन् (द्वि०) का पुत्र था । वेंगी का दूसरा नाम पेह्हावेगी था । वेंगी में सालंकायणों का पतन, विष्णुकुण्डिन वंश के उत्थान का कारण बन गया । इस राजवंश का संस्थापक माधववर्मन् (५०) था, जिसका खानापुर शासन-पत्र<sup>७</sup> है । तदनन्तर पुत्रक्रम से विक्रमेन्द्रवर्मन् (५०) एवं इन्द्रवर्मन् (इन्द्रभट्टारकवर्मन्) हुए ।<sup>८</sup> चिक्कुल्ल शासन-पत्र ने इस वंशक्रम में इन्द्रभट्टारकवर्मन् के पश्चात्

१: द्र०—हि०सा०६०(नीलकण्ठशास्त्री) पृ० ६५

२: द्र०—ए०इ०, भाग ३३, पृ० १४७-१४६

३: ए०इ०, भाग ६, पृ० ३१५-३१६

४: इ० रेण्टि०, भाग ६, पृ० १०२से

५: ए०इ०, भाग १७, पृ० ३२७-३३०

६: ए० इ०, भाग ३१, पृ० ७-१०, — टि०— स्कन्दवर्मन् के कन्तेरु शासन पत्र (ए०इ०, भाग २५, पृ० ४२-४७) के अक्षर छठी सदी की लिपिसे समानता रखते हैं, अतः उसका राज्यकाल उक्त सदी में ही मानना तर्कसंगत है ।

७: ए०इ०, भाग २७, पृ० ३१२-३१८

एक और नाम—विक्रमेन्द्रवर्मन् (द्वि०) जोड़ दिया ।<sup>१</sup> विक्रमेन्द्रवर्मन् (द्वि०) का उत्तराधिकारी गोविन्दवर्मन् था, जिसके पुत्र माधवर्मन् का ईपुर दानलेख<sup>२</sup> है । श्री नीलकण्ठ शास्त्री ने अपने इतिहास की विष्णुकुण्डिन्-वंशतालिका में इस माधववर्मा को माधववर्मा (द्वि०) कहा है,<sup>३</sup> किन्तु इसे माधववर्मा (तृ०) होना चाहिए। क्योंकि एक अन्य ईपुर शासन-पत्र<sup>४</sup> से स्पष्ट है कि माधववर्मा (द्वि०), माधववर्मा प्रथम (राज्यसंस्थापक) का 'प्रियनप्ता' ( पं० ४) तथा देववर्मन् का 'प्रियपुत्र' ( पं० ५) था । इस शासन-पत्र से इस बात का भी पता लग गया कि विक्रमेन्द्रवर्मन् (प्र०) के अतिरिक्त माधववर्मा (प्र०) का एक अन्य पुत्र (देववर्मन्) भी था । विष्णुकुण्डिनों की काल-स्थिति पाँचवीं-सातवीं सदी की परिधि के रूप में आबद्ध है । सातवीं सदी में जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, विष्णुकुण्डिनों के पश्चात् वेङ्गी में पूर्वीय चालुक्य राज्य की स्थापना हुई ।

#### पश्चिमी दक्कन—

भोज—पाँचवीं से सातवीं सदी के बीच दक्षिण भारत के पश्चिमी भू-भाग में भोजों का एक छोटा राज्य था । इसमें देवराज, अशंकित कापालिवर्मन् एवं पृथिवीमल्लवर्मन् आदि नरपति हुए ।<sup>५</sup> इनके अभिलेखों में अशंकित का हिरे गुप्ति लेख<sup>६</sup> एवं पृथिवीमल्लवर्मन् के दो दान लेख उल्लेखनीय हैं ।<sup>७</sup> दक्कन के इस पश्चिमी भाग के छोटे राजवंशों में मानपुर के राष्ट्रकूटों का भी अपना विशिष्ट स्थान है । चौथी सदी में इस राजवंश की संस्थापना मानांक ने की थी । उसके पुत्र देवराज के तीन पुत्र थे — माणाराज, अविधेय एवं भविष्य।<sup>८</sup> माणाराज का ही

१. द्व०—ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३५, प्रस्तुततालिका में सन्दर्भ — प्राप्त चिककुल्ल शासन-पत्र (हुल्ल)

२. ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३४-३३७

३. हि०सा०ई०(शास्त्री), पृ० १०२

४. ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३७-३३६

५. वही, भाग ३३, पृ० ६१

६. वही, भाग २८, पृ० ७०-७५

७. वही, भाग ३३, पृ० ६१-६४

८. महाराष्ट्रों प्रा० ता० शि० (१९४७ पूना) पृ० ६

दूसरा नाम 'विभुराज' था जिसकी प्रार्थना से उसकी मा श्यावलंगी ने 'कमली भूष्क' अहार भूमि दान की थी ।<sup>१</sup> विभुराज का 'हिंङ्गा वेहि' शासन-पत्र<sup>२</sup> भी महत्वपूर्ण है । इन राष्ट्रकूटों के अतिरिक्त बरार में भी एक राष्ट्रकूटवंश स्थानीय शक्ति बनकर राज्य करता था । राष्ट्रकूट नन्न (राज ) के तिवरखेह दानपत्र ( सातवीं सदी )<sup>३</sup> से ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी राजधानी अचलपुर (एलिचपुर) थी । उक्त लेख एवं नन्नराज के ही 'संगलुद' शासन-पत्र<sup>४</sup> के अनुसार इस वंश का प्रथम शासक दुर्गराज था ।

कोंकण प्रदेश में, सम्भवतः अनिरुद्धपुर को राजधानी बनाए हुए, पाँचवीं सदी में त्रैकूटकवंश के राजा राज्य करते थे । इस वंश के तीन राजाओं के नाम अब तक ज्ञात हुए हैं — महाराज इन्द्रभट, दहरसेन<sup>५</sup> एवं व्याघ्रसेन ।<sup>६</sup> कन्हेरि ताम्रपत्र<sup>७</sup> त्रैकूटकों के समय का ही है ।

कलचुरि— कलचुरियों की अनेक शाखाएं भारतीय इतिहास पटल पर उभरीं और मुरझाईं, जैसे, माहिष्मती, त्रिपुरी, सरयूपार और रतनपुर के कलचुरि राजवंश ।<sup>८</sup> इनमें कूठी—सातवीं शताब्दी में वर्तमान माहिष्मती के कलचुरि ही उल्लेखनीय हैं । वेदनेर<sup>९</sup> और सरस्वनी<sup>१०</sup> शासन-पत्रों के अनुसार इस शाखा के नरपति हैं — कृष्णाराज, (उसका पुत्र) शंकरगण और (उसका पुत्र) बुद्धराज । उल्लिखित वेदनेर और सरस्वनी शासनपत्रों की तिथियां क्रमशः ६०६ और ६०६-१० ई० हैं । इनमें तथा शंकरगण के आभोण<sup>११</sup> और संखेह<sup>१२</sup> शासन-पत्रों में कृष्णाराज से ही वंश-

१: एक महत्वाका राष्ट्रकूट ताम्रपत्र, वही, पृ० ७८

२: ए०ई०, भाग २६, पृ० १७४-१७७

३: ए०ई०, भाग ११, पृ० २७६-२८०

४: ए०ई०, भाग २६, पृ० १०६-११५

५: द्र०—दहरसेन का पदीशासनपत्र, ए०ई०, भाग १०, पाठ्य पृ० ५३

( यह पत्र कलचुरिवेदि सं० २०७ = ल०-४५७ ई० का है ) ।

६: द्र०—व्याघ्रसेन का सुरत दानपत्र, का०ई०ई०, भाग ४, सं० ६

७: इ०के०टे०वे०ई०, पृ० ५८-६६

८: द्र०—का०ई०ई०, भाग ४, (मिराशी), भूमिका, पृ० १६१-१६३

९: ए०ई०, भाग १२, पृ० ३०-३५

१०: वही, भाग ६, पृ० २६४-३००

११: का०ई०ई०, भाग ४, सं० १२



क्रम प्रारम्भ किया गया है। सम्भवतः सुनआ कल<sup>१</sup> शासनपत्र ( कल०वे०सं० २६२=५४०-४१ ई०) का उद्घोषक संगम सिंह, कृष्णाराज के पिता का ही सामन्त था। सातवीं सदी में पुलकेशिन्(द्वि०) का उत्कर्ष इस कल-चुरि शाखा के लिए नाश का कारण सिद्ध हुआ।<sup>२</sup>

पूर्वीय दक्कन—

नगरधन (रामेटक कादजाणा) शासन-पत्र<sup>३</sup> (कल० सं० ३२२) से स्वामिराज नामक एक नरपति का नाम ज्ञात होता है। उक्त शासन नन्दीवर्द्धन से उसके भाई नन्नराज ने उद्घुष्ट किया। स्वामिराज के वंश के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। नन्दुर (नन्दिवर्द्धन—यौयौतमाल तालुका म०प्र०) के आस-पास वाले भू-प्रदेश में लगभग छठी सदी में नलवंशी नृपति राज्य करते थे। रीथपुर दानलैख<sup>४</sup> एवं कैसरिबैडा<sup>५</sup> शासन-पत्र से इस वंश के क्रमशः भवत्त (भवदत्त)-वर्मन् एवं अर्थपतिभट्टारक के नाम ज्ञात होते हैं। दजाणाकोसल के उत्तरी भाग में शूरों का भी एक छोटा राज्य था। शूर राजा भीमसेन (द्वितीय) के आरंग शासन-पत्र<sup>६</sup> ( गुप्त सं० २८२= ६२१ ई० ) के अनुसार इस वंश का संस्थापक 'शूर' था। उक्त नृपति, शूर समेत छठीं पीढ़ी में ज्ञाता है। इनके प्रायः समकालीन शरभपुर को राजधानी बनाए, श्रीपुर के आस-पास 'शरभपुरीय' (शरभपुत्र) राजाओं का राज्य था। 'शरभ' से लेकर अन्यान्य महत्वहीन राजाओं से सम्प्रति इस वंश का उद्गमस्रोत<sup>अन्वेषण</sup> यहाँ उचित नहीं। प्रो० मिराशी ने इस वंश के महत्वपूर्ण राजाओं की तालिका में सर्वप्रथम प्रसन्नमात्र को रखा। प्रसन्नमात्र के दो पुत्र थे, महाजयराज एवं मानमात्र। मानमात्र के भी दो पुत्र हुए, महासुदेवराज एवं महाप्रवरराज।<sup>७</sup> इनके प्रमुख

१: का०इ०ई०, भाग ४, सं० ११

२: रेहोल लेख, इ०रेण्टि०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक १२

३: का०इ०ई०, भाग ४, सं० १२०

४: ए०ई०, भाग १६, पृ० १००-१०४

५: ए०ई०, भाग २८, पृ० १२-१७

६: हीरालाल सूची, पृ० १०० सं० १२७

७: ए०ई०, भाग २२, पृ० १६

प्रमुख अभिलेखों में महाजयराम का आरंगताम्रपत्र,<sup>१</sup> महासुदेवराज का रायपुर ताम्रपत्र(शासन),<sup>२</sup> एवं (मानमात्रसुतस्य--- ) महाप्रवरराज का ठाकुरदिया शासनपत्र<sup>३</sup> आदि हैं। प्रथम दो शासन शरभपुर से एवं तृतीय (शायद राजधानी परिवर्तित कर देने के कारण) श्रीपुर से उद्घोषित हैं। इस वंश का अन्त द्वाँ सदी में पाण्डुवंशी राजा सम्भवतः तीवर ने किया। मूलरूप से पाण्डुवंशी राजा दक्षिण कोसल के पश्चिमी भाग में राज्य करते थे। बलोद शासन पत्र<sup>४</sup> के अनुसार यह तीवरराज (पं० २१) इन्द्रबल का पुत्र (पं० १८) और नन्नदेव (पं० १६) का पुत्र था। राजिम शासन<sup>५</sup> का उद्घोषक यही तीवर है। तीवरदेव के भाई चन्द्रगुप्त का पुत्र इषगुप्त और पुत्र महाशिवगुप्त बालार्जुन था, जिसके सेनतपाट<sup>६</sup> एवं सिरपुर लेख<sup>७</sup> हैं। जहाँ बलोद शासन पत्र में इसे पाण्डुवंश कहा गया है, वहाँ सेनतपाट आदि लेखों में शीतांशुवंश (श्लोक ३)। इसी प्रकार महाशिव(बालार्जुन) के बादूला<sup>८</sup> और लोधिया<sup>९</sup> शासन पत्रों में इसे शीतांशुवंश का पर्याय सोमवंश (दोनों में पं० ४) कहा गया है।<sup>१०</sup> वास्तव में चन्द्र और सूर्यवंश भारतीय राजाओं के दो व्यापक वंश-विभाग हैं। इस विचार से तथा दसवीं सदी में इतिहास के पटल पर प्रकट होने वाले सोमवंश से इसका अन्तर करने के लिए वर्तमान वंश को पाण्डुवंश कहना ही उपयुक्त है। पुलकेशिन् (द्रि०) के सम्योत्थवालुक्क प्रभुत्व इस वंश की अवनति का कारण है।

मेकला प्रदेश (आधुनिक अमरकंटक की पहाड़ियों) में एक अन्य पाण्डुवंशी राज्य था। भारत (भरतबल) के बलनी शासन पत्र<sup>११</sup>(पाँचवीं सदी) से इस वंश के चार शासकों के नाम ज्ञात होते हैं — जयबल, वत्स-

१. का०६०६०, भाग ३, सं० ४०

२. वही, सं० ४१

३. ए०६०, भाग २२, पृ० १५-२३

४. वही, भाग ७, पृ० १०२-१०७

५. का०६०६०, भाग ३, सं० ८१

६. ए०६०, भाग ३१, पृ० ३१-३६

७. वही, पृ० १६७-१६८

८. ए०६०, भाग २७, पृ० २७-६१

९. ए०६०, भाग २७, पृ० ३१६-३२५

१०. फ्लीट महोदय भी इसे सोमवंश ही कहते हैं, द्र० — कटक के सोमवंशी राजाओं के अभिलेख अ- महाभव-गुप्तराजदेव का लेख, ब०सं० द०-महाभव-गुप्तस्मृजदेव के लेख, कटकताम्रशासन, ई- महाशिवगुप्त का कटक ताम्रशासन; (समस्त) ए०६०, भाग ३, पृ० ३२३-३५६

११. ए०६०, भाग २७, पृ० १३२-१४३

राज (या वत्सेश्वर), नागबल और उसका पुत्र भरतबल ।

कोंगोद को राजधानी बनाकर गंजाम-पुरी के भू-प्रदेश पर लगभग छठी सदी से शैलोद्भवों का आधिपत्य प्रारम्भ हुआ । आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक इनका राज्य चलता रहा ।<sup>१</sup> गंजाम शासन<sup>२</sup> का उद्घोषक सैन्यभीत (द्वि०) माध्वराज, यशोभीत(प्र०) का पुत्र और माध्वराज(प्र०) का पौत्र था । उद्घोषक सैन्यभीत (प्र०) की (शशांक के अधीनस्थ होने से) अब तक सामान्तावस्था थी । लेख के प्रारम्भ में वह सादर अपने अधिराज गौडाधिपशशांक का नाम ग्रहण करता है (शशांकराजे शासति—पं० ३) । इसी सैन्यभीत (द्वि०) माध्ववर्मन् (राज)<sup>३</sup> श्रीनिवास<sup>४</sup> के अपेक्षाकृत उत्तर-कालीन पुरुषोत्तमपुर शासन-पत्र<sup>३</sup> में वह 'अश्वमेध प्रभृति' (श्लोक ११) अनेक यज्ञों के कर्ता के रूप में वर्णित है । इससे स्पष्ट है, कि वह कालान्तर में शशांक की अधिराजता को त्याग कर पूर्ण स्वतंत्र हो गया था । सैन्यभीत के कुछ प्रसिद्ध शासन पत्रों में पुरी,<sup>४</sup> 'कटक म्यूजियम'<sup>५</sup> आदि दानलेख हैं । सैन्यभीत (द्वि०) के पश्चात् यशोभीत (द्वि०) सिंहासनासीन हुआ । जिसे मध्यमराज भी कहते हैं । 'सरकार' महोदय भी यशोभीत (द्वि०) एवं मध्यमराज को एक ही व्यक्ति मानते हैं ।<sup>६</sup> परिकुद शासन-पत्र<sup>७</sup> इसी नरेश का है । मध्यमराज के पश्चात् धर्मराज (मानभीत) राज्याधिकारी हुआ, जिसका शासनकाल लगभग ६६५-७३० ई० माना जाता है । सातवीं सदी की परिधि लाँघने के कारण अन्योन्य शैलोद्भव नृपति यहाँ अनु-लेखनीय हैं ।

कलिंग—सातवीं सदी की अधि पर्यन्त कलिंग अनेक राजवंशों के उत्थान-पतन का रंगमंच रहा । इन राजवंशों का इतिहास 'पितृभक्तों' से प्रारम्भ किया जाता है । उमावर्मन् का बृहत्प्रोष्ठान्त दानलेख एवं

---

१: हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा (मजूमदार) , पृ० १३५

२: ए०ई०, भाग ६, पृ० १४३-१४६

३: ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६४-२६६

४: वही, भाग २३, पृ० १२२-१३१

५: वही, भाग २४, पृ० १४८-१५३

६: इ०-वही, भाग ३०, पृ० २६४

७: वही भाग ११, पृ० २२१-२२७

८: वही, भाग १२, पृ० ४-५

चण्डवर्मन् का कौमार्ति शासन पत्र<sup>१</sup> — दोनों सिंहपुर से उद्घुष्ट हैं। इन लेखों में उक्त नृपतियों को क्रमशः बप्पपादभक्त (पं० १) एवं बप्पभट्टारक पादभक्त (पं० १) तथा कलिंगाधिपति कहा गया है। इनकी मुद्राओं (सील) (उदा०—कौमार्तिशासनपत्र की मुद्रा) पर केवल 'पितृभक्त' ही लांकित होने से ये इसी नाम से जाने जाते हैं। सम्भवतः पितृभक्तों के ही समकालीन ५ वीं—६ वीं सदी में पिष्टपुर को राजधानी बनाए माठरकुल के नरपति राज्य कर रहे थे। शक्तिवर्मन् का रागोलु शासन-पत्र<sup>२</sup> जो पिष्टपुर से ही उद्घुष्ट है, उक्त उद्घोषक राजा को 'कलिंगाधिपतिः' 'माग[ध]कुलांकरिष्ठाः' एवं वासिष्ठीपुत्र कहता है (पं० १-२) माठरकुल का ही दूसरा नाम 'मागध' स्पष्ट ही है, क्योंकि प्रभजनवर्मन् के निर्गोण्डी दानलेख<sup>३</sup> में उसे शंकरवर्मन् का पौत्र (पं० २) शक्तिवर्मन् का पुत्र (पं० ३) एवं 'माठरकुलकीर्तिवर्द्धनकर' (पं० १-२) कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि माठरों ने पितृभक्तों के राज्य पर अपना <sup>स्थापित कर लिया था क्योंकि</sup> आधिपत्य, निर्गोण्डी लेख 'सिंहपुर-पुर' से ही घोषित हुआ है। जहाँ माठरों ने पितृभक्तों के राज्य पर अधिकार किया, वहाँ ऐसी सम्भावना निराधार नहीं प्रतीत होती कि उन्हें अपनी पुराने राज्य से हाथ धोना पड़ा होगा। इस अनुमान का आधार यह है कि अनन्तवर्मन्, जिसके सुंगवर-पुकोट<sup>४</sup> एवं सिरिपुरम्<sup>५</sup> दानलेख हैं, वासिष्ठवंशज था और उसकी राजधानी पिष्टपुर थी।

कलिंग इतिहास में पूर्वीय गांगों का विशेष महत्त्व है। इस वंश का ४६६ ई० से प्रारम्भ होने वाला निजी संवत् (गांगसंवत्) है। संभवतः यही गांग राज्य स्थापना वर्ष ही। राजधानी दन्तपुर उज्जयपुर से उद्घुष्ट (पं० १) गां० सं० ३६ (५३५ ई०) वाले जिरजिगी ताप्रपत्र<sup>६</sup> का इन्द्रवर्मन् इस वंश का सर्वप्रथम ज्ञात नृपति है। कालान्तर में हस्तिवर्मन् का उलामि शासन-पत्र,<sup>७</sup> कलिंग-नगर से उद्घोषित होने के कारण

१. ए०ई०, भाग ४, पाठ्य०, पृ० १४४

२. वही, भाग १२, पृ० १-३

३. वही, भाग ३०, पृ० ११२-११८

४. वही, भाग २३, पृ० ५६-६१

५. वही, भाग २४, पृ० ४७-५२

६. सि०ई०, भाग १, पृ० ४५८-४६१

७. ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३०-३३४

(पं०१) <sup>वह</sup> गांग राजधानी परिवर्तन की सूचना देता है। फिर भी दन्तपुर के प्रधाननगर रहने का सम्मान सुरक्षित रहा होगा — इसका प्रमाण यहाँ से घुष्ट, इन्द्रवर्मन् (द्वि०) का पूर्ण शासन-पत्र<sup>१</sup> है। उक्त उलामि पत्र (गां० सं० ८०) एवं इन्द्रवर्मन् (द्वि०) के सान्ता-बोम्पालि ताम्रपत्र<sup>२</sup> (गां० सं० ८७) के सम्बन्धों में केवल ७-८ वर्षों का अन्तर देखते हुए तथा उलामि पत्र एवं इन्द्रवर्मन् (द्वि०) के अच्युतपुरम्<sup>३</sup> और पल्लि-किमेडि<sup>४</sup> शासन-पत्रों का लेखक एक ही व्यक्ति भानुवन्द का पुत्र विनयवन्द होने के कारण इन्द्रवर्मन् (द्वि०) को इस्तिवर्मन् का अव्यवहित उत्तराधिकारी समझना तर्कसंगत है। इन्द्रवर्मन् के अन्य लेखों में दो चिककोल, <sup>५</sup> तेक्कलि<sup>६</sup> आदि शासनपत्र हैं। इस द्वितीय इन्द्रवर्मन् की राज्यकालावधि अभिलेखों के अनुसार गां० सं० ८७ से १४६ (पूर्ण शासन पत्र) तक ज्ञात होती है। इस-लिए पल्लिकिमेडि (गां० सं० ६१) के इन्द्रवर्मन् को दो चिककोल शासनपत्रों (गां० सं० १२ तथा गां० सं० १४६ क्रमशः) के इन्द्रवर्मन् का पूर्वज कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि दोनों एक ही व्यक्ति हैं।

सातवीं सदी में इस गांगवंश में 'गुणाण्विसुनु' देवेन्द्रवर्मा नामक एक कलिंगाधिराज हुआ, जिसके चिककोले<sup>७</sup> (गां० सं० १८३) एवं सिद्धान्तम्<sup>८</sup> शासनपत्र हैं। इसी सदी का एक अन्य गांग नृपति धनन्तर<sup>९</sup> ताम्रपत्र का सामन्तवर्मन् है। वह अपने लिए 'स्वभुजबलपराक्रमाक्रान्त-सकलश्वेतकाधिराज्य [:]' (पं० ८-६) कहता है। सम्भवतः इस 'गांगामल-कुलाम्बरेन्दु' (पं० ७-८) ने मूलवंश के अतिरिक्त यह पृथक् राज्य स्थापित किया हो। उक्त लेख का घोषणा स्थान भी श्वेतकाधिष्ठान (पं० १) ही है।

तेरासिंहा दानलेख<sup>१०</sup> के अनुसार एक अन्य राजपरिवार का ज्ञान होता है। उक्त दानलेख का उद्घोषक नृपति तुष्टिकार है, जिसको

१: ए०ई०, भाग १४, पृ० २६०-२६२

२: ए०ई०, भाग २५, पृ० १६४-१६८

३: ए०ई०, भाग ३, पृ० १२६ ले

४: इ०एचिट०, भाग १६, पृ० १३१-१३४

५: इ०एचिट०, भाग १३, पृ० ११६-१२२ तथा १२२-१२४

६: ए०ई०, भाग १८, पृ० ३०७-३११

७: प्रा०ले०मा०, भाग ३, सं० १४८

८: ए०ई०, भाग १३, पृ० २१२-२१६

९: वही, भाग १५, पृ० २७५-२७८

मुद्रा पर श्रीतुष्टिकर कहा गया है। ईशानवर्मन् के हरह लेख से कलिंग के किसी भूप्रदेश पर 'शूलियाँ' के भी आधिपत्य का पता चलता है।<sup>१</sup>

### दक्षिण-भारत

दक्षिणी अन्तरीप में चोल, चेर, पाण्ड्य—ये तीन राज्य, अशोक के समय से ही चले आ रहे थे। किन्तु सातवीं सदी पर्यन्त ये तीनों राज-वंश संस्कृत-अभिलेखीय महत्त्व से हीन होने के कारण यहाँ अनुलेखनीय हैं। इस दृष्टि से दक्षिण में पल्लव, कदम्ब और सेन्द्रकादि राजवंश ही आक-षण के केन्द्र हैं।

पल्लव—पल्लव राज्य आन्ध्रसातवाहन साम्राज्य के दक्षिणपूर्व में था।<sup>२</sup> इसकी राजधानी 'कांचीपुरम्' थी। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस राजवंश का महत्वपूर्ण योगदान है। जहाँ भारतीय वास्तुकला पल्लवों के संरक्षण में पल्लवित हुई, वहाँ अभिलेखीय साहित्य भी पुष्ट और समृद्ध हुआ। कुछ सीमा तक यों भी कहा जा सकता है कि पल्लव वास्तु-कला ने पल्लव अभिलेखीय साहित्य के लिए आधारभूत लेखन सामग्री का कार्य किया। सात पगोडाओं के लेख<sup>३</sup> राजसिंहेश्वर मन्दिर के बाहरी तरफ<sup>४</sup> अथवा भीतरी बाड़े के लेख<sup>५</sup> महेंद्रवर्मेश्वर मन्दिर का बाहरी लेख<sup>६</sup> पनमल्ल गुहामन्दिरलेख,<sup>७</sup> अमरावतीलेख,<sup>८</sup> त्रिशिरापल्ली के पास वाला शैलगुहा लेख<sup>९</sup> आदि अनेक लेख उक्त कथन के प्रमाण हैं। किन्तु पल्लव अभिलेख, मात्र प्रस्तरलेख अथवा वास्तुलेखों तक ही सीमित नहीं, इस वंश के नृपतियों

१: हि० लि० ६०, पृ० १४३, श्लोक १३

२: हि० सा० ६० (शास्त्री), पृ० ६७

३: सा० ६० ६०, भाग १, सं० १-२३

४: वही, सं० २४

५: वही, सं० २५-२६

६: वही, सं० २७

७: वही, सं० ३१

८: वही, सं० ३२

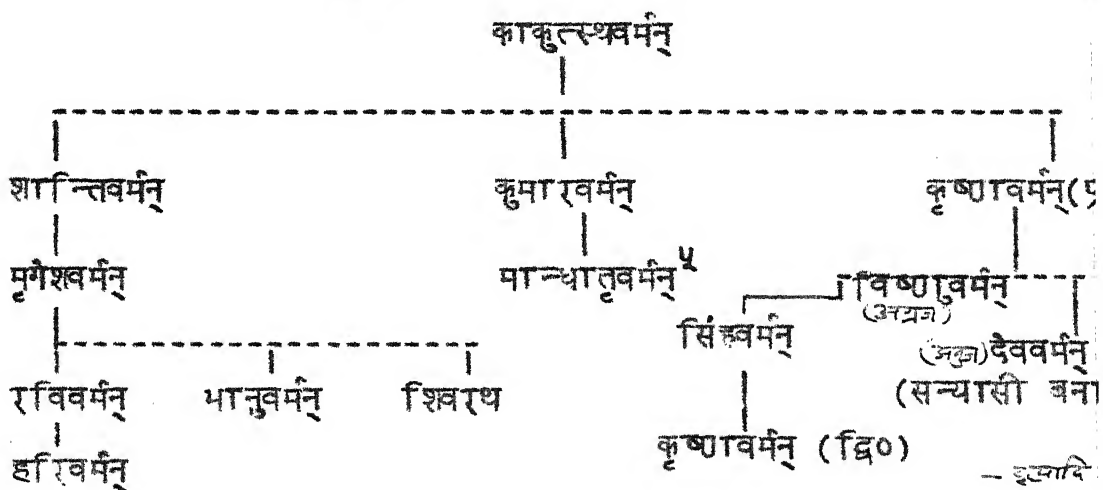
९: वही, सं० ३३, ३४



ने शासन पत्र भी प्रचुर मात्रा में उद्धोषित किए । कुछ प्रसिद्ध शासन पत्रों में विजयस्कन्दवर्मन (द्वि०) तथा सिंहवर्मन् (द्वि०) के आँगोहू (दोनों) दानलेख<sup>१</sup>, परमेश्वरवर्मन (प्र०) का वुन्न गुरवयपलेम<sup>२</sup> अथवा कूरमदानलेख<sup>३</sup> आदि रले जा सकते हैं ।

सिंहवर्मा (बप्प) से लेकर नृपतुंगवर्मन् अथवा उसके उत्तराधिकारी अपराजित तक, लगभग आठ शताब्दियों की सुदीर्घ अवधि में इस वंश में अनेक स्वनामधन्य नृपति हुए। किन्तु सातवीं सदी तक के अभिलेखों के सन्दर्भ में महेन्द्रवर्मन् प्रथम ( ल० ६००-६३० ई०) , नरसिंहवर्मन् महामल्ल (ल० ६३०-६६८ ई०) , महेन्द्रवर्मन् द्वि० (६६६-६७० ई०) , परमेश्वर-वर्मन् प्रथम (६७०-६८० ई०) और राजसिंह नरसिंहवर्मन् द्वि० (६८०-७२० ई०) और-र ही विशेष उल्लेखनीय हैं ।

कदम्ब—इस ब्राह्मण वंश का संस्थापक मयूरशर्मन् था । ताल-गुण्ड अभिलेख<sup>४</sup> के अनुसार उसके पश्चात् पुत्रक्रम से कंगवर्मन् (श्लोक २३) एवं भगीरथ हुए (श्लोक २४) । भगीरथ के दो पुत्र थे, रघु (श्लोक २५) एवं काकुत्स्थवर्मा ( श्लोक २७)। उक्त लेख काकुत्स्थवर्मा (लगभग ४२५-४५० ई०) के पुत्र शान्तिवर्मन् के समय में ही लिखा गया । अपनी युवराजावस्था में ही दानशीलता का परिचय देने वाला काकुत्स्थवर्मा बहुत प्रभावशाली शासक था । उसके पश्चात् (काकुत्स्थ)<sup>५</sup>वंशक्रम नीचे द्रष्टव्य है :—



१. ए०ई०, भाग १५, पृ० २४६-२५५(दोनों)

२. वही, भाग ३२, पृ० ६१-६८

३. सा०ई०, भाग १, पृ० १४४-१५५

४. ए०क०, भाग ७, पाठ्य पृ० २००-२०२

५. सेवेलमहोदय ने मान्धातृवर्मन् को शान्तिवर्मन् का पुत्र माना है ।



शान्तिवर्मन् के पुत्र मृगेश ने पलाशिका में जैनमन्दिर निर्माण कर उसकी व्यवस्था के लिए भूमि भी प्रदान की थी।<sup>१</sup> लैट ग्राम सम्बन्धी सामाजिक सांस्कृतिक लेख<sup>२</sup> इसी मृगेश के पुत्र रविवर्मन् का है। रविवर्मन् का जिनेन्द्र की भूमिदान सम्बन्धी लेख<sup>३</sup> एवं देवंगेरे शासनपत्र<sup>४</sup> आद्योपान्त हृन्दीबद्ध हैं। एक शासनपत्र में<sup>५</sup> ऐसा वर्णन भी आता है कि रविवर्मन् ने भूमिदान के साथ 'वरियका' ग्राम में तटाक-बन्ध भी किया। यह कार्य उसकी समाजकल्याण भावना का परिचायक है। उसके पुत्र हरिवर्मा के लेखों में 'वसन्तुवाटक' ग्रामदान लेख,<sup>६</sup> सैन्द्रक भानुशक्ति की विज्ञापना पर प्रदत्त 'मरदे' ग्राम सम्बन्धी लेख<sup>७</sup> एवं संगोली शासन-पत्र<sup>८</sup> उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रमुख कदम्ब लेखों में भानुवर्मा का पन्द्रहनिवर्तन भूदान सम्बन्धी लेख,<sup>९</sup> मान्धातृवर्मन् का कोलाल ग्राम-स्थित-भूमिदान लेख,<sup>१०</sup> विष्णुवर्मन् का लेख<sup>११</sup> एवं कृष्णवर्मन् (द्वि०) का बन्नहल्लि शासन-पत्र<sup>१२</sup> आदि हैं।

इस वंश के पतन का कारण चालुक्य पुलकेशिन् (५०) का आक्रमण है।

१. मृगेश का दान लेख, इ०रेण्टि०, भाग ६, पृ० २४-२५
२. वही भाग ६, पृ० २५-२७
३. वही, भाग ६, पृ० २६-३०
४. ए०ई०, भाग ३३, पृ० ८७-८२
५. इ०रेण्टि०, भाग ४, पृ० १७८-१८१
६. इ०रेण्टि०, भाग ६, पृ० ३०-३१
७. वही, भाग ६, पृ० ३१-३१
८. ए०ई०, भाग १४, पृ० १६३-१६८
९. इ०रेण्टि०, भाग ६, पृ० २७-२६
१०. ए०ई०, भाग ६, पाठ्य १४
११. ए०कण्टि०, भाग ६, पृ० ६१
१२. ए०ई०, भाग ६, पृ० १६-२० — टि०—इस लेख में काकुत्स्थवर्मा के तृतीय पुत्र कृष्णवर्मा (५०) से लेकर कृष्णवर्मा (द्वि०) तक (देववर्मन् को छोड़कर) सभी की सूचना प्राप्त हो जाती है। राजकुमार देववर्मन् के विषय में हम, सिद्धेश्वर स्थित वारह निवर्तनभूदानसम्बन्धी उसी के लेख से जानते हैं। इ०-ज०ब०ब्रा०रॉ०ए०सी०, भाग १२ (१८७६) पाठ्य पृ० ३२३-३२४

सेन्द्रक— सेन्द्रक शासक पहले कदम्बों के और तदनन्तर पश्चिमी चालुक्यों के अधीन रहे । मैसूर और कनारा के कुछ भू-भाग से यह राज्य बना था । जयशक्ति के मुन्दखेडे ताम्रपत्र<sup>१</sup> के अनुसार इस वंश का नृपतिक्रम इस प्रकार है, भानुशक्ति, आदित्यशक्ति, निकुम्भात्तशक्ति और जयशक्ति । निकुम्भात्त-शक्ति के कासारे<sup>२</sup> और बृगुमृगशासन पत्र<sup>३</sup> प्राप्त होते हैं । उसे केवल अत्तशक्ति भी कहा जाता था ।

पश्चिमी गंग--कदम्बों एवं पल्लवों के मध्यगत मैसूर के दक्षिणी भाग में इस वंश के राजा राज्य करते थे । पेरुकोण्ड ताम्रशासन<sup>४</sup> से हमें इस वंश के प्रथम राजा कोंगिण (प्र०) ( स० ४७०ई० ), एवं प्रपति उसके पुत्र माधव (प्र०), पौत्र आय्यवर्मन् (स० ४५०ई०) एवं प्रपौत्र (उक्त शासन का उद्घोषक, माधव (द्वि०) ( उपनाम सिंह वर्मा ) का ज्ञान होता है । अधीनस्थ शासक होने के कारण आय्यवर्मन् का अभिषेक पल्लव सिञ्चवर्मा द्वारा ( पं० ७- ८ ) तथा माधव (द्वि०) का राज्याभिषेक पल्लव नरेश स्कन्दवर्मा के कर कमलों से सम्पादित हुआ ( पं० १०-११ ) । मेरारि ताम्रपत्र<sup>५</sup> से ज्ञात होता है कि आय्यवर्मन् का ही दूसरा नाम हरिवर्मा था । उक्त लेख हरिवर्मा और माधव (द्वि०) के बीच एक नरेश 'विष्णुगोप' को भी मानता है, जो <sup>तदनुसार</sup> हरिवर्मा का पुत्र एवं माधव(द्वि०) का पिता था । मेरारि लेख इसी माधव (द्वि०) के पुत्र कोंगिण (द्वि०) ( उपनाम—अविनीत ) का है । वह कदम्ब कृष्णावर्मा का प्रिय भागिनेय<sup>६</sup> था । सेवल महीदय का, माधव (द्वि०) के लिए माधव (प्र०) कहना उचित नहीं । इस अनौचित्य का कारण यह है कि उन्होंने पश्चिमी गङ्गा-वंश-तालिका का प्रारम्भ आय्यवर्मन् से ही किया ।<sup>६</sup>

१. स०ई०, भाग २६, पृ० ११६—१२१

२. का०ई०ई०, भाग ४, पृ० ११०-११६

३. ई०ऐपिट०, भाग १८, पृ० २६५—२७०

४. सि०ई०, भाग १, पृ० ४५६—४५७

५. ई० ऐपिट०, भाग १, पाठ्य पृ० ३६३- ३६५

६. हि०ई०सा०ई०, पृ० ३४६

संदर्भ में यही प्रथम सदी और सातवीं सदी की परिधि में आने  
वाले प्रमुख भारतीय अभिलेखों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। बृहत्तर भारत  
के या विदेशी अभिलेखों का परिचय, अन्तिम अध्याय में पृथक् से दिया  
जायेगा ।

---

## द्वितीय अध्याय

### पुरा-लेखन

भाषा—

अधिकांश संस्कृत लेख अपने भीतर अपरिहार्य रूप से प्राकृत और देशज भाषाओं के शब्द संजोये हैं, कुछ लेख ऐसे भी हैं जो आंशिक संस्कृत और आंशिक देशज भाषाओं में हैं। उनका संस्कृत भाग ही ग्राह्य समझा गया है।

शुद्ध संस्कृत के उदाहरणभूत गुप्त सम्राटों के अधिकांश लेख हैं। गोपालपुर में प्राप्त पाली निदान सूत्र के संस्कृत रूपान्तर दृष्टिका लेख<sup>१</sup> तथा स्वात में प्राप्त तीन बौद्ध छन्दोबद्ध लेख<sup>२</sup>—अनुदित संस्कृत लेखों के श्रेष्ठ दृष्टान्त हैं। प्राकृत अथवा देशज भाषाओं के शब्द युक्त संस्कृत लेखों के लिए सम्राट हर्ष के बांसलेह<sup>३</sup> और मधुवन<sup>४</sup> दानलेख लिए जा सकते हैं। इन दोनों दानपत्रों ( क्रमशः पं० संख्या ८ एवं ९ ) में प्रयुक्त 'प्रमातार' शब्द संस्कृत प्रमातृ-का देशज रूप है। इसी प्रकार भोज पृथिवीवर्मन् के लेख में 'दिट्ठम्'<sup>५</sup> शब्द भी संस्कृत 'दृष्टम्' का प्राकृत रूप है। दामोदर पत्र का 'खण्डफुट'<sup>६</sup> संस्कृत खण्डस्फुट का विकार है। देशज भाषाओं के शब्द जैसे 'सारी'<sup>७</sup> और 'लारी'<sup>८</sup> क्रमशः सोपान रूप लेता की पंक्ति और १६ द्रोण वाले अन्न के माप के लिए प्रयुक्त हुए हैं। दोनों शब्द हिमालय के अंचल में प्रयुक्त होते हैं। आज भी उन्हीं अर्थों में <sup>अनुकूल होते</sup> देखे जाते हैं।

आंशिक संस्कृत और आंशिक प्राकृत का एक दृष्टान्त विन्ध्य-शक्ति का बासिम ताम्रपत्र<sup>९</sup> है। चालुक्य विक्रमादित्य ( १० ) का

१. ए०ई०, भाग १८, परि०- टि०, पाठ्य पृ०, १८-१९

२. वही, भाग ४, पृ० १३३-१३५

३. हि०लि०ई०, पृ० १४५-१४७

४. ए०ई०, भाग ७, पृ० १५५-१६०

५. वही, भाग ३३, पृ० ६२ पं० १

६. वही, भाग १५, पृ० १४३, पं० ८

७. 'गोमतिसायी' ए०ई०, भाग १३, पृ० ११६, पं० १५

८. 'लारीवापम्' ए०ई०, भाग १३, पृ० ११६, पं० २०

९. हि०लि०ई०, पृ० १११-११२

तुरिमेल्ल लेख<sup>१</sup> में संस्कृत और तेलगु का सम्बन्धित्व है। इसी प्रकार कूरम पल्लवदानपत्र<sup>२</sup> में संस्कृत एवं तमिल दोनों भाषाएं प्रयुक्त हुई हैं।

लेखक अथवा उत्कीर्ण करने वाले के अल्प ज्ञान के कारण अशुद्ध संस्कृत में लिखे लेख भी यत्र-तत्र मिलते हैं, उदाहरणार्थ 'दानं भिक्षुस्य बांध (बाँद)घोषस्य.....' <sup>२</sup> 'यहाँ' भिक्षुस्य के स्थान पर भिक्षाः होना चाहिये था। इसी प्रकार धनदेव के अयोध्या प्रस्तर लेख <sup>३</sup> में यदि 'पुष्यमित्रस्य षष्ठेन' के स्थान पर 'पुष्यमित्रात् षष्ठेन', 'धर्मराजा' के स्थान पर 'धर्मराजेन' और 'कैतन' के स्थान पर 'निकैतन' होता, तो व्याकरण की रक्षा हो जाती।

प्राकृत प्रभावित संस्कृत के रूप कुशाढा एवं पश्चिमी क्षेत्रों के लेखों में मिलते हैं, उदाहरणार्थ मेवासा प्रस्तर लेख <sup>४</sup>। लेख प्राकृत प्रधान संस्कृत लेखों के दृष्टान्त के दृष्टान्त भूत अन्दाऊँ शिला लेख<sup>५</sup> संघदामन् का सिक्कालेख<sup>६</sup> तथा मथुरा के सिध्दियनकालीन कतिपय लेख<sup>७</sup> देखे जा सकते हैं।

साहित्यिक मूल्यांकन के प्रसंग में शुद्ध संस्कृत (मूल) तथा प्राकृत अथवा देशज शब्द सन्निहित संस्कृत लेख ग्राह्य समझे गए। मिश्रित लेखों में संस्कृतांश ही रुचि के विषय बने।

लिपि तथा उसकी प्राचीनता—

संसार के कल्याणार्थ स्रष्टा ने लिपि का आविष्कार किया।<sup>८</sup> लिपि के ज्ञान से ही वाङ्मय का ज्ञान सम्भव था।<sup>९</sup> वैसे भी यदि अनुभूत

१. ए०३०, भाग २६, पृ० १६३-१६४

२. सा०३०३०, भाग १, पृ० १४४-१५५

३. ज०प्र०३०३०३०, भाग ५, १६१०, पृ० २४१

४. ज०रा०३०३०(ग्रे०ब्रि०आ०), १६६१, खण्ड ३-४, पृ० १०६

५. हि०लि०३०, पृ० ६०-६१

६. राज्ञो महात्रपरुद्रसत्सपुत्रस्मराज्ञोमहाज्ञात्रपस्य सद्दाम्नः—कै०३०३० वा०, त्रि०म्यु०, (१६०८) संख्या ३७८, पृ० १०७

७. ए०३०, भाग १०, पृ० १०६-१२१

८. नाकरिष्यद्यदि स्रष्टा लिखितं चक्षुरनुत्तमम्।

तत्रैयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः॥ ना०स्मृ० ४।७०

की स्मृति<sup>१</sup> न रहे तो संसार आगे कैसे बढ़ सकता है ? यह 'स्वरवर्ण-  
विचित्रचिह्नित'<sup>२</sup> 'लिपि की' अनुभूत की स्मृति सुरक्षित रखने में सहायक  
हुँ ।<sup>३</sup>

सिन्धुघाटी में प्राप्त लेखों से स्पष्ट है कि उस अज्ञात लिपि  
का आविष्कार वैदिक काल से भी पूर्व हो चुका था । वैदिक काल में  
तो शिष्य उच्चारण परम्परा से गुरु से विद्याभ्यास करते थे ।<sup>४</sup> उत्तर  
वैदिक साहित्य में भी लिखने का स्पष्ट उल्लेख नहीं । महाभारत काल में  
अवश्य लेखनकार्य उन्नत अवस्था में था । स्वयं वेदव्यास जी ने लिखने के  
लिए गणेश जी की सेवाएं ग्रहण की थीं ।<sup>५</sup> अष्टाध्यायी में लिपि एवं लिखि  
आदि शब्द आए हैं । बौद्ध ग्रंथ ललित विस्तर में चौसठ लिपियों का  
उल्लेख है ।<sup>६</sup> जैनों के 'पन्नवणसूत्र' एवं 'समवायांग सूत्र' में अठारह लिपि-  
यों के नाम गिनाए गए हैं ।<sup>७</sup> अर्थशास्त्र में प्रयुक्त लिपि<sup>८</sup>, लेखवाचन एवं  
लेखनी<sup>९</sup> आदि शब्द लेखनकला के विकास के परिचायक हैं ।

विषयान्तर्गत लिपियाँ—

विदेशियों के आवागमन एवं उनके राजनीतिक सम्पर्क के कारण  
प्राचीन भारत यवनानी (यवनाली या ग्रीक), दरद, तस्य, चीनलिपि,  
हूण लिपि, असुर, उत्तरकुरु-द्वीप लिपि, सागरादि लिपियों से परिचित था।  
किन्तु इन लिपियों पर आश्रित संस्कृत में अभिलेख न होने के कारण से ये  
विवेच्य नहीं । हुविष्क<sup>११</sup> जाहरात नडपान<sup>१२</sup> आदि अर्द्ध-भारतीय

१: शु०नी० २। २८८

२: वही २। २८६

३: वही ४। ६८८

४: अ०, ७-१३०-५

५: म०भा०, आदिपर्व १। ११२

६: अष्टा० ३। २। २१

७: ललितविस्तर, पृ० ८८

८: प्रा०भ०लि०मा०(ओभा) पृ० १७

९: अर्थ० १-२-४-४ (पृ० १८)

१०: वही, २-२३-१०-२ (पृ० १४३)

११. इ०म्यू०कै०(स्मिथ) संख्या ५, पृ० ७७, संख्या ६, पृ० ७७, संख्या ५४

पृष्ठ ८२



शासकों के सिक्कों में ग्रीक लिपि प्रयुक्त हुई है, लेकिन वह लिपि भी संस्कृत भाषा की वाङ्मिका न होने के कारण समीक्षा के दौरे से बाहर है। केवल खरोष्ठी एवं ब्राह्मी ही विषयान्तर्गत लिपियाँ हैं। इन दोनों में 'ब्राह्मी' जिसको जैन एवं बौद्ध, दोनों की लिपि सूची में प्रथम स्थान मिला भारतीय संस्कृत अभिलेखों की कार्यसाधिका देवी है। इस दिशा में खरोष्ठी का योगदान नगण्य है। फिर भी यहाँ दोनों पृथक्-पृथक् विवेच्य हैं।

### खरोष्ठी —

खरोष्ठी सेमेटिकमूला लिपि है। इस लिपि के अधिकांश लेख भारत के उत्तर पश्चिमी भागों में ही प्राप्त हुए हैं। अशोक का शाहबाज-गढ़ी वाला लेख<sup>१</sup> 'पतिक' का तडाशिला ताम्रपत्र,<sup>२</sup> गोन्दोफर्नेस का तस्तीवाही जिलालेख<sup>३</sup> आदि खरोष्ठी लिपि में ही लिखे गए हैं। उत्तर-पश्चिमी भाग के अतिरिक्त एक समय पंजाब और यहाँ तक कि मथुरा में भी इस लिपि का पर्याप्त प्रयोग हुआ। मथुरा का सिंशी षलेख इस कथन का प्रमाण है।<sup>४</sup> एक समय जनता में भी इस लिपि का अच्छा प्रचार रहा होगा। मथुरा सत्रप रज्जुबुल (राजुल),<sup>५</sup> कुषाणा वीम कदफिस<sup>६</sup> और जाहरात नह्मपान आदि के सिक्कों<sup>७</sup> पर खरोष्ठी का प्रयोग, उत्तरभारत एवं दक्षिण में मकाराष्ट्र तक इस लिपि के प्रचार की सूचना देते हैं। विनिमय माध्यम सिक्कों में प्रयोग, इस बात का सूचक है कि एक समय जनता में भी यह लिपि लोकप्रिय थी। तभी तो उल्लिखित शासक अपनी मुद्रा प्रणाली के लिए इसे व्यवहार में लाए।

१: का०इ०ई०, भाग १, पृ० ६६ (हुल्श)

२: वही, भाग २, (१०)पृ० २८

३: वही, पृ० ६२

४: वही, पृ० ४८

५: कैक्वा०पि०म्यू०(लाहौर), भाग १, संख्या १३०, पृ० १६६

६: कॉम्प्रे०हि०ई०, भाग २, फलक ५, क्रम ४ तथा <sup>इ.म्यू.के.</sup>वही (स्मिथ) सं०६पृ०६८

७: इ०क्वा०(रेप्सन) १८६७ फलक ३ सं० १

भाषा अथवा स्वयं सरस्वती की पर्याय ब्राह्मी<sup>१</sup>, भारत की सर्वाधिक प्रिय प्राचीन लिपि रही है। पिप्रावा बौद्ध लेख<sup>२</sup> इस लिपि की अभिलेखीय-प्रमाण-पुष्ट सीमा लगभग पांचवीं सदी ई० पू० सिद्ध करता है। तब से लेकर अनेक अवान्तर परिवर्तनों को लेकर इसलिपि के <sup>३</sup>वर्ष ६ वीं १० वीं शताब्दी तक चलते रहे। प्राचीन काल से ही उत्तरी और दक्षिणी दो प्रमुख धाराओं में विभक्त यह लिपि आगे अनेक उपशाखाओं में फैलकर भारत एवं बृहत्तर भारत को साहित्य-रस से सिंचित करती रही। उपर्युक्त प्रमुख दो धाराओं की विभाजन रेखा, विन्ध्य-शैलश्रेणियाँ हैं। लेकिन यह ऐकान्तिक सत्य नहीं है, क्योंकि विन्ध्य के उत्तर में दक्षिणी और विन्ध्य के दक्षिण में उत्तरी रूप के लेख कहीं-कहीं मिल ही जाते हैं।<sup>३</sup> ये धारायें प्रादेशित-वैभिन्न्यजन्य आकृतिविशेष के कारण हैं। उत्तरी ब्राह्मी के उदाहरण समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ<sup>४</sup> चन्द्रगुप्त का उदयगिरि गुहालेख<sup>५</sup>, कर्मदाण्डा का लिंगलेख<sup>६</sup> ~~भानुदत्त~~ ताम्रपत्र<sup>७</sup> हर्ष का बांस-लेखा शासन पत्र<sup>८</sup> आदि हैं। इसी प्रकार दक्षिणी ब्राह्मी के दृष्टान्त बन्धुवर्मन् का मन्दसौर लेख<sup>९</sup> स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख<sup>१०</sup>, शिवस्कन्दवर्मन् का हीरव्दगल्लि ताम्रपत्र<sup>१०</sup> पश्चिमी गंग माधव का पेनुकोण्ड ताम्रपत्र<sup>११</sup> आदि हैं।

आकृति विशेष के दृष्टिकोण से उत्तरभारतीय ब्राह्मीलिपि

- १: अमर० १-६ - १
- २: सि०इ०, भाग १, पृ० ८४
- ३: प्रा०भ०६लि०मा०(ओफा), पृ० ४२
- ४: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १
- ५: वही, भाग ३, संख्या ३ या ६
- ६: हि०लि०इ०, पृ० ८२
- ७: वही, पृ० १४५-१४७
- ८: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १८
- ९: वही, संख्या १४
- १०: सि०इ०, भाग १, पृ० ४३७-४४२
- ११: वही, पृ० ४५६-४५७

के भी उत्तरपश्चिमी ब्राह्मी<sup>१</sup>, उत्तरपूर्वी ब्राह्मी,<sup>२</sup> राजस्थानी ब्राह्मी,<sup>३</sup> उत्तरी कीलशीर्ष ब्राह्मी,<sup>४</sup> आदि भेद हैं। इसी भाँति अपने सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त दक्षिणी ब्राह्मी के भी चौखट शीर्ष<sup>५</sup> तथा कीलशीर्ष<sup>६</sup> आदि रूप मिलते हैं।

ब्राह्मी को इमाइल सेनर्ट,<sup>७</sup> विल्सन,<sup>८</sup> जोजफ हावेली<sup>९</sup> आदि विद्वान् ग्रीकजन्मा मानते हैं। किन्तु कनिंघम<sup>१०</sup> एवं हासन<sup>११</sup> उचित ही इसे आर्य पुरोहितों से विकसित शुद्ध भारतीय लिपि कहते हैं। वास्तव में जब श्रुति-परम्परा से अध्ययन-अध्यापन का कार्य जारी होने लगा, तब ब्रह्म (ऋषि) (वेदों) के संरक्षणा-निमित्त आविष्कृत यह शुद्ध आर्यलिपि है, जो कि चित्रलिपियों (PICTOGRAPH) कल्पनाविहनों (IDEOGRAPH) एवं ध्वनिचिह्नों (PHONETIC) के आधार पर निर्मित हुई।

ब्राह्मी में स्वर व्यंजन सब मिलाकर ६४ चिह्न हैं। इस्व एवं दीर्घ के लिए पृथक् पृथक् संकेत हैं। यह लिपि प्रायः समस्त उच्चरित ध्वनिगण, अनुस्वार अनुनासिक एवं विसर्गों के लिए स्वतंत्र चिह्नों से संयुक्त है। इसमें उच्चारणों के अनुसार वर्ण वर्गीकृत हैं। स्वर-व्यंजनों का मेल मात्राओं के अनुसार होता है। इस प्रकार संसृष्ट की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि नागरी के समग्र गुण अपने आदि रूप में, ब्राह्मी में थे।

ब्राह्मी का पढ़ा जाना—

आश्चर्य की बात है कि लगभग दसवीं सदी के पश्चात् भारतवर्ष अपनी इस प्राणप्रिया लिपि को अकस्मात् भूल गया। यहाँ तक कि फिरोज

१. चन्द्रगुप्त (दि०) का मथुरा स्तम्भलेख— हि० लि० ७०, पृ० ७८-७९, मेहरौली-लेख, का० ७० ई०, भाग ३, संख्या ३२

२. स्कन्दगुप्त का कन्नौज प्रस्तर स्तम्भ लेख, का० ७० ई०, भाग ३, संख्या १५

३. नन्दगुप्त बलिस्तम्भ— हि० लि० ७०, पृ० ५६

४. शशांक राजकालीन गंजाम पत्र— ८० ई०, भाग ६, पृ० १४३-१४६ एवं तोर-माणकालीन कुरा प्रस्तर लेख— सि० ७०, भाग १, पृ० ३६८-३६९

५. विन्ध्यशक्ति (दि०) का ब्राह्मि पत्र— हि० लि० ७०, पृ० १११-११२

६. प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र— हि० लि० ७०, पृ० ११३-११४

७. इ० ऐ० ७०, भाग ३५, पृ० २५३

८. वही, भाग ३५, पृ० २५३

९. ज० ए०, १५८८, पृ० २६८

तुगलक और अकबर द्वारा तोपरा और मेरठ वाले आशोक के लेखों को विद्वानों से पढ़ाए जाने के प्रयत्न असफल रहे ।

इसके पश्चात् १७८४ में जब बंगाल रशियाटिक सोसाइटी का जन्म हुआ, तो विद्वान् फिर इस लिपि के विषय में उत्सुक हुए । सन् १७८५ में चार्ल्स विल्किन्स ने नारायणपाल का बीदाल स्तम्भलेख पढ़ा । राधाकान्त शर्मा ने भी वीसलदेव विग्रहराज (च०) के तोपरा (दिल्ली) स्तम्भलेख को पढ़ने में सफलता प्राप्त की ।<sup>१</sup> सन् १७८५ से १७८६ तक चार्ल्स विल्किन्स ने गुप्तलिपि (ब्राह्मी का रूप विशेष) के लगभग आधे वर्ण पहिचान लिए । राजस्थानी अभिलेखों को पढ़ने में सन् १८१८ से १८२३ तक जेम्स टॉड प्रयत्नशील रहे ।

लिपि पहिचान के प्रयत्नों में ट्रायर, बोथन आदि विद्वानों के नाम भी स्मरणीय हैं, किन्तु विशेष सफलता जेम्स प्रिन्सेप को प्राप्त हुई । उन्होंने स्कन्दगुप्त के कर्मा<sup>२</sup> जूनागढ़<sup>३</sup> आदि लेख पढ़े और तथाकथित गुप्त-लिपि (ब्राह्मी) की वर्णमाला तैयार की । गुप्तकाल से पहले की ब्राह्मी को पढ़ने में भी प्रिन्सेप महोदय का प्रयत्न स्तुत्य है । इस दिशा में ग्रियर्सन, कनिंघम, सेनर्ट आदि विद्वानों के नाम भी अग्रगण्य हैं । ऋहूलर में आकर तो सम्पूर्ण ब्राह्मी वर्णमाला का अन्तिम रूप ही निर्धारित हो गया ।<sup>४</sup>

### अभिलेखीय लेखन सामग्री

आधारभूत सामग्री —

ताड़पत्र,<sup>५</sup> भोजपत्र,<sup>६</sup> कागज,<sup>७</sup> रुई का कपड़ा,<sup>८</sup> रेशमी कपड़ा<sup>९</sup>

- १: भाण्डारकर लि०, संख्या ३१६
- २: का०ई०ई०, भाग ३, संख्या १५
- ३: वही, संख्या १४
- ४: ड०—ऋहूलर, ई०पै०(परिशिष्ट ६ फलकों में)
- ५: वही, पृ० ११३-११४
- ६: ड०—प्रा०भक्तलि०मा०(ओभक्त) पृ० १४३
- ७: ड०—ई०पै०(पाण्डेय), पृ० ७१
- ८: ड०—प्रा०भक्तलि०मा०, पृ० १४५-१४६
- ९: ड०—वही, (ओभक्त), पृ० १४७

बमड़ा<sup>१</sup> आदि अज्ञात स्थायी वस्तुओं में अभिलेखों की माध्यमभूत-लेखन सामग्री होने का सामर्थ्य नहीं। अतः इस प्रसंग में अधोलिखित स्थायी सामग्रियों का परिगणन ही अपेक्षित है —

लकड़ी — किरारी (इत्तीसगढ़ म०प्र०) में लकड़ी का एक स्तम्भ मिला,<sup>२</sup> जिस पर ब्राह्मी लिपि में अक्षर खुदे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में आज की तरह लकड़ियों पर भी लेख उत्कीर्ण किए जाते थे।

इंटें, मृत्पात्र एवं मृणमुद्राएँ — इनके प्रतिनिधि उदाहरणों में गोपालपुर की इंटें,<sup>३</sup> मैत्रक गुह्येन(दि०) कालीन 'बला' (काठियावाड़) में प्राप्त मृत्पात्र खण्ड,<sup>४</sup> महादेवी धुवस्वामिनी की मृणमुद्रा,<sup>५</sup> तथा वैशाली की अन्यान्य मृणमुद्राएँ उल्लेखनीय हैं।

सोना चाँदी — वाल्मीकि रामायण,<sup>६</sup> मुडारादास<sup>७</sup> और अभिज्ञान शाकुन्तलम्<sup>८</sup> में नामांकित अंगुठियों का उल्लेख है। 'दुष्यन्त' नाम उत्कीर्ण होने के कारण अभिज्ञान शाकुन्तलम् की अंगुठी को नाम-मुद्रा भी कहा गया है।<sup>९</sup> काव्यनाटक भले ही कल्पना के वैभव से मस्कते हों, वे कुछ सीमा तक तत्कालीन सामाजिक कार्यप्रणालियों के दर्पण तो होते हैं।

तपाशिला के एक स्तूप में स्वर्णपत्र मिला, जिस पर खरोष्ठी लिपि में लेख उत्कीर्ण है।<sup>१०</sup> ऐसे दो स्वर्णपत्र वर्मा में भी प्राप्त हुए

१. इ०—इ० पे०(बूहार), पृ० ११४

२. उत्कीर्ण लेख, पृ० १-३ तथा १-२ (फ०)

३. ए०ई०, भाग १८, परि०पृ०, १८-१९

४. इ०रेण्टि०, भाग १४, पृ० ७५

५. आ०स०ई०, (एनु०रि०) १९०३-०४, पृ० १०७ तथा पत्र

६. वानरों<sup>१०</sup>हं महाभागे दूतों रामस्य धीमतः।

रामनामांकितं वेदं पश्य देव्यहंगुलीयकम् ॥ वा०रा०सुन्दरकाण्ड,

३६।२ (वेंकटेश्वर संस्क०)

७. मुद्रा०, अंक १

८. उत्कीर्णनामधेय 'राजकीयमहुलीयकं' अभि०शा०, अंक ६, पृ० ११८ (काले०संस्क०)

९. वही, अंक ६, पृ० १५५ आदि

१०. आ०स०रि०, भाग २, पृ० १३०

हैं ।<sup>१</sup> उत्कीर्ण सोने के सिक्के<sup>२</sup> ही प्रमाण में पर्याप्त हैं कि सोना भी आधारभूत लेखन सामग्री में एक था । चांदी का भी एतदर्थ समान ही प्रयोग हुआ है । तद्वशिला में ही एक चांदी का पत्र प्राप्त हुआ<sup>३</sup>, जिस पर लेख उत्कीर्ण है । चम्पा के लेखों में रजत पत्र<sup>४</sup> एवं रजतघट<sup>५</sup> लेख भी हैं ।

टिन-काँसा-पीतल-लोहा — टिन<sup>६</sup> एवं काँसे<sup>७</sup> के बने हुए घाटों पर भी लेख उत्कीर्ण किए जाते थे । पीतल के उदाहरणस्वरूप नागराज की एक बुद्धमूर्ति रखी जा सकती है, जिस पर तिब्बती लेख उत्कीर्ण है ।<sup>८</sup> आसाम में प्राप्त (सम्भवतः) एक पीतल की बन्दूक पर (फारसी और संस्कृत के ) दो लेख अंकित हैं ।<sup>९</sup> पीतल एवं लोहे का एक संयुक्त दृष्टान्त बाढ़ाकाट (उत्तरकाशी) का त्रिशूललेख है ।<sup>१०</sup> इस त्रिशूल का ऊपर का भाग लोहे और नीचे का भाग पीतल का है । लोहे लेख के उत्कृष्टतम उदाहरण स्वरूप मेहरौली स्तम्भ लेख<sup>११</sup> एवं गोपेश्वर त्रिशूललेख<sup>१२</sup> रखे जा सकते हैं ।

ताम्र— अभिलेखों में सर्वाधिक प्रयुक्त धातु ताम्र है । शासन-पत्रों के लिए विशेषतः इसी का प्रयोग होता था । इसी लिए ताम्रशासन या शासन पत्र प्रायः एक दूसरे के पर्याय ही समझे जाते हैं । भोज के राज्य<sup>अत्यधिक शासनपत्र</sup> में घोषित होने के कारण 'ताम्र' का अभाव ही हो गया था —

अस्य श्री भोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम् ।

शत्रूणां शृङ्खलैर्हि ताम्रं शासन-पत्रकैः ॥

— भोजप्रबन्ध श्लोक १६२

१: ए०ई०, भाग ५, पृ० १०१

२: गु०मु०, फ०२०, संख्या १२, फ० २१, संख्या १३-२४ इत्यादि

३: ज०रा०ए०सो०(१६१४), पृ० ६७५-६७६

४: LA-THO SILVER PLATE INSCRIPTION — चम्पाई, संख्या १२६, पृ० २२७, लाहौर १६२७

५: वकी, संख्या १३०, पृ० २२७

६: इ०पे०(पाण्डेय), पृ० ८३

७: प्रा०भम्भलि०मा०, (ओम्भा), पृ० १५४

८: उ०या०द०, पृ० ५२२-५२३

९: ज०प्रे०ए०सो०बं०(न्यू सीरिज)भाग ५(१६०६), पृ० ४६५

१०: गढ़वाल (राहुल) पृ० ३४८

११: कां०इ०ई०, भाग ३, सं० ३२

ताँबे पर लिखे शासन अनेक नामों से व्यवहृत होते हैं; जैसे —  
 ताम्रपत्र,<sup>१</sup> ताम्रपत्रा,<sup>२</sup> ताम्रशासन,<sup>३</sup> ताम्रपट्ट,<sup>४</sup> ताम्रपट्टिका,<sup>५</sup> ताम्रपटक,<sup>६</sup>  
 पट्टिका<sup>७</sup> या पट्ट,<sup>८</sup> 'शासन'<sup>९</sup> आदि । इसी तरह सांकेतिक संस्कृत साहित्य  
 में प्रयुक्त शासन<sup>१०</sup> या शासन-पट्ट<sup>११</sup> ताम्रशासन के ही पर्याय हैं । पंचतंत्र में  
 अपने पुत्रों को अर्थशास्त्र में प्रवीण कराने की शर्त पर राजा अमरशक्ति,  
 विष्णुशर्मा से कहता है — 'तदा अहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि',<sup>१२</sup>  
 जिसका अर्थ है — 'शतसंख्यक-ग्रामसम्पद्दानपत्रेण'। क्योंकि 'शासन' शब्द  
 प्रायः भूमि अथवा ग्रामदान के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त होता था ।<sup>१३</sup>

वृषताप—पौरव द्युतिवर्म्न के तलेश्वर-पत्र के लिए वृषताप  
 शासन कहा गया है ।<sup>१४</sup> वृषताप ताँबे के साथ अन्य धातुओं को मिलाकर  
 तैयार किया जाता था ।

प्रस्तर (शिला) — स्फटिक पर उत्कीर्ण एक लेख भट्टिप्रोलु  
 के स्तूप से प्राप्त हुआ है ।<sup>१५</sup> ग्रेनाइट पत्थर<sup>१६</sup> सैंकत शिला (SANDSTONE)<sup>१७</sup>

- १: इंडोपिट०, भाग ६, पृ० २६, श्लोक १२
- २: ताम्रपत्राणि यात शासनं—का०प्ले०इ०आ०प्र०म्यू०, भाग १, पंक्ति ३४ हरिवर्मा  
का कइचेरुतु शमनपत्र
- ३: ए०इ०, भाग १६, पृ० १२६, पं० ११-१२
- ४: सि०इ०, भाग १, पृ० ३३२, पं० १८
- ५: सि०इ०, भाग १, पृ० ४५३ पं० २०
- ६: चन्द्रदेव का चन्द्रावती शासन पत्र, हि०लि०इ०, पृ० १७६
- ७: ए०इ०, भाग ६, पृ० १४, पं० १८
- ८: 'चालुक्य भीमो बध्नाति पट्टमाचन्द्रतारकम्'—सा०इ०इ०, भाग १,  
पृ० ४५, श्लोक २
- ९: हि०लि०इ०, पृ० ११४, पं० २२
- १०: 'लेख्यशासनानि'—का०इ०, पृ० २४८
- ११: शापशासन-पट्ट, इषचि०, पृ० १४ (मौ०)
- १२: पं०त०, पृ० ५ (कलकत्ता लेख०)
- १३: हि०प्लो०सं०का०प्ले०ग्रा० (काब्रहा) पृ० ३
- १४: ए०इ०, भाग १३, पृ० ११६, पं० १४
- १५: प्रा०भ०लि०मा०(ओफा)पृ० १५१, पाद. टि० १; द्र०-हि०लि०इ०,
- १६: पनमलइलेख—ए०इ०, भाग १६, पृ० १०६-११५
- १७: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २४६-२५१; इ०का०, पृ० ८-१० (मजूमदार)



तथा अन्यान्य सामान्य सुग्राह्य पत्थर ही लेख उत्कीर्ण करने के लिए प्रयोग के सन्दर्भ में लाए गए हैं । सार्वजनिक महत्व के लेखों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ही इन सख्त सुलभ शिलानों पर लेख उत्कीर्ण किए जाते थे ।

प्रस्तर लेखों में बट्टान<sup>१</sup> स्तम्भ,<sup>२</sup> यूप<sup>३</sup> शिलाफलक ( SLAB )<sup>४</sup> प्रस्तर मुद्रा<sup>५</sup> प्रस्तर-पात्र (कटोरा),<sup>६</sup> पात्र-मंजुषा ( VASE CASKET ) के आच्छादन ( LID ) तथा प्रान्त भाग ( RIM )<sup>७</sup> दीप कक्षा दीप-दान,<sup>८</sup> (जल के लिए)<sup>९</sup> प्रस्तरप्रणाली, मन्दिरों के प्रवेश द्वार,<sup>१०</sup> घेरे ( ENCLOSURE )<sup>११</sup> दीवार<sup>१२</sup> और देवायतनों ( PAGODAS ) के स्तम्भ,<sup>१३</sup> कड़ियां ( BEAMS )<sup>१४</sup> बट्टान कटी दीवारें ( ROCK-CUT-WALLS )<sup>१५</sup> शिलाकट्टिम ( PAVEMENTS )<sup>१६</sup> मूर्तियां,<sup>१७</sup> मूर्तिपाद,<sup>१८</sup> मूर्तिपृष्ठ,<sup>१९</sup> मूर्तिमूल ( PLINTH )<sup>२०</sup> बैस रिलीफ ( BAS RELIEF )<sup>२१</sup> लिंग<sup>२२</sup> तथा लिंगाधार ( LING BASE )<sup>२३</sup> आदि आते हैं । पत्थर के बने मंजुषा ( PLINTH OF PLATFORM )<sup>२४</sup>

- 
१. जैसे तुशाम लेख—वही, पृ० २६६-२७१
  २. समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भ, वही संख्या १, गरुडस्तम्भ—हि० लि० ७०, पृ० ४३-  
दीपस्तम्भ—सा० ७०, भाग १, पृ० १५५-१६० आदि
  ३. उदा०—मठराकाम्ब० पौरसा प्रस्तर यूप लेख—(बोर्नियो) बो० सं० (राहुल  
पृ० १३५
  ४. मथुरा शिलाफलक लेख ए० ७०, भाग १६, पृ० ६७, लेख संख्या ५
  ५. रोस्तासगढ़ प्रस्तरमुद्रा मेट्रिक्स—का० ७०, भाग ३, पृ० २८३-८४
  ६. मथुरा प्रस्तरपात्र—ए० ७०, भाग १६, पृ० ६७-६८
  ७. पिप्रावा बाँद पात्र-लेख—ल्यूडर्स, लि० ६३१
  ८. उत्पाजे शरीरिणी दीपलेख, ए० ७०, भाग २३, पृ० २८६
  ९. ए० ७०, भाग १६, पृ० ६८-६९
  १०. सा० ७०, भाग १, पृ० १६०-१६७
  ११. वही, पृ० १४-१८
  १२. वही, पृ० २३
  १३. सा० ७०, भाग १२, पृ० १२
  १४. वही, पृ० ७-८
  १५. वही, पृ० ३
  १६. ल्यूडर्स लि०, पृ० ७७
  १७. ए० ७०, भाग १६, पृ० ६६-६७, संख्या १-४
  १८. मथुरा मूर्तिपाद लेख ए० ७०, भाग १६, पृ० ६६-६७
  १९. ल्यूडर्स लि०, ६५७-६५८
  २०. इ० के० टे० ७०, पृ० ७६ तथा ८० आदि
  २१. ए० ७०, भाग २२, पृ० ११-१४
  २२. हि० लि० ७०, पृ० ८२

पर भी लेख लिखे जाते थे ।

प्रस्तर सामग्री के वर्ग में गुहालेख भी आ जायेंगे जिनके उदाहरण उदयगिरि<sup>१</sup> बरानर<sup>२</sup> नागार्जुनी<sup>३</sup> अजन्ता गुहालेख<sup>४</sup> आदि हैं ।

चित्रार्पित ( PRINTED INSS. ) लेख— डा० सरकार गुहाभित्तियों के रंगे लेखों को भी अभिलेखों का ही सम्मान प्रदान करते हैं ।<sup>५</sup> रंगीन लेखों के अनेक उदाहरण अजन्ता गुहा में प्राप्त हैं ।<sup>६</sup> स्थायी लेखादि से परिष्कृत तल के पीछे प्रस्तर प्राचीर होने के कारण, ऐसे लेख भी प्रस्तर लेखों में ही ग्राह्य हैं ।

माध्यमभूत लेखन-सामग्री — ये वस्तुएं मसी, <sup>७</sup> वर्णक<sup>८</sup> (लेखनी) या चर्णिका<sup>९</sup> तुलिका अथवा शलाका<sup>१०</sup> और टंक<sup>११</sup> (कैनी) हैं ।

शिलालेखों के स्थान — शिलालेख, सामाजिक, (राजमार्ग, चौराहे, मेलों के स्थान) एवं धार्मिक स्थलों,<sup>१२</sup> यात्रामार्गों,<sup>१३</sup> व्यापारिक नगरों,<sup>१४</sup> निर्माणविशेष से सम्पन्न स्थानों,<sup>१५</sup> राजधानियों,<sup>१६</sup>

- 
- १: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या ३ तथा ६  
२: वही, संख्या ४८  
३: वही, संख्या ४६  
४: इ०के०टे०वे०इ०, पृ० ६६-७१  
५: आ०स०इ०, स्पेशल जुबिलीनम्बर (१९०२-५२), पृ० २१२  
६: इ०, के०टे०, वे०इ०, पृ० ८०-८८  
७: अमर० ३-५-१० (चौ०)  
८: इ०पे० (पाण्डेय) पृ० ८६; अमर० ३।५।३८  
९: अमर०, ३।५।३८ की टिप्पणी  
१०: तुलिका एवं शलाका, इ०, अमर० ३।३।२०५ (८१)-क  
११: मृच्छ० १।२० तथा इ०- टंक: पाष्ठादायणः—अमर० २।१०।३४ ;  
लेखनित्रे टंकनेऽस्त्रियाम् मेदिनी० १।२४  
१२: समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १, तथा  
इ०-संख्या ७१ (बोधगया); ७५ (सारनाथ)  
१३: देवप्रयाग ब्राह्मी लेख, इ०इ०, भाग ३०, पृ० १३३-१३५  
१४: मन्दसौरलेख, का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १८; ३३ आदि  
१५: गिरिनार । जूनागढ़ लेख-इ०रेण्टे०, भाग ७, पृ० २५७-२६३ तथा

राज्यसीमाओं,<sup>१</sup> मंदिरों,<sup>२</sup> विहारों<sup>३</sup> तथा गुहा<sup>४</sup> आदि पर स्थापित किए जाते, या लिखे जाते थे ।

शासन पत्रों से सम्बंधित प्रमुख राजकीय अधिकारी —

दूतक — भूमिदानादि कार्यों के समय राजा के प्रतिनिधि के रूप में 'दूतक' उपस्थित रहता था, जिसे आज्ञापित<sup>५</sup> या आज्ञादापक<sup>६</sup> भी कहते थे । मात्र, 'आज्ञा' शब्द, जैसे 'आज्ञा भोगिकबोद्धदेव [:]'<sup>७</sup> से भी दूतक का अर्थगृहण किया जाता है । दूतक पद तदर्थ (Ad hoc) होता था । अक्सर विशेष के लिए कोई भी उच्चाधिकारी दूतक नियुक्त कर दिया जाता था। इसलिये 'राजकुमार',<sup>८</sup> 'सामन्त',<sup>९</sup> 'सामन्थविग्रहिकप्रमातार'<sup>१०</sup>, 'प्रमातार',<sup>११</sup> 'महाप्रमातारसामन्त',<sup>१२</sup> 'प्रतिहार',<sup>१३</sup> 'महाप्रतिहारमहादण्डनायक',<sup>१४</sup> 'निष्कालपति',<sup>१५</sup> पुरोध,<sup>१६</sup> आदि कोई भी व्यक्ति दूतक बना दिया जाता था । दूतक का मुख्य कार्य शासनादि पत्र-निर्माण में और दत्तभूमि

१. ड०का०इ०ई०, भाग १ (अशोक के शाहबाज गढ़ी, गिरिनार, सिद्धपुरा, धौली, रुमन्देमी) लेख
२. ड०का०(मजूमदार) संख्या २५
३. वही, संख्या १०
४. ड०-इ०के०टे०वै०ई०
५. सा०ई०इ०, भाग १, पृ० ३४, पं० ५१-५२
६. इ०ऐ०ए०, भाग १४, पृ० १६१, टि० २८
७. ए०ई०, भाग २१, पृ० २४, पं० ८
८. दूतकोत्र राजपुत्रध्रुवसेन[:]' - भाव०, पृ० ४६ (द्वि०पत्र), पं० ३२
९. भाव०पृ०, ४२, (द्वि०पत्र) पं० २१
१०. ए०ई०, भाग १३, पृ० ११६ पं० २७
११. ए०ई०, भाग १३, पृ० १२०, पं० २८
१२. लि०लि०इ०, पृ० १४६, पं० १४
१३. 'दूतकः प्रतिहार-मम्मकः' - ए०ई०, भाग १७, पृ० ११०, पं० १०
१४. ए०ई०, भाग ३०, पृ० ११८, पं० १६
१५. का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २८६- पं० १४
१६. ए०ई०, भाग १६, पृ० २६०, पं० २४-२६

के सीमा निर्धारण में निगरानी रखना था । राजा की अनुपस्थिति में दूतक की ही सारी कार्यवाही का ज्ञान (विद्) आवश्यक था ।<sup>१</sup>

लेखक— दूतक के मुख से राजाज्ञा सुनकर लेखक शासनादि पत्रों की प्रारूप-रचना करता । उसे, शीघ्रलिपिनिर्माण करने वाला, सुन्दर अक्षर बनाने वाला और लेखवाचनसमर्थ होना आवश्यक था ।<sup>२</sup> वह या तो अमात्य ही होता<sup>३</sup> या अमात्यगुणोपेत अधिकारण ( राजकार्यालय ) से सम्बद्ध तत्प्रयोजनवशात् नियुक्त अधिकारी, जैसा कि कादम्बरी में भी लिखा है —

अधिकारणलेखकैरातित्यमानशासनसहस्रम्<sup>४</sup>

सामान्यतः दूतक की भाँति ही लेखक 'सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत'<sup>५</sup>

सान्धिविग्रहाधिकृत— दिविरपति—महाप्रतिहारसामन्त<sup>६</sup> ( केवल) दिविर-पति,<sup>७</sup> भूमापक अधिकारी 'रजुक' (रज्जुक)<sup>८</sup> कायस्थ,<sup>९</sup> गुप्तचर विभाग का अधिकारी 'रहस्याधिकृत'<sup>१०</sup> आदि कोई भी हो सकता था । लेखक के लिए राजकर्मचारी होना भी आवश्यक नहीं था । स्वर्णकार 'आर्य' ने राजकृपा से अपने पुत्र 'अपायन' को येनुकोण्ड ताप्रपत्र का लेखन-कार्य दित-वाया था,<sup>११</sup> जब कि पिता और पुत्र में कोई भी राजकर्मचारी प्रतीत नहीं होता ।

रचयिता और लेखक—

रचयिता और लेखक पृथक्-पृथक् व्यक्ति होते थे । बन्धुवर्मन्

१. ड०— 'रहसिक सुबन्धोऽपि(व)दितं' ए०ई०, भाग ३०, पृ० २७८, पं० १४-१५

२. अर्थ० २।१०।२

३. 'अमात्यार्चुनदत्तेन लिखितं'— ए०ई०, भाग १२, पृ० ३, पं० २४

तुलनीय— 'इत्येतमात्येन लिखितम्' अभि०शा०, अंक ६, पृ० १६७ (काते)

४. काद०, पृ० १८५

५. ए०ई०, भाग १३, पृ० ३४०, पं० १८

६. वही, भाग २२, पृ० १२०, पं० ६२

कालीन मन्दसौर लेख के अन्त में लिखा है — 'स्वस्तिकर्तुं लेखकवाचकश्रीतृप्यः' यहाँ कर्तुं एवं लेखक का पार्थक्य स्पष्ट ही है । किन्तु यह ऐकान्तिक सत्य नहीं । शान्तिवर्मन् के तालगुण्ड लेख के कवि 'कुब्ज' ने अधिक शुद्धता लाने के लिए उक्त लेख को स्वयं ही प्रस्तर पर लिखा था ।<sup>१</sup> लेखक का कार्य सामान्यतः रचयिता द्वारा लिखे लेख को प्रस्तर, धातु या अन्य आधार-भूत लेखन-सामग्री पर धातुराग<sup>२</sup> या मसि<sup>३</sup> (स्याही) से लिखना था,<sup>४</sup> जिससे शिल्पिन् उसके ऊपर तद्वत्-अक्षर बना सके । लिपिविधान करने के कारण लेखक को अक्षरवण, अक्षरचंचु या लिपिकार भी कहा जाता है ।<sup>५</sup> लिपिकार या लिपिकर<sup>६</sup> का एक प्रचलित रूप लिबिकर भी था ।<sup>७</sup>

शिल्पिन्— शिल्पिन् को रूपकार, शिलाकूट या सूत्रधार भी कहते थे । उसका कार्य लेखक के लिखे को टंक से उत्कीर्ण करना था । अभिलेखों में सूत्रधर एवं सूत्रधार पर्याय शब्द हैं । दुर्गुणकालीन फालरापाठ लेख को उत्कीर्ण करने वाले व्यक्ति 'वामन'<sup>८</sup> तथा शुभाकर कालीन खडिपह प्रतिमा के श्रेता को सूत्रधार ही कहा गया है ।<sup>९</sup> उत्कीर्ण करने का कार्य सौवर्णिक व्यक्तियों (सुनार),<sup>१०</sup> अयरकर (लोहार)<sup>११</sup> आदि व्यावसायिक लोगों के अतिरिक्त लेखा-कार्यालय के कर्मचारी 'अक्षशालिन्'<sup>१२</sup> को भी दिया जा सकता था ।

१: का०६०ई०, भाग ३, पृ०८४, पं० २४

२: 'कुब्जस्वकाव्यमिदमश्मतले लिलेख'— ए० क० १० भाग ०७, पाठ्य पृ०, २०२, श्लोक ३४

३: इ०—मेघ (उत्तर) ४२

४: ए०६०, भाग १८, परि० १६

५: अमर० २।८।१५

६: सं. इ. शिक्षा (आष्टे) २: ४८१

७: इ०—वही, तथा इ०—अष्टा०—३।२।२१

८: ए०६०, भाग ५, पृ० १८१ श्लोक ३

९: वही, भाग २६, पृ० २४८

१०: वही, भाग १३, पृ० ११६, पं० २८

११: वही, भाग ४, पृ० १७०

१२: वही, भाग १३, पृ० २१५, पं० २६-३० टि० हुत्समहोदय का मत

इसके विपरीत है । वे अक्षशालिन् को 'अक्षपटलिक' से पृथक् समझकर उसे केवल सुवर्णकार मात्र मानते हैं — इ०—ए०६०, भाग १७,

पृ० १२६ ३३२

शिला या धातु पर अक्षर काटने की यह क्रिया, 'उत्कीर्ण',<sup>१</sup>  
'उत्कटित',<sup>२</sup> 'जात'<sup>३</sup> आदि अनेक नामों से व्यवहृत होती थी ।

मुद्रा अधिकारी - ताम्रादि शासनों को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए उन्हें मुद्राचिह्नित करना आवश्यक था ।<sup>४</sup> छिद्रयुक्त ताम्र-पत्र एक धातुहोरे ( RING ) से बांधे जाते थे । इस होरे पर राज-मुद्रा ( SEAL ) जड़ी होती थी । धातुपिण्ड की तरलता की सीमा तक तप्त कर उस पर राज-ठप्पा ( PATTERN ) लांकित किया जाता था । इन कार्यों के लिए भी पृथक्-पृथक् कर्मचारी होते थे ।

र्थ— 'तापितं पुस्तपाल-जयदासेन'<sup>५</sup> 'लांवि(च्छित्तं)तं दृष्टेन'<sup>६</sup> । यहाँ तापित करने वाला कर्मचारी अथवा अधिकारी जयदास है और लांच्छित्त करने वाला दृष्ट ।

सादरिरूप अधिकारी - अन्य अधिकारियों या कर्मचारियों के कामों का पर्यवेक्षण करने के लिए यदा-कदा किसी सैनिक अधिकारी की विद्यमानता का भी उल्लेख मिलता है ; जैसे — 'सेनापतां बाप्पदेवे'<sup>७</sup> या 'सेनापतां चित्रवर्माण'<sup>८</sup> आदि ।

अभिलेखों की असावधानियाँ—

अशोक के चौदहवें लेख में 'लिपिकारों' की लेखन सम्बन्धी गलती की आशंका व्यक्त की गई है — 'लिपिकल पलाधेन वा'<sup>९</sup> वास्तव

१. 'उत्कीर्णान्यक्षराणि' — ए० इ०, भाग १३, पृ० ११६, पंक्ति २८

२. चक्रदासेनोत्कटितम् — डि० लि० इ०, पृ० ११४, पं० २२

३. 'बाप्पदेवेण (न) जातमिदम्' — ए० इ०, भाग १६, पृ० १०३, पंक्ति २६

४. इ०— शु० नी० २।३५६

५. सि० इ०, भाग १, पृ० ३६४, पं० २५

६. ए० इ०, भाग ११, पृ० २८७, पं० ५८-५९

७. का० इ० इ०, भाग ३, पृ० २४७, पं० ३५

८. सि० इ०, भाग १, पृ० ४२५, पं० ५६-६०

९. का० इ० इ०, भाग १, (हुल्श) पृ० ४६

में लेखक लिखते समय बड़ी-बड़ी आसुवधानियाँ को निर्मंत्रण दे दिया करते थे । इस विषय में विशाखवर्मन् के कौरोषण्ड शासन पत्र<sup>१</sup> में वाक्य रचना का अधोलिखित उदाहरण देखा जा सकता है —

[पं० ८] ... "(सं)व्वत् ७ जेम ७

[पं० ९] अत्र च व्यासगीतां द्वां श्लोकीं दिवस २०

[पं० १०] बहुभिर्ब(र्वा)सुधा<sup>२</sup> इत्यादि

इसमें 'बहुभिर्बसुधा' — वाले प्रशंसागर्भ श्लोक को (जो दो श्लोकों में प्रथम श्लोक है) 'अत्र च व्यासगीतां द्वां श्लोकीं' के ठीक पश्चात् होना चाहिए था । इसके अतिरिक्त दिवस २०<sup>३</sup> को पं० ८ में 'विद्यमान' 'जेम ७' के पश्चात् तथा 'अत्र च व्यासगीतां' से पहले होना आवश्यक था ।

इसी प्रकार सैन्यभीत माधववर्मन्(द्वि)<sup>४</sup> 'श्रीनिवास' के पुरुषोत्तमपुर शासन पत्र में एक स्थान पर पद्म<sup>५</sup> शब्द दूसरी बार व्यर्थ ही दुहराया गया है ।

### शुद्धीकरण—

लिखते समय भूल से कूटे हुए शब्द या वर्ण, शासनों के प्रान्त भाग या ऊपर-नीचे लिख दिए जाते थे और सम्बन्धित भाग में स्थान निर्देश के लिए काकपद, स्वस्तिक आदि चिह्न बना लिए जाते थे । पुलकेशिन् (द्वि) के कौप्परम-पत्र में एक स्थल पर 'शत्रुमे' का 'त' पंक्ति के नीचे बाद में लिखा गया है ।<sup>१</sup> पंक्ति के ऊपर बनाया गया काकपद, 'त' के स्थान का निर्देशक है । इसी भाँति कदम्ब हरिवर्मा के 'मरदे' शासन की 'यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य' तदा फलम् ॥' — पंक्ति में इस निमित्त 'स्वस्तिक' चिह्न प्रयुक्त है । इस पंक्ति का द्वितीय 'तस्य' भूल से कूट गया था । उसे बाद में प्रान्तभाग में लिखा गया और सम्बन्धित स्थान में दो 'स्वस्तिक' चिह्न संकेत रूप में बना दिए गये हैं ।<sup>४</sup>

१. ए०ई०, भाग २१, पृ० २३-२५

२. ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६७, श्लोक ६

३. ए०ई०, भाग १८, पं० ११, पृ० २५६

४. इ०ए०ए०, भाग ६, पृ० ३२ पाद टि० २



यदा कदा अर्वाङ्कित लिखे हुए को मिटा कर ऊपर या नीचे लिखा जाता<sup>१</sup> या अनुपयुक्त स्थान में लिखित शब्द या पंक्ति को मिटा कर दुबारा सर्वथा पृथक् स्थान पर लिखा जाता था ।<sup>२</sup>

विराम चिह्न —

विराम के अनेक चिह्न होने पर भी अभिलेखों में इसकी बड़ी अनियमितता है । उदाहरणार्थ, अधोलिखित उद्धरणों में वाक्य की पूर्णता अपूर्णता का विचार न कर बीच-बीच में रखे विरामचिह्न आप-त्तिजनक हैं—

“ अतुल-व(त्र)ल-समुदयावाप्तविमुलविभव- सम्पत्तता-  
मण्डपच्छायाविश्रान्त । सुहृत्साधुवा(वा)न्ध्वार्थिजनः”<sup>३</sup>

“ श्रीमङ्गाराजेन्द्रवर्मा । वाँहोत्तरभाग-सम्ब(म्ब)द्व-जिज्जिक ग्रामे ।  
सर्व्वसमवेतान्कुटुम्बिन [ः] समाज्ञापयत्यस्त्ययं ग्रामे”<sup>४</sup>

श्लोकों के बीच में भी ये निरर्थक विरामचिह्न सहज सुलभ हैं, जैसे—“ पाण्डुमि[त]सीष्वनुच्छिद्य । स्नपनार्थं चि सर्व्वदा ”<sup>५</sup>

पृष्ठ-संख्याङ्कन—

शिलालेखों में पृष्ठसंख्या का कोई प्रश्न नहीं उठता । मुद्रा-जहित-धातु होर से संग्रथित शासन पत्रों में भी हेर-फेर की आशंका न

१: इ० — पल्लव कूरम शासन-पत्र, सा० इ० इ०, भाग १, पृ० १५०

२: तुष्टिकार के तेरासिंहा पत्र का पृष्ठांकन ( ENDORSEMENT )

जो उसकी माता के आदेश पर था, सर्व प्रथम तृतीय पत्र के द्वितीय पार्श्व पर लिखा गया था, किन्तु एक पंक्ति के पश्चात् उसे मिटा दिया गया । तदनन्तर सम्पूर्ण चार पंक्तियों वाला वह पृष्ठांकन प्रथम पत्र के प्रथम पार्श्व पर लिखा गया । इ० — ए० इ०, भाग ३०, पृ० २७४—

२७८

३: सि० इ०, भाग १, पृ० ४५६, पं० ८-६

४: वही, पृ० ४५६-४६०, पं० १०-१२

५: ई० ऐण्टि०, भाग ६, पृ० २८, श्लोक ३

होने के कारण, पृष्ठ-संख्या का लिखा जाना आवश्यक नहीं था । फिर भी पृष्ठ-संख्यांकित शासन-पत्रों के उदाहरण प्राप्य हैं । स्कन्दवर्मा (साल-कायन) के 'कुडाहार-कोम्परे' ग्रामदान सम्बन्धी शासन-पत्र में <sup>१</sup> छः लिखित पृष्ठ हैं । <sup>२</sup> इसमें धातुहोर के निर्मित, बनाए गए छिद्रों के पास (उपान्तभाग में पंक्ति संख्या २, ६, १०, १३, १६ एवं १९ के समीप ) क्रमशः एक से छः तक पृष्ठ संख्याएं अंकित हैं ।

तिथियाँ—

प्राचीनतम संवत् सम्पत्तिर्षि, कलियुग, वीरनिर्वाण, बुद्धनिर्वाण, मौर्य, सेल्युकिडि है; किन्तु प्रथम शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक के अभिलेखों में निम्नांकित सम्मतों का प्रचाराधिक्य देखा गया है —

विक्रमसंवत् (वि०सं०) — ५६-५७ ई०पू० से प्रारम्भ होने वाला यह संवत् अनेक नामों से व्यवहृत है, जैसे— विक्रम संवत्<sup>३</sup>, विक्रम संवत्सर<sup>४</sup>, विक्रमांक संवत्<sup>५</sup> मालव<sup>६</sup> संवत् (मा०सं०), कृतवर्ष<sup>७</sup>, केवल "संवत्" या "संवत्सर" ।

शक संवत्—<sup>भारत में</sup> ७८ ई० से प्रारम्भ यह संवत्—शक संवत्<sup>१०</sup> या शक-नृपकाल, <sup>शक</sup> ११ कालसंवत्सर, <sup>१२</sup> शकाब्द, <sup>१३</sup> शाके १४ (शाकम्), शकवत्सर, <sup>१५</sup>

१. ए०ई०, भाग ३१, पृ० ७-१०

२. टि०—चार लिखित पत्रों वाले इस दानलेख में छः पृष्ठ इसलिए हैं कि सामान्यतः बाह्य रघड़ से अक्षरों की मिटने की आशंका को ध्यान में रख कर शासनपत्रों के प्रथम पत्र के प्रथम पार्श्व तथा अन्तिम पत्र के द्वितीय पार्श्व पर नहीं लिखा जाता था । पत्रों की पारस्परिकवर्षाणा से बीच के अक्षरों की रक्षा के लिए पत्रों के प्रान्तभाग प्रायः सामान्य धरातल से ऊपर उभारे जाते थे ।

३. आ०रि०, बै०ई०, संख्या २, परि०, पृ० १३, संख्या ५६

४. कीलहार्न लि० ८

५. भाण्डारकर लि० २५२

६. 'मालवानां गणस्थित्या' का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ८३, श्लोक ३४

७. कीलहार्न लि० १

८. भाण्डारकर लि०, २५५

९. वही, ~~पृ०~~ २५१

१०. वही, २५१ कीलहार्न लि० ३५३

११. वही, ३५६

शकसमा<sup>१</sup> आदि अनेक नामों से अभिलेखों में प्रयुक्त है। इसी का नाम शालि-  
वाहन या शालिवाहन शकाब्द भी है।<sup>२</sup>

कलचुरि-वैदि-त्रैकूटक संवत्—यह संवत् २४८-२४९ ई० से प्रारम्भ  
होता है। प्रो० मिराशी द्वारा सम्पादित कॉर्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकैरम  
(भाग ४) कलचुरि-वैदि (कल०वै०) वाले अभिलेखों का ही संग्रह है।

गुप्त संवत् (गु०सं०) — चन्द्रगुप्त (प्र०) के राज्यारोहण वर्ष  
३१९ ई० से प्रचलित यह संवत् गुप्तवर्ष,<sup>३</sup> गुप्तकाल,<sup>४</sup> गुप्त समा<sup>५</sup> या  
गोप्ताब्द,<sup>६</sup> आदि नामों से प्रयोग में लाया गया। परिव्राजक नृपतियों  
ने इस संवत् का इस प्रकार प्रयोग किया—“स्वस्ति त्रिषष्ट्युत्तरेऽब्दशते  
गुप्तनृपराजभुक्ता”<sup>७</sup>

इस संवत् का नाम गुप्तवलभी संवत् भी है; क्योंकि वलभी के  
मैत्रक नृपतियों ने भी अपने शासन पत्रों में इसका प्रयोग किया। कतिपय  
वलभी अभिलेखों में तो इसे स्पष्ट वलभी संवत् ही कहा गया है।<sup>८</sup>

गांगेय संवत् (गां०सं०) — पूर्वीय गांग नृपतियों के अभिलेखों में  
यह संवत् विशेष प्रयुक्त होता था, जैसे—जिरजिगी<sup>९</sup> या सिद्धान्तम्<sup>१०</sup>  
शासन पत्र। अधिकांश विद्वान् इसे ४९६ ई० से प्रारम्भ हुआ मानते हैं।

१: कीलहार्न लि०, ३६३

२: जे०शि०सं०, लेख, ६८, पृ० १६१

३: “वर्षशते गुप्तानां” — हि०लि०इ०, पृ० १०२

४: पं० १ (सारनाथ बुद्धपाषाण प्रतिमा लेख)

५: “गुप्तप्रकाले गणानां विधाय” — का० इ० इ०, भाग ३, पृ० ६०  
• श्लोक २७

६: हि०लि०इ०, पृ० १०४, पं० १

७: ए०इ०, भाग ६, पृ० १४४, पं० २

८: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १०२, पं० १

९: ड० — भाण्डारकर लि० १३७९, १३८० आदि

१०: सि०इ० भाग १, पृ० ४५८-४६१

१०: ए०इ०, भाग १३, पृ० २१२-२१६

हर्ष संवत्—हर्ष के राज्याभिषेक वर्ष ६०६ ई० से प्रारम्भ  
यः संवत् भारत<sup>१</sup> के अतिरिक्त नेपाल के अभिलेखों में भी प्रयुक्त हुआ ।<sup>२</sup>

भाटिक संवत्—यः संवत् ६२३-२४ ई० से प्रारम्भ हुआ ।

इनके अतिरिक्त नृपतिगण अभिलेखों में अपना ही विजयराज्य  
संवत्सर लिखाकर भी तिथि--निर्देश करते थे । राजाओं द्वारा प्रचुर मात्रा  
में प्रचलित संवत्तों के साथ अपने राज्य संवत् को निर्देश करने के अभिलेखीय  
उदाहरण भी सज्ज सुलभ हैं ।<sup>३</sup>

तिथियों के अंक— प्राचीन भारतीय संख्याएं, इकाई, दहाई  
सैकड़ा आदि की पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठा निरूपण सहित लिखी जाती थीं ।  
प्राचीन अभिलेखों में भी यही प्रणाली अपनाई गई । सं० १८८ पाँच  
दि० २४ के लिए वैज्यगुप्त के गुणोद्धार ताम्रपत्र का अधोलिखित उद्घरण यहां  
पर्याप्त होगा, जिसमें इकाई, दहाई और सैकड़े का स्वतंत्र निर्देश किया  
गया है —

सं० १०० ८० ८ पाँच ( पाँच ) दि २० ४ ४

शब्दात्मक अंक-लेखन-प्रणाली — सांकेतिक शब्दों भारत में या  
उनके पर्यायों से संख्या निर्देश करने की भी एक परम्परा थी, जैसे —

— ख, आकाश, पूर्ण रन्ध्रादि = (०)

— आदि, शशि, भूमि, इत्यादि = (१)

— यम, अश्विन्, लोचन, पद्मा, बाहु आदि = (२)

— राम, गुण, लोक, काल, अग्नि आदि = (३)

— वेद, वर्ण, आश्रम, दिशा आदि = (४)

१. बांसखेड़ा शासन पत्र, सि० लि० ६०, पृ० १४५-१४७

२. ५० — नेपाल के अभिलेख (इन्द्रजी) संख्या ६, ७, ८ आदि (इं० रेपिट०  
भाग ६)

३. उदा०—विजयादित्य के जेजुरी शासन-पत्र में शक संवत् ६०६ के उल्लेख  
के साथ प्रवर्द्धमान विजयराज्य-संवत्सर-नवम् भी लिखा है ( उक्त  
शक-संवत् के समय उसका नवम राज्य वर्ष चलता रहा होगा ) — २० ई०,  
भाग १६, पृ० ६४, पं० २१-२३

— बाण, प्राण, पाण्डव, महाभूतादि =(५)इत्यादि

इस तरह पच्चीस संख्या तक के शब्द अविच्छिन्न रूप से प्राप्त होते हैं ।  
तदनन्तर २७, ३२, ३३, ४०, ४८ और ४९ के भी सांकेतिक शब्द हैं ।<sup>१</sup>  
वृहत्तर भारत के अभिलेखों में भी यदा-कदा इन सांकेतिक शब्दों से तिथियां  
व्यक्त की गई हैं, जैसे —

“ पिण्डीभूते श्काप्दे(ब्दे) वसुजलनिधि(जलधि)शरैवासरे — २

यहां, वसु (६) जलधि (४) और शर (५)<sup>३२</sup> सांकेतिक शब्दों से शकवर्ष व्यक्त  
किया गया है । इस प्रणाली से व्यक्त अक्षरों को प्रायः उलटा करके  
पढ़ना पड़ता है । अतः यह ५४६ शकवर्ष (= ६२७ ई०) है । अभिलेखों में  
इस प्रणाली का अपेक्षाकृत कम प्रचार हुआ ।

---

१. रलि०सा०ई०के०, पृ० ७७-७८ तथा प्रा०भ०एलि०मा० (ओफा)

• पृ० १२०

२. ईशानवर्मन् का ( VAT CHAKRET TEMPLE ) लेख, इ०का०,

(मजूमदार) पृ० ३०-३१, श्लोक ७

## तृतीय अध्याय

### अभिलेखों का वर्गीकरण

वर्ण्यविषय अथवा मूलप्रयोजन के दृष्टिकोण से अभिलेख, एक अथवा दूसरे वर्ग में आसानी से रखे जा सकते हैं। समस्या कुछ मिश्रित अभिलेखों की है, जिनमें दो या दो से अधिक प्रयोजन स्पष्ट दृष्टिकोण होते हैं, जैसे गिरिनार लेख<sup>१</sup> में रुद्रदामन् (प्र०) की प्रशस्ति और सुदर्शन भील संस्कार, दो मुख्य विषय हैं। स्कन्दगुप्त के उसी जूनागढ़ (गिरिनार) लेख<sup>२</sup> में भी स्कन्द की शासन-व्यवस्था, उसका शौर्य, पण्डित और चक्रपालित की प्रशंसा तथा सुदर्शन-संस्कार आदि अनेक प्रयोजन हैं। कदम्ब रविवर्मन् का एक लेख<sup>३</sup> अनेक विषयों (लेख<sup>या</sup> पुरुषलेखक ग्रामदान, दूसरे के नाम पर दान-नवीकरण, अष्ट-दिवसीय जिनैन्द्र-साम्बत्सरिक-उत्सवायोजन, यापनीय तपस्वियों के लिए चार मास पर्यन्त भोजन-व्यवस्था की राजघोषणा) का, समान महत्त्व के साथ वर्णन करता है। अतः प्रमुखतम उद्देश्य को देखकर ही ऐसे मिश्रित लेखों का वर्गनिर्धारण करना पड़ेगा, जिस मुख्य उद्देश्य से सारा लेख प्रभावित हो और जिससे अन्यान्य उद्देश्यों की सीमाएं शिथिल पड़ती हों। इस मापदण्ड से अभिलेख निम्नलिखित चौदह वर्गों में रखे जा सकते हैं —

- (१) धार्मिक लेख—इस शीर्षक के अन्तर्गत—धार्मिक पुस्तक, अनुवाद, तंत्र-मंत्र-बीजादि, यात्रालेख, आत्मोत्सर्ग सम्बन्धी लेख, माहात्म्य, देय-धर्म समर्पण (संकल्पात्मक) लेख, मूर्ति-नाम लेख तथा धम्मलेख आदि आते हैं।
- (२) साहित्यिक कृतियां
- (३) शास्त्रीय विषय सम्बन्धी लेख
- (४) अभ्यासात्मक (प्रयोगात्मक) लेख
- (५) सामाजिक और सांस्कृतिक लेख
- (६) वाणिज्य व्यवसाय और विज्ञापन सम्बन्धी लेख
- (७) स्मारक और यूप लेख

---

१: ई० रेण्ट०, भाग ७, पृ० २५७—२६३

२: का०इ०ई०, भाग ३, सं० १४

३: ई० रेण्ट०, भाग ६, पृ० २५-२७

- (८) प्रशासकीय लेख (गजा पत्र )
- (९) प्रशस्त्रियाँ और स्तौत्र
- (१०) वंशावली लेख
- (११) विनायकवली लेख
- (१२) विनिम्न-माध्यम (गिच्छे )
- (१३) छुआ और छुआनिम्न
- (१४) दानलेख

(१) धार्मिक लेख --

(क) धार्मिक पुस्तक -- जगन्नाथ एक उदाहरण जैन-सम्प्रदाय का उन्मूलित पुस्तक है, जो विजयनगर के समीप एक चट्टान पर उत्कीर्ण है ।<sup>१</sup>

(ख) अनुवाद-- गोपालपुर (गोपालपुर) में प्राप्त एक छंद पर बौद्धनिदानसूत्र के एक संज्ञा का संस्कृत रूपान्तर लिखा मिलता है ।<sup>२</sup> यह सूत्र मूलतः पाली में है । इस छंद के साथ नार अन्य छंद भी यहाँ प्राप्त हुई हैं ।<sup>३</sup> धम्मपदों के कन्दोबद्ध संस्कृतभाषान्तर के उदाहरण स्वात में प्राप्त तीन बौद्ध लेख हैं ।<sup>४</sup> " ये धर्म्मो केतु-प्रमवा " तथा "अज्ञानाच्चीयते जर्म्म" <sup>५</sup> आदि प्रसिद्ध बौद्ध धर्म के श्लोक भी इसी वर्ग में आते हैं ।

(ग) तंत्र-तंत्र बीजादि -- त्रिजागोल (गंगा) में एक ऐसा शिला-कलक प्राप्त हुआ है, जिसमें बौद्ध-भिक्षु विष्णुलक्ष्मण के आवासादि की रक्षा के लिए एक तांत्रिक-प्रार्थना उत्कीर्ण है --

[पं० १९] ॐ हूं हूं हूं ओ ? [शब्दा] नां महाप्रकाशां  
विश्वरूपा (न) मरी ।

[पं० २८] ॐ हूं हूं हूं रत्ना रत्ना भिक्षु विष्णुलक्ष्मणः ॥<sup>६</sup>

१- प्रा० भा० लि० भा० (गोका) पृ० १५० भा० दि० ६

२- प्रोसी० ए० सी० ले०, भा० ६५ (१८६६) पृ० १०३

३- वही, पृ० १०१-१०२

४- ए० हं०, भा० ४ पृ० १३३-१३५

५- व० जा० (विदालेस, मलाया) पृ० ७

६- ज० ए० सी० ले० (न्यूसी०) भा० ४ (१६०४) पृ० ४५६-४६१



इसी लेख की अन्तिम (अंतिम) पंक्ति में 'ये यहाँ हेतुप्रभा' प्रसिद्ध बौद्ध कन्द है ।

काठियावाड़ के लाछपुर जिले के फरणावलिंगोप ग्राम में प्राप्त एक पत्थर पर गुप्तकालीन वर्णों में लिखी एक पंक्ति है । कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये किसी मंत्र के बीज हैं, यद्यपि यह पंक्ति आज तक किसी को स्पष्ट नहीं हो सकी है ।

(ग) यात्रालेख -- सुदूरतीर्थ-यात्रा पर निकले हुए यात्री किसी मार्गस्थ चट्टान या चरतु पर अपना नाम अंकित कर देते हैं, स्मारक के रूप में नहीं, अपितु स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रेरित होकर । गधुनाथ मन्दिर (देवप्रयाग) की मृत्पुर्वी चट्टान पर मातृवत्, मातृवत् ईश्वरदाम गादि ऐसे ही नाम हैं । ये लेख यात्री गद्दी की मध्यमावलीय ब्राह्मीलिपि में हैं । जो मूलतः मध्यभारत के यात्री इस मानपर्वत (लिख सं० १) की यात्रा पर आए होंगे और यहाँ विश्राम करने हुए उन्होंने इस चट्टान पर अपने नाम उत्कीर्ण कर दिए हों । मानपर्वत किसी यात्री का सार्थक नाम भी हो सकता है, क्योंकि गुप्तकाल में व्यक्तियों के ऐसे नाम स्वाभाविक नहीं । ये यात्रालेख नामों के अनिरुद्ध विवरणवादी वाक्य भी हो सकते हैं जैसे जोगेश्वर मृत्पुर्व मन्दिर के अतिथि शिलालेख<sup>३</sup> । उदाहरण स्वरूप यहाँ प्रथम लेख उद्धृत है --

- [१] श्री सदावर्णव गन्धर्वस्ति वसन्तली-
- [२] ल - हर्षवर्द्धन पद्मपातः (त)
- [३] पूर्व देशि [य] व (ह) बलवर्म्मा [ः]
- [४] लिखितं तस्मै (नाम्न) गतेन ।

यह लेख श्री सदावर्णव, गन्धर्वस्ति वसन्तलीला और हर्षवर्द्धन के पद्मपात (स्थानापन्न यात्रा पर निकले) पूर्वदेशीय (सम्भवतः बंगाल) बलवर्म्मा की आज्ञानुसार <sup>लगभग</sup> लिखित है । प्रतिनिधि रूप में की जाने वाली यात्रा के संकेत देने वाले, जोगेश्वर में आज भी अंकित की लेख है । अपने पुण्यलाभ के लिए, कृतवर्तन किसी अपेक्षाकृत बलिष्ठ व्यक्ति को स्थानापन्न

१- भाव-पृ० ६७

२- द्र०-२० पृ० ३० पृ० १३३-१३५

३- द्र०-२० पृ० ३४ पृ० २४६-२५१ आदि

बनाकर, यातायातविभिन्न दुर्गमनीयों पर भोजना, एक प्राचीन परम्परा थी। ये उस प्रथा के उत्कृष्ट अभिलेखीय प्रमाण हैं।

(३०) सात्वतोत्सर्ग सम्बन्धी लेख -- जैनदर्शन में समाधि और सात्वतोत्सर्ग पर विशेष बल दिए जाने के कारण इस वर्ग में जैनलेख अधिक हैं, जैसे (चन्द्रगिरि) पार्श्वनाथ वरुणी के समाधि लेख<sup>१</sup>। एतद्विषयक लेख संस्कृत में भी नहीं, इतिहास भारतीय भाषाओं में भी हैं।<sup>२</sup> पुरुषार्थ के अतिरिक्त स्त्रियों ने भी व्रत धारण कर स्वेच्छा से शरीर त्याग किया।<sup>३</sup> सती लेख भी इसी वर्ग में आँवेंगे, जैसे देवगिरि का सती पाषाण लेख<sup>४</sup>। गौपराज का मरणोत्तर सरणलेख<sup>५</sup>, सती लेख का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सुप्तकीर्ण पानुपुष्प के साथ आकर गौपराज ने यहाँ पर शत्रुओं के साथ मरणोत्तर युद्ध करने हुए वीर मति प्राप्त की। इस पर उसकी 'महापुरुषा प्रिया कान्ता' ने अग्नि का आर्क्षित कर उसी का अनुगमन किया (श्लो० ४)।

सामोली लेख<sup>६</sup> में मन्मार जेन्तक के सात्वतोत्सर्ग का वर्णन है। वृद्धावस्था में समूहों को मन्मिच्छर देकर उसने अग्नि में प्रवेश कर अपने जीवन की इतिश्री की। इस लेख का यही मूल प्रयोजन है, जेन्तक के नेतृत्व में महाजनों का वरुमार से निर्मम, खनिजों के माध्यम से जीविको-पार्जन, मन्दिरनिर्माण आदि मुख्य विषय नहीं।

जागेश्वर के एक मन्दिर के लेख में वर्णन है कि अथोरशिव<sup>७</sup> उपनाम विष-निर्घात<sup>आत्महत्या</sup> करने की इच्छा लेकर नन्दाशिवर की ओर गया। उसने आत्महत्या की हो, न की हो, किन्तु यह लेख भी इसी वर्ग में गिना जायेगा।

१- ए० अ० १०, भा० २ सं० १ पृ० १, या सं० २ पृ० २

२- जै० श्रि० सं०, सं० १६०, सं० १६२ सं० १६३ आदि

३- वन्ती, सं० २७

४- संश्रु० इण्डि० (आ०म०हं०) भा० ६ १६५३ क्रि० १ फ० १११

५- आ० इ० इ०, भा० ३ पृ० ६१-६३

६- ए० इ०, भा० २० पृ० ६७-६८

७- ए० इ०, भा० ३४ पृ० २५३

(च) माहात्म्य — तीर्थ मन्दिर या वस्तुविशेष के सम्पर्क से प्राप्त होने वाला पुण्य या पारलौकिक-लाभ- कथन ही माहात्म्य लेखों का विषय होता है। कवि शंख रचित, कोसम स्तम्भ<sup>१</sup> के एक मात्र पथ उपेन्द्रवज्रा में इसी प्रकार का वर्णन है — 'जो इस सुतुंग स्तम्भ को देखता है, ग्रहों के विपरीत होने पर भी वह धर्म प्राप्त करता है (और) पापमुक्त होकर अपने गोत्र को पवित्र करने के पश्चात् निःसन्देह इन्द्रलोकलाभ करता है।'

(क) देयधर्म- समर्पण (संकल्पात्मक) लेख (Votive inscriptions) पूर्वनिश्चित संकल्पों के आधार पर देयधर्म धार्मिक उपहार होते थे। ये भेंटें प्रायः प्रतिमाएं होती थीं, जिन पर छोटे-छोटे लेख उत्कीर्ण किए जाते थे। पत्थरों के टुकड़ों पर भी ऐसे देय-धर्म लेख मिलते हैं। इन लघु लेखों में संस्थापक या संकल्प करने वाला व्यक्ति लिखवाता कि इस क्रिया में जो पुण्य हो, वह उसके माता-पिता और तदनन्तर सभी प्राणियों के अनुत्तर ज्ञान प्राप्ति के लिए हो — 'देयधर्म्मो (ऽ)यं शाक्योपासिक [A] - व्याघ्र(ध्रि)काया यदत्र पुण्य[-] तद्भवतु मातापितृपूर्व्वगमं कृत्वा सर्व्वस्तत्त्वानां अनुत्तरि(र)ज्ञानापापय(ज्ञानावाप्तये)।'।

ये संकल्पात्मक लेख आद्योपान्त कन्दोबद्ध भी हो सकते हैं। गुप्त संवत् १५७ वाला बुधगुप्त का सारनाथ बुद्धप्रतिमा लेख<sup>२</sup> कन्दोबद्ध देयधर्म का उत्कृष्ट उदाहरण है। मथुरा में प्राप्त अनेक देयधर्म-लेखों में संवत् ऋतु, दिन<sup>४</sup> तथा तत्कालीन शासकों के नाम<sup>५</sup> भी प्राप्त होते हैं।

(ज) मूर्तिनाम लेख — अनेक मूर्तियों में, उस देवी या देवता का नाम अंकित मिलता है, जिसकी वह मूर्ति हो। जबलपुर (मेढ़ाघाट) में चौसठ योगिनियों के मन्दिर की मूर्तियों के नीचे ८ वीं, ६वीं सदी की नागरी में उन योगिनियों के नाम लिखे हैं।

(झ) धम्मलेख- अशोक के धम्म लेख, धर्म विशेष का प्रचार नहीं करते। फिर भी सभी धम्मों से समान रूप से समर्थित आचार्यों की संहिताएं होने के कारण वे भी धार्मिक लेखों के वर्ग में ही ग्राह्य हैं।

१. ए०ई०, भाग ११, पृ० ८८

२. इ०के०टे०वे०ई०, संख्या ७

३. हि०लि०ई०, पृ० १०३-१०४

४. ए०ई०भाग १६, पृ० ६६, संख्या १

५. वही (भाग १६), पृ० ६६, सं० २, ३ तथा ५०— महाराज देवपुत्रस्य

कण्ठाश्वस्य संवत्सरे १०-४ पौषमास दिवसे १० अस्मिन्दिवसे इत्यादि

ए०ई० भाग १६, पृ० ६६

## (२) साहित्यिक कृतियाँ --

इस वर्ग में हरिकेलि तथा ललितविग्रहगज नाटक,<sup>१</sup> भोजरचित कूर्मशतक<sup>२</sup> (दो प्राकृत काव्य) एवं मदनप्रणयित पारिजातमंजरी (विजयश्रीनामिका)<sup>३</sup>, आदि गते हैं। ये सभी कृतियाँ सातवीं सदी के बाद की हैं।

## (३) ज्ञानकीय विषय सम्बन्धी लेख --

इतिहास भाग का बहुविधियामल्लह शिलालेख संगीतशास्त्र का लेख है। यह सातराग सम्बन्धी सात अनुभागों में विभक्त है। ये सात राग हैं - मध्यमग्राह, षड्जग्राह, षाडव, साधारित, पंचम, कैशिकमध्यम और कैशिक। प्रत्येक अनुभाग में चार ताल संगृहीत हैं। इन चार तालों के फिर सोलह उपभाग हैं, उदाहरणार्थ मध्यमग्राह की प्रथम ताल के उपभाग-

|           |           |         |           |
|-----------|-----------|---------|-----------|
| सैर्धुस   | गिने गिम  | नेहुनेस | मपुनेस    |
| गिरमिस    | रौर्धुस   | सगिनेस  | नेर्धुपेस |
| मिगनेग    | पेर्धुनेग | रमिगसे  | हुने गिस  |
| नेर्धुनेम | पिमपिसे   | गहुनेस  | हुपेपु U  |

इसमें प्रत्येक राग के प्रारम्भ में राग का नाम एवं उसके चतुष्टयवार स्वरागम का उल्लेख रहता है, जैसे-“मध्यमग्राहेचतुष्टयवारस्वरागमाः” इसी प्रकार प्रथम तीन रागों के अन्त में भी समाप्तिपुत्रक वाक्य मिलते हैं, जैसे-“समाप्ताः स्वरागमाः”।

रुद्राचार्य के शिष्य का शैव राजा ने अपने शिष्यचित्तार्थ इन स्वरागमों को लिखा।<sup>४</sup> जहाँ दूसरे राजाओं ने अपने शौर्य और वदान्यता को अभिलेखों का विषय सम्पन्न, असा प्रिय इस राजा ने अपने संगीतज्ञान को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना।

१- प्रा० मा० लि० मा० (कोप्ता) पृ० १५० पा० टि० ६

२- स० ई०, मा० ८ पृ० २४३-२६०

३- स० ई०, मा० ८ पृ० १०१-११७

४- स० ई०, मा० १२ पृ० २२६-२३७

५- श्रीरुद्राचार्य शिष्येण परम्प्रादेश्वरेण रा [जा] शिष्यचित्तार्थ

पल्लव महेन्द्रवर्मन् (प्र०) के एक लेख<sup>१</sup> में भी ऋषभ, गान्धार, पंचम, धैवत, [वि]षाद मध्यम आदि शब्द हैं। मुख्य विषय संगीत ही होने के कारण यह लेख भी शास्त्रीय अभिलेखों की कौटि में रखा जायेगा।

(४) अभ्यासात्मक (प्रयोगात्मक) लेख —

तत्त्वगुम्फगुहा की एक भीतरी दीवार पर<sup>२</sup> ऋःपंक्तियों में भारतीय वर्णमाला के अक्षर बार-बार दुहराए गए हैं। उनमें चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

२. ----- न तथ द ध न
३. ----- न त ध द ध न ----- श ष स
४. ----- न तथ द ध न प फ ब भ ----- ष स ह
५. ----- त थ द ध न प फ ब ----- श ष स ह

उल्लिखित लेख का प्रयोजन सार्वजनिक हित के लिए वर्णमाला प्रस्तुत करना नहीं। श्री आर०डी०बनर्जी का अनुमान है कि 'किसी सन्यासी ने इन अक्षरों को लिखकर अपनी वर्णमाला के ज्ञान का पुष्ट किया होगा,' उचित नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि राज और समाज से सम्मानित श्रेता-पद के स्पृहालु किसी व्यक्ति ने हाथ में सफाई लाने के लिए दीवार पर अक्षर खोदने का अभ्यास किया होगा। यदि वह वर्णमाला का नवसिखुआ होता, तो अक्षर भूमिपाटी पर लिखता, दीवार पर नहीं।

(५) सामाजिक और सांस्कृतिक लेख—

कदम्ब रविवर्मा का पूर्वकथित पुरनखेटक ग्राम सम्बन्धी शासन<sup>३</sup> विविध विषयों को युगयत् धरने पर भी एक सामाजिक और सांस्कृतिक लेखही माना जायेगा। सामाजिक इसलिए कि रविवर्मा के आदेश से पलाशिका नगर में प्रस्तावित अष्टदिवसीय जिनेन्द्रोत्सव में जानपद एवं नागरिकों का सहयोग प्रार्थित था, और सांस्कृतिक इसलिए कि पुरनखेटक ग्राम की आय से चार महीने (वर्षा ऋतु) में यापनीय तपस्वियों की भोजन व्यवस्था, धर्ममूल-परम्परा के अनुसार होनी थी।

१. सा०ई०, ६०, भाग १२, पृ० ३

२. ए०ई०, भाग १३, पृ० १६५

३. इ०रेपिट०, भाग ६, पृ० २५-२७

(६) वाणिज्य व्यवसाय और विज्ञापन सम्बन्धी लेख --

बन्धुवर्णन<sup>१</sup>, कालीन मन्दसौर शिलालेख<sup>२</sup>, व्यवसाय-विशेष के विज्ञापन का उत्कृष्ट उदाहरण है। लाट विषय (गुजरात) से चल्कर (श्लो० ४) दशपुर (श्लो० ६) में आए श्रेणीभूत परम्पराय लोगों ने शिल्पावाप्तधनसमुदय से एक सूर्यमन्दिर का निर्माण (श्लो० २६) और कालान्तर में उसका पुनःनरकार (श्लो० ३७) किया। इस वर्णन की पृष्ठभूमि में व्यवसाय के विज्ञापन की रंगीन रेखाएं स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं, क्योंकि वह मन्दिर स्वयं उन बुनकरों के व्यापार का प्रचार-माध्यम प्रतीत होता है। श्लोक सं २०-२१ तो, इस तथ्य को स्पष्ट ही कर देते हैं, कि यह शुद्ध विज्ञापन लेख है --

तारुण्यकान्तभूषितो (५) पि सुवर्णहार -

नाम्बूल-गुष्पविणिना स्म[रं]तो (५) पि ।

नारीजनः प्रियर्पति न नावदग्र्यां (श्र्यां )

यावन् परम्परावत्त[ु]गानि भवे ॥ [२०]

स्वर्ग[वना वण्णा]न्तरिक्षा-विरेण नेत्रभूषणेन [१]

येस्तत्त्वमिदं क्षितितलमलङ्कृतं परम्परसेना ॥ [२१]

(७) स्मारक और स्तूप लेख --

किसी महत्त्वपूर्ण घटना की स्मृति में उत्कीर्णलिख स्मारकलेख कहे जायेंगे। अशोक का रुम्मिली- लेख, जैसे बुद्धजन्मभूमि की यात्रा का स्मारक है। उसी प्रकार रुक्मामर<sup>३</sup> और रत्नरुद्र<sup>४</sup> के गिरिनार (बुनागढ़) लेख सुदर्शनफील के पुनर्निर्माण के स्मारक हैं। यशोधर्मबालीन मन्दसौर लेख<sup>५</sup> में राजस्थानीय दत्त द्वारा अपने पितृव्य अमरदत्त की पुण्य-स्मृति में निर्देश नाणक रूप सुदवायेर जाने का वर्णन है, जनः यच्च भी स्मारक लेख है। मन्दिर निर्माण सम्बन्धी लेख, जैसे मिदिरकुल कालीन ग्वालियरलेख<sup>६</sup>, दुर्गाग कालीन काकरावाठन लेख भी स्मारक हैं।

१- का० इ० इ०, मा० ३ सं० १८

२- इ० रेण्डो, मा० ७ पृ० २५७-२६३

३- का० इ० इ०, मा० ३ सं० १४

४- वही, सं० ३५

५- हि० लि० इ०, पृ० १३६-१४१

(वत्सभट्टि रचित तन्तुवायों के लेख की परिस्थिति पृथक् है ।) शीलवर्मा के अश्वमेध का स्मृतिभूत, एक लघु इष्टिका-लेख भी स्मारक लेख बनने का सामर्थ्य लिए है ।<sup>१</sup> विजयों के परिणामस्वरूप गोदानादि घटनाओं के सम्बन्ध में स्थापित यूपों पर उत्कीर्ण लेख भी इसी वर्ग में ग्राह्य हैं ।<sup>२</sup>

#### (८) प्रशासकीय लेख (आज्ञापत्र) —

प्रशासकीय अभिलेखों में नीति, नियुक्ति, व्यवस्थास्थिति, भूमि-क्रय आदि शासन सम्बन्धी सभी बातें आ जाती हैं । ये प्रशासकीय लेख, अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा विषयों (जिले) के स्तर पर भी घोषित किए जा सकते हैं । दामोदरपुर के पांच ताम्रपत्र<sup>३</sup> विषय (जिले) के अधिकरण (मुख्यालय) से उद्घुष्ट भूमिक्रय सम्बन्धी प्रशासकीय लेख हैं ।

लोहाटानगर के व्यापारियों (वाणिग्गाम) के वाणिज्य सम्बन्धी नियमों का संग्रह (संहिता) विष्णुषोण का स्थिति व्यवस्थापत्र<sup>४</sup> (CHARTER) अपने ढंग का अनोखा प्रशासकीय लेख है । इस आचार-स्थित-पत्र में ७२ आचार (नियम) हैं । लेख पर पृष्ठाङ्कन (ENDORSEMENT) (पं० ३१-३४) दर्पपुर के सामन्त का है ।

#### (९) प्रशस्तियाँ और स्तोत्र —

प्रशस्ति का शाब्दिक अर्थ है, प्रशंसा, स्तुति या स्तोम । ऋग्वेद के रात्रिसूक्त में कहा गया है, — ' हे स्वर्ग की दुहिते (रात्रि) जिस प्रकार विजयी के लिए स्तोम किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हें स्तुति अर्पित कर रहा हूँ ।'<sup>५</sup> प्रायः वीर और वीरोचित कार्यों के लिए प्रशस्तियाँ लिखी जाती थीं ।

प्रशस्ति अभिलेखों में केवल विजय ही नहीं, वंश, जीवन-चरित और व्यक्तित्व के सभी गुण वर्ण्यविषय हो सकते हैं । समुद्रगुप्त का प्रयाग लेख,<sup>६</sup> यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भलेख<sup>७</sup> श्रेष्ठ प्रशस्तियाँ मानी जाती हैं । क्रमशः दोनों में उक्त नरश्रेष्ठों के वीरोचित कार्य और अतिमानवीय व्यक्तित्व अति-शयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित हैं ।

१. युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैलमन्त्रीपतेः । इष्टिका वाष्णिगणस्यनृपतेः शीलवर्म्मणः ॥

— पाणिनि कालीन भारतवर्ष (अग्रवाल), पृ० ७३

२. बह्वा और नन्दसा यूप लेख, ६०—६०लि०इ०, पृ० ५५—५६

३. ए०इ०, भाग १५, पृ० ११३-१४५ (पांचों लेख)

४. वही, भाग ३०, पाठ्य, पृ० १७६-१८१

५. श्र०, १०।१२७।८



(वत्सभट्ट रचित तन्तुवायों के लेख की परिस्थिति पृथक् है ।) शीलवर्मा के अश्वमेध का स्मृतिभूत, एक लघु दृष्टिका-लेख भी स्मारक लेख बनने का सामर्थ्य लिए है ।<sup>१</sup> विजयों के परिणामस्वरूप गोदानादि घटनाओं के सम्बन्ध में स्थापित यूपों पर उत्कीर्ण लेख भी इसी वर्ग में ग्राह्य हैं ।<sup>२</sup>

#### (८) प्रशासकीय लेख (आज्ञापत्र) —

प्रशासकीय अभिलेखों में नीति, नियुक्ति, व्यवस्थास्थिति, भूमि-क्रय आदि शासन सम्बन्धी सभी बातें आ जाती हैं । ये प्रशासकीय लेख, अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा विषयों (जिले) के स्तर पर भी घोषित किए जा सकते हैं । दामोदरपुर के पांच ताम्रपत्र<sup>३</sup> विषय (जिले) के अधिकरण (मुख्यालय) से उद्घुष्ट भूमिक्रय सम्बन्धी प्रशासकीय लेख हैं ।

लोहाटानगर के व्यापारियों (वाणिग्राम) के वाणिज्य सम्बन्धी नियमों का संग्रह (संज्ञिता) विष्णुषोण का स्थिति व्यवस्थापत्र<sup>४</sup> (CHARTER) अपने ढंग का अनोखा प्रशासकीय लेख है । इस आचार-स्थित-पत्र में ७२ आचार (नियम) हैं । लेख पर पृष्ठाङ्कन (ENDORSEMENT) (पं० ३१-३४) दर्पपुर के सामन्त का है ।

#### (९) प्रशस्तियाँ और स्तोत्र —

प्रशस्ति का शाब्दिक अर्थ है, प्रशंसा, स्तुति या स्तोम । ऋग्वेद के रात्रिसूक्त में कहा गया है, — “ हे स्वर्ग की दुहिते (रात्रि) जिस प्रकार विजयी के लिए स्तोम किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हें स्तुति अर्पित कर रहा हूँ । ”<sup>५</sup> प्रायः वीर और वीरोचित कार्यों के लिए प्रशस्तियाँ लिखी जाती थीं ।

प्रशस्ति अभिलेखों में केवल विजय ही नहीं, वंश, जीवन-चरित और व्यक्तित्व के सभी गुण वर्ण्यविषय हो सकते हैं । समुद्रगुप्त का प्रयाग लेख,<sup>६</sup> यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भलेख<sup>७</sup> श्रेष्ठ प्रशस्तियाँ मानी जाती हैं । क्रमशः दोनों में उक्त नरश्रेष्ठों के वीरोचित कार्य और अतिमानवीय व्यक्तित्व अति-शयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित हैं ।

१. युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैलमहीपतेः । दृष्टिका वाष्णिगणस्यनृपतेः शीलवर्मणाः ॥

— पाणिनि कालीन भारतवर्ष (अग्रवाल), पृ० ७३

२. बह्वा और नन्दसा यूप लेख, ५०—वि० लि० ६०, पृ० ५५—५६

३. ए० ई०, भाग १५, पृ० ११३-१४५ (पांचों लेख)

४. वही, भाग ३०, पाठ्य, पृ० १७६-१८१

५. ऋ०, १०।१२७।८

पूर्वां शब्द भी प्रशस्ति का ही पर्याय है, किन्तु तत्समरिट ने अपने मन्दसौरस्थ विज्ञापन सम्बन्धी लेख<sup>१</sup> को, तथा प्रमरसौम ने कौरी-साद्रीस्मारक लेख<sup>२</sup> को पूर्वां शब्द का उचित प्रयोग नहीं किया।

स्तोत्र भी देवताओं के लिए सुरक्षित, प्रशस्ति का ही रूपान्तर है। इसलिए रत्न विहार में देवताओं के लिए अर्पित स्तोत्र भी इसी वर्ग में ग्राह्य हैं। जमरेश्वर-मन्दिर की दीवार पर लिखा गया पुष्पदन्ताचार्य-विरचित महिम्न स्तोत्र<sup>३</sup> (वि० सं० ११२० = १०६३ ई०) शिव सम्बन्धी एक उच्च कौरी का साहित्यिक स्तोत्र है। उत्कीर्ण होने के कारण वह भी इसी वर्ग में रखा जायेगा।

#### (१०) वंशावली-लेख --

वंशावलियां किसी भी बड़े लेख के अंग बन सकती हैं, इसलिए इस शीर्षक में केवल वे ही लेख ग्राह्य हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य वंशावली प्रकाशन हो। पल्लव राजसिंह (द्वितीय) का वायट्टर स्तम्भलेख<sup>४</sup> इस विषय का उत्कृष्ट लेख है। इस लेख में पल्लव-कुल का पौराणिक उद्गम ब्रह्मा से स्थापित कर तत्कालीन नृपति राजसिंह (द्वि०) नरसिंहवर्मन् तक पल्लवनरेशों के नाम गिनाए गए हैं। प्रथम पंक्ति में ब्रह्मा के बाद कश्चिंगरस, बृहस्पति, शंख, मरद्वाज, क्रोण, जश्वत्थामा नाम हैं। द्वितीय में पल्लव, अशोक, हरिगुप्त आदि हैं। नवीं पंक्ति में आर परमेश्वरवर्मा तक केवल नामों का अविविक्त खान है, तत्पश्चात् दो श्लोक तत्कालीन नृपति राजसिंह (द्वि०) की प्रशंसा पर हैं। आश्रय प्राप्त कवि के लिए यह आवश्यक हो या कि वह अपने आश्रयदाता को अन्यो में अधिक महत्व देता। १४ पंक्तियों वाले इस लेख में ८<sup>५</sup> पंक्तियां वंशावली-उद्घाटन करती हैं। अतः विषय सन्तुलन की दृष्टि से यह वंशावली लेख ही है। अन्तिम दो पंक्तियों को, कुन्दोत्तम समाप्ति सूचना मानना भी युक्तिरहित है।

#### (११) विरुदावली-लेख --

एक ही व्यक्ति के 'उपाधिस्वरूप' नामों का परिगणन विरुदावली लेखों का विषय होता है। पल्लवनरेश इस प्रकार की विरुदावलीयों में अपेक्षाकृत अधिक सम्बन्धित हैं। सात पणोहाओं के लेख<sup>५</sup> (सं० १-१७)

१- का० इ० इ०, भा० ३ पृ० ८४ श्लो० ४४

२- ए० इ०, भा० ३० पृ० १२६ पं० १७

३- द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० २४७-२६१

४- ए० इ०, भा० १८ पृ० १४५-१५२

५- हि० लि० इ०, पृ० १२३-१२४

राजमिहेश्वर-मन्दिर के परिवृत्त ( ENCLOSURE ) के भीतरी पार्श्व के लेख<sup>१</sup>, इसी परिवृत्त की चतुर्थ पंक्ति (रायर) के लेख<sup>२</sup> और कुण्डस्वामि मन्दिर में 'देवयानेयम्पण' के सम्मुखवर्ती स्तम्भों (दो) के लेख<sup>३</sup>, इस वर्ग में आने वाले लेखों के अच्छे उदाहरण हैं ।

प्रत्येक विरुद्ध अपने आप में पूर्ण होना और अन्य विरुद्धों के साथ होने पर भी स्वतंत्र रूप में स्थित रहना है, उदाहरणार्थ --

-- श्रीनरसिंह,<sup>४</sup> श्री ललितः<sup>५</sup>

-- धरणि तिल्लः ज्ञानसागरः<sup>६</sup> इत्यादि

पल्लव लेखों में इन विरुद्धों के साथ यदा-कदा देशज-भाषाओं (जैसे तामिल, तेलगु) के शब्द भी प्रयुक्त मिलते हैं, जैसे --

" विनिवृत्तिः । त्रिकुन्दु । चैरुक्कुञ्जैम्पूरु । तालुप्लकामः

विनेमाय ।"<sup>७</sup> इत्यादि

(१२) विनिमय माध्यम -- (सिक्के)

इस वर्ग में विनिमय के माध्यम 'सिक्के' आते हैं । सिक्कों पर राजाओं के अतिरिक्त रानी,<sup>८</sup> वंश,<sup>१०</sup> या गण<sup>११</sup> के नाम भी स्थान पा सकते हैं ।

१- सा० इ० इ०, मा० १ सं० २५ पृ० १४-१८

२- वही, मा० १ सं० २६ पृ० २१-२२

३- वही, मा० १२ सं० २७ पृ० १२ (दोनों स्तम्भ)

४- हि० लि० इ०, पृ० १२१ सं० १

५- वही, पृ० १२२ सं० १२

६- सा० इ० इ०, मा० १२ सं० १३ पृ० १२

७- वही, मा० १२ सं० १३ पृ० ७

८- जैसे 'चन्द्रगुप्त' गु० सु०, फ-२० सं० १, 'श्री नोरम्पण' क्वा० सं०  
(जाउन) फ-६ सं० ७

९- उदा० 'श्री कुमारदेवी' गु० सु० फ-२० सं० २

१०-इ० -- 'लिच्छवयः' गु० सु०, फ-२३ सं० ४३

११-इ० -- 'योगेयगणस्य जय हि०' इ० क्वा० (रिप्लान) फ-३ सं० १४

राजाओं के छठविशेषण भी सिक्कों में अंकित हो सकते थे ,  
जैसे 'अश्वमेध-पराक्रम'<sup>१</sup> (समुद्रगुप्त) या 'रूपाकृति'<sup>२</sup> (रूपाकृती) (चन्द्रगुप्त द्वि०  
आदि । कतिपय त्रैकूटक सिक्कों में नृपतिनाम, विरुद और पितानाम भी  
प्राप्त होते हैं ।<sup>३</sup>

(१३) मुद्रा और मुद्राविह्न—

शुक्नीति में लिखा है कि राजा अंगीकृत लिखने के पश्चात् राज-  
लेख को मुद्रित करे — 'अंगीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ।'<sup>४</sup>  
शासनपत्र मुद्राविहीन भी होते थे । बरवानि शासनपत्र में मुद्रा के अभाव में  
महाराज सुबन्धु का नाम पत्र की बाईं ओर प्रान्त-भाग पर लिखा है ।<sup>५</sup>

महादेवी,<sup>६</sup> अधीनस्थ अधिकारियों,<sup>७</sup> व्यापारमण्डल ( श्रेष्ठि-  
सात्यवाहकुलिकनिगम)<sup>८</sup>, परिषद्,<sup>९</sup> परिवार-विशेष<sup>१०</sup> या मन्दिर<sup>११</sup> की  
भी अपनी मुद्राएं होती थीं ।

धातु के अतिरिक्त पत्थर<sup>१२</sup> और मिट्टी<sup>१३</sup> की मुद्राएं भी  
मिलती हैं ।

- १: डि०लि०इ०अ०, सं० १६
- २: इ०म्यु०कै० (स्मिथ) सं० १ (पुरोभाग पृ० १०४)
- ३: कै०इ०अ०, त्रि०म्यु०(रैप्सन) सं ६७८
- ४: शु०नी०, २।३५६
- ५: का०इ०इ०, भाग ४(१), पृ० १७-१८
- ६: सि०इ०विहार, पृ० ८, सं १ (ध्रुवस्वामिनी की मुद्रा)
- ७: वही, पृ० ८, सं० १-२, पृ० ६सं० ३-१५
- ८: वही, पृ० ६, सं० ३
- ९: वही, पृ० ६, सं १६
- १०: वही, पृ० ६, सं १८
- ११: वही, पृ० १०, सं० १-५
- १२: का०इ०इ०, भाग ३, सं० ७८
- १३: ड्र०—नालन्दा की मुण्डुआर, इ०इ०भाग २१

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुद्रा और मुद्राचिह्न दोनों ही इस वर्ग में ग्राह्य हैं। शासन पत्रों में जड़ी मुद्राओं (मुद्रालांकन) की, उद्देश्य और विषय के दृष्टिकोण से एक स्वतंत्र और पृथक् सत्ता है।

शासकों के बदलते रहने पर भी नृपतिविशेष की मुद्रा में विशेष अन्तर नहीं होता। इसीलिए इनको पृथक् वर्ग में रखा गया है।

मुद्राओं का पाठ्य, केवल एक नाम से लेकर समग्रवंशावलीपरिगणन,<sup>१</sup> तक हो सकता है। जिसका संलग्न शासनपत्र हो, उसका कुन्दोमय परिचय<sup>२</sup> भी मुद्राओं में लांकृत हो सकता है।

(१४) दानलेख—

केवल जोत्र<sup>३</sup> या ग्राम<sup>४</sup> ही दान के विषय नहीं, अपितु गुफा<sup>५</sup> चैत्य,<sup>६</sup> मण्डप,<sup>७</sup> वापीकूप,<sup>८</sup> आदि सभी देय-वस्तुएं दान के विषय हैं। सांची प्रस्तर लेख<sup>९</sup> के अनुसार हरिस्वामिनी ने काकानदवोटविहार के आर्य-संघ के लिए बारह दीवार, रत्नगृह के लिए<sup>लीन</sup> दीनार तीन एवं बुद्धासन के लिए एक दीनार—सब मिलाकर सोलह दीनार दिए। दधिपतिमाता प्रस्तर लेख<sup>१०</sup> में वत्सगोत्रीय चौदह दध्य ब्राह्मणों द्वारा २०२४ द्रम्म दान किए जाने का उल्लेख है। इस भांति ये सभी लेख दानलेखों के अन्तर्गत ग्राह्य हैं।

देयविषयों के वैविध्य के कारण सर्वाधिक संख्या में दानलेख

१. शर्ववर्मन् की असीरगढ़ मुद्रा, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २२०, तथा भास्करवर्मन् के दुवि शासन पत्र की मुद्रा, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २८८

२. उदा०—वाकाटकललामस्य कुमप्राप्तनृपश्रियः।

राज्ञः प्रवर्सेनस्य शासन[ ]रिपुशासनम् ॥

—का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २४५

३. उदा०—ददू(चतुर्थ) प्रशान्तराग के दो दानपत्र, ए०ई०, भाग ५, पृ० ३७-४१

४. उदा०—वर्षा का बांसलेह दानपत्र, लि०लि०इ०, पृ० १४५-१४७

५. का०इ०ई०, भाग १, पृ० १८१ (हुत्त)

६. ल्यूडर्स लि०—सं० १०६८, १०७२

७. वही, ६८८, १०००

८. वही, ६६८

९. का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २६०—२६२

१०. ए०ई०, भाग ११, पृ० २६६—३०४

ही हैं। दान सबके लिए सुकर था। राजाओं को भी अपनी कीर्तिता को बरी रखने के लिए दानलेख जारी करना सरल और सुविधाजनक था, देश जीतकर विजय प्रशस्ति, उत्कीर्ण करवानी नहीं। स्मृतियाँ एवं धर्मशास्त्रों में भूम्यादि दानों की महिमा और माहात्म्य भी सभी को दान के लिए प्रेरित करते रहे। इसके अतिरिक्त दानग्राही व्यक्तिने अपने भविष्यत् लाभार्थ दानलेखों को सुरक्षित रखा। नवीन विजेताओं ने भी उपद्रवादि से बचने के लिए स्थानीय प्रतिष्ठित दानप्राप्त-व्यक्तियों के दान-पत्रों को तद्वत् मान्यता प्रदान की।<sup>१</sup> दान से श्रेष्ठ अनुपालन है, 'दानवर्ता व्यक्तियों की पारलौकिक दुर्गति होती है' इत्यादि अनेक उक्तिों से प्रभावित होकर अधिकता से दान किए गए और पूर्वकृत दानों को नये नृपति द्वारा स्वीकृति मिली। दान प्राप्ति व्यक्तियों को प्राप्त संरक्षा दिया गया। इन सब कारणों से अभिलेखों में दानलेख ही सर्वाधिक मात्रा में प्राप्य हैं। दान-लेखों में भी ताम्र का अधिक प्रयोग और प्रचार होने के कारण दानलेख के उल्लेख मात्र से ताम्रशासन का सज्ज बोध हो जाता है।

दानलेख दो प्रकारके होते हैं — राजकीय एवं लौकिक। शुनीति में व्यवहार-सम्बन्धी लेखों को इसी भाँति दो भागों में बाँटा गया है — 'राजकीयं लौकिकं द्विविधं लिखितं स्मृतम्।'<sup>२</sup> राजकीय लेखों में सम्राटों अधीनस्थ शासकों, युवराजों अथवा अधिकारियों के द्वारा घोषित लेख आते हैं। राजा लोग व्यक्ति विशेष की सुपात्रता से प्रसन्न होकर उसे भूम्यादिक दान करते थे। ऐसे दृष्टान्त भी सुलभ हैं, जब किसी राजा ने अपने अधीनस्थ राजा की प्रार्थना पर दान किया हो। कदम्ब हरिवर्मा ने मरदे ग्रामदान सेन्द्रक नृपति भानुशक्ति की विज्ञापना पर किया था — 'सेन्द्रकाणां कुलललामभूतस्य भानुशक्तिराजस्य विज्ञापनया मरदेग्रामन्दत्तवान्'<sup>३</sup>। इसी प्रकार किहुकागामासि ग्राम, चालुक्य विनयादित्य ने आलुवराज की विज्ञापना से वेदवेदांगपारग ज्ञानशर्मन् को प्रदान किया।<sup>३</sup>

अधीनस्थ राजा द्वारा किए गए दान का उदाहरण शैलेश्वर

१. शुनी० ४-६८६

२. इ० ऐण्टि० भाग ६, पृ० ३२, पं० १०-११

३. वही, भाग ६, पृ० ७२-७३, पं० २४-२६

सैन्यभीत माधवराज (दि०) का गंजामलेख<sup>१</sup> है। इसलेख के दानकर्ता अपने अधिराज 'शशांक' का, प्रारम्भ में ही सादर उल्लेख करता है — 'महा-राजाधिराजाश्री (श्री) शशांकराज्ये (राजे) शासति' (पं० ३) राज-कुमार या उसके अधीनस्थ अधिकारी द्वारा किए गए दान का दृष्टान्त कदम्ब भानुवर्मा का एक लेख है।<sup>२</sup> उस समय भानुवर्मा का अग्रेज रविवर्मा राज्य कर रहा था। इसी भांति नैलकुन्द दानलेख<sup>३</sup> पुलकेशिन् (दि) के पौत्र (आदित्यवर्मा के पुत्र) अभिनवादित्य (पं० १२-१६) का है। (सम्भवतः इस समय चालुक्य विक्रमादित्य (प्र०) राज्य करता रहा था।)

लौकिक दानलेख में तत्कालीन शासक का उल्लेख होना कोई आवश्यक नहीं है। पुलकेशिन् (दि) कालीन येक्केरि शिलालेख<sup>४</sup> एक व्यक्तिगत लेख होने पर भी सदा तत्कालीन शासक (पुलकेशिन् दि०) का उल्लेख करता है, किन्तु पूर्वोक्त हरिस्वामिनी के १६ दीनारदान विषयक सांची लेख में तत्कालीन शासक का उल्लेख नहीं है।

पुराने दानलेखों के नष्ट हो जाने पर तद्विषयक नये दानपत्र लिखे जाने की भी एक परम्परा थी। कामरूप नृपति भास्करवर्मान् का वर्तमान निधानपुर ताम्रपत्र<sup>५</sup> ही दग्ध पुराने दानलेख का नवीकृत रूप है (श्लोक २८)। उसी का द्वि ताम्रशासन मूलतः उसके एक पूर्वज (भूति ? वर्मा) ने उद्घोषित किया था। नष्ट हो जाने पर वह भास्करवर्मा के द्वारा नवीकृत हुआ।<sup>६</sup> मूलदानग्राही को दिवंगत हुए बहुत समय बीतने के कारण उसके पुत्रपुत्रीपत्न के वंशजों को यह नवीकृत प्रति प्रदत्त हुई। वे ही मूलदान के 'अंशपति' (SHARE HOLDERS) बने (पं० ११०-११७)।

दानप्राप्तिकर्ता अपने दान को परिवर्तित करवा सकता था, किन्तु इस परिवर्तन का राजनिबद्ध (REGISTERED) होना पथ्यकर माना

१. स०ई०, भाग ६, पृ० १४३-१४६

२. इ०ऐपि०, भाग ६, पृ० २७-२६

३. स०ई०, भाग ३२, पृ० २१३-२१६

४. स०ई०, भाग ५, पृ० ६-६

५. स०ई०, भाग १२, पृ० ६५-७६ ( तथा अन्य अधुनाप्राप्त पत्र)

६. वही, भाग ३०, पृ० २७-३०४



जाता था । सामाजिक-सांस्कृतिक अभिलेख वर्ग में आने वाले कदम्ब रविवर्मन् के पुराखेटक ग्राम सम्बन्धी लेख में दान परिवर्तन दर्शनीय है । पहले उक्त ग्राम<sup>काकु</sup>त्स्थवर्मा द्वारा श्रुतकीर्तिभोज को दिया गया था । फिर वंश-परम्परा से वह जयकीर्ति को मिला । उसने इस ग्राम को अपनी मातामही के नाम पर करवा दिया । शासन पत्र में इस कार्य का उल्लेख ही राजनिबद्धता है ।

जालीशासनों के आधार पर भूमि को हथियाने के संकेत भी दानलेखों में प्राप्य हैं । मधुवन ताम्रपत्र<sup>१</sup> में लिखा है कि 'वामरथ्य', कूट (जाली) शासन-पत्र के आधार पर 'सोमकुण्डका' ग्राम का उपभोग कर रहा था (पं० १०) सम्राट् हर्ष ने उससे उक्त ग्राम छीन कर वातस्वामिन् (पं० १३) और शिवस्वामिन् (पं० १४) को प्रदान किया ।

## चतुर्थ अध्याय

### प्रारूप-गठन

(अभिलेखों की सामान्य स्वरूपता)

प्रारूप गठन और सामान्य स्वरूपता के निदर्शन के लिए सभी अभिलेखों को तीन स्थूल वर्गों में रखा जा सकता है (१) दानादि लेख (२) प्रशासकीय लेख और (३) अन्य लेख । इन्हीं के आधार पर इनकी प्रारूप-रचना का पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है ।

### दानादिलेख

प्रारम्भ—ग्रंथ की निर्विघ्नतापूर्वक परिसमाप्ति के लिए, जिस प्रकार कोई कवि या रचयिता अपने इष्ट देवता का स्मरण करता है,<sup>१</sup> उसी प्रकार दानादि लेखों में भी प्रारम्भिक शब्द या वाक्य मंगलसूचक होते हैं, जैसे — ओं स्वस्ति,<sup>२</sup> सिद्धम्,<sup>३</sup> स्वस्ति जितं भगवता गत धनगगनाभेन पद्मनाभेन,<sup>४</sup> ओं [॥] नमो भगवते वासुदेवाय, [॥] स्वस्ति [॥]<sup>५</sup> नमस्सवित्रे ॥ स्वस्ति<sup>६</sup> आदि । वाकाटक पत्रों में प्रयुक्त 'दृष्टं सिद्धम्'<sup>७</sup> में 'सिद्धम्', ही मंगलसूचक शब्द है । 'दृष्टम्' में तो नृपति द्वारा दत्त जाने और दान के अनुमोदित होने का संकेत है । भास्करवर्मन् के निधानपुर<sup>८</sup> या शैलोद्भव सैन्य-

१: ड०— सा०द०, वार्तिक परिच्छेद १, पृ० १ (चौ.) तथा का०प्र०, पृ० १ (चौ.)

२: ए०इ०, भाग ११, पृ०, २८४, पं. १

३: सि०इ०, भाग १, पृ० ४०३, पं० १

४: इ०ऐ०ए०, भा० १, पृ० ३६३

५: हि०लि०इ०, पृ० १०६, पं० १

६: ए०इ०, भाग १६, पृ० २५६, पं० १

७: ड०— का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २४५, पं० १

८: हि०लि०इ०, पृ० २३५, श्लोक १

भीत माधववर्मन् (हि०) श्रीनिवास के पुरुषोत्तमपुर<sup>१</sup> जैसे कुछ शासनपत्रों में तो मंगलशब्दों के अतिरिक्त मंगलाचरणा के श्लोक भी प्राप्त होते हैं ।

घोषणास्थान—शासनपत्रों में तदनन्तर घोषणा स्थान का उल्लेख किया जाता है, जैसे — वत्सगुल्मात्<sup>२</sup> वलभीतः<sup>३</sup> मज्जानोहस्त्यश्व-जयस्कन्धावारात् कपित्थायाः<sup>४</sup> [वल्खा] : (वल्खात्)<sup>५</sup> या रामगिरि-स्वामिनः पादमूलात्<sup>६</sup> इत्यादि ।

राजवंशावली — घोषणा स्थान के निर्देश के पश्चात् दानकर्ता के पूर्वपुरुषों के शौर्यादि गुणों का वर्णन होता है । प्रारम्भ, वंशसंस्था-पक नृपति से होकर इस भाग की परिसमाप्ति वर्तमान दानकर्ता नृपति में होती है । वलभीनरेश शीलादित्य (तृ०) के जेसर दानपत्र में यह वंशावली पैंतालीस पंक्तियों तक विस्तृत है ।<sup>७</sup>

दान सम्बोधन— वंशावली, वर्तमान राजा के विषय में 'कुशली' कहे जाने के साथ थम जाती है; तदनन्तर सम्बोधित होने वाले अधिकारियों, कर्मचारियों एवं ग्रामप्रवरों ( या ग्रामपरिवारों ) की सूची प्राप्त होती है । इसमें सम्बोधित व्यक्तियों के नाम नहीं, अपितु पदों का उल्लेख होता है, जैसे —

— ध्रुवसेनः कुशली सव्वानिव स्वानायुक्तविनियुक्ता (युक्त) चाटभट्टांगिकमहतरध्रुवादि (धि) करणिक-दाण्डापाशिकादीनन्याश्च यथा-सम्बद्धमानकान्बोधयत्स्व<sup>८</sup> वो विदितं यथा<sup>८</sup> —

यदा-कदा शासक अपने अधिकारियों की कुशलता भी पूछ लेता है—

१. ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६५-२६७, श्लोक १

२. हि० लि० ०६०, पृ० १११, पं० १

३. भाव०, पृ० ३१, पं० १

४. ए०ई०, भाग ७, पृ० १५७, पं० १

५. रुद्रदास का सिरपुर शासन का० ०६०ई०, भाग ४, (खण्ड १), पृ० ११

६. सि० ०६०, भाग १, पृ० ४१५, पं० १

८. टि०—सम्भवतः यह रामगिरि मेघदूत में वर्णित रामगिरि ही है ।

७. द्र०—ए०ई०, भाग २२, पृ० ११४-१२०

‘कुशलमनुवर्ण्य समनुदर्शयति अस्तु वो विदितम्’ ।<sup>१</sup> नृपतिहृदयगत यह शिष्टा-  
चार ब्राह्मण-पुरोहों के सम्मान करने तक पहुँच सकता है —‘यथाहं [०]॥  
मा—[न]यति [बोध]य—[ति आ]ज्ञापयति च [॥] विदितमस्तु  
भवता’ ।<sup>२</sup> किन्तु यह बात नियमित रूप से नहीं देखी जाती । राजा  
किसी अधिकारी-कर्मचारी के उल्लेख किए बिना भी सामान्यरूप से सब को  
सम्बोधित कर सकता है —‘शीलादित्यः कुशली सत्त्वानैव समाज्ञापयत्यस्तु’ ।<sup>३</sup>

प्रयोजन—दान प्रयोजन दो प्रकार का प्राप्त होता है,  
व्यक्तिगत और वस्तुगत । प्रथम में दाता, अपने अथवा अपने सम्बन्धित  
व्यक्तियों के धर्मलाभ के लिए दान किए जाने का उल्लेख करता है । दत्त  
क्षेत्र-ग्रामादि की आय से मूर्ति, मंदिर, मठ या आसन की पूजाव्यवस्था का  
उद्देश्य, द्वितीय प्रकार का प्रयोजन है । इन दोनों का स्पष्ट उल्लेख दान-  
लेखों में प्राप्त होता है । प्रथम प्रकार का प्रयोजन जैसे—

—स्वपुण्यायुर्बलवृद्धये<sup>४</sup>

—मातापित्रोरात्मनश्च यज्ञः पुण्याभिविद्धये (वृद्धये)<sup>५</sup>

—अस्मद्वंशविभूत्यर्थम्<sup>६</sup>

रिथपुर शासन-पत्र में दानकर्ता भवत्तवर्मन् ने अपने दाम्पत्य-  
जीवन के अनुग्रह (कल्याण) को<sup>७</sup> दान का प्रयोजन कहा । हर्ष ने बांसखेड़ा  
शासन पत्र में अपने माता-पिता के साथ दिवंगत अग्रज की ‘पुण्ययशोभिवृद्धि’  
को भी दान प्रयोजन लिखाया ।<sup>८</sup> दाता के अतिरिक्त दानग्रही के धार्मिक  
क्रियाकलापों के निमित्त किए गए दानों का प्रयोजन छि व्यक्तिपरक ही  
माना जायेगा । ये क्रियायें बह्वलिवरुवैश्वदेवाग्निहोत्र<sup>९</sup> या ‘हवन-

१: ६०-६०ई०, भाग १९, पृ० ७४, पं० १-५

२: ६०ई०, भाग ११, पृ० २८६, पं० ४०-४३

३: ६०ई०, भाग २२, पृ० ११६, पं० ४५

४: ६०ई०, भाग १२, पृ० २, पं० ५-६

५: वही, भाग १८, पृ० ५७, पं० १८

६: वही, भाग १७, पृ० ३३६, पं० १०

७: वही, भाग १६, पृ० १०२, पं० ६

८: हि० लि० ६०, पृ० १४६, पं० १०-११

९: ६०ई०, भाग १४, पृ० १५१, पं० ३१-३२

पंचमहायज्ञादि<sup>१</sup> होती थीं ।

वस्तु परक दान के प्रयोजन का एक उदाहरण यह है —

‘स्वामिकात्तिकैयस्वामिपदानां खण्डफुट्ट (स्फुटित) प्रतिस [२] स्कारकरणाय  
व (ब) लिचरुस<sup>२</sup>गन्धधूपतैलप्रवर्तनाय<sup>३</sup> । प्रयोजन-भूत सामग्रियों की विस्तृत  
सूची पल्लव कूरम-शासन में प्राप्त होती है । इसमें दिए जाने वाले परमे-  
श्वर मंगल नामक ग्राम का प्रयोजन था — उसकी आय से ‘विधाविनीत-  
पल्लव परमेश्वरगृह में, विराजमान भगवान् परमेश्वी पिनाकपाणि के लिए  
‘पूजा, स्नापन, कुसुम, गन्ध, धूप, इवि, उपहार, बलि, शंख, पटह, उदक,  
अग्नि, महाभारताख्यान<sup>४</sup> की समुचित व्यवस्था करवाना ।

अवसर — प्रयोजन के अनन्तर दानावसर का उल्लेख किया जाता  
है । दान की तिथियाँ सामान्य भी हो सकती थीं । किन्तु विशेष अव-  
सरों पर भूमिदान करने की ओर दानी नृपति आग्रहशील देखे गए हैं, जैसे—  
वैशाखपूर्णिमासी का दिन,<sup>५</sup> सूर्यग्रहण,<sup>६</sup> चन्द्रग्रहण,<sup>७</sup> उत्तरायण,<sup>८</sup> दक्षि-  
णायन,<sup>९</sup> और संक्रान्तियाँ<sup>१०</sup> । याज्ञवल्क्य ने भी विशेष निमित्तों के  
दान पर बल दिया है — ‘दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्ते तु विशेषतः ।<sup>१०</sup>  
क्षेत्र और ग्रामदान उदकपूर्वक<sup>११</sup> और दक्षिणासक्ति<sup>१२</sup> भी किए जाते थे।

दानग्राही — अवसर के पश्चात् दानग्राही का उल्लेख होता  
है । विष्णुस्मृति में लिखा है — ‘ब्राह्मणोभ्यः सर्वदायान्प्रयच्छेत् ।<sup>१३</sup>

१: ए०ई०, भाग १०, पृ० ७४, पृ० ८-९

२: वहीं, भाग १६, पृ० १२६, पं० १४-१५

३: सा०ई०ई०, भाग १, पृ० १५०, पं० ५०-५२

४: महाराष्ट्रों प्रा०ता०शि०, पृ० ८, पं० १५-१६

५: ‘आवणमास अमावस्यामादित्यग्रहोपरान्ते — ए०ई०, भाग ३०, पृ०  
१८, पं० १२ तथा ६०—कले०ई०का०स्टो० निलीर डि०, भाग १,  
पृ० १६४, पं० २१

६: सा०ई०ई०, भाग १, पृ०-४५, पृ० ३४, पं० ४२

७: सा०ई०, इ०, भाग १, पृ० ४५, पं० ३०

८: ए०ई०, भाग १३, पृ० २१४, पं० १४

९: वहीं, भाग २२, पृ० १३७, पं० १२

१०: या०स्मृति—१।२०३

११: सा०ई०ई०, भाग १, पं० ३४, पं० ४२-४३

याज्ञवल्क्यस्मृति भी<sup>१</sup> 'सम्मान, दान और सत्कार से श्रोत्रियों को निरन्तर संस्थापित करने का आदेश देती है।<sup>१</sup> इसलिए शासन पत्रों में दानग्राही अधिकांश रूप में ब्राह्मण ही होते थे। ब्राह्मणों में भी 'वेद पारग' ब्राह्मण को किए गए ज्ञान का फल अनन्त गुना माना गया है।<sup>२</sup> ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के साधुओं और संस्थाओं को भी यह सम्मान प्राप्त हो सकता है। वलभी नरेश गुहसेन के 'वला' दान पत्र में दुड्ढा महाविहार में आए ऋतारह सम्प्रदायों के (विदेशी) बौद्धभिक्कु संघ को चार ग्रामों के दिए जाने का उल्लेख है।<sup>३</sup>

दानलेखों में दानग्राही के मूलनिवास, गोत्र, वैदिक शाखा, विद्वता आदि सबका उल्लेख किया जाना आवश्यक था।<sup>४</sup> ब्राह्मणों के विद्वान्<sup>५</sup> और स्वधर्मनिरत होने भी आवश्यक गुण थे। पूर्वीय बालुक्य जयसिंह (प्र०) सर्वसिद्धि के निहुपहु दान-पत्र में दानग्राही कटि (कोटि ?) शर्मा की विद्वता यहाँ द्रष्टव्य है —

द्वि—[—]दाध्यायिने यज्ञागमोपनिषान्मन्त्रार्त्ति (र्त्ये)-  
तिहासपुराणधर्मशास्त्रविमलीकृतविन (नी)तमतये हारीतसगोत्राय तैत्तिरीय-  
सब्रह्मचार (रि)णो कटि (कोटि १)शर्मणो .....<sup>७</sup>

इसी निहुपहु दान पत्र में कटि शर्मा के पितामह मण्ड शर्मन् और पिता शिवरुद्रशर्मन् का, उनकी विद्वता के वर्णन समेत नामोल्लेख किया गया है (पं० १३--१६)

१: या०स्मृति १।३३६

२: व्यास स्मृति ४।४२

३: ए०इ०, भाग १५, पृ० ३०१-३१५

४: द्र०— ए०इ०, भाग १८, पृ० ३०६, पं० १५-१७

५. द्र०— 'षडंगपारगाय गोलशर्मणो' — विजय स्कन्द वर्मन् (द्वि०)  
का आँगोहू दान लेख, ए० इ०, भाग १५, पृ० २५१  
पं० १०-११.

६: ए०इ०, भाग १४, पृ० १६६, पं० ६

७. वही, भाग १८, पृ० ५७, पं० १६-१७

सीमा—दत्त भूमि की स्थिति क्या है, उसके आसपास किसके क्षेत्र हैं, किस दिशा में कौन-कौनसे ग्राम हैं, सीमावर्ती वृक्षा क्या-क्या हैं, इन सबका उल्लेख दानलेखों में किया जाता था। वल्मीक और पाषाण-पंक्तियाँ भी सीमानिर्देश में सहायक होती थीं। मनु ने भी वट, पीपल, पलाश, सेमल, साल, ताड़ और दूध वाले पेड़ों को सीमाओं पर लगवाने का आदेश दिया और कहा कि अनेक प्रकार के बाँस, शमी, लताएँ, टीले, मूँज आदिके होने से सीमाएँ नष्ट नहीं होतीं।<sup>१</sup> तुषांगार स्थापना से भी सीमाओं का ज्ञान कराया जाता था। किन्तु इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्व, पर्वत, लता और वृक्षाओं को ही दिया जाता था।<sup>२</sup> सीमानिर्देश का एक उदाहरण—

‘तथा त्रि (तृ) तीय-खण्डं किककप्रकृष्टं त्रिवत्वारिंशद्भूपादावर्त-परिमाणं [०] यस्य पूर्वतः सुप्तावसधीग्रामयायीपन्था [ः] दक्षिणतः ब्राह्मणसंगक-सट्कब्रह्मदेयक्षेत्रं अपरतः पत्तियणकक्षेत्रं म[१] तृस्थानक्षेत्रं [०] च उत्तरतः सुप्तावसधीग्रामसीमा’<sup>४</sup>

दानसम्बन्धी छूटें और अधिकार— ब्रह्मदेय (ब्राह्मणों को दी गई) भूमि अज्ञात भूमि कहलाती और उस पर दानग्राही का पूर्ण अधिकार होता था। शासकीय लेखा-जोखा में वह पुत्रपौत्रानुगमोग्य ग्राम जिले (विषय) में पृथक् पिण्ड सा गिना जाता था— ‘विषयाद्बुद्धतपिण्डः पुत्रपौत्रानुगः’<sup>५</sup> दानग्राही द्वारा उपभोग्य, विस्तृत छूटें और अधिकारों के लिए वाकाटक दानलेख प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ— ‘दानग्राही को कर न देना पड़ेगा। उसकी भूमि में कोई सैनिक या कुत्रवाहक (ह्वात्र) भी प्रवेश नहीं कर सकता। गाय और बैल सम्बन्धी परम्परागत राजकीय अधिकार भी न रहेंगे। दूध दुहने पर तथा फूलों, चरागाह, गुप्तस्थान, कौयले (खनिज)

१: ए० ई०, भाग १७, पृ० ३३२-३३४, पं० १४-१८

२: मनु स्मृति, ८। २४६-२४७

३: इ०-ए० ई०, भाग १६, पृ० १०३, पं० १७-२०

४: जैसरदान-पत्र, भाग २२, पृ० ११६, पं० ५२-५३

५: मधुवन शासन-पत्र, ए० ई०, भाग ७, पृ० १५८, पं० ११



नमक की खुदान अथवा सुरामण्ड (किण्व) आदि पर राज का कोई हाथ न रहेगा । बैगारी (विष्टि) से कूट । भूमि में किये खजाने (सनिधि) और निक्षेप (सोपनिधि) पर दानग्राही का पूर्ण स्वामित्व रहेगा । वह बड़े और छोटे करों (क्लृप्तोपक्लृप्त) से भी मुक्त रहेगा — १<sup>१</sup> इत्यादि ।

दान-स्थायित्व कामना—प्राकृप के इस आँ में दाता की यह मंगल-कामना होती थी कि उसका दान चन्द्र-सूर्य और पृथ्वी की स्थिति तक दानग्राही के पुत्रपौत्रान्वयभोग्य रहे<sup>१२</sup> या जब तक रवि-शशि-तारा-गणों की किरणों से पृथ्वी का ~~होना~~<sup>होना</sup> अन्धकार मिटता रहता है (अर्थात् प्रलयकाल पर्यन्त) तब तक उसका यह दान उपभोग्य रहे<sup>१३</sup> या वद्रविशसि(शि) ताराकिरणप्रतिहतघोरान्धका [रं] जगदवतिष्ठतेतावदुपभोग्यः — १<sup>३</sup> ।

दानानुपालन आदेश—स्थायित्व कामना के पश्चात् दाता नृपति जन्मसाधारण को आदेश देता है कि 'अमुक भूमि का ब्रह्मदेव<sup>१४</sup> स्थिति से भोग करते हुए, चल चलाते या चलवाते हुए तथा भूमिगत अपने अधिकारों का प्रदर्शन करते हुए दानग्राही का कोई विरोध न करे ।'<sup>१५</sup>

बाधा उपस्थित करने वाले को धार्मिक भीति दिखाई जाती थी कि वह पंचमहापातक और उपपातकों से संयुक्त होगा ।<sup>१६</sup> धार्मिक भीति के अतिरिक्त कुछ शासन पत्रों में प्रशासकीयभीति भी उपस्थिति की गई कि वह व्यक्ति सदाएँ पकड़ा जायेगा<sup>१७</sup> या 'वध्य'<sup>१८</sup> होगा । इस प्रकार सामान्य जनता को धर्म तथा दण्डभय दिखाकर उससे दानरक्षा कराई जाती थी ।

१. प्रवरसेन (द्वि०) का तिरौदी शासन-पत्र, ए०ई०, भाग २२, पृ० १७३  
पं० २०-२३

२. ए०ई०, भाग १२, पृ० ३४, पं० २०-२१

३. ए०ई०, भाग २२, पृ० २२-२३, पं० ६-७

४. ध्रुवसेन(द्वि०) का पलिताना शासन-पत्र, ए०ई०, भाग ११, पृ० ८४  
पं० ३२-३३

५. भर शासन-पत्र, भाव, पृ० ३२, पं० १४-१५

६. तिरौदी<sup>दी</sup> शासन-पत्र, ए०ई०, भाग २२, पृ० १७३, पं० २४-२६

७. मल्लसारंगल ताम्रपत्र, सि०ई०, भाग १, पृ० ३६३, पं० २०

जन-साधारण के अतिरिक्त अपने वंशज नृपतियों तथा आगामी भद्रनृपतियों से भी प्रार्थना की जाती थी कि वे भविष्य में उस दान का पालन करते रहें। इसके लिए दानकर्ता नृपति धर्म की ओट लेता और 'अनित्यैश्वर्यं एवं अस्थिरमानुष्यं'<sup>१</sup> याद दिलाकर आगामी नृपतियों के मन में वैराग्यजन्य लोभहीनता उत्पन्न कराने का प्रयास करता, ताकि वे कालान्तर में दत्तभूमि का अपहरण न करें। इस प्रकार के कथन हृन्दोबद्ध भी हो सकते हैं। सम्राट् हर्ष के बॉसखेड़ा शासन-पत्र में इसी आशय का हृन्दो-बद्ध रूप अधोलिखित है —

अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरदिभ-

रन्येश्व दानमिदमभ्यनुमोदनीयं ।

तत्तम्यास्तद्वित्सलिलबुदबुद (बुदबुद) वंचलाया

दानं फलं परयशः परिपालनं च । [॥]<sup>२</sup>

प्रशंसागर्भ तथा शापवेदिन् भाग — शासन पत्रों में प्रशंसात्मक तथा शाप-वेदिन भाग से ब्यहले एक गद्य पंक्ति ऐसी होती है, जो पूर्वभाग के साथ आने वाले इन भागों का सम्बन्ध जोड़ती है और यह बताती है कि ये श्लोक कहां से उद्धृत हैं। किन्तु परम्परागत रूप से लिखी जाने वाली यह पंक्ति, जो कि पर्याप्त विविधता के साथ प्रयुक्त होती है, दोष पूर्ण है। क्योंकि यह सर्वथा सत्य नहीं कि जहाँ से उद्धृत करने की सूचना यह पंक्ति देती है, ये प्रशंसात्मक और शापवेदिन् श्लोक वहीं से उद्धृत हों। इन पंक्तियों के कुछ उदाहरण —

— उक्तं मानवे धर्मशास्त्रे<sup>३</sup>

— अत्र मनुगीता श्लोका भवन्ति<sup>४</sup>

— व्यास-मनुगीतान् कूलो (कुलो) कानुदाहरन्ति<sup>५</sup>

— उक्तं महाभारते भगवता वेदव्यासेन व्यासेन<sup>६</sup>

१. ए०६०, भाग ११, पृ० ११३, पं० २१

२. हि० लि० ६०, पृ० १४६, पं० १३

३. ए०६०, भाग ३०, पृ० २६८, पं० ४०

४. वहीं, भाग ६, पृ० १८, पं० २०

५. वहीं, भाग १२, पृ० १३५, पं० १२

६. वहीं, भाग १६, पृ० १२६-१३०, पं० २०-२१

— भगवता पराशरात्मजेन वेदव्यासेन व्यासेन गीता श्लोका भवन्ति ।<sup>१</sup>

यदा-कदा व्यास, मनु या स्मृतिशास्त्रों का कुछ भी उल्लेख न करके केवल उक्तच<sup>२</sup> भवन्तिवात्र श्लोका [ः]<sup>३</sup> “अत्र द्वौ श्लोकादु-  
दाहरन्ति”<sup>४</sup> या अपि च<sup>५</sup> आदि वाक्यों से भी काम लिया जाता है ।

इन लघुवाक्यों की परम्परा धर्मशास्त्रों और कथाग्रंथों में यथावत् प्राप्त होती है ; जैसे अत्र पितृगीता गाथा भवन्ति<sup>६</sup>, पुराणोक्तो द्वौ श्लोको भवतः<sup>७</sup>, अथापि यमगीतांशो (श्लो)कानुदाहरन्ति<sup>८</sup>, भवन्ति चात्र श्लोकाः<sup>९</sup>, अथाप्युदाहरन्ति<sup>१०</sup>, उक्तच<sup>११</sup>, अपि च<sup>१२</sup> इत्यादि ।

इन वाक्यों का सदैव प्रयुक्त होना आवश्यक नहीं । बुद्धवरस के सञ्जन दानलेख में बिना इस प्रकार के वाक्य के ही आर्ष श्लोक सीधे उद्धृत किए गए हैं ।<sup>१३</sup>

श्लोक मूलतः स्मृतियों से उद्धृत किए जाते थे । स्मृतियों के मूल श्लोकों में यत्र-तत्र परिवर्तन भी परिलक्षित होते हैं ।

कुछ प्रमुख प्रशंसागर्भ श्लोक— व (त्र) हुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिः  
सगरादीभि (दिभिः) [I] र्य (य) स्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तथै

- १: सि०३०, भाग १, पृ० ३३३, पं० ११-१२
- २: का०३०३०, भाग ३, पृ० २८६, पं० १२
- ३: ए०३०३०, भाग १३, पृ० १०५, पं० १७
- ४: ए०३०, भाग १५, पृ० २५२, पं० १६
- ५: वही, भाग ७, पृ० १५८, पं० १५-१६
- ६: विष्णु स्मृति, पृ० १७६ (चौ०)
- ७: नारद स्मृति, पृ० १०६ (कलकत्ता १८८२)
- ८: वसिष्ठ स्मृति, १८।१० (स्मृति समुच्चय पृ० २१६)
- ९: शंखस्मृति १३।१२ (वही, पृ० ३८५)
- १०: बौधायन स्मृति १।८ (वही, पृ० ४२५)
- ११: पं०त०, पृ० १२ आदि (कलकत्ता १६१६)
- १२: पं० त०, पृ० ४० आदि तथा दितो, पृ० २ इत्यादि (निर्णय)
- १३: द्र०—ए०३० भाग १४, पृ० १५१, पं० ३४-३६
- ~~१३: द्र० वही, पृ० २२, पृ० १२७, व भाग १४, पृ० १५१ पं० ३४-४६~~

फलं [११] <sup>१</sup> भूमिं यः प्रतिगृह्णा (हृणा) तियश्च भूमी (मि) म्प्रयच्छती (ति) [१]  
उभौ तो पुन्य (पुण्य) कर्माणां नी (नि) यतौ स्वर्गंगामी (मि) नौ ॥ <sup>२</sup>

— यत्किंचिन्कुरुते (त्कुरुते) पापं नरो लोभ-समा (म) न्वितः [१]  
अपिगोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति [१] <sup>३</sup>

— अग्नेरपत्यम्प्रथमं सुवर्णा

भूर्व्वेष्ठावी सूर्यसुताश्च गावो (वः) [१]

दत्तास्त्रयस्तेन भवन्ति लोका

यः कांचनंगांच मञ्जीवं दद्यात्सा (त्) ॥ <sup>४</sup>

— यथाप्सु पतिता (तः) शक्र तैलवि (वि) न्दुर्व्विसर्प्यति [१]

एवं भूमिक्लि (कृ) तं दान [१] सस्ये सस्ये विसर्प्यति [१] <sup>५</sup>

— आस्फोटयन्ति पितरः प्रवल्गन्ति पितामहा : [१]

भूमिदोस्मिन्कुले (स्मत्कुले) जातः स नः सन्तारयिष्यति [१] <sup>६</sup>

एक लम्बी परम्परा से उद्धृत होते रहने के कारण इन छन्दों में परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था । वैसे, उल्लिखित छः श्लोकों के स्मृति-गत (धर्मशास्त्रीय) शुद्ध रूप बृहस्पति स्मृति के २६, ३२, ७, ३०, १२ एवं १७ संस्थान श्लोक हैं । उपर्युक्त चतुर्थ उद्धरण का तृतीय चरण वसिष्ठ स्मृति <sup>७</sup> में 'तासामनन्तं फलमश्नुवीत' है, जो बृहस्पति स्मृति से भी भिन्न है । इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि स्मृतियों का जो काल निर्धारित किया गया है, वह उनका संग्रह-काल हो सकता है, न कि प्रणयन-काल । हिन्दु-धर्म की ये आचार संहिताएँ उस प्राचीन समय से ही हमारा मार्ग प्रदर्शन करती आ रही हैं, जब से लौकिक संस्कृत ने वैदिक-संस्कृत से अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित किया ।

१. स० ६०, भाग २२, पृ० १३७, पं० १६-२१

२. वही, पृ० , वही पं०, २२-२४

३. सि० ६०, भाग १, पृ० ३६४, पं० २१

४. स० ६०, भाग २२, पृ० १३८, पं० २८-३०

५. इन्द्रवर्मन् का अन्धवर्म शासन-पत्र, स० ६०, भाग ३०, पृ० ४२

पंक्ति २२-२३

६. सि० ६०, भाग १, पृ० ३६४, पं० २०-२१

७. वसिष्ठ स्मृति, २८।१६

शापवेदिन् श्लोकों में भूमि अथवा सामान्य दानकर्ता की निन्दा की जाती है और उसे शाप दिया जाता है —

— स्वर्देतां परदेतां वा यो हरेत् वसुन्धराम् [१]

षष्टि वर्षा सञ्चराणि विष्टार्या जायते क्रिमि (कृमिः) [१] १

— ब्रह्मस्वं तु विषं घोरं न विषं विषमुच्यते [१]

विषान्तैकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रिक [२] ॥ २

— हरते हारयते भु (भू)मि [२] मन्दवु (बु)द्धि(रु)तमावृतः [३]

स व(ब)द्धो वारुणो [३] पासं(रु) (रु)ती(ति)र्य [४] यो-  
निष(षु) जायति (ते) ॥ ३

— तटाकानां सञ्चरा म(अ)स्वमेध शतेन च [१]

गवां कोटि-प्रदानेन [२] भूमिर्हता न शुध्यति [१] ४

— सुवर्णमैकंगामेकाम्भूमेरप्यर्द्धमंगलम् (मंगुलम्) [१]

हरत(न्)रकमायाति यावदाहूत(भूत)सम्प्ल(सम्प्ल)वम् ॥ ५

ये पाँचों श्लोक भी मूलरूप में बृहस्पति स्मृति के (५०-स्मृति समुच्चय) क्रमशः २८, ४६, ३६, ३८ तथा ३६ संख्यक श्लोक हैं। इनके अतिरिक्त अन्यान्य शापवेदिन् श्लोक भी दान लेखों में प्रयुक्त होते हैं। कुछ के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं —

विन्ध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः [१]

कृष्णाव्यो हि जायन्ते भूमिदायं हरन्ति ये ॥ ६

नास्यदेवा न पितरौ हविः पिण्डं समाप्नुयुः [१]

[२] न्न मस्तकवेतालः अप्रतिष्ठ (वेतालो ह्यप्रतिष्ठो) प्रतिष्ठति ॥ ७

यानीह ताद(दत्ता)नि पुरा नरेन्द्रेर्दानानि धर्मार्थयशस्कराणि [१]

निर्बुक्तमाल्यप्रतिमानि तानि को नाम साधुः पुनराददीत ॥ ८

१. विनयादित्य (प्र०) का पण्डित शासन, का० प्ले० ०६० आ० प्यु०, भाग १, पृ० ६३, पं० ३०

२. ए० ६०, भाग १५, पृ० २५२, पं० १७-१८

३. मध्यमराजदेव का परिकुह शासन, ए० ६०, भाग ११, पृ० २८७, पं० ५३

४. बुद्धवरस का संजन शासन पत्र, ए० ६०, भाग १४, पृ० १५१, पं० ३७-३८

५. (महाकोश) ए० ६०, भाग २२, पृ० १३८, पं० २७

उपसंहार— इन श्लोकों के पश्चात् दूतक (कार्यवाही, नृपति-प्रतिनिधि), लेखक, अंकता, साक्षीरूप, अधिकारी तथा मुद्राओं को लगपित सहित और लांकित करने वाले कर्मचारियों का विवरण और तदनन्तर तिथि सम्बन्धित आदि का उल्लेख होता है, जिनके विषय में पहले लिखा जा चुका है।

अन्त में शासन का प्रमाणिकरण होता है। राजा, शासन पत्रों के अन्त में अपना नामांकन करवाता है कि यह दान कार्य मेरे हाथ या आज्ञा से सम्पन्न हुआ —

— स्वस्तो मम ददस्य<sup>१</sup>

— स्वस्तो मम मह[र]राज-श्रीधरसेनस्य<sup>२</sup>

— स्वस्तो मम<sup>३</sup>

किन्तु, अधिकांश लेखों के अन्त में यह प्रमाणिकरण प्राप्त नहीं होता। समाप्ति सूचना देने के लिए कुछ शासनों के अन्त में मंगलवाक्य भी प्राप्त होते हैं, जैसे— 'सिद्धिरस्तु',<sup>४</sup> 'नमो नमः शृणुभाय नमः'<sup>५</sup> या 'स्वस्ति गोब्राह्मण-प्रजाभ्यः सिद्धिरस्तुः (स्तु)इत्यादि।

### प्रशासकीय लेख

प्रशासकीय लेखों में प्रतिनिधिभूत विष्णुर्षेण का स्थितिव्यवस्था-पत्र<sup>७</sup> तथा दामोदरपुर के पाँच ताम्रपत्रों<sup>८</sup> का विश्लेषण इस प्रकार है —

पिक्कले पृष्ठ का शेष—

६. बुधराज का वेदनेर शासनपत्र, ए०ई०, भाग १२, पृ० ३५, पं० २८-२९

७. विजयसेन का मल्लसारगल ताम्रपत्र, सि०ई०, भाग १, पृ० २६३, पं० १८-१९

८. दद (प्रशान्तराग) के दो शासन पत्र, ए०ई०, भाग ५, पृ० ४१, पंक्ति २५-२६

१. प्रिन्स ऑबवेल्स म्यूजियम शासन-पत्र, ए०ई०, भाग २७, पृ० २०१, पं० ३०

२. वलभीनरेश धरसेन (द्वि०) का फर शासन-पत्र, भाव०, पृ० ३२ द्वि० पत्र, पं० १७  
टि० इस शासन पत्र में दूतक लेखक और तिथिवर्ष का उल्लेख प्रमाणिकरण के पश्चात् हुआ है (पं० १७)।

३. शिलादित्य (तृ०) का जैसर शासन-पत्र, ए०ई०, भाग २२, पृ० १२०, पं० ६२

४. कदम्बमृगेश का दानलेख, ई०एच०, भाग ६, पृ० २५, पं० १६

५. कदम्ब काकुत्स्थवर्मन् का शासन, वही, भाग ६, पृ० २३, पं० १२

६. भवत्तवर्मन् का रिथपुर शासन, ए०ई०, भाग १६, पृ० १०३, पं० २५

७. ए०ई०, भाग ३०, पं० १६३-२८१

विष्णुषोण के इस लेख ( CHARTER ) के प्रारम्भ में मंगलसूचक स्वस्ति का प्रयोग है (पं० १) किन्तु दामोदरपुर-ताम्रपत्रों में कोई भी मंगलवाक्य नहीं ।

तदनन्तर विष्णुषोण के लेख में घोषणा स्थान का उल्लेख है--  
 ' लोहाटावासकात् (पं० १), किन्तु उसके पूर्वजों का ही उल्लेख है, और न अधिराज का । अधिराज का प्रश्न इसलिए उपस्थित होता है, क्योंकि उसकी 'महाकृतिकृतिक, महादण्डनायक, महाप्रतिहार, महासामन्त, महाराज (पं० १) उपाधियाँ उसे अधीनस्थ शासक सिद्ध करती हैं ।

पाँचों दामोदरपुर ताम्रपत्रों में सर्व प्रथम गुप्त संवत् और मास-दिन अंकित हैं। तत्पश्चात् समकालीन गुप्त नृपति का नाम सादर लिखा गया है, जैसे — परम-देवतपरमभट्टारक-महाराज [ १ ] अधिराज-श्री कुमार-गुप्ते पृथिवीपते (प्र० पत्र, पं० १-२)। इसी प्रकार द्वितीय पत्र में भी कुमारगुप्त, तृतीय और चतुर्थ पत्र में बुधगुप्त तथा पंचम पत्र में (भाग १) गुप्त के नामो-ल्लेख हुए हैं । सार्वभौम सम्राट् के पश्चात् उपरि (राजपाल), विषयपति तथा तदनन्तर विषयाधिकरण (जिलामुख्यालय) के अन्यान्य राजकीय-अराजकीय अधिकारियों के नाम गिनाए गए हैं —

‘ तत्पादपरिगृहीते पुण्ड्रवर्द्ध [ न ] भुक्ताद्दु (बु)परिकचिरातदत्ते (ते) नानुवत् (ह) वा (मा) नफकोटिवर्षविषये च तन्नियुक्तकुमारामात्यवेत्र-वर्म्मन्य (ण्य) धिष्ठाणा (ना) धिकरणांच नगरश्रेष्ठ धृतिपालसात्यवाहव (ब) न्धु-मित्रप्रथमकुलिकधृतिमित्रप्रथमका [ य ] स्थ शम्ब पालपुरोगे सम्ब्यवहरति (प्र ० पत्र पं० २-६ )

पाँचों दामोदरपुर ताम्रपत्रों का यही प्रारम्भिक प्रारूप है । इनके विपरीत <sup>स्मिति</sup> व्यवस्थापत्र, उपाधियों सहित विष्णुषोण का नामो-ल्लेख करने पर उसके लिए 'कुशली' कहता है । तत्पश्चात् वह सभी राजकीय अधिकारियों (राजपुत्र, राजस्थानीय, आयुक्तक, विनियुक्तक, शौलिकक, चोरोद्धरणिक, वैलब्धिक चाटुभटादि ) एवं अन्यान्य आदेश-पालक (धुवाधिकरणिकसहित ) व्यक्तियों को सम्बोधित करता है (पं० २-३) । यहाँ विष्णुषोण के स्थिति-पत्र की दानलेखों से समानता है ।

विष्णुषोण के लेख में आगे वर्णित है कि मुफे (विष्णुषोण को ) वणिक् समाज ने विज्ञापित किया कि उन्हें लोकसंग्रहानुगार्थ 'आचार-



स्थित पत्र से अनुगृहीत किया जाय— विज्ञापितोऽं (विज्ञापितोऽं)  
 वणिग्गामेण यथास्माकं लोकसंग्रहानुगृह्यमाचारस्थितिपा(प)त्रात्मीयं  
 प्रसादीकुर्वन्तु (पं० ३) । तद्वत् विषय-प्रवेश पाँचों दामोदरपुर-पत्रों में भी  
 है। उनमें भी प्रार्थी अपनी विशेष प्रार्थना लिए अधिकारियों को विज्ञा-  
 पित करता है — प्रथम पत्र का उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होगा —

“ ब्राह्मणकर्मणिकेण (न) विज्ञापित [ . ] अर्थ (अर्थ) ममाग्नि-  
 त्रोटोपयोगाय अप्रदा-त्रिल-त्रोटं त्र (त्र) दीनारिक्य कुत्यवापेण (न) शश्वता-  
 (दा) चन्द्राकर्कतारकभोज्ये (ग्य) [ त ] या नीवीधर्मेण दातुमिति (पं० ६-६)

पुस्तपाल (भू-लेखाधिकारी) अधि<sup>दत्त</sup>, जयनन्दिन् और विभुदत्त  
 के द्वारा भूमि और भूमिदर सम्बन्धी नियम होने पर प्रार्थी की प्रार्थना  
 स्वीकृति हो जाती है। राजकोष के लिए उससे तीन दीनार लेकर हाँगा  
 के पश्चिमी भाग में उसे एक कुत्यवाप त्रोट प्रदान किया जाता है।  
 ( पंक्ति ६-११ )

विष्णुगणेश के ‘स्थितिपत्र’ में भी वणिक् समूह की प्रार्थना  
 मान ली जाती है (प्रसादीकृत—पं० ४) और ७२ आचारों की गणना  
 प्रारम्भ हो जाती है। वणिग्गाम ने अपने व्यापार सम्बन्धी नियमों की  
 जानकारी के लिए लिखित संहिता की ही प्रार्थना की थी। आचारगणना  
 की सूचना देने वाली पंक्ति, ‘यात्रादी तावत् प्रथम’ (पं० ४), अपने शिल्प-  
 विधान से कथाग्रन्थों की प्रस्तावनाओं की अनायास ही स्मृति जागरित कर  
 देती है —

— अथातः प्रारम्भते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम् । यस्यायमा-  
 दिमः श्लोकः<sup>१</sup>

— सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते यस्यायमाद्यः श्लोकः<sup>२</sup>

पाँचों दामोदरपुर पत्रों की भाषा और शिल्प सामान्य दान  
 लेखों के समान ही है। किन्तु, स्थिति-पत्र का प्रारम्भ भले ही दानलेखों  
 की तरह हुआ है, उसका वृत्त्यविषय (आचार-परिगणन) सूत्र शैली पर है,

१. पं० १०, पृ० ६ (कलकत्ता १८१४)

२. द्विती०, पृ० ६ (निर्मल १८२२)

आचार १, 'अपुत्रकं (प्रथमपुत्रकं) न ग्राह्यम्' (पं० ४)

— अर्थात् जो व्यक्ति निस्सन्तान मरे, उसका वैध उत्तराधिकारी देखे बिना, राजकर्मचारी उसकी सम्पत्ति नहीं ले ।

आचार ४, 'श्रद्धां कया गृह्णां नास्ति' (पं० ५)

— अपराध-शुल्क पर ही, अधिकारियों को, किसी का कुछ नहीं लेना चाहिए ।

आचार १८, 'वाक्पारुष्यदण्डपारुष्ययोः'

— साक्षित्वे सारी न ग्राह्या' (पं० ८) मानवानि और फौजदारी में सारिका (मैना पत्नी) को साक्षी न माना जायेगा । इत्यादि

इस प्रकार के राजनियमों का ज्ञान, जनता और अधिकारीगण-दोनों के लिए आवश्यक था । इसी लिए यह स्थितिपत्र विषयाधिकारियों के लिए भी प्रेषित किया गया । एासन का पृष्ठांकन (Endorsement) इस बात का प्रमाण है ( पं० ३१-३४ )। दरपपुर के अधीनस्थसामन्त 'अन्ति' ने इस पृष्ठांकन में अपने कर्मचारियों को सूचित किया है कि वह विष्णुभट (विष्णुभोटा) के स्थितिव्यवस्थापत्र का पालन करता है ।

जहाँ तक सूत्र शैली में लिखे गए गद्य का प्रश्न है, यह निर्विवाद कहा जा सकता है , कि प्रारूप निर्माता के समस्त अर्थशास्त्र और स्मृतियों के सूत्रात्मक गद्य का स्पष्ट आदर्श था ।<sup>१</sup>

'स्थिति पत्र' में आजीवार्थात्मक या मांगलिक भाग विस्तृत नहीं है, — एक सूचना मात्र है । विष्णुभोटा भावी नृपतियों से अपने व्यवस्था - पत्र को 'आचन्द्रार्कोणवि-गृह-नक्षत्र-क्षिति-स्थिति-समकालीन' स्थिर रखने की प्रार्थना करता है ( पं० २६-३० )। पाँचवें दामोदर-पुर पत्र में प्रयुक्त 'शश्वत्कालभोग्य' (पं० १८ ५) का भी यही अर्थ है ।

बुल-----

१. तुलनीय — अर्थशास्त्र २। २८। २४, बाँधायन स्मृ० २। ६। १— ३ ,

विष्णु स्मृति, ३। ७५— ७८

मूल स्थितिपत्र के अन्त में विष्णुषोण यशः कीर्ति-फलेच्छु स्व-  
वंशज और अन्य नृपतियों से स्थिति व्यवस्था पत्र के अनुमोदन की प्रार्थना  
करता है (पं० २६-३०) । पृष्ठांकन में सामन्त-अवन्ति भी न केनचित्  
परिपन्था कार्यति (पं० ३४) लिखवाता है । इस प्रशासकीय लेख के ये  
अनुपालन आदेश गिने जायेंगे । इसमें प्रशंसागर्भ और शापवेदिन् श्लोकों का  
अभाव है ।

प्रथम दामोदरपुर पत्र को हाँदकर अन्य सभी में भविष्यत् सम्बन्ध-  
वचारियों से की गई भूमिविक्रय सम्बन्धी कृत्य की रक्षा-प्रार्थनाएँ हैं । ये  
प्रार्थनाएँ अनुपालन आदेश के ही रूप हैं । अन्त में इन पाँचों पत्रों में  
भूमि सम्बन्धी श्लोक भी दानलेखों के अनुकरण पर प्राप्त होते हैं । किन्तु  
इन भूमिविक्रय वाले लेखों में भूमिदान के श्लोक का प्रयोग, स्पष्ट विषय-  
विपर्यय है । उनका प्रयोग न होना ही उचित था ।

इन श्लोकों के साथ ही दामोदर-पुरपत्र समाप्त हो जाते हैं ,  
लेखक, अंकेता आदि का नामोल्लेख उनमें नहीं हुआ है ।

### अन्यलेख

बचे हुए लेखों में धार्मिक लेखों के पाँच प्रकार --- उत्कीर्ण  
पुस्तकें, अनुवाद, तंत्रमंत्र, बीजादि, यात्रा लेख और मूर्तिनाम लेख ग्राह्य  
नहीं । इनकी संख्या अपेक्षाकृत न्यून होने के कारण इनका कोई निश्चित  
रूप नहीं । अन्य लेख जैसे — साहित्यिक कृतियाँ, अभ्यासात्मक लेख, वंशा-  
वली, विरुदावली लेख, विनिमय-माध्यम (सिक्के) और मुद्राएँ भी विषय-  
वैभिन्न्य के कारण प्रारूप गठन सम्बन्धी एक-रूपता निदर्शन के आधार नहीं  
बन सकते । शेष लेखों में सामान्य एक-रूपता द्रष्टव्य है, यद्यपि अपवादों  
के दर्शन भी सर्वत्र सुलभ हैं ।

प्रारम्भ — प्रत्येक लेख का प्रारम्भ किसी मंगल सूचक शब्द या  
वाक्य से होता है, जैसे — 'सिद्धम्', <sup>१</sup> 'ओं', <sup>२</sup> 'स्वस्ति', <sup>३</sup>

---

१: उदयगिरि गुहालेख, का० ७०६०, भाग ३, संख्या ३ तथा ६

२: गोपराज का एरण शिलालेख, वही, संख्या २०

३: महाराज हस्तिन् और सर्वनाथ का भुमरा स्तम्भ लेख, वही संख्या २४

१ नमः सिद्धेयः<sup>१</sup>, २ जितं भगवता<sup>२</sup>, ३ नमो महादेवाय<sup>३</sup> ४ नमो विष्णावे<sup>४</sup> आदि । इस प्रारम्भमंगल के अवाद भी हैं, जैसे चन्द्र (गुप्त द्वि०) का मेहरोली लौहस्तम्भ लेख,<sup>५</sup> यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भ लेख,<sup>६</sup> या कतिपय देयधर्म-समर्पण लेख ।<sup>७</sup>

स्तुति-प्रार्थना-मंगल-सूचक शब्द या वाक्यों के पश्चात्, अभिलेखों में विषय-प्रवेश से पहले स्तुति या प्रार्थना होती है । यदि लेख मन्दिर-विशेष की निर्माण-घटना का स्मारक हुआ, तो स्तुति में उसी देवता की प्रशंसा की जाती है, मन्दिर में जो देवता प्रतिष्ठापित होता है । मिहिरकुलकालीन ग्वालियर पाषाण लेख<sup>८</sup> गोपगिरि पर निर्मित सूर्य-मन्दिर का स्मारक लेख है । इसलिए इसके प्रथम दो कन्दों में 'भुव-भवन-दीप' और 'शर्वरीनाशहेतुः' (श्लोक २) सूर्य की प्रार्थना की गई है । दुर्गण के फलरापाठन लेख<sup>९</sup> में शिवमन्दिरनिर्माण की घटना वर्णित है, अतः इसके प्रथम दो श्लोकों में शिव सम्बन्धी मंगलाचरण हैं ।

मन्दिर निर्माण-परक लेखों से इतर अभिलेखों के प्रारम्भ में भी उसी देवता का मंगलाचरण होता है, लेख-संस्थापक जिसका उपासक होता है, जैसे स्कन्दगुप्तकालीन जूनागढ़ लेख<sup>१०</sup> में 'अत्यन्त-विष्णु' विष्णु की उपासना की गई है (श्लोक १) । स्पष्ट है, पण्डित का पुत्र कृपातित वैष्णव रहा होगा । वाकाटक हरिषेण कालीन अमन्ता गुहालेख<sup>११</sup> के प्रथम

१: उदयगिरि गुहालेख, वही, संख्या ६१

२: का०ह०हं०, भाग ३, संख्या ८, तथा ६

३: कर्मदण्ड लिंग लेख, हि०लि०हं०, पृ० ८२

४: वाउक का जोधपुर लेख, वही, पृ० १५८

५: का०ह०हं०, भाग ३, संख्या ३२

६: वही, संख्या ३३

७: ५०-६० कै०टे०वे०हं०, संख्या ६, पृ० ८, संख्या ७ पृ० ८ आदि ।

८: का०ह०हं०, भाग ३, संख्या ३७

९: हं०रेण्टि०, भाग ५, पृ० १८०-१८३

१०: का०ह०हं०, भाग ३, संख्या १४

११: ६० कै०टे०वे०हं०, पृ० ६६-७१

पद्य में बुद्ध की प्रार्थना है । पार्श्वनाथ बस्ती के दक्षिण में एक पाषाण पर आत्मोत्सर्ग सम्बन्धी जैनलेख<sup>१</sup> उत्कीर्ण है । इसके भी प्रथम तीन छन्दों में वर्तमान तीर्थंकर की प्रार्थना की गई है ।

इष्टदेव का स्मरण या मंगलाचरण कार्यविशेष की निबन्ध सिद्धि के लिए किया जाता है । संस्कृत साहित्य के काव्य, नाटक और गद्य प्रबन्धों के अनुकरण पर ही अभिलेखों के प्रारम्भ में भी इनका सज्ज प्रवेश हुआ ।

मंगलाचरण के पश्चात् विषय-प्रवेश हो जाता है, जैसे स्कन्द-गुप्त कालीन जूनागढ़ लेख<sup>२</sup> में 'विजितार्ति अत्यन्त जिष्णु' विष्णु के लिए 'सजयति' कच्चे के पश्चात् तत्कालीन सम्राट स्कन्दगुप्त के लिए, 'अनुजयति' शब्द का प्रयोग कर कवि उसकी प्रशंसा की और उन्मुख हो जाता है ।<sup>३</sup> वास्तव में सर्वप्रथम प्रशंसा ईश्वर की ही की जानी चाहिए । प्रशंसा में पार्थिव-सम्राट् का स्थान दूसरा है । मृच्छकटिक के एक स्थान में भी शिव और कार्तिकेय की जयजयकार के उपरान्त ही राजा 'आर्यक' की 'अनुजय' की जाती है —

जयति वृषभकेतुर्दण्डायज्ञस्य हन्ता  
तदनु जयति भेत्ता षाण्मुखःक्रौंचशत्रुः ।  
तदनु जयति कृत्स्नां शुभकेलासकेतुं  
विनिश्चतर्वेरी चार्यको गां विशालाम् ॥<sup>३</sup>

विषय-निरूपण के प्रसंग में अभिलेखों में सामान्य एक रूपता ब्रह्मोजना व्यर्थ है, क्योंकि जिस वर्ग का जो लेख होता है, उसमें तदनुसार ही विषय-प्रतिपादन होता है ।

अच्छ आशीर्वादात्मक भाग — वर्णानुसार विषय प्रतिपादित होने के पश्चात् उपसंस्कार से पूर्व, आशीर्वादात्मक या मार्गलिक पंक्तियाँ होती

१. ए०क००००, भाग २, पाठ्य पृ० १

२. का००००००, भाग ३, संख्या १४, श्लोक १-२

३. मृच्छ०, १०।४६

हैं, जैसे गंगाधर लेख में 'मयूराक्षक' की विपुल कीर्ति कैस्थायित्व की कामना, तब तक के लिए की गई है जब तक सागर रत्न संयुक्त और सशैल पृथ्वी, नानागुल्मद्रुमवती रहे तथा जब तक गृहगण सहित चन्द्र आकाश को आलोकित करता रहे ।<sup>१</sup>

वस्तुपरक मांगलिक श्लोकों के उदाहरण बन्धुवर्मन् कालीन मन्द-सौर लेख<sup>२</sup>, बोधगया लेख<sup>३</sup>, (महानामन्), मिर्चिकुलकालीन ग्वालियर लेख<sup>४</sup> आदि में द्रष्टव्य हैं ।

इस मांगलिक भाग का निर्वाह 'आसूर्य-दिगतिचन्द्रतारक'<sup>५</sup> तथा समान संज्ञाप्त वाक्यों से भी हो सकता है । अभिलेखों में इस भाग का समावेश अशोक के समय से ही होने लगा था ।<sup>६</sup> संस्कृत नाटकों के भरत वाक्यों में भी ऐसी ही मंगलकामनारं होती हैं ।<sup>७</sup>

प्रशंसागर्भभाग— दानलेखों की भांति दानेतर लेखों में भी यह भाग मिलता है । इसमें भी 'बहुभिर्व्वसुधा' सरीखे, धर्मशास्त्रों के परम्परागत श्लोक उद्धृत किए जा सकते हैं ।<sup>८</sup> किन्तु सामान्यतया दानेतर लेखों के रचयिता इस भाग के लिए मौलिक श्लोकों की ही सृष्टि करते हैं । ग्वालियर लेख<sup>६</sup> में मातृवेष्ट द्वारा गोपगिरि पर सूर्यमन्दिर के निर्माण का वर्णन है। इसलिए इसमें समान सूर्यमन्दिर के निर्माताओं के लिए मौलिक प्रशंसागर्भ श्लोक हैं —

१: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १७, श्लोक २५

२: वही, संख्या १८, श्लोक ४३

३: वही, संख्या ७१, श्लोक ८

४: वही, संख्या ३७, श्लोक १३

५: अनन्तवर्मन् का नागार्जुनीगुहालेख, वही, पृ० २२७, श्लोक ४

६: 'ध्रमादिपि लिखित विरठितिक होतु तथ च मे प्रज अनुवटतु' —  
पाषाणा-लेख ५

७: इ० बालच० ५।२०, कर्ण० १।२५, मृच्छ० १०।६०, विक्रम० ५।२४,  
अभि०शा० ७।३५

८: रविवर्मन् का सामाजिक—सांस्कृतिक लेख, इ० रेण्ट०, भाग ६,  
पृ० २६, श्लोक १३

९: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या ३७

ये कारयन्ति भानोश्चन्द्रांशुसमप्रभं गृहप्रवरम् [१]

तेषां वासो स्वर्गे यावत्कल्पजायो भवति [११]

— श्लोक ११

वैसे, प्रशंसागर्भ श्लोकों का दानेतर लेखों में जोना आवश्यक नहीं और न ये श्लोक सदैव ही प्राप्त होते हैं ।

कृत्यानुपालन आदेश— प्रशंसागर्भ भाग की ही भाँति कृत्यानुपालन आदेश भी इन लेखों का आवश्यकीय अंग नहीं, फिर भी इसकी कहीं-कहीं विद्यमानता देखी गई है । रविवर्मन् के सामाजिक-सांस्कृतिक का अधोलिखित उदाहरण भविष्यत् नृपतियों के लिए अनुपालन आदेश ही है —

स्थित्यानया पूर्वनृपानु जुष्ट्या

यताप्रपत्रेण निबद्धमादौ [१]

धर्माप्रमत्तेन नृपेण राज्यं

संसारदोषं प्रविचार्य बुध्या [१११]

शापवेदिन् भाग — दानेतर लेखों में इसका प्रयोग नहीं के बराबर है । अपवादरूप से देयधर्म लेख की एक पंक्ति देखी जा सकती है —

“ये लोपये[त्] पञ्चमहापातकयुक्तो भवे[त्] ॥”<sup>२</sup>

ये पञ्चमहापातक हैं— ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय, गुर्वङ्गनागमन तथा इन चारों का संसर्ग (अथवा इन पातकों को करने वाले का संसर्ग)।<sup>३</sup>

उपसंहार—इस भाग में तिथि,<sup>४</sup> रचयिता (जैसे, हरिषेण,<sup>५</sup> वत्सभट्ट,<sup>६</sup> आदि) दूतक (जैसे तिलभट्टक)<sup>७</sup> अंकेता (जैसे गोविन्द<sup>८</sup>

१: इ०ऐण्ट०, भाग ६, पृ० २६, श्लोक १२

२: इ०कै०वै०इ०, पृ० ११

३: मनुस्मृति ११।५४

४: इ०इ०, भाग ४, पृ० ३२, पं० १२

५: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १, पं० ३२

६: वही, संख्या १८, श्लोक ४४

७: वही, संख्या १, पं० ३३

८: वही, संख्या ३५, पं० २५



या वामन<sup>१</sup>) आदि की सूचनाएं होती हैं। कुछ अभिलेखों की समाप्ति में भी मंगलवाक्य होते हैं, जैसे — “नमो नमः”<sup>२</sup> आदि। स्कन्दगुप्त कालीन जूनागढ़ लेख में संस्कृत ग्रन्थों के अनुकरण पर स्पष्टरूप से समाप्ति-सूचना है — “[इति] सुदर्शनतटाकसंस्कारग्रंथरचना समाप्ता ॥”<sup>३</sup>

अभिलेखों में साहित्य के स्थल और उनकी मात्र-सीमाएं—

सभी अभिलेख साहित्यिक महत्व सम्पन्न नहीं होते। धार्मिक लेखों में आत्मोत्सर्ग सम्बन्धी लेख, माहात्म्य तथा कतिपय देयधर्म लेख आंशिक साहित्यिक महत्व के लिए ग्राह्य हैं। गोपराज का ऐरण लेख<sup>४</sup> कविशंख की कृति (माहात्म्य)<sup>५</sup> एवं सारनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख (देयधर्म)<sup>६</sup> अपनी छन्दोबद्धता के कारण ही सही, साहित्यान्वेषकों के लिए स्पृहाविषय हैं।

मदनप्रणीत पारिजातमंजरी आदि उत्कीर्ण साहित्यिक कृतियों में तो साहित्यिक तत्त्वों की विद्यमानता स्वतः सिद्ध है। नाम-ग्रहण मात्र से हमारी अन्वेषणाबुद्धि उनमें साहित्य का अनुमान कर लेती है। संयोग से कोई भी ऐसी साहित्यिक कृति प्रथम से लेकर सातवीं सदी की काल-परिधि में नहीं आती।

१: इ०ऐपिट०, भाग ५, पृ० १८१, श्लोक १३

२: वही, भाग ६, पृ० २६, पं० २६

३: का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १४, पं० २३

४: का०इ०इ०, भाग ३, सं० २०

५: ए०इ०, भाग ११, पृ० ८८

६: हि०लि०इ०, पृ० १०३-१०४

शास्त्रीय एवं अभ्यासात्मक लेख विषय विपर्यय के कारण साहित्य से दूर हैं। कदम्ब रविवर्मन् का सामाजिक-सांस्कृतिक लेख<sup>१</sup> विवरणात्मक होने पर भी कुन्दोयोजना तथा शैलीगतविशेषताओं के कारण साहित्यिक महत्व को पर्याप्त सुरक्षित किए है। वाणिज्य-व्यवसाय एवं विज्ञापन सम्बन्धी लेख का उदाहरण वत्सभट्टि मन्दसौर लेख<sup>२</sup> है, जो अपने वर्णनकौशल, कुन्दोयोजना एवं काव्य प्रतिभा-प्रकाशन के कारण प्राचीन लब्धप्रतिष्ठ संस्कृत कवियों के लिए एक स्पष्ट चुनौती है।

इष्टिका लेख जैसे लघुकलेवर वाले लेखों को छोड़कर प्रायः सभी स्मारक लेख साहित्यिक गुणों से सम्पूक्त हैं। अभिलेखों के साहित्यिक प्रासाद का यह एक सुदृढतर स्तम्भ है। यह ऐसा मूल है जिसकी रस संचार-व्यवस्था से अभिलेखों की साहित्य-मात्राएं बरी हैं।

प्रशस्तीय लेख (आज्ञा पत्र) साहित्य की कोटि में ग्राह्य नहीं। आधुनिक कार्यालयीय पंजीकाओं की भांति उनमें साहित्यान्वेषण, सिकता में रसिकता की खोज करना है। प्रशस्ति और स्तोत्र अवश्य काव्य के उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति एक उत्कृष्ट चम्पूकृति है।

वंशावली वाले लेख भी साहित्यिक लेखों के वर्ग में नहीं आते। वंशावली परिगणन के पश्चात् तत्कालीननृपति की दो कुन्दों में प्रशंसा करने वाले वायलूर स्तम्भलेख<sup>३</sup> साहित्यिक वर्ग में अपवाद रूप से आता है। वंशावली-परक अभिलेखों की ही भांति, <sup>विराधावलीलेख</sup> एक ही नृपति के अनेक विरहदों (उपाधियों) के संग्रह होने के कारण साहित्य से दूर हैं।

विनिमय माध्यम में गुप्तादिनृपतियों के कतिपय सिक्के, जिनमें कुन्द प्रयुक्त हैं अथवा साहित्यिक गद्यपंक्तियां हैं, एतदर्थ स्वीकार्य हैं। इसी प्रकार बाकाटक अथवा श्रीपुर-नृपतियों की कुन्दोप्पयी मुद्राएं चाहे

१: इंडोरेण्टो, भाग ६, पृ० २५-२७

२: का०००इ०, भाग ३, सं० १८

३: ए०इ०, भाग १८, पृ० १४५-१५२

कुंदोयोजनानिदर्शन के प्रसंग में ही काम आएं, साहित्यिक अभिलेख मानी जाएंगी ।

विषय प्रतिपादन के कारण भी दानलेख (शासन-पत्र) विशेष आकर्षण के केन्द्र हैं । इनमें वंशावली परिगणन तक ही साहित्यिक भाग है—उत्तरवर्ती भाग व्यावसायिक एवं असाहित्यिक होता है । मधुवन एवं बांसखेड़ा शासन पत्र का श्लोक, जो आगामी नृपतियों के लिए दानानुपालन सम्बन्धी आदेश है, अपवादरूप से उत्कृष्टतर और साहित्यिक है ।<sup>१</sup> (सम्भवतः राजकर्मचारी-लेखक द्वारा प्रस्तुत प्रारूप में सभी कुन्द, 'प्रियदर्शिका', 'नागानन्द' और 'रत्नावली' के नाट्यकार सम्राट् हर्ष ने स्वयं रचकर जड़ दिए होंगे । ) किन्तु शासन पत्रों में ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत कम है । दानलेखों के प्रशंसागर्भ एवं शापवेदिन् भाग अधिकांशरूप में कुन्दोबद्ध होने पर भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि वे उद्धृत, परम्परागत और नीरस होते हैं ।

जहाँ तक दानलेखों के साहित्यिक भाग का सम्बन्ध है, यहाँ यह कहना प्रसंगानुकूल है कि, उस भाग में भी वंशावली ही मुख्य है । किन्तु यदा-कदा 'स्वस्ति जितं भगवता गतधनगगनाभेन पद्मनाभेन'<sup>२</sup> (अनुप्रास एवं यमक युक्त मंगल वाक्य ) तथा 'सर्व्वर्तु-सुखरमणीयाद्विजयकालिङ्ग-नगरात्'<sup>३</sup> या 'विविधतरुकुसुमसङ्गन्नाभयतटान्तविनिपतितजलाशयायाः श [ १ ] लिमासरितः कूला (कूलो) पकण्ठादे (द्वि)जयकौंगोदात्'<sup>४</sup> (प्रकृचित्रिणा-परकघोषणा-स्थान) आदि ऐसे वाक्य प्राप्त हो जाते हैं, जिनके कारण दानलेखों के साहित्यिक भाग की पूर्वसीमा लेख के प्रारम्भ से ही निर्धारित करने में कोई आपत्ति नहीं होती । ऐसे दान लेखों की संख्या भी कम नहीं, जिनमें वंशावली का अभाव है,<sup>५</sup> अथवा वर्णित वंशावली साहित्य से शून्य है । किन्तु सम्यक प्रकार से निरीक्षण करनेपर सामान्यतः

१. मधुवन, ए०ई०, भाग ७, पृ० १५८, पं० १६, बांसखेड़ा, जि० लि० ई०, पृ० १४६, पं० १३

२. मेरूरशासनपत्र, ई०, ऐपिट० भाग १, पृ० ३६३

३. हस्तिवर्मन् का उल्लिखित शासन पत्र, ए० ई०, भाग १७, पृ० ३३२ पंक्ति १.

४. ए०ई०, भाग ६, पृ० १४४, पं० ६-८

५. उदा० महाराज भेति का शासन पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० ४, पंक्ति १

दानकर्ता नृपति अपने वंश का अतिरंजित साहित्यिक वर्णन करने की ओर ही प्रवृत्त देखा गया है। वंशावली परिगणन में नृपतिगण अपने पूर्वजों के नामोल्लेख मात्र से ही संतुष्ट नहीं होते थे, अपितु उसके अतिशयोक्ति-पूर्ण क्रिया-कलाप दिखाते हुए, नामों के आगे विशेषणों की ऐसी झड़ी लगा देते थे कि 'कच्छपी' स्वाभाविक रूप से भङ्कृत हो उठती थी। इसलिए यह साहित्यिक वंशावली, जो दानलेख का एक स्पन्दित अंग है, स्वतंत्र वंशावली वर्ग में आने वाले नीरस लेखों से भिन्न है।

अभिलेखों में सरस्वती के संगीतमुखर नृत्य के लिए सामान्यतः यही चोत्र-परिधि है। अन्यत्र लेख अथवा लेखों के नीरस भाग, पुरालिपि-सम्बन्धी, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रशासकीय महत्त्वों के कारण सम्माननीय हो सकते हैं, किन्तु शुद्ध साहित्यान्वेषक की रस-पिपासा उनसे शान्त नहीं होती।

---

अभिलेखों में पद्य, गद्य तथा चम्पूशिल्प

क- पद्य का स्तर उपलब्धि और विकास

क्वौरी प्रकृति के रूपविभव को देखकर जब प्राचीन भारतीय आर्य-  
अभिभावविभोर हुआ, तो उसने अपने आनन्द की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम  
छन्दों में ही की। पद्य से ही संस्कृत साहित्य का प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम  
भारतीय ग्रंथ ऋग्वेद पद्यमय ही है। पद्य के उत्स के लिए प्रयास नहीं करना  
पड़ता, वह स्वतः जन्मा और स्वयंप्रभव है। यही कारण है कि सच्चा  
पद्य कृत्रिमता से सदैव दूर रहेगा। इसीलिए साहित्य के सभी अंगों में  
इसका स्थान सर्वोपरि है। अभिलेखों में भी पद्यरचना प्रायः सभी के लिए  
स्पृहणीय बनी रही। प्रारम्भिक अभिलेखीय कवि तो पद्य के प्रति ही विशेष  
आग्रहशील रहे। सिन्धुघाटी के अस्पष्ट लेखों के पश्चात् पाँचवीं सदी ई०पू०  
का पिप्परावा बौद्ध लेख<sup>१</sup> यद्यपि प्राकृत में किन्तु पद्यमय है। अशोक के  
लेखों के गद्यात्मक एवं असाहित्यिक होने का कारण यह है कि वे सर्वजन-  
कल्याणार्थ लिखे गए। उनके पीछे साहित्यनिर्माण की भावना नहीं थी।  
उनमें उत्कीर्ण, चरित्र-निर्माण सम्बन्धी उपदेश सर्वजनग्राह्य एवं सर्वजनबोधगम्य  
हैं—यही अशोक का उद्देश्य था।

अभिलेखों में लौकिक संस्कृत के छन्दों का प्रयोग प्रथम सदी ईसवी  
से ही होने लगा था।<sup>२</sup> प्रथम सदी में से छन्दों का प्रयोग एक विशेष महत्त्व  
की बात इसलिए भी है क्योंकि अभी तक संस्कृत भाषा अभिलेखों के दृष्टि-  
कोण से उतनी जनप्रिय नहीं हो पायी थी। तृतीय सदी उत्तरार्द्ध के कानाखेरा

१: सि०इ०भा०, १ पृ० ८४

२: इ० —स०इ०, भाग २, पृष्ठ २०० तथा इ० हि० क्वा०, भाग १६,  
पृ० ४८५

(श्रीधरवर्मन्) शिलालेख<sup>१</sup> में भी एक शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त है।

समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का प्रारंभिक भाग बहुत खण्डित है, जिसके कारण कतिपय श्लोकों के वर्णविषय का अनुमान करना कठिन-कार्य है। छन्दों का अनुमान तो प्राप्य वर्णों के अनुसार एवं खण्डित स्थान की दूरी को देखते हुए किया जा सकता है। इस प्रशस्ति में तृतीय, पंचम एवं अष्टम छन्द स्रग्धरा, चतुर्थ एवं सप्तम शार्दूलविक्रीडित, अष्टमन्दाक्रान्ता एवं नवम पृथ्वी छन्द हैं। उच्च पदाधिकारी होने के साथ हरिषेण एक महान् कवि भी था। वह जानता था कि प्रशस्ति के लिए स्रग्धरा एवं शार्दूलविक्रीडित सर्वाधिक उपयुक्त छन्द हैं। इसीलिए इन दोनों छन्दों को प्रस्तुत लेख में प्राथमिकता मिली। पृथ्वी छन्द में वर्णों के उतार-चढ़ाव की एक विशेष व्यवस्था होती है। कुशल शिल्पी हरिषेण ने, शिव जटा-जूट में रुक-रुक कर ऊपर की ओर उछलने वाली गंगा की धारा से उपमित समुद्रगुप्त की अनेक मार्गाविलम्बिनी कीर्ति के वर्णन में, इसी छन्द का प्रयोग कर, अपने काव्य कौशल का परिचय दिया (श्लोक ६)। इस पद्य में साम्य का एक आधार यह भी है कि यदि समुद्रगुप्त की कीर्ति अनेक मार्गावित है, तो गंगा का भी दूसरा नाम त्रिपथगा है। इसलिए हरिषेण को पृथ्वी छन्द के साधिकार प्रयोग का ही नहीं, अपितु सटीक उपमा योजना का भी श्रेय मिलता है।

समुद्रगुप्त का संराण शिलालेख<sup>२</sup> आद्योपान्त एक पद्यकृति ही है। इसका प्रथम छन्द पूर्णखण्डित है, द्वितीय छन्द का भी केवल अर्द्धांश ही शेष है, अन्य सभी छन्द वसन्ततिलका में हैं। प्रथम छन्द के खण्डित स्थान में समा सकने वाली वर्णों के अनुमान पर कहा जा सकता है कि वह भी वसन्ततिलका छन्द ही है। द्वितीय छन्द को भी वसन्ततिलका कहने में उसका अर्द्धांश प्रमाण है।

चन्द्रगुप्त (द्वि०) के सचिव कोत्सशशाब वीरसेन-रचित उदय-गिरि गुहालेख में पाँच अनुष्टुप् छन्द हैं। इन श्लोकों का गठन और रचना-शिल्प पौराणिक परम्परा का पोषक है। मेहरौली<sup>३</sup> लेख में तीन शार्दूल-

१. सि० इ०, भाग १ पृ० १८०-१८१

२. का० इ०, भाग ३, संख्या २

३. वही, संख्या ३२

विक्रीडित हृन्द हैं । ये सभी हृन्द अंजोगुणोपेत एवं उदात्त हैं । कुमारगुप्त के विलसद स्तम्भलेख<sup>१</sup> के प्रथम हृन्द (स्रग्धरा) में ललितपदों का सुन्दर गुंफन है । स्कन्दगुप्त के विहारस्तम्भ लेख<sup>२</sup> का पद्यभाग बहुत खण्डित है ।

फिर भी उदात्त रचनाबन्ध के लिए यह कृति विशेष महत्वपूर्ण है । भितरी लेख<sup>३</sup> में भी यही बात है । स्कन्दगुप्त के वीरकृत्यों का वर्णन करने के कारण<sup>इस</sup> कृतिका उदात्त जोना स्वाभाविक ही है । इस लेख में बारह पद्य हैं । प्रथम पुष्पिताग्रा है । दूसरे से लेकर छठे तक सभी श्लोक मालिनी हृन्द में हैं । सात-आठ संख्या वाले श्लोक मालिनी हृन्द में हैं शार्दूलविक्रीडित हैं तथा नौ से बारह तक चार हृन्द अनुष्टुभ् हैं । इस लेख के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिलेखीय पद्य भी अब तक बाह्य शृंगार सौष्ठव की ओर प्रवृत्त होने लगा था । शब्दसाम्य, शब्दैकदेशसाम्य और अनुप्रासों का विशेष अन्वेषण होने लगा था —

प्रथितपृथुमतिस्वभावशक्तेः

पृथुयशसः पृथिवीपतेः पृथुश्रीः ।

पितृपरिगतपादपद्मवती

प्रथितयज्ञाः पृथिवीपतिः सुतो ( S ) यम् ॥ (श्लोक ३)

जहाँ वीरता का विशेष वर्णन करने के लिए कवि प्रवृत्त होता है, वहाँ, स्वाभाविक रूप से वह शार्दूलविक्रीडित हृन्द का आश्रय ले बैठता है: — 'हूणोर्यस्य समागतस्य समरे दोम्यांधराकम्पिता' (श्लोक ८) । इस अभिलेख के अन्तिम बार हृन्द मूल प्रयोजन सम्बन्धी अतः वर्णनात्मक हैं । ऐसे स्थल के लिए अनुष्टुभ् हृन्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है । कवि ने यहाँ अवसरानुकूल ही कार्य किया ।

स्कन्द के जूनागढ़ अभिलेख<sup>४</sup> में ४७ पद्य हैं । शार्दूलविक्रीडित एवं स्रग्धरा सरीखे बड़े हृन्दों का इसमें अभाव है । कवि ने छोटे-छोटे लोकप्रिय एवं सरल हृन्दों की ओर ही अपनी आग्रहशीलता दिखलाई । विशेष उल्लेखनीय हृन्दों में अर्द्धसममालभरिणी या वैतालीय ओपच्छन्दसिक है । लौकिक

१: का०६०ई०, भाग ३, संख्या १०

२: वही, भाग ३, संख्या १२

३: वही, संख्या १३

४: वही, संख्या १४



संस्कृत साहित्य में इस छन्द के उदाहरणस्वरूप किरातार्जुनीयम् का ३१।१ संख्यक श्लोक द्रष्टव्य है । जूनागढ़ लेख में उपजाति का प्रयोग मन्द्रह बार हुआ है — (श्लोक ५, १३-१५, १७-२०, ३२-३७ तथा ४०) । चालीसवें पद्य को छोड़कर सभी इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मिश्रितरूप हैं । चाली-सवां पद्य वंशस्थ एवं इन्द्रवंश का मिश्रण है ।

गुप्त वर्षा १०ई के उदयगिरि लेख<sup>१</sup> में इन्द्रवज्रा (श्लोक १, ३) उपेन्द्रवज्रा (श्लोक ५), प्रयुक्त हैं । उल्लेखनीय रुचिरा छन्द भी है —

सुकांतिके बहल-दिने(ऽ)थ पंचमे

गुचामुखे स्फुट (स्फुट) विकटोत्कटामिमाम् [I]

जितद्विषां जिनवर-पार्श्वसंज्ञिकां

जिनाकृतिं शमदमवानचीकरत् ॥ (श्लोक २)

रुचिरा छन्द (ज, भ, स, ज, ग) लौकिकसंस्कृत साहित्य में भी धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगा था । प्रथम सदी ई० में स्वयं अश्वघोष ने इसका प्रयोग किया ।<sup>२</sup> इस लेख के समय (१०ई गु० संवत्—३१६= ४२५ई०) में कालिदास जीवित रहा होगा, जिसके मालविकाग्निमित्र नाटक में यह छन्द प्रयुक्त है ।<sup>३</sup>

छन्द प्रयोग के दृष्टिकोण से पाँचवीं शताब्दी के अन्य प्रसिद्ध अभिलेखों में विश्ववर्मन् कालीन गंगाधर शिलालेख<sup>४</sup> एक है । इस लेख में शार्दूलविक्रीडित (श्लोक १६-२०, २२, २४) और मन्दाक्रान्ता (श्लोक २३, २५) का बड़ी कुशलता से प्रयोग हुआ है, किन्तु इस लेख का सर्वाधिक प्रिय छन्द वसन्ततिलका है, जो इस छोटे से लेख में उन्नीस बार आया है (श्लोक १-१८, २१) ।

पाँचवीं शताब्दी के अन्य प्रमुख अभिलेखों में वत्सभट्ट रचित मन्द-सौर लेख<sup>५</sup>, कवि कुब्ज प्रणीत (कदम्ब शान्तिवर्मन् का) तालगुण्ड शिलालेख<sup>६</sup>

१. का०६०६०, भाग ३, संख्या ६१

२. ३०-बुद्ध०, ३-६४ तथा ६५, वही १२-१२१

३. माल०, ४-१३

४. का०६०६०, भाग ३, संख्या १७

५. वही, संख्या १८

६. ए०क००००, भाग ७, पाठ्य पृ० २००-२०२

तथा कवि प्रमरसोम कृत (गौरी का) छोटी साद्री लेख<sup>१</sup> महत्वपूर्ण है । इनमें सप्रयत्न लिखे गए (पूर्वां चैयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना—श्लोक ४४) मन्दसौर लेख में विविध कन्दों का गुम्फन हुआ है, फिर भी श्लोक संख्या ३३ एवं ३६ के यतिभंग काव्यमर्मज्ञों को कष्टकर प्रतीत होते हैं । संयोग से दोनों की आर्या कन्द हैं । सब मिलाकर इस अभिलेख में बारह कन्द हैं — शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, द्रुतविलम्बित, हरिणी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, आर्या, और अनुष्टुभ् । इन कन्दों में सर्वाधिक प्रयुक्त कन्द वसन्ततिलका है — (श्लोक ३, ५-६, ११, १४, १८, २०, २२, २५, २७, ३०-३२ तथा ४०) । सरल, सुबोध एवं भावप्रचुर कन्दों का ज़ापा-ज़ापा परिवर्तन, इस लेख को विशेष आकर्षक बना देता है । समास-बहुल शैली से भी कवि पूर्ण परिचित था ( श्लोक ३२-३३ ) । वत्सभट्टि सामान्यतः कोमल पदावली की ओर ही प्रवृत्त दिखाई देता है, किन्तु शौर्यादि के उदात्त प्रसंगों में समयानुकूल की वह कठोरवर्णों के चयन का खसर नहीं चूकता, जैसे —

‘द्विह्वृप्तपद्माक्षपणक[द]जाः’ (श्लोक २६) । कवि का वर्णन कौशल भी अपनी विशेषता लिए हुए है । मंगलाचरणपरक तृतीय श्लोक में उदयाचल के विस्तीर्णतुंग शिखर में स्वलितांशुजालसूर्य का वर्णन, श्रोताओं की आँखों में सूर्योदय का एक मनोरम चित्र उपस्थित करने में सर्वथा समर्थ है । तुंग शिखरों वाले उदयाचलेन्द्र में निर्मित सूर्यमार्ग<sup>२</sup> समतल कैसे हो सकता है, इसलिए विषम मार्ग में गतिशील रथ में बैठे सूर्य के किरणभाण्ड का क्लकना स्वाभाविक है ।

दशपुर के भवनों के लिए धरां विदायुर्यैव समुत्थितानि<sup>३</sup> (श्लोक १२) कल्पे में भी कवि की एक सजीव कल्पना है, जो उन भवनों को अमानुषी रचना सी सिद्ध कर देती है । इसी लेख में दो नदियों से आलिङ्गित दशपुर का समासोक्तिपरक तथा आलम्बनात्मक वर्णन दर्शनीय है —

यद्भात्यभिरम्य सरि(द्)द्वयेन चपलोर्मिणा समुपगूढं [।]  
रहसि कुचशालिनीभ्यां प्रीतिरतिभ्यां स्मरांगमिव ॥

— ( श्लोक १३ )

‘जो दशपुर अभिरम्य दो नदियों के द्वारा चंचल उर्मियों से ऐसा जकड़ कर आलिंगित हुआ कि जैसे सुस्तनी प्रीति और रति द्वारा अंग का अंग गाढालिंगित हो ।’ यहाँ ‘रहसि’ शब्द में भारतीय संस्कृति की रक्षा के साथ शृंगार के लिए उद्दीपक वातावरण भी सुरक्षित है । अभिरम्य विशेषण में नदीरूप रमणियों की कमनीयता की ओर भी स्पष्ट संकेत है । ‘उपगूढ’ का ‘सम्’ उपसर्ग आलिंगन में जकड़न भी भर देता है । यही जकड़न कामोत्तेजना की अन्तिम सीमा है । इस गाढ आलिंगन की क्रिया के लिए नदियों की उर्मियाँ, उपमान रूप प्रीतिरति की चंचलबाहों में रूपान्तरित हैं । परिरम्भण के आनन्दमय कष्ट को तूल की सी कोमलता प्रदान करने के लिए कवि ने प्रतिरति को ‘कुचशालिनी’ कहा है । कामदेव की दो पत्नियाँ हैं, प्रीति और रति । ‘प्रीति’ भूमिका है और ‘रति’ परिणाम । मदन-दहन की पूर्वकल्पना में आलिंगन को आधार देने के लिए वत्सभट्टि ने यहाँ सार्थक अंग (स्मरांग) शब्द रखा है । सचमुच उसका पद्यबन्ध महा-कवियों जैसा है ।

सूर्यमन्दिर के चिरस्थायित्व की मंगलकामना के प्रसंग में भी कवि की कोमलकल्पना एक अलौकिक दृश्य उपस्थित करती है —

अमलिन-शशिलेखा-दन्तुरं पिंगलानां  
परिवहति समूहं यावदीशोजटानां ।  
वि[-कच-क-]मल मालामंससक्तां च शांगीं  
भवनमिदमुदारं शाश्वतन्तावदस्तु ॥ (श्लोक ४३)

जब तक शिव शुभ्रचन्द्रकला से पीत नतोल्लत जटासमूह को सँवारते हैं, तथा जब तक भगवान् विष्णु अपने अंसप्रदेशों पर विकसित कमलमाला को धारण करते हैं, तब तक यह (सूर्य) मन्दिर स्थायी रहे । यहाँ चन्द्रकला से पीत जटासमूह एक चित्रात्मक वर्णन है । इसी भाँति प्रकृति तथा वस्तुवर्णन (श्लोक ६-१३) तथा ऋतुवर्णन (३१-३३; ४०-४१) में भी वत्सभट्टि इस कौटी कृति में भी अपने को महाकवि सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है ।

अपनी सन्निप्ता सीमाओं में कविकुब्ज विरचित तालमुण्ड लेख का वर्णन वैसे ही है, जैसे अपने पूर्णविस्तार में रघुवंश का । कदम्बवंश का उद्भव और शान्तिवर्मा तक उसका क्रमिक विकास ही इस लेख का वर्ण्यविषय है । ३४ पद्याँ वाले इस लेख में सात प्रकार के छन्द हैं । प्रचलित छन्दों में पुष्पिताग्रा (श्लोक २५-२६), वसन्ततिलका (श्लोक २७, ३०-३१, ३४),

शार्दूलविक्रीडित (श्लोक २८), मन्दाकान्ता (श्लोक २९) एवं इन्द्रवज्रा (श्लोक ३२) हैं। विशेष उल्लेखनीय छन्द मिश्रगण-गीतिका (मात्रासमक-विशेष) है, जिसका इस लेख में सबसे अधिक आश्रय लिया गया है (कू०—श्लोक १-१४)। मात्रा-समक के इस प्रकार विशेष में प्रत्येक पाद में १५-१५ मात्राएँ हैं। पूरे श्लोक में ६० मात्राएँ होती हैं —

‘कलियुगे ( ८ )—स्मिन्नहो बत दात्रात्परिपेलवा विप्रता यतः’  
— (श्लोक ११)

संयुक्त वर्ण का पूर्ववर्ती वर्ण यदि इस्व भी हो तो उसे दीर्घ माना जाता है — संयुक्ताद्यं दीर्घं, क्योंकि उसे आने वाले संयुक्त वर्ण के उच्चारण की ठोकर सहनी पड़ती है। किन्तु कवि कुब्ज ने अधोलिखित उदाहरण में इस नियम की उपेक्षा की है —

‘विषम[दे] श-प्रयाणासंवेशरजनीष्ववस्कन्दभूमिषु ॥’  
— (श्लोक १७)

यहाँ ‘देश-प्रयाण’ में ‘श’ को दीर्घ माना जायेगा जब कि कवि ने उसे ‘इस्व’ ही समझा, जो कि दोषपूर्ण है। इसी प्रकार २४ वें पद्य के —  
‘कुल - प्र[च्छन्न]’ में संयुक्ताकार ‘प्र’ से पूर्ववर्ती होने के कारण ‘ल’ को दीर्घ मानना ही नियमानुकूल है, किन्तु कवि कुब्ज ने यहाँ भी उसे इस्व ही माना। इसी छन्द के ‘सगरमुख्य[स्व]यं’ में ‘मुख्य’ के कारण छन्द में अनावश्यक एक मात्रा बढ़ जाती है। यदि सरकार मञ्जुदय के सुफाव के अनुसार<sup>१</sup> ‘मुख्य’ के स्थान पर ‘मुख’ का ही प्रयोग किया जाय, तो एक मात्रा कम करके छन्दो दोष का परिहार हो सकता है। श्रैताओं की त्रुटियों से अपने ‘काव्य’ को बचाने के लिए कुब्ज कवि को स्वयं ही हेनी उठानी पड़ी — ‘कुब्जस्वकाव्यमिदमश्मतले लिलेख ॥’ (श्लोक ३४)। ऐसी स्थिति में इक्कीसवें पद्य में लिखे गए — ‘प्रेहरान्तामनन्यसंचरणा’ — इस तृतीय चरण में सोलह मात्राएँ होने की त्रुटि को कवि पर ही जायेगा; क्योंकि कतिपय स्थलों में श्रैता को ही दोषी ठहराया जाता है। यहाँ

तो कवि की श्रुति है । 'प्रेक्षा', कृष्णानदी की एक सहायक नदी है, जिसका दूसरा नाम 'महाप्रक्षा' भी है । यदि, कवि यहाँ महा विशेषण को हटाकर 'प्रक्षा' ही रखने देता, तो उसकी कृति छन्द दोष से बच जाती ।

तालगुण्ड लेख में चण्डवैगाण्वि(दण्डकप्रचित चण्डवैग) छन्द केवल एक ही है (श्लोक ३३) । दण्डक छन्द के अनेक भेद हैं । २७ से अधिक अक्षर यदि एक पाद में हों, तो ऐसे पादों वाले छन्द का सामान्य नाम दण्डक है ।<sup>१</sup> प्रस्तुत छन्द में ३०-३० अक्षरों का एक-एक पाद है । नियमानुसार प्रत्येक चरण के प्रारम्भ में दो नगण भी आते हैं ।

गौरी के ४६१ ईसवीय छोटी साद्री लेख<sup>२</sup> का कवि भ्रमरसोम, अपने भावपदा के समानान्तर कलापदा का निर्वाह नहीं कर पाया । उसे व्याकरणा का भी बहुत <sup>कम</sup> ज्ञान था । उसकी भावप्रवणता पर कुछ सन्देह नहीं, किन्तु पिंगलशास्त्र और व्याकरणा शास्त्र के ज्ञान के सम्यक् अभाव के कारण वह अपने साथ अभिलेखीय कवियों की सारी पंक्ति को भी दूषित कर गया । छन्दोदोषों के कारण उसकी पंक्ति-पंक्ति बोझिल है, जैसे -- तेषामयं ज्ञापित-ज्ञात्र-गणारि-पदा [ : ] (श्लोक ४)। यहाँ 'ज्ञापित' का 'ते' लघु माना गया है, जबकि 'ज्ञात्र' से पूर्ववर्ती होने के कारण 'संयुक्ताद्यं दीर्घ' के नियम से उसे दीर्घ माना जाना चाहिए था । छठे पद्य में 'इति प्रोद्धत' में 'इति' के 'ति' को लघु माना गया है । तद्वत् छन्द सं० ३, ७ भी समान दोष से दूषित हैं । इसके विपरीत 'यस्य सरसु' (वसन्ततिलका ) में 'यस्य' के 'स्य' को छन्द की आवश्यकता को देखकर दीर्घ ठहराया गया है, जबकि पिंगल शास्त्र की दृष्टि से वह स्पष्ट ब्रह्म है । बारहवें छन्द शार्दूलविक्रीडित के 'मम अक्षयं' स्थान पर विसन्धित्व दोष है । व्याकरणा की दृष्टियाँ भी पदे-पदे अक्षरती हैं । चतुर्थ पद्य में 'चारुवज्रा : ' के स्थान पर यदि भ्रमरसोम शुद्ध 'चारुवज्राः' कर देता तो व्याकरणा की रक्षा के साथ छन्द पर भी कोई आँच न आती 'यशस्' को वह मात्र 'यश' समझता है, तभी तो इसकी कविता में यशोध

१. आप्टे-सं० ३० डिक्शनरी, पृ० ६५६ (परि०)

२. सं० ३०, भाग ४, पाठ्य पृष्ठ, १२४-१२६

(श्लोक ४), यजामरणा (श्लोक ८) यज्जगुप्त (श्लोक ८) आदि गलत प्रयोग मिलते हैं। 'वज्रास्' का षष्ठी में 'वज्रासः' रूप जाता है, किन्तु कवि भ्रमरसोम ने इसे 'वज्राः' रूप दिया (श्लोक ६)। 'समगत्' गम् का कोई रूप नहीं इसे अगमत् जोना चाहिए था और इस प्रकार 'दिवसे समगत्' के स्थान पर 'दिवसे त्वगमत्' होता, तो उचित रहता। अन्यान्य व्याकरणा के दोषों से भी लेख सामान्य कविता स्तर से बहुत नीचे लुढ़क गया है।

छठी शताब्दी की पद्य योजना अपेक्षाकृत अधिक आलंकारिक एवं काव्यशास्त्रीय पद्धति पर अग्रसर होती हुई प्रतीत होती है। यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) के मन्दसौर लेख<sup>१</sup> में जो ५३२ ई० का है, हमें एक कृत्रिम शैली के दर्शन होते हैं। किस प्रकार के छन्द कैसे अवसरों में प्रयुक्त करने उचित होंगे, इस तथ्य के प्रति भी कवि विशेष सजग है। प्रस्तुत लेख में पुष्पिताग्रा (श्लोक १), जिह्वारिणी (श्लोक २, २३), मालिनी (श्लोक ३, ५, ११, १३, १७-१८, २०-२२, २६), उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा, श्लोक ४, १२), वसन्ततिलका (श्लोक ६-७) शार्दूल विक्रीडित (श्लोक ६), सुग्धरा (श्लोक ८, १६, २७), इन्द्रवज्रा (श्लोक १०), मन्द्राकान्ता (श्लोक २५), शालिनी (श्लोक २८), आर्या (श्लोक २४) एवं अनुष्टुभ छन्दों (श्लोक १४-१६) का बड़ी कुशलता से प्रयोग हुआ है। छन्दों के वैविध्य से भले ही यह निष्कर्ष निकाला जाय कि कवि छन्द-चातुरी प्रदर्शन सम्बन्धी लोभ से ग्रस्त था, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने जिस छन्द का भी निर्वाचन किया, उसमें अपनी पूर्ण सिद्धहस्तता दिखाई। वर्णन सौष्ठव भी देखते ही बनता है। प्रथम ही छन्द में पिनाकी की दन्तकान्ति का वर्णन कवि की अत्यन्त सूक्ष्म कल्पना का परिचायक है। स्मित, रत्न, गीति में यही दन्तकान्ति समग्र विश्व को प्रकट और तिरहेहित कर रही रहती है। तृतीय श्लोक में भी मंगलाचरणा है। इसमें कवि की सूझ एवं काव्य प्रतिभा दर्शनीय है, इस कारण यह श्लोक लौकिक संस्कृत साहित्य के किसी भी कवि को ललकार सकता है—  
फणा की मणियाँ के गुरुभार के कारण अधिक दूर तक नत, जिसके मस्तक का प्रकाशमण्डल, शीर्षस्थ चन्द्र-मण्डल को भी स्थगित कर देता है,

जो ह्रिद्रमयी (रन्ध्रिणी) अस्थिमाला को पिरोने के लिए ढोर का कार्य करता है, ऐसा वह संसार की रचना करने वाले<sup>१</sup> शंकर के मस्तक का सर्प आप लोगों के दुःखों को दूर करे ! यहाँ सर्प के उत्फुल्ल होने का प्रयास, किन्तु फणामणियों के भार के कारण उसकी दूर तक विनत होने की विवशता, फिर मस्तक में अत्यधिक प्रकाश के कारण चन्द्रमण्डल के पूर्णतः न उभर पाना—ये मनोरम वर्ण उर्वर कल्पना के ही परिणाम हैं । शब्दचयन के दृष्टिकोण से भी 'स्थगयति' एवं 'रन्ध्रिणी' आदि शब्द सार्थक और अनुरूप हैं । प्रस्तुत लेख, निर्दोष नामक कूप का निर्माण सम्बन्धी स्मारक लेख है । इस प्रसंग में कवि की सूक्त का एक उदाहरण यह भी है कि वह कूपनिर्माता के यश की रक्षा-प्रार्थना उस समुद्र से ही करता है, जो इसी तरह साठ हजार सगरसुतों के द्वारा खोदा गया था और जो आकाश की नीली शोभा को धारण करता है । (श्लोक ४ )

पराक्रमी यज्ञोधर्मन् के शौर्य का वर्णन करने में कवि ने गूँजते हुए समर्थ शब्दों से समन्वित शार्दूलविक्रीडित ह्रन्द को निर्वाचित किया (श्लोक ६) कूप निर्माता 'ददो' के चाचा (पितृव्य) 'अभ्यदत्ते' की मृत्यु के वर्णन प्रसंग में शिखरिणी ह्रन्द की नियुक्ति श्रोताओं के शोकभाव को उद्बुद्ध करने में सर्वथा समर्थ है (श्लोक २३) । मन्दाक्रान्ता ह्रन्द प्रावृट् प्रवास व्यसन के चित्रण के लिए अतीव उपयुक्त सिद्ध हुआ है ।<sup>२</sup> इस लेख के कवि ने भी वसन्तकाल में प्रेषितपतिकाओं की विरहव्याध वर्णन में मन्दाक्रान्ता ह्रन्द ही नियोजित किया (श्लोक २५) । सम्भोग शृंगार के लिए कवि ने मालिनी ह्रन्द को उपयुक्त समझा (श्लोक २६) ।

इस अज्ञात कवि (कदाचित् वासुल ? ) के ह्रन्दों की एक विशेषता नादसौन्दर्य-प्रचुर भावानुसारी शब्दयोजना भी है, उदाहरणार्थ—

- क्लेशभंग भुजंग : (श्लोक ३)
- वृणक्सलयभंगेयौगंधूषां विधत्ते (श्लोक ५)
- राजवन्तो रमन्ते भुज-विजित भुवा भूरयो येन देशाः (श्लोक ८)
- गङ्गस्तुङ्गनप्रप्रवाहः (श्लोक ११)

अथवा—

— यावत्तुङ्गेरुदन्वान्किरणसमुदयं संगकान्तं तरंगै—

१. भवसृष्ट मूलतः ब्रह्मा का पर्याय है, किन्तु यहाँ शिव के अर्थ में व्यवहृत है ।

२. सुवृ०, ३।२१ (क्षेत्रेन्द्र)



रालिंगनिन्दुबिम्बं गुरुभिरिव भुजैः संविधते सुहृताम् ।

—(श्लोक २७)

सैन्यगर्जन द्वारा विन्ध्य-कन्दराओं में हुई प्रतिध्वनि का नाद-  
सौन्दर्यपूर्ण वर्णन, कवि के कुशल शब्दशिल्पत्व का प्रमाण है —

—उद्धूतेन वनाध्वनिध्वनिनदद्विन्ध्यादिरन्ध्रेर्बतैः ।

— (श्लोक ६)

अथवा उपमानभूत उध्वरों का धधकता हुआ वर्णन—

—धुतधीदीधितिध्वान्तान् हविर्भुज इवाध्वरान् .

— ( श्लोक १५ )

या भृंगगुंजन के लिए प्रयुक्त नादप्रचुर—ये शब्द—

— भृंगलीनां ध्वनिरनुवनं भारमन्द्रश्च यस्मिन्

—(श्लोक २५)

यशोधर्मन के दो अन्य लेख<sup>१</sup> भी मन्दसौर में ही प्राप्त हुए हैं ।

द्वितीय लेख प्रथम की ही खण्डित प्रतिलिपि है । इनका रचयिता कवि  
वासुल है (श्लोक ६ ) । प्रथम लेख, क्योंकि पूर्ण और अखण्डित रूप में उपलब्ध  
है, इसलिए यहाँ वही विवेच्य है । इसमें सब मिलकर नौ पद्य हैं । प्रथम आठ  
स्रग्धरा और अन्तिम अनुष्टुभ है । शौर्य और वीरता पूर्ण वर्णन के लिए  
स्रग्धरा का गठन आकर्षक और प्रभावोत्पादक है ।

मिहिरकुल के ग्वालियर लेख<sup>२</sup> में तेरह कन्द हैं—दो मालिनी  
(श्लोक १-२), दस आर्या (श्लोक ३-१२) और एक शार्दूलविक्रीडित (श्लोक १३)  
अन्तिम कन्द में द्वितीया एक-वचन 'अर्य' के स्थान पर 'अ्री' का प्रयोग  
अशुद्ध है । भाव एवं कला के दृष्टिकोण से अन्य पद्यों का स्तर सामान्यतः उचित  
है । सूर्य ( श्लोक १-२ ) एवं शरद् वर्णन कवि की सूक्ष्म दृष्टि के परिचा-  
यक हैं ।

५२४ ईसवीय, कदम्ब रविवर्मन् का देवगिरे शासन-पत्र<sup>३</sup> आद्योपान्त

१. (प्रीट) का० ई० ० ई० ०, भाग ३, संख्या , ३३ एवं ३४

२: का० ई० ० ई० ०, भाग ३, संख्या ३७

३. ए० ई० ०, भाग ३३, पृ० ८७-६२

कृन्दोद्बद्ध है । परम्परागत प्रशंसागर्भ और शापवेदिन् श्लोकों के अतिरिक्त इसमें अठारह अनुष्टुप् (श्लोक २-१६), एक प्रहर्षिणी (श्लोक १) और एक वसन्ततिलका है (श्लोक २०) । इस कृति का कवि शब्दसाम्य और अनुपास के प्रति विशेष समुत्सुक प्रतीत होता है —

- सर्वज्ञस्सजयती (ति)सर्वलोकनाथः (श्लोक १)
- काकुस्थ (त्स्थ) तुल्य काकुस्थो (त्स्थो) (श्लोक २)
- मृगेशस्तस्य तनयो मृगेश्वरपराक्रमः ॥ (श्लोक ३)
- विष्णुर्द्वैत्यजिष्णुर्यं स्वयम् (श्लोक ५)
- वैजयन्ती चतुर्विचित्रवैजयन्ती विराजते (श्लोक ८)
- राजमानेन मानेन (श्लोक १७)

शासन पत्र होने पर भी काव्यमय अभिव्यक्ति इस लेख की एक विशेषता है :—

‘स्मित ज्योत्स्नाभिषिक्तेन वचसा प्रत्यभाषत (श्लोक १३)

स्वामिभट्ट का देवगढ़ शिलालेख<sup>१</sup> (छठी शताब्दी) में कलापदा, भावपदा से आगे बढ़ गया है । कवि ‘जात’ अपनी पद्य-योजना में शब्दावृत्ति और अनुपास के प्रति आवश्यकता से अधिक रुचि केन्द्रित करने के कारण भावों का यथोचित सम्मान न कर सका —

- मातृणां लोकमातृं (तृ)णां (श्लोक १)
- केशवः केशवेन तुल्यो (श्लोक ३)
- “स्थैयसीं स्थायिधर्म्मि” (वही)
- “मानोत्तुंगा सन्ततिं यस्ततान” (वही)

जहाँ तक कृन्दों के निर्वाचन का प्रश्न है, यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि कवि ने अपने काव्य सामर्थ्यमेही कृन्दों पर अपनी दृष्टि स्थिर की । सात पद्यों वाले देवगढ़ लेख में चार प्रकार के कृन्द प्रयुक्त हैं — अनुष्टुप् (श्लोक १, ४, ६, ७), त्रियाँ (श्लोक २), मालिनी (श्लोक ३) और शिखरिणी (श्लोक ५) । शिखरिणी कृन्द को कवि जात ने अपने शब्दचित्र का वाहन बनाया ---

स्फुरत्स्वच्छायाच्छुरितसक- (लाशा) न्मुखपथान्  
 प्रथि- (पथि)- प्रायः प्राप्तान्नि [ द ] शपुरभाजामपि पुरः [ 1 ]  
 प्रसक्तव्यक्तः संक्षुभ इव शशांकस्य किरणान्  
 कलिर्यस्या [ गणायान्स्थ ] गयति न तुंगान्गुणगणान् ॥

— (श्लोक ५ )

महानामन् के ५८८ ईसवीय बोधगया लेख<sup>१</sup> में एक अनुष्टुभ  
 (श्लोक ५), दो आर्या (श्लोक , ४, ८ ), तीन स्रग्धरा (श्लोक १, ७, ६)  
 और तीन शार्दूलविक्रीडित (श्लोक २, ३, ६) छन्द हैं । कविता का स्तर  
 सामान्यतः उच्च है ।

वाकाटक हरिषेण का अजन्ता लेख<sup>२</sup> स्थल-स्थल पर पर  
 खण्डित है । इस विवशता के कारण कवि की काव्यकला और पद्य-साधना  
 के विषय में दृढ़तापूर्वक कहना कठिन है । वैसे, बत्तीस पद्यों वाले इस अभि-  
 लेख में सामान्यतः लोकप्रिय छन्द ही प्रयुक्त हैं । उल्लेखनीय छन्दों में  
 मात्रासमक का प्रकार-विशेष (श्लोक ६-६ ) और (अर्द्धसममालभारिणी)  
 आपच्छन्दसिक (श्लोक १७, १६, २१, २३, २७-२८ ) हैं ।

कवि रविशान्ति ने ईशानवर्मन् के हरहे अभिलेख<sup>३</sup> में शार्दूल-  
 विक्रीडित का तेरह बार बड़े अधिकार और सफलता के साथ प्रयोग किया  
 है । अन्य छन्दों में उपजाति, इन्द्रवज्रा, मालिनी, स्रग्धरा, द्रुतविलम्बित,  
 अनुष्टुभ हैं । प्राकृत काव्यों के प्रभाव से इस लेख में एक 'गाथा' छन्द भी  
 आया है । अभिलेखीय संस्कृत साहित्य में इस छन्द का प्रयोग एक  
 पञ्चपूजा घटना है ।

सातवीं शताब्दी के सुदृढ़ वृद्धा की दशक-शाखाओं पर प्रसृत  
 अभिलेख साहित्य वैलि की सान्द्रसुरभि का अध्ययन, 'पल्लव'-भूमिका से  
 करना उचित प्रतीत होता है । इस समय जहाँ पल्लव-वास्तु-कला अपने पूर्ण  
 यौवन पर रही, वहाँ अभिलेख भी प्रचुरता से उत्कीर्ण हुए । वस्तुतः वास्तु-

१. का०इ०इ०, भाग ३, संख्या ७१

२. इ० के०टे०वे०इ०, पाठ्य पृ० ६६-७१

३. हि०लि०इ०, पृ० १४१-१४४

कला की अभिव्यक्ति मन्दिर-पगोडाओं और स्तम्भों ने ही अभिलेखों के लिए आधारभूत लेखन सामग्री का कार्य किया, — जैसे सातपगोडाओं के छन्दोबद्धलेख<sup>१</sup> अथवा राजसिंह नरसिंह वर्मन (द्वि०) का महाबलीपुरम् लेख<sup>२</sup>। इस द्वितीय लेख<sup>३</sup> में <sup>द्वितीय</sup> छन्द (वसन्ततिलका) को छोड़ कर शेष पद्य, विष्णुसहस्रनाम के अनुकरण पर नृपति के संगृहीत विरहदों के छन्दोबद्धरूप हैं। पनमनह लेख<sup>४</sup> अपने वर्णन सौष्ठव और काव्यशिल्प के लिए अवश्य उत्कृष्ट कृति है। इसमें स्रग्धरा (श्लोक १-३, ६) वसन्ततिलका (श्लोक ४) और इन्द्रवज्रा (श्लोक ५) प्रयुक्त हुए हैं। राजसिंह (द्वि०) के वायलूर स्तम्भलेख<sup>५</sup> में वंशावली परिगणन के पश्चात् जो दो छन्द (वसन्ततिलका और स्रग्धरा) राजसिंह की प्रशंसा में लिखे गए हैं, सुन्दर और सरल हैं। त्रिचनापल्ली के समीपवर्ती गुहास्तम्भोत्कीर्ण एक लेख में शिवलिंगस्थापना के प्रसंग में कवि ने न्यायदर्शन के अर्थ से लिंग<sup>(एक)</sup>(वचन) शब्द के प्रयोग में श्लेष का चमत्कार दिखाया — “गुणभरनामनि राजन्यनेन लिंगेन लिंगिनि ज्ञानम् ।

प्रथितांचिराय लोकेविपद्गवृत्तेः परावृत्तम् ॥<sup>५</sup>”

इसी लेख के तृतीय छन्द में मन्दिरयुक्त इस शैल को चोल-विषय का मौलि, मन्दिर को मौलि में ग्रथित महामणि तथा शार्करज्योति को इस महामणि की ज्योति कह कर एक अभिनव अर्थ का प्रतिपादन किया गया। एक सजीव कल्पना इस क्रम के ३४ वें लेख<sup>६</sup> में भी दर्शनीय है। — शिव ने प्रेम-पूर्वक कहा कि मैं चोलराजाओं की विभूति एवं कावेरी नदी की छटा, पृथ्वी के धरातल पर बने हुए मन्दिर में रह कर कैसे देखूँ ? — बस फिर क्या था ! मनु सदृश शासक इस पल्लव नृपति ‘गुणभर’ ने शिव के वचन सुनते ही उन्हें बादलों को कूने वाले मन्दिर में स्थापित कर दिया; ताकि वे चोलविभूति एवं कावेरी की छटा को देख सकें (श्लोक ३) — कितनी अद्भुत कल्पना है। छन्दोयोजना की दृष्टि से इस लेख (३४ वें) में वसन्ततिलका (श्लोक १ एवं ४), आर्या (श्लोक २ एवं शिखरिणी (श्लोक ३) का प्रयोग हुआ है।

१. संख्या २०, ए०ई०, भाग १०, पृ० ८-९; संख्या २३, हिलि०ई०, पृ० १२२-१२३; संख्या २४, वही, पृ० १२३-१२४ आदि।

२. ए०ई०, भाग १६, पृ० १०५-१०६

३. वही, भाग १६, पृ० १०६, ११५

४. ए०ई०, भाग १८, पृ० १४५-१५२

५. सा०ई०ई०, भाग १, सं० ३३, श्लोक २

६. सा०ई०, ई०, भाग १, पृ० ३०

‘जाति’ के अन्तर्गत आने वाले अनेक छन्दों के प्रयोग में यहाँ कूरम शासन-पत्र<sup>१</sup> (संशोधित पाठ्य) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह पत्र पल्लवनरेश पर-मेश्वर-वर्मन् (प्र०) का है। अकेले इस संशोधित पाठ्य में ही आर्या (श्लोक ५-६ आदि), सुगीति (श्लोक १०), आर्यागीति (श्लोक ११, १६-१६), गीति (श्लोक १३, २०, २४), प्रगीति (श्लोक १२) का बड़ा कुशल प्रयोग हुआ है। ये मात्रिकवृत्त हैं, जिनकी मात्रा व्यवस्था इस प्रकार है — आर्या (मात्रा ३०-२७), सुगीति (मात्रा ३२-२७), प्रगीति (मात्रा ३२-३२), गीति (मात्रा ३०-३०), प्रगीति (मात्रा ३०-२६)। इसी लेख का पन्द्रहवाँ छन्द ललिता (मात्रा ३०-३२) है। स्पष्टतः यह मात्रिक छन्द है, जो कि वणिक ‘ललिता’ छन्द<sup>२</sup> (त, म, ज, र) से सर्वथा भिन्न है। इन विविध छन्दों के कारण इस शासन पत्र का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है।

रविकीर्तिप्रणीत रेहोल शिलालेख<sup>३</sup> सातवीं सदी की प्रयत्नसाध्य छन्दोयोजना का प्रतिनिधिलेख है। ३७ पद्यों वाले रेहोललेख में सत्रह छन्द गुम्फित हैं, जिनमें एक ‘आर्यागीति’ (श्लोक ३७) भी है। पद्यों में अतिशय आलंकारिकता भारवि की देन है। कवि रविकीर्ति ने अपने अभिलेख में उसके प्रभाव को सादर ग्रहण किया है। भारवि ने किरातार्जुनीय का पन्द्रहवाँ सर्ग चित्रकाव्य प्रदर्शन के लिए सुरक्षित किया। अपने लेख की छोटी सीमा में रविकीर्ति को पाण्डित्य प्रदर्शन का अधिक अवसर न मिला; फिर भी २७ वें श्लोक में द्विचतुर्थ यमक की योजना करने में वह भारवि की आंशिक स्पर्द्धा कर सकता है :—

पिष्टं पिष्टपुरं येन जातं दुर्गमदुर्गमम् ।

चित्रं यस्य अलेख्यं जातं दुर्गमदुर्गमम् ॥ (श्लोक २७)

रविकीर्ति की भाँति ही अपराजित के उदयपुर लेख<sup>४</sup> का कवि दामोदर भी सातवीं सदी की अतिशय आलंकारिकता तथा काव्यकृत्रिमता से अपनी छन्द साधना को अकूत न रख सका। किन्तु स्वयं को कालिदास और भारवि के समकक्ष समझने वाले रविकीर्ति की भाँति, उसमें आत्मश्लाघा नहीं।

१. ए० ई०, भाग १७, पृ० ३४०-३४४

२. वृ० ए० ३।५६

३. इ० रेण्टि०, भाग ५, पृ० ६७-७३

४. ए० ई०, भाग ४, पृ० २६-३२

एक सुन्दर काव्यकृति को प्रस्तुत करने पर भी उसने अपनी विनयशीलता सुरक्षित रखी —

नाम्ना दामोदरेणैव कृता काव्यविहम्बना ॥ (श्लोक ११)

किन्तु दामोदर ने काव्य विहम्बना नहीं की । वह सिद्धहस्त कवि था, जिसने अभिलेखीय साहित्य में अपना स्पृहाणीय स्थान सदैव के लिए स्थिर कर लिया । बारह पद्याँवाले इस उदयपुर लेख में स्रग्धरा (श्लोक २, ६-१०), शार्दूलविक्रीडित (श्लोक १, ३), उपजाति (श्लोक ४), इन्द्रवज्रा (श्लोक ७), द्रुतविलम्बित (श्लोक ५), शिखरिणी (श्लोक ८), रथोद्धता (श्लोक ६) और अनुष्टुप् (श्लोक ११-१२) छन्द प्रयोग में लाए गए हैं । इन सभी में कवि ने अपनी पिंगलसाधना का अच्छा परिचय दिया । श्लोक संख्या २ अथवा समासबहुल है किन्तु अन्य सभी छन्द सरल और प्रसादगुणोपेत हैं । निर्वेदभाव के लिए कवि ने शिखरिणी छन्द को उपयुक्त समझा । संसार की आसक्ति के कारण भवसागर सन्तराण हेतु निर्मित, विष्णुमन्दिर के वर्णन के लिए कवि दामोदर ने इसीलिए शिखरिणी का निर्वाचन किया । देवज्ञ सूर्य ने भी अपने नृसिंह चम्पू के अन्तिम उच्छ्वास में शान्तरस की अवतारणा के उद्देश्य से सर्वप्रथम शिखरिणी का ही आश्रय लिया (५-८) । निर्वेद के लिए शिखरिणी छन्द के औचित्य का समर्थन गंगालहरी ने भी किया, — यह सर्व-विदित ही है । इस तरह सिद्ध हो जाता है कि दामोदर को छन्दों के औचित्य का पूर्ण ज्ञान था । मंगलाचरणा में त्रिभुवन-भवन के स्तम्भनार्थ स्तम्भभूतविष्णु के दोर्दण्डों का वर्णन स्रग्धरा से ही उचित था, जिसका आश्रय काव्यशिल्पि दामोदर ने लिया (श्लोक २) ।

दुर्गिण कालीन फाल्गुपाठन अभिलेख<sup>१</sup> के रचयिता भट्टशर्मा-गुप्त ने अपनी रचना के विषय में स्वयं ही 'रम्य, प्रसादगुणसम्पन्न, अर्थानुगत और अकर्कशशब्द युक्त' लिखा । किन्तु सूक्ष्म अध्ययन से विदित होता है कि इस पद्यकृति में वेदभी और गाँधी, दोनों रीतियों का सम्मिश्रण है । प्रथम श्लोक ओजस्वी और उदात्त शब्दों के कारण राँडरस के लिए अनुकूल है । अन्य समस्त बारह छन्द अपेक्षाकृत सरल और ललित हैं । द्वितीय और दशम छन्द, जिनमें क्रमशः शिव के प्रति पार्वती का उपालम्भ और वसन्त-वर्णन हैं, पद्यबन्ध की दृष्टि से भी उच्चकोटि के हैं, प्रचलित छन्दों के

अतिरिक्त कवि ने औपच्छन्दसिक (श्लोक ३,८), गीतायार् (श्लोक ७,६) और गीत या उद्गीथा (श्लोक १२) के प्रयोग में भी अपनी सिद्धहस्तता दिखायी । मंगलाचरणा के प्रथम दो छन्द वर्णनसौष्ठव के कारण संस्कृत नाटकों के मंगलाचरणों से सफल स्पर्धा ले सकते हैं । अन्य सभी स्थलों में कवि की भाव तथा छन्द साधना के मनोरम संगम दर्शनीय हैं ।

गुहिल शीलादित्य कालीन सामौली लेख<sup>१</sup> एक कथा-काव्यकृति है किन्तु भाव-भाषा और छन्दोविधान के दृष्टिकोण से यह कृति शिक्षित है । इस विचार से अवश्य, सातवीं शताब्दी के राजस्थानी लेखों में एक श्रेष्ठी-समुदाय के सफाई शिलालेख<sup>२</sup> की उपेक्षा नहीं की जा सकती । चौदह पद्यों वाले इस लेख में पृथ्वी (श्लोक १), स्रग्धरा (श्लोक २), मालिनी (श्लोक ३), शार्दूलविक्रीडित (श्लोक ४-५), अनुष्टुप् (श्लोक ६,८-१४) और उपजाति (श्लोक ७) छन्द हैं । यह उपजाति, शालिनी और वैश्वदेवी का समिश्रण है । पृथ्वी छन्द मंगलाचरणा के लिए प्रयुक्त हुआ, जिसमें महागणपति के मुख से कल्याण-कामना की गई है । इस अज्ञात कवि के भाषासौष्ठव, शब्दचयन और कल्पना-प्राचुर्य के संकेत लेख के 'श्रीगणेश' से ही प्राप्त हो जाते हैं —

रणाद्रदनदारणाद्भुतसुमेरुरेणूद्भटं

सुगन्धिमदिरामदप्रमुदितालिर्भकारितं (तम्) ।

अनेक-रणा-दुन्दुभि-ध्वनिविभिन्नगण्डस्थलं

महागणपतेर्मुखं दिशतु भूरि भद्राणि वः ॥

लाखामण्डल लेख<sup>३</sup> में जार्जिस आर्या (श्लोक १-२२) और एक अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है । अतिशय वर्णनात्मक होने के कारण 'अयोध्येश' कवि भट्टवसुदेव की यह कृति सरस और भावसान्द्र नहीं ।

प्रशस्तियों के लिए स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित का महत्त्व एकमत से स्वीकृत हुआ । इन दो छन्दों की एतद्विषयक मान्यता, हिमालय के

१: ए०ई०, भाग २०, पृ० ६७-६६

२: ए०ई०, भाग २७, पृ० २७-३३

३: ज०ए०ए०सी०, भाग २० (पाठ्य) पृ० ४५४-४५७



रजत शिखरों तक पहुँची । बाङ्गाहाट<sup>१</sup> ( उत्तर काशी ) के तीन पथों वाले त्रिशूल लेख में ये ही छन्द हैं, प्रथम दो शार्दूलविक्रीडित और तृतीय स्रग्धरा। अन्तिम छन्द, जिसमें राजा गुह<sup>२</sup> की कीर्ति के स्थायित्व की कामना है, भाव और भाषा से एक उत्कृष्ट पद्य है --

प्रातः प्रातर्मयूखैरुत्तराभिरविरलं शर्वरं ध्वान्तमन्ध-

न्नालुचं च्चारुतारानिकरपरिकरौदारशारौदारत्वम् [1]

स्वं बिम्बं चित्रबिम्बाभ्वरतलतिलकं यावदकीं विद्यते

तावत्कीर्तिः सुकीर्तिश्चरमरिमथनस्यास्तु राज्ञःस्थिरेयम् ।।

सातवीं शताब्दी में छन्दोबद्ध लेखों की एक विविधता भी है । जहाँ एक ओर मात्र एक छन्द वाले मुक्तक हैं,<sup>३</sup> वहाँ दूसरी ओर भास्कर-वर्मन् का द्वावि शासन-पत्र<sup>४</sup> भी है, जो अपने अविच्छिन्न ७२ पथों के कारण किसी महाकाव्य का सर्ग सा प्रतीत होता है । एक और भूमिदान सम्बन्धी नीरस विषय को अनुष्टुप् छन्दों का कलेवर देकर चलने वाला, शशांकराज-कालीन दो मिदिनापुर लेख<sup>४</sup> हैं, तो दूसरी ओर पूर्वकथित रेहोल प्रभृति शिलालेख जो अपनी प्रयत्नसाध्य शैली से किरातार्जुनीयम् जैसे काव्य की आंशिक स्पर्धा कर सकते हैं ।

अपूर्णा छन्दों की परम्परा —

अन्त में अभिलेखीय पद्यशिल्प की एक बड़ी विशेषता की ओर ध्यान केन्द्रित करना यहाँ प्रासंगिक प्रतीत होता है — वह है अर्द्ध छन्दों या छन्दों के एक चरणा-मात्र का प्रयोग । लौकिक संस्कृत साहित्य में ऐसे प्रयोगों का अभाव है । गुप्तनृपतियों के कतिपय सिक्कों में किए गए ऐसे

१. उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग १, पृ० ३६३-३६४

२. ५० — पल्लव गुणभर का महेन्द्रवाडि स्तम्भलेख (कौकिलक छन्द )

ए०ई०, भाग ४, पृ० १५२-१५३; दलवानूर गुहालेख, ए०ई०,

भाग १२, पृ० २२५-२२६ ; कवि शंख रचित कोसमस्तम्भ लेख (एक

‘उपेन्द्रवज्रा’) ए०ई०, भाग ११, पृ० ८७-८८ तथा पल्लव महेन्द्रवर्मन्

(प्र०) का शिवमंगलम् गुहालेख, ए०ई०, भाग ६, पृ० ३२० इत्यादि

३. ए०ई०, भाग ३०, पृ० २७-३०४

४. ज०१०९०स००ब० (लेटर्स), भाग ११, पृ० १-६

प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इन प्रयोगों की पृष्ठभूमि में सिक्कों की परिमित गोलार्ध में स्थान की कमी ही कारण है । कुछ उद्धरण नीचे द्रष्टव्य हैं —

राजाधिराजः पृथिवीं विजित्य  
दिवं जयत्याहुतवाजिमेध [ः] <sup>१</sup>

कृतान्तपरशुजयत्यजितराजजेताजितः <sup>२</sup>

जितिमवजित्य सुचरितैर्दिवंजयति विक्रमादित्यः । <sup>३</sup>

विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति ॥ <sup>४</sup>

यहाँ प्रथम उद्धरण में उपजाति छन्द है, जो इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्र-वज्रा का मिश्रित रूप है । द्वितीय उद्धरण पृथिवी छन्द <sup>५</sup> (ज, स, ज, स, य, तथा लघु, गुरु ) <sup>५</sup> का एक चरण मात्र है । तृतीय तथा चतुर्थ उद्धरणों में आर्या के द्वितीयार्द्ध की मात्राएँ ( १२ + १५ = २७ ) हैं । आर्या के द्वितीयार्द्ध मात्र से बने छन्द को 'उपगीति' कहते हैं । <sup>६</sup>

एक विचित्र सी बात यहाँ उल्लेखनीय है कि शैलोद्भव सैन्य-भीत माधववर्मन् ( द्वि ० ) श्रीनिवास के पुराणोत्तमपुर शासनपत्र के उप-संहार में भी अनुष्टुप् छन्द का आधा भाग ही लिखा, प्राप्त होता है —

द्वुक्त—(१) ग(ह्) गभट्ट[स्तु]  
[प्र]ा—[ि] तहाये-(ये) व्यवस्थितः । <sup>७</sup>

१: गु०मु०फ०—२०, संख्या ५, तथा भा०सि०पृ०, २५

२: भा०सि०, पृ० १५५

३: गु०मु०, फ० २१, संख्या १४

४: भा०सि०, पृ० १४८

५. इ०५-वृ०१०, ३।६२

६ इ०—

आर्याद्वितीयकेऽर्द्धे यद्गदितं लङाणां तत्स्यात् ।

यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तां मुनिर्व्रते ॥

इस लेख में तो स्थानाभाव का कोई कारण नहीं था, फिर भी इसमें अर्द्ध छन्द का प्रयोग किया गया । इसी शासन पत्र में अन्य समस्त छन्द पूर्ण हैं । भले ही इस नये-प्रयोग को संस्कृत साहित्य ने मान्यता नहीं दी, फिर भी अभिलेखों के छन्दोवैविध्य का यह अतिरिक्त आकर्षण तो है ही ।

### ख— गद्य का स्तर, उपलब्धि और विकास

संस्कृत साहित्य में गद्य का आदिग्रन्थ भी वैदिकयुग में ढूँढ़ा जाता है । यजुर्वेद संहिता का मंत्रभाग वैदिक गद्य का आदिरूप है । यह नाममात्र का गद्य है, वास्तव में यह छन्दों का ही गद्यभ्रम है, क्योंकि यह छन्दों की ही तरह गेय है । ब्राह्मणग्रंथों में आकर यह छन्दोमय गद्य, वास्तविक गद्य का परिधान ग्रहण कर लेता है । ब्राह्मण ग्रंथों में या तो व्याख्याएँ होती हैं अथवा कथाएँ । अतः इस गद्य को व्याख्यानात्मक एवं आख्यानात्मक—इन दो भागों में सहज ही विभाजित किया जा सकता है । उपनिषदों का गद्य ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्य से भी अधिक स्वस्थ एवं प्रवाहात्मक है । विषय दार्शनिक होते हुए भी इनकी भाषा सरल और सुन्दर है । कल्पसूत्र (श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र), पाणिनि एवं प्रातिशाख्य सूत्रों के गद्य को सूत्रगद्य की संज्ञा दी जाती है । सूत्र, शब्दलाघव के परिचायक हैं । ये संकेत होते हैं, अतः इनमें सामान्य क्रियाओं का भी लोप कर दिया जाता है । पार्तञ्जलगद्य का मूलप्रयोजन पाणिनि सूत्रों की व्याख्यामात्र था । इसलिए वह सीधा, सरल एवं नित्य का व्यवहृत गद्य है । लौकिक संस्कृत-नाट्यकार भास के नाटकों में प्रयुक्त गद्य प्रायः सरल और दैनिक जीवन का अकृत्रिम गद्य है । वाक्यदीर्घ होने पर भी भास का गद्य सारल्य के तटिकास्पर्श करता हुआ चलता है —

ततस्तत् सर्वं बुद्ध्वा कुमारो विष्णुर्गुणेन क्षितिरेणुपरुषगात्रः  
प्रलम्बमानकाकपदाः शिशुभिस्तुल्यवयोभिः प्रक्रीडमानो देवयोगात् प्रमत्तेषु  
रक्षिपुरुषेषु सहस्रेव तं देशमभ्युपगतो यत्रासौ राजासः ।<sup>१</sup>

समस्त गद्य के उदाहरण भी भास में प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं, परन्तु समासों से उसके गद्य की स्वाभाविक प्राञ्जलता पर कोई आँच नहीं आती । १

वस्तुतः, प्रारम्भ में संस्कृत अभिलेखों के समजा भास का ही साहित्यिक गद्य था । जैसे-जैसे सदियाँ क़र्वटें बदलती गईं, तत्-तत्कालीन लौकिकसंस्कृत कवियों ने भी अभिलेखीय गद्य में अपने प्रतिबिम्ब छोड़ने प्रारम्भ किए । फिर भी यह मानना युक्तिसंगत ही है कि अभिलेखों के गद्य के साहित्यपद्धति का आदि प्रेरणास्रोत भास का नाट्य-गद्य ही है । अशोक के अभिलेखों का <sup>पाली, प्राकृत</sup> गद्य, वर्ण्य कालावधि से पूर्ववर्ती होने पर भी संस्कृत अभिलेखों के गद्य के लिए प्रकाशस्तम्भ नहीं बन पाया । इसमें पहला कारण तो यह है कि वे संस्कृत में नहीं । इसके अतिरिक्त नीरस एवं ऐतिहासिक गद्य, साहित्यिक गद्य का धरातल कहाँ बन सकता है ।

प्रस्तुत विषय की काल-सीमाओं की दृष्टि से प्रथम सदी के अयोध्या शृंगलेख<sup>२</sup> से ही संस्कृत अभिलेखीय गद्य की सामान्य उपलब्धि, समृद्धि एवं विकास का निरूपण किया जा रहा है । संस्कृत लेखों में गिने जाने पर भी यह लेख प्राकृत-प्रभावित एवं व्याकरणाच्युत है ।

द्वितीय सदी में, बिना किसी क्रमिक अभिलेखीय गद्य सौपान के, रुद्रदामन् (प्र०) के गिरिनार शिलालेख<sup>३</sup> में, गद्य का शिखर इतना उन्नत दिखाई देता है, कि कोई भी विद्वान् इसे अभिलेखीय गद्य साहित्य का एक सुदृढ़ स्तम्भ कह सकता है । कूहलर महोदय, जो कि इस लेख के दोषों के प्रति भी पर्याप्त सजग रहे, इसकी प्रशंसा करते हुए न आघार —

‘लक्षणाग्रंथों द्वारा निर्धारित गद्यरचना सम्बन्धी सभी आवश्यक तत्त्वों को पूरा करने के लिए कवि ने स्पष्ट प्रयत्न किया ।’<sup>४</sup> वास्तव में दण्डी के ‘ओजस्’ एवं ‘समासभूयस्त्व’ के गद्य-निकष पर यह अभिलेख स्वर्णपिंगल रेखा ही खींचता है । इसके सभी समस्तपद दुरुहता के दोष से मुक्त हैं । एक प्रयास, कवि का यह भी रहा है कि प्रायः समस्त-विशेषणों को उनके

१: प्र०—अभिमारक, पृ० ६-१०, अंक, १

२: ज०वि०ओ०रि०सो०, भाग १०, पृ० २०२-२०८

३: इ०रेण्टो, भाग ७, पृ० २५७-२६३

४: “There is an obvious effort on the part of the poet to satisfy all the requirements prescribed for prose-composition by poetics.”—Bühler; IND. INT. VOL-42 P. 190

विशेष्यों से नहीं मिलाया गया है, जैसे—

‘सृष्टवृष्टिना पर्जुन्येन’ (पं० ५) ‘सुवर्णसिकतापलाशिनीप्रभृतीनां नदीनां’ (पं० ५-६) । शब्दसाम्य या शब्दकदेशसाम्य के प्रति अधिक आग्रहशील होने के कारण स्थल-स्थल पर गद्य, संगीत सुख हो जाता है —

— [सुगुहीतनाम्नः स्वामिजयदाम्नः] — (पं० ४)

— गुरुभिरभ्यस्तनाम्नो रु[द्र]दाम्नो — (पं० ४)

— सृष्टवृष्टिना — (पं० ५)

— एकाणविभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां — (पं० ५)

— प्रभृतीनां नदीनां — (पं० ६)

— प्रहरणावितरण — (पं० १०)

— कामविषयाणां विषयाणां — (पं० ११)

— विधेयानां यौधेयानां — (पं० १२) इत्यादि ।

यह स्वर सहित व्यंजन-सादृश्य पूर्ववर्ती प्रसिद्ध नाटककार भास में भी यदा-कदा दृष्टिगोचर होता है । हो सकता है कि इस लेख के कवि ने भास के गद्य का ही प्रच्छन्न प्रभाव ग्रहण किया हो :—

‘एष खलु सीतापहरणाजनितसन्तापस्य रघुकुलप्रदीपस्य सर्वलोकनय-  
नाभिरामस्य रामस्य च दाराभिमर्शननिर्विषयीकृतस्य सर्वसूर्यदाराजस्य सुविपुल-  
महाग्रीवस्य सुग्रीवस्य च परस्पररोपकार-कृतप्रतिज्ञयोः सर्वानराधिपतिं हैम-  
मालिनं बालिनं हन्तुं समुद्योगः प्रवर्तते ।’<sup>१</sup>

इस लेख के कवि का अलंकारों के प्रति मोह भी स्पष्ट है ।

‘पर्वतपादप्प्रतिस्पर्द्धि’ (पं० १-२) तथा ‘मरुधन्वकल्प’ (पं० ८) में उपमा तथा ‘एकाणविभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां’ (पं० ५) एवं ‘युगनिधनसदृशपरमघोरवो’ (वै ०) गेन वायुना (पं० ६-७) में अच्छी उत्प्रेक्षाएँ बन पड़ी हैं ।

इसके अतिरिक्त स्फुट-लघु-मधुर-चित्रकान्त-शब्द-समयोदारा-लंकृत-गद्य-पद्य-[काव्य-विधान-प्रवीणों] ने — इस वाक्यांश से सातवीं सदी में दण्डी द्वारा निर्धारित वैदभीरिति<sup>१</sup> के तत्कालीन प्रचार का भी कवि संकेत देता है। कुछ विचित्रताएँ भी इस लेख की अपनी हैं, जैसे क्रियाओं का न्यूनतम प्रयोग। सम्पूर्ण लेख का प्रासाद केवल पाँच क्रिया स्तम्भों पर ही टिका है। ये पाँच क्रियाएँ हैं, 'वर्तते' (पं० ३), 'आसीत्' (पं० ७ एवं ८), 'कारितम्' (पं० १६) एवं 'अनुष्ठितम्' (पं० २०)।<sup>२</sup> समास बन्धों में क्रियाओं का न्यूनतमप्रयोग कालान्तर के गद्य साहित्य की भी एक विशेषता बन गई। प्रस्तुत लेख की व्याकरणा एवं भाषा सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ अवश्य उद्बेजकर हैं, जैसे 'अन्यत्र संग्रामेभ्यः' के स्थान पर 'अन्यत्र संग्रामेषु' (पं० १०) तथा 'विषयाणांपत्या' के लिए 'विषयाणां पतिना' (पं० ११)। इसी प्रकार प्राकृत प्रभावित पद 'वीसदुत्तराणि' (पं० ७) एवं 'यवन-राजेन' (पं० ८) खरते हैं। इनकी क्रमशः 'विंशदुत्तराणि' एवं 'यवनराजेण' होना चाहिए था। लेकिन इन त्रुटियों से लेख की श्रेष्ठता के शिखर नहीं टूटते।

तृतीय सदी के मालव यूप लेख<sup>३</sup> का गद्य रुद्रदामन् के लेख की ऊँचाई नहीं पा सका। यह लेख साधारण और दुरुहता से दूर है। शब्दैक-देशसाम्य इस लेख में भी पर्याप्त है—

— कृतयोर्द्वयोर्बर्षशतयोर्द्वयशीतयो (पं० १)

— समुपगतामृद्धिमात्मसिद्धिं (पं० २-३)

— [कृतवकाशस्य पापे] निरवकाशस्य (पं० ३-४) आदि

मालव यूपलेख का कोई विशेष साहित्यिक स्तर न होने पर भी यह निर्विवाद है कि यह लेख रुद्रदामन् के गिरिनार लेख और समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति<sup>४</sup> को जोड़ने वाली प्रतिनिधि कड़ी है।

१. द्र०—वैदर्भमार्ग के दशगुण-काव्या० १।४१-४२

२. टि०—सम्भवतः पंक्ति ८ के खण्डित भाग में भी कोई क्रिया रही हो, लेकिन यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

३. हि० लि० ६०, पृ० ५६

४. का० इ० ६०, भाग ३, संख्या — १

प्रयाग प्रशस्ति (चतुर्थ शताब्दी) का गद्य निःसन्देह अभिलेखीय गद्य का चरम उत्कर्ष है। इस प्रशस्ति के समान दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करने में 'बहूलर' महोदय ने तो अपनी असमर्थता ही व्यक्त कर दी।<sup>१</sup> लेख का सारा गद्यभाग रचयिता और दूतक का परिचय छोड़कर एक ही वाक्य है। सम्पूर्ण गद्य समास बहुल है। पं० १६-२० में तो सबसे बड़े समास की योजना हुई है। आदि से अन्त तक सभी समासों का अवसान सम्बन्धकारक में होता है। एक पंक्ति २६ में वर्तमान 'समुद्रगुप्तस्य' तक चलता है। ये सभी समास 'पृथ्वी की जाह्नू के समान उठे हुए स्तम्भ' (पं० २६-३०) के पोषक हैं। परन्तु इन समासों में सातवीं सदी के लौकिक संस्कृत गद्य की सी दुरुहता नहीं। शब्दचयन और पदविन्यास अपने वैविध्य के कारण सारे लेख में एक विचित्र रमणीयता भर देते हैं। रमणीयता के कारण अतिशय समासयोजना भी एक गुण का रूप धारण कर लेती है। इस सम्बन्ध में बहूलर महोदय का कथन युक्तिपूर्ण है कि :— 'बड़े-समस्त पदों के बीच-बीच में लघुपद इस प्रकार रखे गए हैं, कि पाठकों को पढ़ने में साँस लेने का कुछ समय मिल सके तथा ओताओं को भी अर्थ समझने में कोई कठिनाई न हो।'<sup>३</sup>

वास्तव में सारी गद्ययोजना पल-पल परिवर्तित होने वाली एक लय से पूर्ण है। अंकारों के पीछे नदों के कवि ने कृत्रिमता से अपने गद्य की रक्षा की है। फिर भी हरिष्ठा वणानुप्रास के प्रति विशेष आग्रहशील रहा। इस तथ्य का समर्थन पंक्ति-पंक्ति करती है।

चतुर्थ सदी के गद्य का एक रूप सालंकायण स्कन्दवर्मन् के दान-लेख<sup>३</sup> में द्रष्टव्य है। यह लेख साहित्यिक दृष्टिकोण से विशेष महत्वपूर्ण नहीं, फिर भी इसमें गद्यकार का शब्दसाम्य की और भुकाव स्पष्ट है :—

अनेकसमरमुखविख्यातकर्मणः महाराज श्रीहस्तिवर्मणः  
प्रपात्रस्य ..... ( पं० १-२ ) आदि

इसी सदी के पल्लव लेखों के गद्य में यमक और अनुप्रास का प्रयोग यत्र-तत्र सुलभ होता है। इनके रचयिता परस्पर समान ध्वनि करने

१: इ०—इं० रेण्ट०, भाग ४२, पृ० १७७

२: इं० रेण्ट०, भा० ४२, पृ० १७६

३: ए०इं०, भाग ३१, पृ० ७—१०



वाले शब्दों के प्रयोग करने में विशेष प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं :—

— “विजययशः-प्रतापस्य प्रतापोपनत-राजमण्डलस्य”<sup>१</sup>

— “पृथिवी-तल ( ३१ ) कवीरस्य श्रीवीरवर्मणः”<sup>२</sup>

— “ [भ ]गवत् (इ) भक्तिसम्भावसम्भावितसर्व-कल्याणस्य”<sup>३</sup>

— “लोकपालानां [ ] पंच [ म ]स्य लोकपालस्य”<sup>४</sup>

— “यथावदाहृतानेककृतु (तू) स्व-लोक-नां कल्प (ग) नां  
वल्लभानां पल्लवानां”<sup>५</sup>

पाँचवीं शताब्दी के गुप्तवंशीय अभिलेखों में या तो परम्परागत कुलप्रशंसात्मक गद्य<sup>६</sup> ही प्राप्त होता है या साधारण व्यावसायिक गद्य ।<sup>७</sup> परिव्राजक-नृपतियों के अभिलेखों में प्रयुक्त गद्य भी इसी प्रकार व्यावसायिक एवं सामान्य कोटि का है ।<sup>८</sup>

चन्द्रगुप्त (द्वि०) की पुत्री वाकाटक प्रभावती गुप्ता, जहाँ अपने पितृकुल से विवाह में प्राप्त अन्यान्य वस्तुएँ ले गई, वहाँ अपने अभिलेखों का प्रारूप सुसंयत करने के लिए गुप्तकुलप्रशंसापरक प्रचलित वाक्यांशों का दहेज भी ।<sup>९</sup> प्रभावती गुप्ता के पुत्र प्रवरसेन (द्वि०) के ताम्रपत्रों में लघुपदी समासों का प्रयोग स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है :—

१. विजयस्कन्दवर्मन् (द्वि०) का आँगोदुशासन, ए०ई० भा० १५, पृ० २५१  
पं० ४-५

२. सिद्धवर्मन् (द्वि०) का आँगोदुशासन, ए०ई०, भाग १५, पृ० २५४, पं० ४

३. वही, पृ० २५४, पं० ५-६

४. वही, पृ० २५४, पं० ८-९

५. वही, पृ० २५५, पं० १६-१७

६. उदा०—का०ई०ई०, भाग ३, संख्या ४, १०, १२ (द्वि०भाग) तथा १३

७. उदा०—वही, संख्या ५, १६

८. द्र०—वही, संख्या २१,<sup>२२</sup> २३ आदि

९. द्र०—पूना पत्र, हि० लि० ३०, पृ० ११३, पं० १-७, तथा रिशपुरपत्र,  
सि०इ०, भाग १, पृ० ४१५-४१६, पं० २-८

—“असंभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित-  
राजवंशानां”....<sup>१</sup>

—“सत्याज्ज्वकारुण्यशौर्यविक्रमनय-विनयमाहात्म्यधि(धी)-  
मत्वपात्रगतभक्तित्वधर्मविजयित्वमनोनैर्मल्यादिगुणसमुदितस्य”<sup>२</sup>

वाक्यांशों में वणसाम्यों के प्रयोग से अंत्यानुपास की सृष्टि भी इस काल के गद्य की एक विशेषता है। यद्यपि यह एक स्थानीय प्रवृत्ति रही और इसका व्यापक प्रचार न हो सका —

—समरजिष्णुना महाराजमातृविष्णुना<sup>३</sup>

—जगत्परायणस्य नारायणस्य<sup>४</sup>

समास प्रियता, शब्दचयन तथा अंकारों की और सज्ज भुकाव पाँचवीं सदी की मूलभूत प्रवृत्तियाँ हैं। ये प्रवृत्तियाँ छठी और सातवीं सदी के गद्य के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करती प्रतीत होती हैं।<sup>५</sup>

पश्चिमी गंगनृपति माधव का पेतुकोण्ड ताम्रशासन स्वरनिरपेक्ष वणसिद्धयों एवं समासों के कारण इस सदी के अत्यन्त प्रमुख लेखों के बीच गिना जायेगा। निम्नलिखित उदाहरण में ‘म’, ‘भ’, ‘स’, ‘ज’, ‘न’, ‘द’, ‘र’, ‘ण’, आदि वणों का स्थान-स्थान पर दुहराव एक विचित्र नाद सौन्दर्य की सृष्टि करता है —

—“श्रीमज्जाह्वेय-कुलामल-व्योम-भासन-भास्करस्य स्वभुज-  
वज्रयजनितसुजनजनपदस्य दारुणारिगणविदारणारणोपलब्धवृण-भूषणस्य”<sup>६</sup>

१. तिरुदी पत्र, ए० ई०, भाग २२, पृ० १७१, पं० ३-४

२. इन्दौरपत्र, हि० लि० ई०, पृ० ११६, पं० २-३, (द्वि० पत्र)

३. बुधगुप्त का सरण शिलास्तम्भ लेख, हि० लि० ई०, पृ० १०६, पं० ७

४. तौरमाणाकालीन, सरण वराह लेख, हि० लि० ई०, पृष्ठ १३६,  
पं० ७

५. ड० — लगभग ४५० ई० का एक कदम्ब लेख, ए० क० ए०, भाग ६,  
पाठ्य पृ० ६१

६. सि० ई०, भाग १, पृ० ४५६, पं० १-३

समासों की अतिशय योजना से बोधिल, पाँचवीं सदी का एक विशेष लेख, त्रैलोक्य व्याघ्रसेन का सूरत शासन पत्र<sup>१</sup> है। इसके शब्द विन्यास एवं समास प्राचुर्य को देखकर मुहूर्तमात्र के लिए बाणभट्ट के गद्य का भ्रम उत्पन्न हो जाता है ( पृ० - पं० १-३ )। इस गद्य में एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि कतिपय स्थलों पर वाक्यांशों की समाप्ति पर प्रयुक्त शब्दों के दुहराव अथवा सोपसर्ग दुहराव से ही नए वाक्यांश का प्रारम्भ किया गया है —

— भगवत्पादकर्मकरः करगतक्रमागतस्फीतापरान्तादिदेश...  
( पं० १ )

— पुरुषविशेषसदृशोदारचरितस्सुवरितनिदर्शनार्थमिव  
( पं० ४ )

— स्ववह्०शा(वंशा)लंकारभूतः प्रभूतप्रवीरसाधनाधिष्ठित....  
( पं० ५-६ )

— स्थिरप्रकृतिः प्रकृतिजनमनोहरः (पं० ६)

छठीं शताब्दी का गद्य पाँचवीं सदी के गद्य से अधिक परिष्कृत और सुसंयत है। यह अभिलेखीय गद्य सुबन्धु एवं बाण के लिए एक मंच सा निर्मित करता दिखाई देता है। अभिलेखों की निर्धारित सीमाओं में भी शब्द और अर्थ के कौशलप्रदर्शन की ओर कवि प्रवृत्त होने लगे। आलंकारिकता, एक सोपान और चढ़ बैठी। वर्ण, शब्द और पदयोजना में कवि तत्कालीन प्रचलित काव्य-मान्यताओं की सुरक्षा करते हुए दिखाई देते हैं। समासों का व्यापक प्रचार होने लगा, किन्तु जटिलता से दूर :-

— श्री-पुराद्विक्रमोपनतसामन्त(मन्त)-~~वर्ग~~ म(सु)कुटबूढा-  
मणिप्रभाप्रसेकांम्बु-(काम्बु)धातपादयुगलो रिपुविलासिनीसीमंतो-(मन्तो)-  
दरणाहेतुः<sup>२</sup>

समास की छटा गारुतक सिंहादित्य के पलिताना पत्र<sup>३</sup> में भी उत्कृष्टतर और सुव्यवस्थित है। वर्णनृपति की उपमा देकर, आगे, दत्त उपमा की पुष्टि करने में रचयिता प्रवृत्त हो जाता है -

१. पृ०-२०६०, भाग ११, पाठ्य पृ० २२०-२२१

२. महाप्रवरराज का ठाकुरदिया शासन, २० ई०, भाग २२, पृ० २२  
पं० १-२

३. २०६०, भाग ११, पृ० १६-२०

— तरु-रिवादी-पाण्डु-फल-च्छाय-तयै-कान्त-परोपकारी (पं० ४)

— शाङ्ग-गर्गा-पाण्डु-रिव-पराक्रमा-क्रान्त-द्वारिका-धिपतिः (पं० ११-१२)

श्रीजस्वी गद्यविधान के लिए भारत का बर्हिष्ठ-पश्चिमी भाग विशेष उर्वर रहा । इस प्रदेश की यह उर्वरता रुद्रदामन् के गिरिनार लेख से ही प्रारम्भ हो गई थी । छठी सदी के धरातल पर पहुँचते ही बलभी के मैत्रक नृपतियों के लेखों का भी प्रारम्भिक रूप प्रकाश में आने लगा ।

बलभी-लेखों का शिल्पी निःसन्देह कोई परिष्कृत प्रतिभा सम्पन्न गद्यकार रहा होगा । वंशपरम्परा से विस्तारप्राप्त नया गद्य भी पूर्ववर्ती गद्य के समान ही प्राञ्जल है । इससे स्पष्ट है कि नये गद्यभाग को जोड़ने वाले नये गद्यकार भी उसी अनुपात से प्रतिभाशाली थे । ये लेख जहाँ श्रीजस्वं समासबहुलता के मनोरम सन्धिस्थल हैं, वहाँ इनमें शब्दसौन्दर्य भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं । गारुलक सिंहादित्य के पलिताना-पत्र (उपर्युक्त) की भाँति वाक्यांश के अन्त में आर शब्द को नये वाक्यांश के प्रारम्भ में योजित करने में ये गद्यकार विशेष दक्ष हैं :—

—“अतुल-बल-सपत्न-मण्डलाभोग-संसक्त संप्रहारशतलब्धप्रतापः  
प्रत(१)पोपनत.”.....<sup>१</sup>

—“तस्य सुतस्तत्पादरजोरुणावनतपवित्रीकृतशिरशिशरोवनत-  
शत्रुबुडामणी (पा) -प्रभा-\*

\*— विचक्रुरितपादनखर्पवितदीधितिः”<sup>२</sup> आदि  
बाणभट्ट अपनी शैली को समय-समय पर परिवर्तित कर गद्य को एकरसता से बचाते हुए पाठकों की रुचि बनाये रखता है । यही बात बलभी लेखों में भी देखी जाती है । ध्रुवसेन के अज के वर्णन में अपेक्षाकृत लम्बे वाक्यांश प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु उसके पश्चात् ही गद्यकार ने अपने अभिव्यक्ती-करणा को नया मोड़ दे दिया —

---

१. ध्रुवसेन ( प्र० ) का पलिताना शासन, ए० ई० , भाग ११, पृ० ११०,  
पंक्ति १-२

२. ध्रुवसेन (प्र०) का पलिताना शासन-पत्र, पृ० ११०, पं० ४-५

— तस्यानुजस्वभुजबलेन परगजघटानामेकविजयी शरणैषिणा  
[.]शरणगवबोद्धा शास्त्रार्थतत्त्वानां कल्पतरु रिव सुहृत्प्रणयिणां यथाभिल-  
षितफलोपभोगद : (पं० १०-१२)

स्थल-स्थल पर शब्दसाम्य एवं शब्दैकदेशसाम्य भी इस गद्य की  
समृद्धि को और भी पुष्ट करते हैं —

— प्रणतामित्राणां मैत्रकाना(णा)म् (पं० १)

— मण्डलाभोगस्वामिना परमस्वामिना (पं० ८)

वंशक्रम में बढ़े हुए नये राजा के वर्णन को छोड़कर वलभी अभिलेखों  
में पुराना राजवंशवर्णन समानरूप से चलता है , जैसे धरसेन (द्वि०) के पलि-  
ताना पत्र<sup>१</sup> में उसके आज ध्रुवसेन (प्र०) तक पुरानाहीवर्णन है । पं० ८ से २१  
तक का साहित्यिक गद्यभाग, जो कि इस नवीन राजा की प्रशंसा पर है,  
नया जुड़ा अंश है । इसी प्रकार अन्यान्य उत्तरकालीन दानलेखों में धरसेन के  
पश्चाद्वर्ती नृपतियों के क्रमिक वर्णन ही नवीन साहित्यिक भाग होंगे ।  
यद्यपि यह भी एकान्त सत्य नहीं, क्योंकि जेसर<sup>२</sup> प्रभृति शासन पत्रों में  
प्रारम्भ से ही पर्याप्त परिवर्तनों के दर्शन होने लगते हैं ।

अपने अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा समासप्रचुरता के कारण  
पूर्वीयगांग इन्द्रवर्मन् का जिरजिगी ताम्रशासन छठीं शताब्दी में अपना  
विशिष्ट स्थान रखता है । इसके एक उदाहरण से ही लेख की सौन्दर्य-  
समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है :—

— अनेक-चातुर्दन्त-समर-विजय-विमल-विकीर्णनिस्त्रिंशं  
(निस्त्रिंशं)-धारा-समाक्रान्त-सकल-सामन्त-नृपति-मण्डलाधिपतिः (पति-)  
म(सु)-कुट-निहित-रुचिर-पद्मरागप्रभा-प्रसेक-परिष्वंग-पिंगांगीकृतचरणा-  
युगलः <sup>३</sup>

शासनपत्रों के प्रयत्नसाध्य गद्य का तो समासप्रचुर होना स्वाभा-  
विक ही था, किन्तु तटस्थ व्यक्तिगत लेख<sup>४</sup> भी युग-प्रवाह में बहने से अपने को

१: ए०ई०, भाग ११, पृ० ८०-८५

२: वही, भाग २२, पृ० ११४-१२०

३: सि० इ० भाग १, पृ० ४२८ पं-४-७

उदा०-ए०क० भाग २, पाठ्य, पृ० १

न बचा सके । पार्श्वनाथ वस्ती की समासबहुल उद्भट एक जैन-रचना इसके समर्थन में रखी जा सकती है । <sup>१</sup>

सातवीं शताब्दी संस्कृत-गद्य की समृद्धतम सदी है । इस शताब्दी का प्रारम्भ ही गद्य के इतिहास में एक क्रान्ति की घोषणा है । सुबन्धु को चाहे एकमत से छठी शताब्दी का गद्यकार मान लिया जाय, यह कथन तर्क-संगत ही प्रतीत होता है कि उसके यशः प्रसार पर शत-शत पंख सातवीं शताब्दी में ही फूटे । यह मत बाणरचित हर्षचरित से भी प्रमाणित किया जा सकता है । <sup>२</sup> इस समय दण्डी की गद्यकीर्ति भी उत्तराभिमुख हुई और लगभग ६२० ई० से बाण के गद्यपुष्प की प्रथम सुरभि देश की भांगोलिक सीमाओं को लाँघकर दिग्विजय की गन्धतृप्त करने लगी । दण्डी की वेदभी, सुबन्धु की गौडी और बाण की पांचाली ने सातवीं शताब्दी को गद्य का पावन प्रयाग बना दिया । 'प्रत्यङ्गारश्लेषमय' जिस गद्य का आदर्श सुबन्धु ने उप-स्थित किया, दण्डी ने उसके लिए 'ओजः समासभूयस्त्वम्' <sup>३</sup> का मापदण्ड स्थिर किया । बाण ने उस गद्य के लिए 'रुचिरस्वरूपपिदाँ' की व्यवस्था करने में ही अपने काव्य जीवन को अर्पित किया । इस त्रिविध गद्य की त्रिवेणी में समकालीन अभिलेखीय कवि क्यों न मज्जन करते । यदि ६०६ ईस-वीय, कलचुरि बुद्धराज के सरस्वति शासन-पत्र <sup>४</sup> से ही अध्ययन-क्रम प्रारम्भ किया जाय, तो हम अभिलेखीय गद्य को एक नये धरातल पर पाते हैं । प्रकृति के उपादानों को उपमानरूप में ग्रहण करके इस लेख का गद्यशिल्पी विशेष्यों से पहले विशेषणों की एक दीर्घ परम्परा नियोजित करते हुए दिखाई देता है । प्रारम्भ में ही कटच्चुरिवंश की विशालता को प्रदर्शित करने के लिए उसके उपमान स्वरूप शरद्गगन को निर्वाचित किया गया है । तदनन्तर विविध पुराणरत्नों के गुणकिरणों से उद्भासित महासत्त्वों के आश्रयभूत दुर्लभ गम्भीर और स्थित्यनुपालक इस वंश का साम्य 'महोदधि' से स्थापित किया गया । ( पं० १-३ ) । इसके पश्चात् 'कुलकुमुदविबोधनचन्द्रमा' कृष्णाराज (पं० ३-४) से राजवंशावली का पौराणिक सन्दर्भों से पुष्ट आलंकारिक

१: ए०क००, भाग २, पाठ्य पृ० १

२: हर्ष १।११

३: काव्या० १।८०

४: ए०ई०, भाग ६, पृ० २६४-३००

एवं समासप्रचुरवर्णन प्रारम्भ हो जाता है । इस दृष्टि से इस सदी में लौकिक और अभिलेखीय गद्य अपनी प्रवृत्तियों के कारण समानान्तर से चलते दिशाई देते हैं ।

बलभी का गद्य तो जन्म से ही स्पृहाणिय धरातल पर आधारित था । इस सदी का नवीन संयुक्त अंश, उस गद्य को नवीन प्रवृत्तियों के कारण और भी श्रेष्ठता प्रदान कर गया । वर्णनात्मक दीर्घ समस्तपदों के पश्चात् चमत्कारपूर्ण लघुवाक्यांशों की योजना उसे अधिक श्रुतिमधुर बनाने लगी । बीच-बीच में अन्त्यानुप्रासों की सृष्टि<sup>१</sup>, अपेक्षाकृत दीर्घ समासों की घटना,<sup>२</sup> समासों में भी वर्णों का दुहराव<sup>३</sup> इस गद्य की विशेष विधाएँ हैं । गद्यकाव्यों के अनुसूच अनुकरण पर वर्णनृपति के व्यक्तित्व में दो विरोधीतत्त्वों की युगपत् स्थिति दिखाने वाले इस गद्य में बड़ा चुटीलापन आ गया है —

— प्रकृष्टविक्रमो— ( ९ ) पि करुणामृदुहृदयः श्रुतवानप्यगर्वितः [ : ]  
कान्तो ( ९ ) पि प्रशमी<sup>४</sup>—

इसके अतिरिक्त नामधातु के प्रयोग से गद्य में विशेष आकर्षण भरने में भी कवि सजग है ।<sup>५</sup>

गुर्जर दद प्रशान्तराग का शिरीषपट्टकग्राम दान—लेख ( ६२८ई० )<sup>६</sup> स्पष्ट रूप से कादम्बरी गद्य के जैसे दृश्य उपस्थित करता है, यद्यपि इस समय कादम्बरी प्रणयन तो दूर रहा, बाण कदाचित् उसके कथानक के विषय में ही सोचता रहा होगा । अपने वाक्य-विन्यास और श्लेष-पुष्ट उपमाओं के कारण यह लेख कथा-या आख्यायिकाओं का प्रतिस्पर्धी बन सकता है —

१. द्रष्टव्य—शीलादित्य ( ५० ) का पलितानां पत्र, २०ई०, भाग ११, पृ० ११६  
— ११७, पं० ११, १२

२. वही, पृ० ११७, पं० १५

३. संघ ( १६ ) ताराति-पदा-लक्ष्मीपरिभोगदत्तविक्रमो—वही, पं० १३

४. बोटोद में प्राप्त ध्रुवसेन बालादित्य का शासन-पत्र, भाव०, पृ० ४१,  
पत्र संख्या २, पं० ७-८

५. उदा०—तटायमानभुज — जैसरपत्र, २०ई०, भाग २२, पृ० ११८  
पंक्ति ३४

६. प्रा० ले० मा०, भाग २, संख्या ७६, पृ० ४१-४४



— कास्तुभमण्डितविविमलयशोदीधितिनिकरविनिहतकलितिमिर-  
निचयः सत्पदां वेनतेय इवाकृष्टशत्रुनागकुलसन्ततिः उत्पतित इव दिनकरचरणा-  
कमलप्रणामापनीताशेषदुरितनिवहः सामन्तददः ( पृ० ४१)

निरन्तर शैलीगत वैविध्य इस लेख की आधारभूत विशेषता है।  
कुछ पंक्तियों के पश्चात् वाक्ययोजना को नया मोड़ दे दिया जाता है, जिससे  
पाठकों की रूचि नवीन स्फूर्ति की ओर अनायास ही झुक जाती है --

यस्य प्रकाश्यते सत्कुलं शीलैर्न, प्रभुत्वमाज्ञया, शस्त्रमरातिप्रणि-  
पातेन कोपौ निगृहेण (पृ० ४२)

गद्य-सम्राट् बाण के आश्रयदाता हर्ष के बाँसखेड़ा<sup>१</sup> और मधुवन<sup>२</sup>  
शासन-पत्रों का गद्य, व्यावसायिक भाग को छोड़कर समान है। इसलिए यहाँ  
केवल एक का ही विवेचन करना उचित होगा। बाँसखेड़ा पत्र में समासों की  
कृता तो हैं ही, साथ में समाप्त पदांश के दुहराव से नये पदांश का उपमा-  
समर्थित-प्रारम्भ, अतीव आकर्षक प्रतीत होता है --

— परम सांगतस्सुगत इव परहितैकरतः (पं० ५)

— परममाहेश्वरी महेश्वर इव सर्वसत्त्वानुकम्पी (पं० ७)

भाँमनारक भास्करवर्मन् के निधानपुरपत्र का गद्य भी पर्याप्त समास-  
बहुल एवं स्वस्थ है।<sup>३</sup> सैन्यभीत माधववर्मा का गंजाम शासन<sup>४</sup> अपने शब्द-  
साँष्ठव, अलंकारयोजना एवं समास घटना के लिए अभिलेखीय-गद्य साहित्य का  
एक अनुपेक्षाणीय उदाहरण है। स्वाभाविक ही है, युग की प्रवृत्तियों के अनु-  
सार औजस्वी और समासप्रचुर गद्य के प्रति गद्यकारों का प्रवृत्त होना। यदि  
हिमालय प्रदेश के तलेश्वर पत्रों<sup>५</sup> के गद्य शिल्पी इस दिशा में आग्रहशील देखे  
गए हैं, तो दक्षिण में सेन्द्रक जयशक्ति के सुन्दखेड़े पत्र<sup>६</sup> का रचनाकार भी।

१. हि० लि० ७०, पृ० १४५-१४७

२. ए० ई०, भाग ७, पृ० १५५-१६०

३. हि० लि० ७०, पृ० २३८-२३९, पं० ३४-४४

४. ए० ई०, भाग ६, पृ० १४३-१४६

५. वही, भाग १३, पृ० १०६-१२१ (दो लेख)

६. वही, भाग २६, पृ० ११६-१२१

यदि निर्माण (कांगड़ा, पंजाब) ताप्रशासन<sup>१</sup> में यह, अतिशय समास योजना की प्रवृत्ति देखी गई है, तो पूवीयगांग इन्द्रवर्मन् के पूर्ण शासनपत्र<sup>२</sup> या देवेन्द्रवर्मन् के सिद्धान्तम् पत्र<sup>३</sup> में भी । वैसे अपवाद स्वरूप पुलकेशिन् (द्वि०) कालीन, मेक्केरि जिलालेब<sup>४</sup> या तिवरलेह शासन पत्र (राष्ट्रकूट नन्नराज)<sup>५</sup> जैसे कुछ लेख अपवादस्वरूप इस शताब्दी में भी सरलगद्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं । इस द्वितीय लेख में तो श्लेष और नामधातु प्रयोग-कौशल गद्य के सारल्य में भी काव्य सौन्दर्य सुरक्षित किए हैं —

— ‘ दानाद्रीकृतपाठा (पा)ना प्रतिदिनं येन द्विपेन्द्रायितं ’

( पं० ४-५ )

बाण ने ‘ उत्कृष्टकविगद्य ’ को ‘ विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्य-मानाभिनवार्थसंचय’<sup>६</sup> युक्त होना आवश्यकीय माना । कोई भी परिभाषा तत्कालीन प्रवृत्तियों के अनुसार ही स्थिर की जाती है । भले ही इस मापदण्ड को निर्धारित करने का श्रेय बाणभट्ट को प्राप्त हुआ हो, उसकी इस परिभाषा पर समकालीन प्रवृत्तियों का प्रभाव है । विविध वर्णों के प्रयोग से व्यक्त अभिनवार्थ, लौकिक कवियों के साथ अभिलेखीय कवियों को भी समान अनुपात से मान्य था —

— ‘ रविरिव स्वतेजसाक्रान्तवसुमतिवलयः गुह इव स्वशक्ति निराकृताशेषरिपुजनः नारायण इव स्वभुजबलधृतवसुन्धराभरः’<sup>७</sup>

शासनपत्रों की सीमाओं को देखते हुए यहाँ भी वर्णविविध्य की योजना से अभिनवार्थ की सृष्टि हुई है । वर्णनृपति के श्लौकिक उपमान उपस्थित कर आने वाले वाक्यांशों में साम्य के कारणों का निदर्शन किया गया है । इसके अतिरिक्त ऐसे वर्णन भी प्रचुरता से प्राप्य हैं, जिनमें पूर्व-

१: का० ६०६०, भाग ३, संख्या ८०

२: ६०६०, भाग १४, पृ० २६०-२६२

३: वही, भाग १३, पृ० २१२-२१६

४: वही, भाग ५, पृ० ६-६

५: वही, भाग ११, पृ० २७६-२८०

६: काद०, पृ० १८६ (फण्डेल पुस्तकालय काशी १८२८)

७: पुलकेशिन् (द्वि०) का तुम्पेयनूरु शासनपत्र, का० प्ले० ६०, आ० प्र० म्यु०, भाग १, पृ० ४४, पं० ८-१०

निदर्शित समान धर्म के आधार पर ही उपमानों की प्रतिष्ठा की गई है —

“अत्यन्तवत्सलत्वाव(त्) युधिष्ठिर इव श्रीरामत्वाद्वासुदेव इव  
नृपाङ्कुशत्वात्परशुराम इव राजाश्रयत्वाद्भरत इव”<sup>१</sup>

उल्लिखित उद्धरण में वर्यनृपति के धर्म पर भाववाचकत्वान्त<sup>२</sup> लगाकर साम्यव्यवस्था के लिए समान धर्मनिष्ठ पात्रों का अन्वेषण किया गया है। पूर्वीय चालुक्य नृपति जयसिंह (प्र०) के पुलीबूत्रा शासन-पत्र<sup>३</sup> में इस प्रकार का साम्य अत्यन्त संक्षेप में है। ( पं० ६-१० )। जिन देवताओं की एक निश्चित संख्या है, उस संख्या में एक और बढ़ाकर वर्यनृपति की उसमें सम्भावना व्यक्त करना भी इसी प्रवृत्ति का एक प्रकार विशेष है ; जैसे —<sup>४</sup> द्वितीय इव मकरध्वजः पंचम इव लोकपालः<sup>५</sup>।

सुबन्धु और बाणभट्ट यदा-कदा अपने गद्य में साम्य देते समय, धर्म के दो समान पदा होने की स्थिति में अन्तिम पद में ‘व’ लगाकर शैली में नवीन आकर्षण भर देते हैं —

— “जलनिधिरिव वाहिनीशतनायकः समकरप्रवाह्य हर इव महा-  
सेनानुगतो निवर्त्तितमारश्च मेरुरिव विबुधालयो विश्वकर्माश्रयश्च”<sup>६</sup>

— गिरितनयेव स्थाणुसंगता मृगपतिसेविता च, जानकीव  
प्रसूतकुशलवा निशाचरपरिगृहीता च<sup>७</sup>

इसे उदाहरण अभिलेखीय गद्य साहित्य में भी प्राप्त हो जाते हैं —

— शरदमलशशांकमण्डलामलयशसः (यशाः) सवितारमिवौदयवन्तम  
(सवितेवौदयवान) -नुरक्तमण्डलञ्च(श्च)<sup>८</sup>

१. विनयादित्य (प्र०) ‘सत्याश्रय’ का पणायलशासनपत्र, का०प्ले० ७० आ० प्र०  
म्यू०, भाग १, पृ० ६३, पं० १७-१८

२. ए० ६०, भाग १६, पृ० २५४, — २५८

३. पूर्वीय चालुक्य इन्द्रवर्मन् का कोण्डणगूरु शासन, ए० ६०, भाग १८  
पृ० ३, पं० १२-१३

४. वासव०, पृ० ६ (—बौ० १८५४)

५. काद०, पृ० ३६-४० (कश्चित् पुस्तकालय का० ३१, १८५८)

६. सेन्द्रक निकुम्भात्तलशक्ति का बगुत्रा दानलेख, इ० रेण्टि०, भाग १८,

निष्कर्ष यह है कि अभिलेखीय गद्य की विधाएं संस्कृत साहित्य के गद्य की प्रवृत्तियों के समानान्तर ही चलीं। अभिलेखीय गद्य के पास तो अपने क्रमिक विकास की सीढ़ियां भी सुरक्षित हैं। इसलिए दोनों ही गद्य समान रूप से आदरास्पद हैं। वस्तुतः देखा जाय तो दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और एक हैं। गद्यकाव्य, नाटक (अथवा चम्पू) तथा अभिलेखों के गद्य से ही समग्रसंस्कृत गद्यधारा त्रिपथ्या बनती है। अतः पथ्यकर पावन धारा के निर्माण तत्त्वों का जिज्ञासु शत-शत अभिलेख-स्रोतों के महत्व को पहचाने बिना कैसे सफल हो सकता है।

### ग-अभिलेखों में चम्पूशिल्प-

गद्यावलिः पद्यपरम्परा च  
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम् ।  
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा  
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥

— जीवन्धर० १।६

वयःसन्धि में बाल्यावस्था और तारुण्य का समानसन्तुलन बनाए रखने वाली कान्ता के समान चम्पूकृति सभी सहृदयों के लिए प्रीति-मंजुषा है।

चम्पूकाव्य में गद्य के सम्पर्क से पद्य वाद्ययंत्रों की सहायता से गान-विद्या की भाँति अधिक आनन्दप्रद हो जाता है।<sup>१</sup> इसका रचना वैविध्य आंताओं के लिए पुष्ट उर्वरक है, क्योंकि गद्य और पद्य में में रुचि रखने वाले पाठक इसमें युगपत् आनन्द ले सकते हैं। कवियों के लिए भी चम्पूकाव्य पूर्णस्वातन्त्र्य का विषय है। अपने सर्वांगीण प्रतिभा प्रकाशन के साथ वह 'अवसरानुकूल गद्य पद्य का प्रयोग कर सकता है'।<sup>२</sup>

१. चम्पूरामायण (भोज) १।३

२. ".....he (the author) can express his ideas in prose where prose is suitable or in verses, where prose is not likely to produce the desired effect."

— चित्र० सम्पादकीय भूमिका, पृ० २८

लज्जापात्रों के अनुसार अव्यकाव्यों के गद्यपद्य-प्रचुर मिश्रकाव्य वर्ग में चम्पूकाव्य आता है —“गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ।”<sup>१</sup> यहाँ ‘काचित्’ पद में दृश्यकाव्येतर मिश्रकाव्यों की ओर ही आचार्य दण्डी का संकेत है । अग्निपुराण<sup>२</sup> में प्रयुक्त ‘मिश्र’ और साहित्य-दर्पण के ‘गद्यपद्यमय’<sup>३</sup> की भी यही सार्थकता है । अनभिनेय मिश्रकाव्य ही चम्पू है । पंचतंत्र और वित्तोपदेश प्रभृति नीतिकथाओं के ग्रन्थों में अधिकांश पद्य अन्याद्गुंथादाकृष्य गुम्फित हैं; और जो मौलिक हैं, वे प्रायः कथाप्रस्तावनास्वरूप या आगामी कथा संसूचक ही हैं । अतः नीति-कथा-ग्रन्थ, मौलिक गद्य-पद्यमय चम्पूकाव्य की सीमा नहीं लांच सकते । कथा आख्यायिकाओं में गद्य के साथ पद्य तो होता है, किन्तु सानुपातिक नहीं । इसलिए स्वतंत्र काव्यांग ‘चम्पू’ में किसी अन्य काव्यांग का भ्रम नहीं हो सकता । चम्पू में यह अनुपात ‘आश्वास’ या ‘लम्पों’ में नहीं, अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ में देखा जाता है । जैसे यशस्तिलकचम्पू का अष्टम उच्छ्वास प्रायः छन्दोबद्ध ही है । रामानुजाचार्य के रामायणचम्पू के प्रारम्भ में अविच्छिन्न ७० पद्य, स्रज्जा किसी महाकाव्य के सर्ग का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं ।

अभिलेख, ‘साङ्ग’ या सोच्छ्वास नहीं । बाणेश्वर विद्यालंकार भट्टाचार्यकृत चित्रचम्पू भी उच्छ्वास और अंकों में विभक्त नहीं । इसलिए चम्पूतत्त्व निदर्शन में हेमचन्द्र की इस उक्ति को कि ‘चम्पू को ‘सांका’ सोच्छ्वासा’ होना चाहिए’,<sup>४</sup> समर्थन नहीं मिल सकता । चम्पू के लिए विषय का भी कोई बन्धन नहीं । आनन्दरंग यदि ऐतिहासिक विषय धेरता है तो मन्दारपरन्दचम्पू काव्यशास्त्रीय विषय । इस स्वातंत्र्य का उपभोग अभिलेख भी कर सकते हैं ।

चम्पू काव्यों के दर्शन भले ही १० वीं सदी से हुए हों, यह मानना सर्वथा तर्कसंगत है कि चम्पू इससे पहले भी लिखे गए होंगे । दण्डी और अग्निपुराण की परिभाषाएं चम्पूकाव्यों की पूर्वविद्यमानता को ही सूचित करती हैं । जहाँ तक गद्यपद्यमय रचना विधान का प्रश्न है, वहाँ यह

१: काव्या०(दण्डी) १।३१

२: ‘मिश्रं चम्पूरिति स्यात्’, अ०पु० ३३६।३८

३: ‘गद्यपद्यमयकाव्यं चम्पूरित्यभिधीयते’, सा०द० ६।३३६

४: काव्यानुशासन, अ० ८, पृ० ३४० (निर्णय १६०१)

सर्वविदित है कि वैदिक काल से ही यह परम्परा रही । शुक्ल यजुर्वेद या यजुर्वेद की तैत्तिरीय काठक एवं मंत्रायणी संहिताओं में गद्य के साथ पद्य भी मिलता है । अथर्ववेद में भी गद्यपद्य दोनों ही प्राप्त होते हैं । उपनिषदों, बौद्ध जातकमाला एवं भागवत पुराण में भी ऐसे स्थलों की कमी नहीं । किन्तु केवल गद्यपद्यमय होना ही चम्पू का एक मात्र स्वरूप नहीं । चम्पू एक काव्य है, जो साहित्य के धरातल पर विराजमान है । ऐसी स्थिति में चतुर्थ शताब्दी ईसवी से दसवीं शताब्दी तक कुछ संस्कृत अभिलेखों को ही चम्पूविकास क्रम बनार रखने का श्रेय सहज ही प्राप्त हो जाता है । हरिषेण-रचित समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति<sup>१</sup> चौथी सदी की सर्वोत्कृष्ट चम्पूरचना है । यद्यपि सूक्ष्म काव्य-स्थान-निर्धारण के दृष्टिकोण से यह रचनामिश्रकाव्यों की विरुद्धकोटि में रखी जायेगी, लेकिन सामान्य वर्ग-विभाजन के अनुसार यह चम्पू ही है । ३३ पंक्तियों के इस लेख में ६ पद्य हैं । गद्य पद्य, दोनों समानरूप से समुद्रगुप्त की प्रशंसा पर हैं । पद्य सूक्ष्म एवं अपेक्षाकृत ललितभावों के लिए नियोजित किया गया है, जबकि गद्य समुद्रगुप्त की दिग्विजय एवं स्थूल व्यक्तित्व चित्रण के लिए । गद्यमय वर्णनात्मक प्रसंग के पश्चात् जब कवि समुद्रगुप्त के यश की उपमा 'गांगपय' से देता है, तो फिर अमूर्त की तुलना मूर्त से करने में वह छन्द की ओर मुड़ जाता है । गद्य एवं पद्य का सन्धिस्थल वैसा ही है जैसा चम्पूकाव्यों में दिखाई देता है —

बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः [१] यस्य ।

प्रदानभुजविक्रम-प्रशमशास्त्रवाक्योदये

रुपय्युपरि संवयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः [१]

पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा-

निरोध-परिमोक्षा-शीघ्रमिव पाण्डु गांगं पृ [ १ ] यः ?

पाँचवीं सदी के मिश्रित लेखों में विहारशिला स्तम्भ<sup>३</sup> एवं भितरी स्तम्भलेख<sup>४</sup> चम्पू काव्य-गुणों से पर्याप्त सम्पन्न हैं । विहार स्तम्भ

१: का०ई०, भाग ३, संख्या १

२: वही, पृ० ६, पं० ३०-३१

३: वही, संख्या १२

४: वही, संख्या १३

लेख का सम्पूर्ण प्रथम भाग पद्यमय एवं गुप्त सम्राटों के प्रशंसापरक द्वितीय भाग गद्यमय है। यह लेख अधिक उण्डित हो गया है, इसलिए इसका विषय विवेचन सम्यक् प्रकार से करना सम्भव नहीं। भितरी लेख में प्रथम पंक्ति से लेकर कहीं पंक्ति तक गुप्तनृपतियों का वही परम्परागत प्रशंसा है। तदनन्तर कुमारगुप्त के साथ उसके पुत्र स्कन्दगुप्त के वर्णन करने में कवि अकरमात् कृन्द का आश्रय ले बैठता है। स्कन्दगुप्त, तत्कालीन सम्राट् और उदात्त नायक था, इसलिए उसकी प्रशंसा में अधिक सजग होना कवि के लिए स्वाभाविक ही था --

महाराजाधिर[१]जश्रीकुमारगुप्तस्तस्य [१]

प्रथितपृथुमतिस्वभाव शक्तेः

पृथुयुग्मः पृथिवीपतेः पृथुश्रीः [१]

पि[तृ]प[र]गतपादपद्मवती

प्रक्षित्यशाः पृथिवीपतिः सुतो (५)यम् [१]<sup>१</sup>

इसके पश्चात् विचलित-कुललक्ष्मी को स्थिर करने वाले तथा पुष्यमित्र और हूणों को पराभूत करने वाले सम्राट् स्कन्दगुप्त का भव्यवर्णन प्रारम्भ हो जाता है। इस लेख का मूल प्रयोजन शिवमूर्ति स्थापना एवं तदर्थ ग्रामदान सम्बन्धी है। यह प्रयोजन भाग भी कृन्दोपम्य है।

स्कन्दगुप्त कालीन इन्दौर ताम्रपत्र<sup>२</sup> न्यून चम्पूकाव्यगुणोपेत है। 'सिद्धम्' के पश्चात् इस लेख में भगवान् सूर्य का मंगलाचरण है। श्लोक सुन्दर है, किन्तु आने वाला गद्य कुछ व्यावसायिक हो गया है। शापवेदिन् कृन्द भी पुराने शापवेदिन् भावों का नवीकृत रूपमात्र है।

४८४ ई० के, भानुगुप्त का ररणा प्रस्तरस्तम्भ लेख<sup>३</sup> के प्रारम्भ में तीन कृन्द हैं। प्रथम में भगवान् विष्णु की प्रशंसा, दूसरे में कृन्दोपम्यी तिथि एवं तीसरे कृन्द में कालिन्दी एवं नर्मदा के मध्यवर्ती भाग के शासक सुरश्मिचन्द्र का उल्लेख है। चौथी पंक्ति से ६ वीं तक विष्णुस्तम्भ - स्थापनावाला प्रयोजन, गद्य में है।

शिल्पविधान के दृष्टिकोण से पाँचवीं सदी के अभिलेखों में

१: भितरीलेख, का०६०ई०, भाग ३, पृ० ५३, पं० ६-७

२: का०६०ई०, भाग ३, सं० १६

३: वही, सं० १६



पाण्डव भारतवल् का बख्शी पत्र<sup>१</sup> उत्कृष्ट उदाहरण है । इस दान लेख को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम, पद्य भाग एवं दूसरा गद्य भाग । पद्य भाग में पाण्डु-वंशी राजा जयवल्, वत्सराज, नागवल् एवं भारतवल् (इन्द्र) की काव्यात्मक प्रशंसाएँ हैं ।<sup>२</sup> अलिखित नृपों का यह प्रशंसाक्रम पंक्ति ३४ (इन्द्र ११) तक चलता है । तत्पश्चात् व्यावसायिक गद्य प्रारम्भ हो जाता है । व्यावसायिक गद्यभाग को यदि कौह भी दिया जाय, तो नये इन्द्र के प्रारम्भ में नृपति प्रशंसा हेतु प्रयुक्त गद्य भी इसे एक सफल चम्पू कृति का सम्मान दे सकता है, जैसे—

तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातः परममाहेश्वरः परमब्रह्मण्यः परम-  
गुरुदेवताधिदेवतविशेष[ : ] श्रीमां(मान्)श्रीमत्यां देव्यां द्रौणभट्टारिका-  
यामुत्पन्नः श्रीमहाराज नागवल् : [।]

तुरगबुरनिपात-दण्डणामाग्यां धरित्तिं(धरित्ती )  
मलिनयति दिगन्तां(न्तान्) पा[ः]सु रूक्षाकुलान्तां (न्तान्) [।]  
मदमलिनकपोला वारणा यस्य य(ः)तः  
प्रशममुपनयन्ते शीकराद्रां काणोन । [ ४ ]"<sup>३</sup>

तदनन्तर — 'ततस्तस्यपुत्रस्तत्' इस गद्यांश से आगे पं० १५ के 'भरतः' शब्द तक गद्य है । पंक्ति १६ से फिर पद्य प्रारम्भ हो जाता है । इन सभी इन्द्रों में भरत की ही प्रशंसा है । ८ वें एवं ९ वें इन्द्र के बीच केवल 'एकैव' ही गद्यांश है । ९ वें श्लोक का कर्तृपद होने से उक्त गद्यांश का विशेष महत्व है । ग्यारहवें इन्द्र के बाद नीरस व्यावसायिक गद्य प्रारम्भ हो जाता है — 'ततः मेकलायां उत्तररा(ष्ट्रे) पांचगर्ताविषये...' इत्यादि ।

पाँचवीं सदी के अन्य प्रमुख मिश्रित-अभिलेखों में तौरमाण-कालीन सरण वराह लेख<sup>३</sup> एवं कदम्ब मृगेश का जैन मन्दिर निर्माण सम्बन्धी लेख<sup>४</sup> हैं ।

१: ए०ई०, भाग २७, पृ० १३२-१४३

२: वही, पं० ८-१३, पृ० १४०

३: का०ई०ई०, भाग ३, सं० ३६

४: इ०ऐ०ए०, भाग ६, पृ० २४-२५

कृती शताब्दी के चम्पू शिल्प प्रधान अभिलेखों में कण्ठे ताम्र-  
लेख,<sup>१</sup> गांग हस्तिवर्मन् का उल्लामि पत्र<sup>२</sup> कदम्ब हरिवर्मन् का संगीती पत्र,<sup>३</sup>  
पार्श्वनाथवस्ती की दक्षिणावर्ती चट्टान वाला जैन लेख<sup>४</sup> आदि हैं। इनमें  
पार्श्वनाथवस्ती वाला लेख विशेष उल्लेखनीय है। यह लेख 'सिद्धम् स्वस्ति'  
से प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् आने वाले चार श्लोकों में प्रथम तीन में  
वर्द्धमान तीर्थंकर की स्तुति एवं चौथे श्लोक में श्रीविशाला की प्रशंसा है।  
तदनन्तर गद्य भाग प्रारम्भ हो जाता है। इस भाग में जैनसंघ का उज्जयिनी  
से दक्षिणापथ के लिए निर्गमन एवं आचार्य प्रभाचन्द्र और कुम से अन्य  
सात सौ जैन ऋषियों द्वारा समाधि प्राप्त करने का उल्लेख है। सारा  
गद्यबन्ध गाँधीरीति में है जो समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति की भाँति ही  
सशक्त है।

इस सदी के कदम्ब लेख भी चम्पूशिल्पप्रचुर हैं, जैसे रविवर्मन् का  
सामाजिक एवं सांस्कृतिक लेख,<sup>५</sup> रविवर्मन् के भाई भानुवर्मा का लेख<sup>६</sup> एवं  
हरिवर्मा का वसुन्तवाटक ग्रामदान सम्बन्धी लेख<sup>७</sup>। रविवर्मन् के उक्त  
सामाजिक एवं सांस्कृतिक लेख में केवल कदम्ब-कुल-प्रशंसा में ही गद्य प्रयुक्त -  
हुआ है। इसलिए सम्पूर्ण लेख पद्य प्रधान ही माना जायेगा। फिर भी  
गद्य पद्य का सन्धिस्थल चम्पूकाव्यों की तरह ही आकर्षक है —

“स्वामि-महासेनमातृगणानुध्या (ध्या)तानां मानव्यसगोत्राणां  
हारिती-पुत्राणां प्रतिकृतस्वाध्या (ध्या)य-वच्चिर्पात्राणां स्वकृत-  
पुण्यफलोपभोक्तृणां (णां) स्वबाहुवीर्यापाज्जितैश्वर्य्य-भोगभागिनाम्  
सद्धर्मसदम्बानां कदम्बानां॥

१: इ०के०टे०-वे०ई०, सं० ६, पृ० ५८-६६

२: ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३०-३३४

३: ए०ई०, भाग १४, पृ० १६३-१६८

४: ए०के०टी०, भाग २, पाठ्य पृ० १

५: इ०के०ए०टी०, भाग ६, पृ० २५-२७

६: वही, पृ० २७-२८

७: वही, पृ० ३०-३१

[२]  
 काकुस्थवर्मनृपलब्धमहाप्रसादः (८ः)  
 संभुक्तवाङ्मूतनिधिश्श्रुतकीर्तिभोजः [१]  
 ग्रामं पुरा नृषु वरः पुरुषुष्यभागी  
 शेटाह्वकं यजनदानदयोपपन्नः ॥<sup>१९</sup>

सातवीं सदी के मिश्रित लेख चम्पूतत्त्वों से अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध हैं। हर्ष के बाँस-खेड़ा<sup>२</sup> और मधुवन<sup>३</sup> दोनों शासनपत्रों में मिश्र-काव्य की एक भालक दिखायी देती है। हर्ष के समकालीन कामरूप नृपति भास्कर-वर्मन् के निधानपुर शासन-पत्र<sup>४</sup> में भी गद्य पद्य प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रथम श्लोक में 'भष्मकणाविभूषिते' शिव का मंगलाचरण और आगामी विषय का उपक्रम है। तदनन्तर घोषणास्थान वर्णन गद्य में है --

“स्वस्ति महानां-हस्त्यस्वपत्तिः (श्वपति) सम्पत्युपातः (त्त) -  
 जयशब्दान्वर्थ-स्कन्धावारात्कणसुवणवासकात् ॥”<sup>५</sup>

इस गद्यांश के बाद पंक्ति ३३ तक प्रवहमान गद्य है। छन्दों में भौमनारक नृपतियों की श्लेष एवं यमक के साथ अतिरंजित प्रशंसा की गई है। नामों के साथ यमक नियोजित करके राजाओं के लिए पौराणिक साम्य ढूँढने में कवि विशेष प्रयत्नशील रहा --

भोगवती भोगवती भूतेः स्थितिवर्म्णा[स्]ततो हेतुः [१]  
 आसीद्भोगपतेरिव भूमिभृतोऽनन्तभोगस्य ॥<sup>६</sup>

निधानपुर शासन-पत्र के गद्य का साहित्यिक भाग पंक्ति ४४ पर्यन्त ही है। इसके पश्चात् पंक्ति ५१ तक व्यावसायिक गद्य की रसहीन सीमा है। साहित्यिक गद्य समासप्रचुर और सशक्त है। गद्य-समाप्ति पर परम्परागत भूमिदान सम्बन्धी श्लोकों के बाद प्रस्तुत लेख की प्रामाणिकता सम्बन्धी एक मौलिक श्लोक है ।<sup>७</sup>

१: ई०एच०, भाग ६, पृ० २५-२६, पं० २-८

२: हि०लि०इ०, पृ० १४५-१४७

३: ए०इ०, भाग ७, पृ० १५५-१६०

४: हि०लि०इ०, पृ० २३५-२४०

५: वही, पृ० २३५, पं० २-३

६: वही, पृ० २३७, श्लोक १६

७: टि०—निधानपुर के अन्य भ्रष्ट पत्र (ए०इ०, भाग १६, पृ० ११५-१२५ एवं

इस कृताब्दी के मिश्रित अभिलेखों में लोकनाथ का तिप्पेरह  
ताम्रशासन<sup>१</sup> को नहीं भुलाया जा सकता है। प्रारम्भ में घोषणा स्थान का  
उल्लेख कर लेने के बाद नौ श्रृंखलों में लोकनाथ के पूर्वज एवं उसकी प्रशंसा  
है ( पं० २-१६) । शेष भाग, परम्परागत दान सम्बन्धी श्लोकों को  
लौटकर, गद्यमय है। अधिकांश गद्य यद्यपि व्यावसायिक लेखों के कारण  
साहित्यिक स्तर से कुछ न्यून है फिर भी पंक्ति १७ से लेकर २५ तक का गद्यभाग  
आठभट्ट के गद्य की सी फलक<sup>देकर</sup>, गद्यस्तर निर्धारकों को निराश नहीं  
करता ।

पुलकेशिन् (द्वि०) का आश्रयद्वयक ग्राम सम्बन्धी दान लेख,<sup>२</sup>  
'त्रिविक्रमाक्रान्तसप्तभुवन' विष्णु के मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है।  
मंगलाचरण के आगे सातवीं पंक्ति का प्रथम गद्य प्रारम्भ हो जाता है,  
जिसमें कीर्तिवर्मा और उसके पुत्र सत्याश्रय पुलकेशिन् (द्वि०) की प्रशंसा है।  
सत्याश्रय के विशेषाणाप्रचुर नामोल्लेख के पश्चात् उसके शौर्य एवं समृद्धि की  
और ध्यानाकर्षित कराने के लिए कवि ने पद्य का आश्रय लेना ही उपयुक्त  
समझा—

सर्व-सद्गुणाश्रयो रिपुवरिद्रः श्री सत्याश्रयो नाम यः —

पदं न्यस्य(१)..... शत्रूणां शौर्येणापरि पार्थिवः ।

प्रकृत्या पुंश्चलीं लज्मीं सतीव्रतमकारयत् ॥<sup>३</sup>

सामान्य वर्णनात्मक प्रसंगों के पश्चात् वर्णविषय के किसी  
विशेष पक्ष पर ध्यान देने या पाठकों को बलात् लींचने का, पद्य ही  
उत्कृष्टतर माध्यम है। इसी तथ्य का अनुसरण कालान्तर में बम्पू ग्रन्थों  
में किया गया ।<sup>३</sup>

१: ए०ई०भाग १५, पृ० ३०१-३१५

२: प्रा०ले०मा०, भा०, ३, पृ० ११८-१२० (का०मा०)

३: इ०-३५०.— महाभूतपुरीनामनगरी ।

विशुद्धपद्माः श्रुतिहृद्यवाचो

द्विजोत्तमास्तत्त्वविवेकदत्ताः ।

गतिं प्रकृष्टामवलम्बमाना

व्यभूषयन् यां नलिनीमिवार्याः ॥ —रामानुजचम्पू १।७१  
(मद्रास १८४२)

‘उक्तं’ का प्रयोग उद्धरण का सूचक होता है। वह उद्धरण पूर्वोक्त कथन का समर्थन करता है। नीतिप्रधानों में इस लघुवाक्य का व्यापक प्रचार रहा। चम्पू काव्यों में ‘अपि च’<sup>१</sup> ‘किंच’<sup>२</sup> तथा हि’<sup>३</sup> आदि के प्रयोग से जाने वाले भाव जोड़े जाते हैं। निर्मित दीवार से सोद्देश्य बाहर निकलीं, ये ऐसी ईंटें हैं, जो निर्मिष्यमाणा दीवार की एक रूप से जोड़ती हैं। पूर्वोक्त चालुक्य जयसिंह (प्र०) ‘सर्वसिद्धि’ के पेहलवेगि दानलेख में ‘अपि च’ के प्रयोग से गी गद्य से पद्य जोड़ा गया है।<sup>४</sup> अल्लशक्ति (सेन्द्रक) के कासारै शासन-पत्र<sup>५</sup> में प्रथमवार गद्य पंक्तियों के पश्चात् पुनरपि च’ प्रयुक्त हुआ है। कवि जब गद्य में सेन्द्रक निरुम्भाल्लशक्ति की सर्वश-प्रशंसा करता न आया तो उसे भावविभोर होकर स्रग्धरा का आश्रय लेना पड़ा। ‘पुनरपि च’ इन्हीं दोनों (गद्य-पद्य) की मध्यवर्ती रेखा है। पद्य से पद्य जोड़ने के लिए भी इन मध्यवर्ती गद्यरेखाओं को निर्मत्रा दिया जा सकता है। चालुक्य विक्रमादित्य (प्र०) के वेलनल्लि शासन-पत्र में ‘रणशिरसि’ और ‘मृदितनरसिंह’ आदि से प्रारम्भ होने वाले दो पद्यों को जोड़ने में ‘अपि च’<sup>६</sup> का ही आश्रय लिया गया।

सातवीं सदी के पल्लव अभिलेखों में कूरम शासन-पत्र<sup>७</sup> के गद्य और पद्य दोनों ही उच्चस्तरीय एवं काव्यात्मक हैं। इस लेख की एक विशेषता यह भी है कि इसका कुछ अंश (पं० ५७-८६) तामिल में भी लिखा हुआ है। इस दृष्टिकोण से यह मिथकाव्य का कर्मक प्रकार माना जा सकता है।<sup>८</sup> अमरावती स्तम्भ लेख<sup>९</sup> इस शताब्दी के अभिलेखों में श्रेष्ठ चम्पूरचना है। इस लेख में मंगलाचरण के बाद पल्लववंशावली का पौराणिक उद्गम दिखाया

१. यश०, भा० २, पृ० ३६

२. वही, पृ० ४०

३. चित्र०, पृ० ४

४. स०इ०, भाग १६, पृ० २५६, पं० ६-१२

५. का०इ०इ०, भाग ४, पृ० ११०-११६

६. का०प्ले०इ०आ०प्र०म्यु०, भाग १, पृ० ५२, पं० १७, टि०—ये श्लोक, विक्रमादित्य(प्र०) के अन्य लेखों में भी प्राप्य होते हैं, जैसे चिन्तकण्ठ ग्रामदानलेख, इ०, रेण्टि०, भाग ६, पृ० ७५-७८

७. सा०इ०इ०, भाग १, पृ० १४४-१५५ ( हुल्ल महीदय द्वारा किए गए आंशिक संशोधन सहित, द्रष्टव्य—स०इ०, भाग १७, पृ० ३४०-३४४

८. इ०— सा०इ०, ३।३३७

९. सा०इ०इ०, भाग १, पृ० २५-२८

— गया है । पौराणिक पूर्वजों के क्रम में ब्रह्मन् भरद्वाज, अंगिरस्, सुधामन्, द्रोणवर्ष्य, अश्वत्थामन्स्वं पल्लव है ( लोको २-८ ) । तदनन्तर महेंद्रवर्मन् से लेकर सिंहवर्मन् ( द्वि० ) तक ऐतिहासिक पल्लव नरेशों का छन्दोजड उल्लेख है । इस परमपय पूर्वार्द्ध ( ग्यारह पद्य ) के बाद एक लघु कथावाला गद्यभाग प्रारम्भ हो जाता है । शुद्ध चम्पूकृति वास्तव में गद्यपरमपय एक कथा को लेकर ही चलती है । इस दृष्टि से भी यह लेख अन्यों की अपेक्षा अधिक चम्पूतत्त्वों से सम्पृक्त है । वर्णनात्मक भाग की कथा इस प्रकार है— 'सिंहवर्मा (द्वि०) अपनी कीर्ति को स्थापित करने के लिए दलबल सहित सुमेरु पर्वत पर गया । तत्पश्चात् भागीरथी गोदावरी और कृष्णावेणु (कृष्णा) को पार कर वीतराग भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ धान्यघट (धान्यकटक) पहुँचा । वहाँ वीतराग भट्टारक को देखकर देवताओं को प्रणाम किया और धर्मदेशना सुनी । सिंहवर्मा ने बुद्ध से कहा— 'हे देव! मैं भी 'मणिफनकविचित्र' एक स्तम्भ स्थापित कहूँगा ।' प्रसन्न होकर बुद्ध ने स्तम्भ स्थापित करने के लिए उपयुक्त स्थान बता दिया ।' लेख<sup>के</sup> खण्डित होने के कारण आगे कथा सूत्र प्राप्य नहीं ।

इस अपर्युक्तस्तम्भलेख में जहाँ पर सशक्त और सुन्दर है, वहाँ गद्य भी पर्याप्त काव्यगुणोपेत है<sup>१</sup> :—

‘स सागराम्बरासुवीं गंगामो(मो)क्तिकहारिणीं [१]

जभार सुचिरं वीरो मेरुकन्दरकुण्डलां [॥ ११ ॥]

अथ कदाचिदमरगिरिशिखरायमान(ता)कश्चिरातनखरविदारित-  
कनकदलचरतुरगबुरमुक्तामुत्थितव(र)जस्तापनीयवितानितनभस्थल(स्तलः)सकल-  
मण्डलीकसामन्तसमरवीरोपरचितपाष्ठापिुरोन्नतोल्लिखितदिग्विजयार्जितयशः ।

(— पं० २७—३३ )

यहाँ नए अनुच्छेद प्रारम्भ करते समय 'अथ कदाचित्' कथा-ग्रन्थों के अनुकरण पर है । कालान्तर में ऐसे प्रयोगों का चम्पूकाव्यों में भी सहज प्रवेश हो गया ।

दृश्यकाव्यवर्ग के अन्तर्गत होने के कारण चम्पूओं में संवादों को स्थान नहीं ; क्योंकि संवाद अभिनेयता के पोषकतत्त्व होते हैं । फिर भी चम्पूकाव्यों में इसका पर्याप्त प्रचलन रहा ।<sup>२</sup>

१. सा०ई०ई०, भाग १, पृ० २६-२७ पं० २७-३३

२. उदा०—यश०भाग २, पृ० २६४ (निणयि १६०३), नृसिंह० (द्वि०उच्छ्वास)  
पृ० ११-३०, विश्वगुणादर्श०, पृ० ५-१० (जम्बई १८६६) आदि

इस लेख में भी सिंहवर्मन् एवं अपरजन्मन् (बुद्ध) का कथोपकथन प्राप्त होता है -

“ श्रुत्वा चापरजन्मानं ----[भि]वन्देयदमुवाच[।] भगवन् भगवतो --  
[दि]कामिहैव पण्डितकनकरजतविचित्रं कल्प----[ए]वमुक्ते भगवानुवाच । साधु  
साधु उपा[सक सिंह]वर्मन्.....” — (पं० ४१-४५)

निष्कर्ष यह है कि गद्य-पद्य-मिश्रण का जो रूप वेदपुराणों ने प्रदान किया, उस शिल्प को काव्य कलेवर देने का प्रथम श्रेय अभिलेखों को प्राप्त होता है । अभिलेखों के ही अनुकरण पर १० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत-काव्य परिषद् में एक उदार सदस्य को प्रवेश मिला, जो सदस्य (चम्पूकाव्य) श्रोतार्थों की रुचि के सम्मान के साथ कवियों को भी प्रचुर स्वातन्त्र्य देने का निर्विवाद पक्षपाती सिद्ध हुआ । काव्यांगों की सूची में इस नये सदस्य का नाम लिखाने के लिए संयोग से नलचम्पू और मदालसा-चम्पू को लेकर वही त्रिविक्रमभट्ट<sup>१</sup> आया, जिसका अपना नाम राष्ट्रकूट इन्द्रराज (तृ०) के नवसारी ग्रामोपलब्ध ( ६१५ ईसवीय)ताम्रलेख में गहरी रेखायें खींचे हुए हैं —

“श्रीत्रिविक्रमभट्टेन नेमादित्यस्य सूनुना” इत्यादि ।



रसभावाभिव्यक्ति

पगडण्डियों की पूर्वसत्ता के आधार पर ही प्रशस्तमार्गी का निर्माण किया जाता है। इस दृष्टान्त से भी लज्जग्रन्थों से लज्जापाग्रन्थों का पश्चाद्भावित्व सिद्ध होता है। यहाँ दूसरा तथ्य यह भी है कि प्रशस्तपंथ निर्माण का पहला दिन, दुर्भाग्य से पगडण्डी की सत्ता का अन्तिम दिन होता है। रस के अनुसंधान से पहले संस्कृत-साहित्य के पग-पग पर उसके शत-शत उत्स फूटते रहे, किन्तु बाह्योन्मय के उद्यान में लज्जापाग्रन्थों ने जब रससिद्धान्त के फव्वारों की प्रतिष्ठा की, तब से रसस्त्रोत दिन प्रतिदिन क्षीण ही होता गया। लज्जग्रन्थों पर पढ़ा, मरुस्थली प्रभाव इस तथ्य का स्पष्ट समर्थक है। नैषधीयचरित आदि कुछ ग्रंथ अपवादस्वरूप भी रहे जा सकते हैं, जो रससिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् लिखे गए, फिर भी जो रस के अक्षीपाकाव्यक्तशक्ति की भाँति प्रतिष्ठित हैं, लेकिन ऐसे ग्रंथों की संख्या पूर्ववर्ती चिररसनिष्पन्दी काव्यग्रन्थों के सामने पर्याप्त-न्यून है। भरत, अश्वय कालिदास आदि रससिद्ध कवीश्वरों के पहले हुए किन्तु उनके नाट्यशास्त्र १ में प्रतिपादित रस को नाट्यरस का ही सीमित-सम्मान दिया जायेगा। रस सिद्धान्त के प्रतिपादक बन्तर्त्तविक ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन एवं ध्वन्यालोक के टीकाकार (लोचनकार) अभिनवगुप्तपाद हैं, जिनका स्थितिकाल सातवीं सदी से बहुत पश्चात् है। इसलिए सातवीं सदी तक के अभिलेखीय कवि भी अन्य कवियों की भाँति रस के काव्यशास्त्रीय आविष्कार को न देख सके। इस कालावधि के अन्तर्गत भामह एवं दण्डी ने अश्वय रस चर्चा की, किन्तु उनकी रसविषयक मान्यताएं उत्तरवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं, क्योंकि जहाँ भामह ने रस को अलंकार मानकर प्रेयस्, रसवत् और ऊर्जस्वी — इन तीन अलंकारों के विषय में लिखा, वहाँ 'रसभावनिरन्तरता' के पक्षापाती दण्डी ने रस का सम्बन्ध माधुर्यगुण से बतलाया। ३ उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसके विपरीत

१: ५०—ना०शा०, अध्याय ६—७

२: ५०—हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६३१ अथवा काव्यालंकार (भामह) ३।५—७

३: 'मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रस स्थितिः', काव्या०<sup>(दण्डी)</sup> १।५१, व्याख्या—एतेन रसो माधुर्यमिति तयोरेषः पर्यवस्यति, माधुर्यं नाम गुणः—वही पृ० ४५

रस को सर्वोपरि स्थान देकर उसे काव्य की आत्मा कहा । काव्य रस से ही संप्राण है और संप्राणता की अवस्था में ही कलंकारादि<sup>१</sup> प्रभावों को महत्व दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं । इसलिये रीति-गुण तथा कलंकार सभी रस के अनुसार कहे जाने हैं । विश्वनाथ ने भी रसालोक वाक्य को ही काव्य कहा है ।<sup>२</sup> नीरसकाव्य रसियों के लिए कहां सुष्ठुका को रचना है कलंकार योजना तो श्रोताओं को मान वह-वाही सिखाकर उनके लिए ही किला पाती है, उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द में डुबाने के लिए उसके पास सामर्थ्य कहाँ ? यह सामर्थ्य रस में है । रस आनन्द है और आनन्द में चमत्कार के साथ । इसीलिए रस को ब्रह्मानन्द सबोदर एवं लोकोत्तरवत्कार-प्राण कल्लास जाने का सम्मान मिला है । मानव-मन में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, मय लुप्ला, विमय और निर्वेद -- ये नौ भाव, जिन्हें स्थायीभाव कहा जाता है, वास्तव रूप में वर्तमान रहते हैं । विभावानुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से इन्हीं स्थायीभावों की रसमान-स्थिति, जिसमें मन विभ्राम पाता है, रसनिष्पत्ति है ।<sup>३</sup> दूसरे शब्दों में आलम्बनों के माध्यम से जो हुए, उद्दीपन से उद्दीपित, व्यभिचारी अथवा संचारीभावों से पुष्प तथा अनुभावों से अभिव्यक्ति स्थायीभाव ही रस द्वारा जो प्राप्त होता है । परिणामतः श्रोता या द्रष्टा एक आनन्दप्रदा तन्मयावस्था में पहुँच जाता है । रस शब्द से ही द्रव्यत्व एवं आस्वाद्यत्व की गुणज्ञ प्रतीति हो जाती है ।

रस की आनन्दस्थिति एक है । श्रोता की तन्मयावस्था सभी स्थायीभावों की रसमान अवस्था में समान है । फिर भी स्थायीभावों के अनुसार उपाधिभेद से रस नौ प्रकार के हैं -- शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, मयानक बीभत्स, अद्भुत एवं शान्त । भरतादि आचार्यों ने दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में प्रथम आठ रस ही स्वीकृत हैं । शायद निर्वेदग्रस्तमन की क्रियाहीनस्थिति, नाटकों की अभिनेयता के लिए पशुपति सिद्ध न हुई हो ! किन्तु और यही शान्तरस के अस्वीकृत होने का कारण हो । किन्तु ध्वनिवाद के समर्थक अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराजजगन्नाथ आदि आचार्यों ने न केवल इसे रस ही कहा, अपितु 'उत्तमप्रकृतिक' मानकर

१- वाक्य रसात्मक काव्य - पृ० ६० १।३

२- तथैव नीरसं काव्यं स्यान्नो रसिकतुष्यते ॥

र० प्र०, पृ० १७

३- भावविभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनो  
विभ्रामो यत्र क्रियते स वा रसः ॥

शृङ्गार और वीर इन दो रसों के साथ अंगिरस का 'आरदात-पद' ४६

अभिलेखों के सन्दर्भ में रसों के साथ भावों का भी सम्बन्धपूर्ण स्थान है। देवनृप आदि की स्तुति एवं व्यभिचारीभावों की व्यंजित प्रतीति का नाम भाव या भावध्वनि है। विश्वनाथ ने इनके अतिरिक्त उद्बुद्धमान रत्यादिरूप स्थायीभाव की अभिव्यक्ति को भी भाव माना है।<sup>१</sup> रस-भाव वैसे अन्योन्याश्रित हैं और परस्पर उपकारक हैं। एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं। भारतमुनि ने तो मूलभूत रसों में ही भावों की उत्पत्ति मानी है। जिस प्रकार बीज में वृक्षा एवं वृक्षा में पुष्प-फल आदि की गृष्टि होती है।<sup>२</sup> निष्कर्ष यह है कि यदि रस प्रतीयमान स्वच्छ सलिला की धारा है, तो भाव अन्तःसलिला का प्रच्छन्नप्रभाव, जिसकी सत्ता अगन्दिग्य है, किन्तु, जिसकी प्रतीति का माध्यम केवल व्यंजना है। अभिलेखों में विशेषतः मन्दिरनिर्माण सम्बन्धी स्मारक लेखों में जो देवताओं की स्तुति रहती है, उसकी पृष्ठभूमि में कविनिष्ठ देवविषया रति ही है। प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण ने समुद्रगुप्त के शौर्यवीर्य की प्रशंसा की है। वह प्रशंसा राजविषया रति के घरातल पर ही उत्थापित है। दानपत्रों में दातानृपति की जो सर्वश-स्तुति है, उसमें भी नृपविषया रति ही अभिव्यंग्य रहती है। सुदम अवलोकन के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रशस्तियों, स्मारकलेखों एवं दानपत्रों के वर्ग में आने वाले अधिकांश लेख भावध्वनियों के ही विराट् संग्रह हैं। अन्तःसलिला की धारा में जब कोई उत्स भूमि के दृढ़ बन्धन को तोड़-फोड़ कर बाहर निकलता है, तो वह स्पष्ट रसधारा का रूप धारण कर लेता है। अभिलेखों में खोजे गए अधोलिखित नौ रसों में अधिकांश ऐसे ही उत्स हैं, जो भावध्वनि में उत्पन्न होकर भावध्वनि में ही लीन हो जाते हैं। उत्पत्ति एवं लय के बीच की गोचर अवस्था ही उनकी रसावस्था है। समुद्र से उत्पन्न होकर समुद्र में ही बरस-बरस कर लीन होने वाले जलधाराओं का यह मध्यवर्ती रसवर्षण-काल है।

शृङ्गार ---

शृङ्गार के दो भेद हैं, संयोग एवं विप्रलम्भ।<sup>४</sup> इनका क्रमिक निदर्शन नीचे द्रष्टव्य है। यद्यपि यहां यह कथन अप्रासंगिक न होगा कि

१- रतिदेवादिविषया सन्ति च व्यभिचारिणः ।

वैद्यमाना निगद्यन्ते भावाः साहित्यवेदिभिः ॥

----- चन्द्रा० ६।१४

तथा -- 'रतिदेवादिविषया व्यभिचारी तथाऽ श्रुतः भावः प्रोक्तः' --

का० प्र० ४।४८

२- सा० द० ३।२६०-२६१

३- ना० शा० ६।३८

४- सा० द० ३।१८६

विवेच्य कालविधि के अन्तर्गत जाने वाले अभिलेखों में दोनों प्रकार के शृंगार की पर्याप्त न्यूनता लक्ष्य है, अभिलेखों का, काव्यों से भिन्नप्रयोजनत्व ही इसका कारण है ।

संयोगशृंगार --- पल्लवनरेशों ने <sup>कारण</sup> अभिलेखों में अपने वंश का स्रोत पौराणिक कथाओं में संग्रहित किया है । अमरावती के एक अष्टकोण-स्तम्भ<sup>१</sup> में पल्लवकुल में आदि-पौराणिक पात्र ब्रह्म, मरदाज, अंगिरस, सुधामन्, द्रोण एवं अश्वत्थामन् गिनाए गए हैं । तदनन्तर इस वंश के आदि ऐतिहासिक व्यक्ति 'पल्लव' के उत्पन्न होने की कथा शृंगाररसप्रधान है --- 'जब अश्वत्थामन् तपस्या कर रहे थे, तो अप्सराओं से धिरी प्रसिद्ध सुरेन्द्रकन्या 'मदनी' अरण्यवासियों के निवासस्थान को देखने की इच्छा से इन आश्रम में आई और उक्त ऋषि को दृष्टिगोचर हुई । अशोकवृक्षों के नीचे विराजमान ऋषि मदनी के पास उपस्थित हुए । मदनी उस समय तालाब में प्रियावियोग भीत कलहंस-मण्डल को सस्पृह देख रही थी क्योंकि उनकी प्रियार्थ वातेरित कमलों के कारण उनमें पृथक् हो गई थी । मदनी, अश्वत्थामन् को सन्यासी के वेष में कामदेव समझकर शिव को देखकर पार्वती की मांति, अपना संयम सौं बंठी । तदनन्तर अन्यान्य देवाङ्गनाओं ने प्रगाढ़ प्रणयलीन इन दोनों को देखकर इनकी संगम-व्यवस्था कर दी । कुछ समय बीतने पर मदनी ने सागरमेखला-पृथ्वी के स्वामी को जन्म दिया जन्मकाल में पल्लव-शय्या में सोते रहने के कारण, पिता ने उसका नाम 'पल्लव' ही रख दिया ---

तपस्यतस्तस्य क्लिप्सरोवृता सुरेन्द्रकन्या मदनीति विस्तृता [१]  
 कदाचिदारण्य-निवासिमन्दिरं दिदृक्षुरालोकयं जगाम सा ॥  
 सरःप्रवाताम्बु(ताम्बु)जविस्त्रल[व]प्रियाविगोमभीतं कलहंसमण्डलं ।  
 अशोकवृक्षावुपविश्य सस्पृहं विलोक्यन्तीमुपतस्थिवानृषिं (षिः) ॥  
 उपैव शर्वं प्रबभूव नात्मनो निरीक्षितं काममिवर्षिवैषिर्न (णम्) ।  
 कथोमयं गाढनिबद्धमावकं सुरांगनास्संगम्यांबभूविरे ॥  
 जसुत काले सुरराजकन्या नार्थं सुवस्सागरमेखलायां (याः)  
 सपल्लवो (वौ) यास्तरणे शयानं पिता सुतं पल्लव इत्यवादीः (दीत्) [१]

---- श्लो० ५-८

यहां अश्वत्थामन् एवं मदनी (दोनों उत्तमप्रकृति के प्रेमी) जालम्बन हैं । अरण्य का वातावरण एवं कलहंसमण्डल के प्रियावियोग की समानधर्मिणी

स्थिति उद्दीपन, कलहंस मण्डल के प्रति सम्पूर्ण अवस्था (जिसमें 'मदनी' के संयम-  
शिर दृढ़ रहे) — अनुभाव एवं मद, हर्ष जलता आदि व्यभिचारी भाव हैं।  
इनके संयोग में स्थायीभाव रति की सृष्टि सद्बुद्ध श्रोताओं में हो जाती है।  
रतिभाव का यही अभिव्यक्ति, शृङ्गार रस का स्वरूप है।

बन्दिस्सक्ति मन्दिरादि-निर्माण के प्रसंग में निर्माणकाल का  
उल्लेख करना एक अभिलेखीय परम्परा थी। ऐसे अवसरों पर कवि ऋतुवर्णन की  
ओर उन्मुख होता था। वास्तव में बन्धनग्रस्त अभिलेखीय कवियों के लिए ये क्री  
कूट के अवसर थे, जब वे अपनी कृतियों में 'रसास्मृता' के पुट दे सकते।  
वत्समण्डित द्वारा, सूर्यमन्दिर के निर्माण के प्रसंग का श्रुतिकाल वर्णन, अधोलिखित  
संयोगशृङ्गारपरक श्लोक के लिए मृज्ज प्रेरणा बन गया। परिणामतः पूर्ववर्ती  
ऋतुवर्णन सम्बन्धी दो श्लोक (श्लो० ३१-३२) इस श्लोक के लिए उद्दीपन विभाव  
का कार्य करने लगे।--

स्मरवशातरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु-  
स्तन-जघन-पनालिङ्गन-निर्मसित-तुम्हिलिपाते ॥<sup>१</sup>

(जिस ऋतु में) कामातुर युवकगण अपनी प्रेयसियों के पृथुल, सुन्दर  
और पीन जंघों, कूर्चों और नितम्बों के गाढ़ आलिङ्गन में अतिशीत तुम्हिलपात  
को भी बिसार देते हैं।<sup>२</sup> परन्तु ऐसे स्थलों में शुद्ध शृङ्गार ढंढना व्यर्थ है,  
क्योंकि कवि का मुख्य प्रयोजन ऋतुवर्णन होता है और ऋतुवर्णन, मन्दिर  
निर्माणकाल के उल्लेख करने का प्रकारविशेष बन कर रह जाता है।

ऐसे उदाहरणों की अभिलेखों में कमी नहीं।

विप्रलम्भशृङ्गार --- स्मारकलेखों के ऐसे ही गौण प्रसंगों में  
वियोग शृङ्गार रस की उपलब्धि होती है। यशोधर्मन् कालीन मन्दसौर  
अभिलेख में वर्णित, 'निर्दोष' नामक कृप का निर्माण वसन्तकाल में हुआ था;  
जिस काल में कामदेव के बाणों की तरह, सुन्दर एवं मृदुल-कण्ठी कोकिलों का  
पंचम विरहीजनों के हृदय का भेदन सा करता है और प्रमत्तों का मदमारमन्थर  
गुंजन, मन्मथ के कम्पित प्रत्यंवा वाले धनुष की भांति सुललित होता हुआ,  
वन-वन में सुनाई देता है :-

यस्मिन् काले कलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापा  
मिन्दन्तीव स्मरशरनिमाः प्रोषितानां मनांसि ।  
मृदुङ्गालीनां ध्वनिरनुवनं मारमन्दश्च यस्मि-  
न्नाघतज्यं घनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतौः ॥<sup>३</sup>

१- बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौरलेख, का० इ० इ०, पा० ३ सं० १८ पृ० ८३ श्लो० ३१

२- का० इ० इ०, पा० ३ सं० ३५ पृ० १५४ श्लो० २५



तत्त्वतः देखा जाय तो आलम्बनों के ऐसे गौण वर्णन, स्पर्शा  
 भिन्न मुख्य वर्ण्यविषय के अनुचरत्व से ऊँचा स्थान नहीं पा सकते । फलतः  
 इन गौणवर्णनों की पृष्ठभूमि में रसविशेष को स्वतन्त्र नहीं रसा जा सकता ।  
 'अभावे शालिष्ठुर्ण' वा शर्करा च पुड्गथा' की विवशता के कारण ऐसे उदाहरण  
 की हमारी रसतृष्णा को बांशिक परितोष दे सकते हैं । यदि इस विवशता-  
 जन्य मान्यता के चरण अंगद की तरह अडिब हो गए, तो हम उक्त उदाहरण  
 को 'प्रवासवियोगशृंगार'-परक होने का सम्मान दे सकते हैं । इसी प्रकार  
 मालव गंवत् ५२४ वाले मन्दसौर लेख का अधोलिखित श्लोक --

पृङ्गाङ्गाङ्गमारालस-बालपद्मे काले प्रवन्ने रमणीयसाले ।

गतासु देशान्तरित-प्रियासु प्रियासु कामज्वलनादुत्तिप्तम् [॥] १

जिस समय प्रमरी के शरीरमार में बालपद्म श्ले में रहते हैं,  
 सालवृद्धा, रमणीयता को प्राप्त करते हैं तथा प्रोषितपत्तिकारं कामाग्नि में  
 मस्म होती रहती है, ऐसी कतु के आ जाने पर....

इस मन्दर्म में निम्नलिखित श्लोकाई द्रष्टव्य हैं । मौलारि  
 यज्ञवर्मा की प्रशंसा में कवि कहता है कि -- 'सतत यज्ञायोजनों के माध्यम से  
 उसके द्वारा हुलाए गए इन्द्र के विरह में क्षीण इन्द्राणी सदा ही क्लृप्तुष,  
 कपोलशोभा को धारण करती हैं --

यस्याहृतसहस्रनैत्रविरहतामा सदेवाध्वरः

पौलौमी चिरमद्युपातमलिनां धू(ध)त्ते कपोलप्रियम् ॥ २

यहां विप्रलम्भ-शृङ्गार तो है किन्तु वह परिणामतः कवि-  
 निष्ठ राजविषयारति का उपस्कारकमात्र बन कर रह गया है ।

हास्य --

देवविषयारति पर आधारित 'स्मित' हास्य-भाव का  
 अभिव्यजन निम्नांकित श्लोक में देखा जा सकता है --

१- ए० ई०, मा० २७ पृ० १६ श्लो० १४

२- नागार्जुनी गुहालेख, का० इ० ई०, मा० ३ सं० ४६, पृ० २२४ श्लो० १

मन्ध्या वासरभाषिनी तत्रि)पण्णा पत्नी तथाम्मोनिधे -  
 स्तत्पत्नी न विमेषणादपि कं निर्दग्ध-कामप्रति ।  
 इत्थं वाक्कपरम्परा विगर्ह(गह)णेनोक्तो भवान्ना भवो  
 म्मुयाइवत्त्र(क्व)वतुष्टयेन विहसनुच्चैश्चिरं वः त्रियं ॥<sup>२</sup>

--- कवि मदशर्वाण्ड

‘मन्ध्या, मृग की पत्नी है तथा गंगा मयूह की प्रिया है । हे काम  
 को दग्ध करने वाले व्रती, इन परपत्नियों में वासक होकर तुम पाप से क्यों  
 नहीं डरते हो’ -- इस तरह वाक्य-परम्परा से पार्वती के द्वारा निर्मित  
 होने पर (अतः परिणामतः) चार सुखों से ठहाका मारकर हँसने वाले शिव  
 आप लोगों की स्मृति के अनुकूल हों ।’ यहाँ परदारारक्त शिव के लिए  
 पार्वती द्वारा ‘निर्दग्धकामप्रति’ सम्बोधन प्रयोग, ‘स्मिते हास्य की सृष्टि  
 करने में सर्वथा समर्थ है, मले ही शिव के उच्चमान का कथन ‘स्वशब्दवाच्यत्व  
 दोष’ को साग्रह-निमंत्रण देता हो ।

कहण ---

अभिलेखों में शकुनारियों के वैधव्य अथवा उनके साम्प्रदायिक रोदन सम्बन्धी  
 वर्णनों की कमी नहीं ।<sup>१</sup> किन्तु ऐसे वर्णन पर्यायोक्ति के अन्तर्गत आते हैं,  
 क्योंकि उनमें शोक की नहीं, अभीष्ट नृपतिविषया रतिभाव की प्रतिष्ठा होती  
 है । फिर भी कमी-कमी प्रियनाशजन्य शोकभाव का अभिव्यंजन भी अभिलेखों  
 में प्राप्त हो जाता है । यशोधर्म कालीन मन्दसौर स्तम्भलेख में ‘दत्त’ द्वारा  
 अपने पितृव्य (दिवंगत) अमयदत्त की पुण्यस्मृति में चतूतरा (स्मारक) बनाव जाने  
 के पीछे शोक की काली घटा घुमड़ती हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ---

१- फालरायाठन लेख, - ३० रेण्टि० मा० ५ पृ० १८१ श्लो० २

२- द्र० --- ‘अनेक-समर-पंकट-प्रमुखागतनिबन्ध-शकुलामन्तुलवधु- (प्रभातसमय) -

रुदितच्छलौङ्गीयमान विमलनिस्त्रिंशतापो ’ --- द्र प्रशान्तराग का शिरीष-  
 पत्रक ग्रामदान लेख, प्रा० ६० मा०, मा० २ पृ० ४३

अथवा ---

त्रीजीवितशुप्तो भुक्तितीशङ्खडामणिः सुतस्तस्य ।

यो दृष्टवैरिनारीमुखनलिनवर्नकेशिशिखरः ॥

--- आदित्यसेन का अपसद शिलालेख, का० ६० ई०, मा० ३ पृ० २०२  
 श्लो० ४



सुखात्रेयच्छायं परिणतिमिति-स्वादुफलदं  
गजेन्द्रेणारुग्णं द्रुममिव कृतान्तं बलिता ।  
पितृव्यं प्रोदिश्य प्रियममयदत्तं पृथुधिया  
प्रणियस्तेनैदं कुशलमिह कर्मोपरचितं ॥<sup>१</sup>

‘सुखपूर्वक आश्रय लेने योग्य कायायुक्त परिपक्वता के कारण पथ्यकर तथा सुस्वादु फलदायी वृक्षा को उखाड़ फेंकने वाले भीम गज के समान बलवान् बाल में क्वलित (पूर्वोक्त गुण-गम्पन्न) अपने पितृव्य (बाला) ‘अमयदत्त’ का स्मारक, (हुरं के) इस विस्तृत तथा कलात्मक चतुर्तरे का निर्माण बुद्धिमान (दत्त) ने किया । स्पष्ट है कि यहाँ शोक का आलम्बन दिवंगत ‘अमयदत्त’ है । गजेन्द्र के सदृश बली कृतान्त का इतने सुन्दर कल्याणकारी व्यक्तित्व को मिट्टी में मिलाने का वर्णन उद्दीपन है । ‘दत्त’ के निरुद्ध उच्छ्वास-निश्वास, अनुभाव एवं स्मृति-विषाद आदि संचारी भाव हैं । इन सबका समन्वय सदृश्य श्रोताओं के हृदयों में दत्त के व्यक्तिगत शोक को समाजगत बनाकर उद्बुद्ध कर देता है । कुशल कवि ने यहाँ शिखरिणी वृत्त का प्रयोग, करुणारस के अनुकूल ही किया है ।

रांद्र ---

मंगलाचरण के घरात पर उत्थापित क्रोधभाव की प्रतिष्ठा, कवि मष्टशर्वगुप्त के रचना कौशल द्वारा देखते ही बनती है --

रोषक्रोधप्रवृद्धज्वलदनलशिखाद्रत (क्रान्त) दिग्ब्रज्ज्वालं  
तेजोभिर्द्वादशाकर्कप्रति ..... राविराशु ।  
ब्रमेन्द्रोपेन्द्ररुद्रैः प्रलयमयभूतैरीक्षितं भ्रान्तदृग्नि —  
लालाटं वः पुनानु स्मरतनुदहन(नं)लोचनं विश्वमुत्तैः ॥<sup>२</sup>

‘रोष और क्रोध के कारण बढ़ी हुई जिसकी’ ज्वलित अग्निशिखा दिग्मण्डल को आक्रान्त कर देती है, जो अपने तेज के कारण प्रलयकालीन बारह मुख्यों (के सदृश लगती है) । (ऐसी स्थिति में) प्रलय होने की आशंका में ब्रह्मा, इन्द्र, उपेन्द्र और रुद्र में भ्रान्त नेत्रों से देखा जाने वाला कामदेव-दाहक शिव का ललाटस्थित (तृतीय) नेत्र आपको पवित्र करे ।’

१- का० इ० इ०, मा० ३ सं० ३५ पृ० १५४ श्लो० २३

२- फाल्गुनापाठन लेख, इ० रेण्टि०, मा० ५ पृ० १८१ श्लो० १

यहाँ शिव के क्रोध सम्बन्धित तृतीय नेत्र का चित्रण होने से श्लोक का मंगलाचरण-स्वरूप पर्याप्तमात्रा में मन्द पड़ गया है। जिसका मन्द पड़ना रस निष्पत्ति के लिए फलप्रकर ही सिद्ध हुआ है। ऐसी स्थिति में आलम्बनयुत कामदेव की प्रच्छन्न माधवी चेष्टाएं ही शंकर के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली कही जायेंगी।

रांद्ररस के अधिदेवता रुद्र हैं।<sup>१</sup> शिव का ताण्डवनृत्य वाला प्रलयंकर रूप ही रुद्ररूप है। इसी रूप में रांद्ररस की अवतारणा हुई। इसलिए मंगलाचरण होने पर भी ताण्डवनृत्य का मीषाण वर्णन करने वाला कविमुंगल का निम्नलिखित श्लोक, रांद्ररस का ही उदाहरण माना जायेगा --

उद्वेत्तुल(ल)नातिभरनिभर-हस्त-बण्ड-

चण्डाभियात-रमरोत्पल(ट)दद्विजालः ।

यः कन्दुरिव वृतातुल-[त]ालकेलि-

नृति व(व)भां स मवमिदमवताइ मवो वः ॥<sup>२</sup>

विषम तालयुक्त झीडा(ताण्डव) करने वाले, सृष्टिमंहारक जो रुद्र, उद्वेलन की वतिशयता से हस्तसमूह के प्रचण्ड अभियात के कारण सौम्य उसड़ते हुए कन्दुकों जैसे पर्वतसमूह से युक्त होकर नृत्य में शोभित होते हैं, वे आप लोगों की जन्मादिक व्याधियों को नष्ट करें।<sup>३</sup> कुशल कवि ने यहाँ रांद्ररस के स्वरूप ही शब्दों का विन्यास भी किया है।

रुद्र की मांति स्त्रीपदा में मलिषासुरमर्दिनी रणचण्डी रांद्ररस की अधिष्ठातृ देवी है। सिंध्युक्त रथ में बैठी वह देवी, जब असुर-संहार के लिए तीक्ष्ण शूल लेकर प्रचण्ड वेग से निकलती है, तो उसके रत्नजटित मुकुट से रश्मियों का चंचल प्रवाह निःसृत होता रहता है। उसकी झुंचित मृदुटि-युक्त दृष्टिनिपात में क्रोध (स्वामाविक रूप से) गंघित सा प्रतीत होता है।

१- सा० व० ३।२२७

२- सैतय्याट शिलालेख, ए० ई०, मा० ३१ पृ० ३५ श्लो० १

कवि 'प्रमरसोम' के शब्दों में—

देवीजयत्यसुरदारणाती त्ताशूलाः । (शूला)

प्रोद्गीर्णा-रत्नम(मु)कुटांशु-चलप्रवाहा [1]

सिन्धु-युवत-रथमास्थितवण्डवेगाः (वेगा)

भ्रमंग(भङ्ग)-द्रि(दृ)ष्टिविनिपातनिविष्टरोषाः (रोषा) [1]<sup>१</sup>

यहाँ आलम्बनभूत आसुराँ (मन्त्रिणासुरादि) के नृशंस कृत्यों से उदीप्त चाही के भ्रमंगयुक्त दृष्टिनिपात एवं शस्त्रजोषणादि अनुभूत स्पष्ट हैं ।

अतिमानवीय चरित्रों के अतिरिक्त अभिलेखों में मानवीय चरित्रों से समुद्भूत क्रोधभाव के अभिव्यंजन का भी प्रबल प्राचुर्य है । बराबर-गुडालेख में माँवरि शार्दूल एवं उसके पुत्र अन्तवर्मा के विषय में लिखा है कि 'श्रीशार्दूल-नृपति जना', अपने शत्रुसमूह पर क्रोध विस्फारित, परिणामतः चरानियों के प्रान्तभाग में रक्षित एवं रक्षकान्वित तारिजा वाली विषम दृष्टि फेंकता है, वहाँ उसके अन्तसुत पुत्र अन्तवर्मा जा, कर्णपर्यन्त आकृष्ट धनुः से कूटा हुआ मरणावादीबाण गिर पड़ता है ।<sup>२</sup> नागार्जुनी गुडालेख में भी इसी अन्तवर्मा के दूरप्रापी अतिशाली बाण का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक क्रोधभावोत्पादक है-- प्रत्यक्षा के कारण मुड़े हुए और भँकार में कुरी की चीख का अनुकरण करने वाले अत्याकृष्ट धनुः से सकौशल छोड़ा गया, अन्तवर्मा का वेगशील दूरगामी सशक्त बाण, जो(शत्रु-)रक्षितसमूह को तितर-वितर एवं अश्वों को(भयसे) उद्भ्रान्त कर देता है, शत्रुनारियों को दुस्सह विपत्ति का पाठ पढ़ाता है ।<sup>३</sup>

१. कौटीसाद्रीलेख, २०६०, भाग ३०, पृ० १२४, श्लोक १

टि०--प्रस्तुत श्लोक में कवि ने द्वन्द्वयोजना के लिए समासघटना की उपेक्षा की है, अन्यथा तृतीय चरण में 'रथमास्थित' के स्थान पर 'रथास्थित' होना चाहिये था ।

२. उत्पन्मान्तविलोहितोरुतरलस्यष्टेष्टतारां रुषा

श्रीशार्दूलनृपः करोति विषमं यत्र स्वदृष्टिं रिपो (पाँ)

यत्राकर्णा-विकृष्ट-शार्दंग शरधि व्यस्तशरीर(न्त)गवः

तत्पुत्रस्य पतत्यनन्त-सुवदस्यानन्तवर्माश्रुतेः ॥

— बराबर गुडालेख, २०६०, भाग ३, पृ० २२३, श्लोक ४

३. अत्याकृष्टात्कुरविरुतस्पर्द्धिनः शार्दंग्यन्त्राद्

वेगाविद्धः प्रविततगुणादीरितः सौष्ठवेन ।

दूरव्यापी विमथितगजोद्भ्रान्तवाजी प्रवीरो

बाणो(ऽ)रिस्त्री-व्यसन-पदवी-देशिको(ऽ)नन्तनाम्ना (भः)

— नागार्जुनी गुडालेख, २०६०, भाग ३, पृ० २२५, श्लोक ४

क्रोध में लन्वाय, मरणाजिक दुरीतियों तथा घमंहीनता के प्रति  
 फिर जाने वाले आवेशपूर्ण संभाषणों का भी काना नियत महत्त्व है, जैसे  
 शिवधनु का मंजन करने वाले तथाकथित अपराधी राम के प्रति परशुराम की  
 उक्तियाँ -- हैं, यह अपराध, शिव का यह अपमान ? इत्यादि । इसी प्रकार  
 लन्वाय की पृष्ठभूमि पर उगने वाली कुण्ठा के कारण आवेशपूर्ण कान, कदम्ब  
 शान्तिवर्मन् कालीन तालगुण्ड केल में पराप्त क्रोधाभिव्यंजक है । कदम्ब राज्य  
 का संस्थापक मयूरशर्मा एक विद्वान् शास्त्रप्रिय ब्राह्मण होने के नाते अपने गुरु  
 वीरशर्मा के भाग्य प्रवचन में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए पल्लवपुरी  
 (कांची) गया । वहाँ एक 'घटिका' (घण्टाशालाकेन्द्र) में प्रविष्ट होने के पश्चात्  
 पल्लव गेता के एक अश्वपति ने उसका तीव्रकलह हो गया । इस पर अपमानित  
 ब्राह्मण मयूरशर्मा की कुण्ठा की रोषपूर्ण अभिव्यक्ति देखिए, जो कुण्ठा पल्लवों  
 के विरोध में स्वतंत्र अद्वन्द्व राज्यस्थापना की मशक पैरणा सिद्ध हुई --

तत्र पल्लवाश्वसंस्थेन कलहेण तीव्रेण रोषितः [1]

कलियुगे (S)स्मिन्वहो तत् क्षत्रात्परिपेलवा विप्रता यतः [1]

गुरुकुलानि सम्यगाराधय ज्ञात्वान्धीत्यापि यत्नतः [1]

ब्रह्मसिद्धिर्गन्दि नृपाधीना किमतः परं दुःखमित्यतः [1]

कुशमिद्विदृषत्सुगाज्यक्षर-ग्रहणादि दत्तेण पाणिना [1]

उद्वहन्दीप्तिमञ्जरं विजिगीषमाणो वसुन्धराम् ॥ ?

‘वहाँ पल्लवाश्व(पति) के साथ हुए तीव्रकलह से क्रोधाभिभूत होकर  
 (मयूरशर्मा ज्वालामुखी उगलने लगा) — ‘लज्जा की बात है इस कलियुग में  
 क्षत्रियों के द्वारा विप्रता (घास के समान) उच्छ बना दी गई है । ब्राह्मणों  
 द्वारा गुरुकुलों का पूर्णाराधन एवं वैदिक शास्त्रार्थों का सम्यक् अध्ययन किए  
 जाने पर भी ब्रह्मसिद्धि (यहाँ — वेदाध्ययन सम्बन्धी व्यवस्था का संचालन)  
 यदि राजाओं के अधीन हो तो हमसे अधिक कष्टकर बात क्या हो सकती है !’  
 इसलिए वसुधा विजिगीषु उसने कुश, ईंधन, अद्भुत्पादक पत्थर, दूर्वा घृत एवं  
 हव्यान्न को ग्रहण में दत्त अपने हाथों से जस्त्रधारण किया ।’

१- मयूरशर्मा के पश्चात् उसके पुत्र कदम्ब ने अपने नाम के भागे ‘वर्मा’ जोड़ता  
 प्रारम्भ कर दिया था । (तदनन्तर ‘वर्मन्’ की ही परम्परा चल पड़ी । )

-- ३०--तालगुण्डकेल, ए० कर्णा० मा० ७ पादपृ २०१

२- तालगुण्ड केल, ए० कर्णा०, मा० ७ पृ० २०० श्लो० ११-१३

वीर —

वीररस उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में ही सम्बद्ध है और उत्पादक इतना स्थायी भाव है ।<sup>१</sup> यह उत्पन्न युद्ध, दान, दया एवं धर्म में देखे जाने के कारण वीररस चार प्रकार का होता है ।

युद्धवीर — मेहरौली की कदम्ब में लिखा है कि बंग देश में एक साण मिलकर आक्रमण करने के निमित्त बाएँ शत्रुसमूह को कदाःस्थल के चक्के में पीके हटाने हुए उस (चन्द्रगुप्त द्वि०) की मुजा पर <sup>(या युद्ध के लिए)</sup> लड़ने में कीर्ति खूदी गई, जिसे गिन्दुनदी की सात धाराओं का सन्तरण कर बाहलीक देश को जीता और जिसके प्रतापानिल से दक्षिणसागर राज भी (तारंगों में) सुशोभित होता है —

य[स्यो]द्वर्ततः प्रतीप[र]ण शत्रुसमैत्वागतान्  
बहुगोष्ठाद्वर्तितो (S) मिलिखिता सह गेन कीर्ति[सु]जे [I]  
तीर्त्वा सप्तमुखा नि गेन [म]प[रे]मिन्धो जिह्वा [न]ादिका  
यस्याध्याप्य धिवात्यते जलानि धित्वीर्या निर्लक्ष्मिणः [I]<sup>३</sup>

यहां शत्रु आक्रमण, उनकी सम्मिलित युद्धत्सा से बंगाल में चढ़-बढ़ लाना उद्दीपन, चन्द्र के कदाःस्थल द्वारा पीके हटाने का कार्य अनुभाव एवं निगूह गर्व या धाव को कीर्ति सम्पन्न करने की प्रति आदि संवारी हैं । इसी भांति स्कन्दगुप्त की अथोलिखित प्रशंसा भी उनकी युद्धवीरता के घरातल पर ही उत्पादित है —

१- अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । ना० शा० ६।६६-गद्य

२- स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्विनश्चतुर्धा स्यात् -- सा० द० ३।२३४

(अतिपय आचार्यों ने, जिनमें मानुस्मिन् (दत्त) भी एक हैं, वीर को केवल तीन ही प्रकार का माना है -- युद्धवीर दयावीर एवं दानवीर -- स च त्रिधा - युद्धवीरदानवीरदयावीरभेदात् -- २० त०, सप्तम तारंग (पृ० १५२)

३- का० ३० ६०, मा० ३ सं० ३२ पृ० १४१ श्लो० १

तदनुजयति शश्वत् श्री (चक्री) परिनिष्ठाप्तवज्राः

स्वभुजजनितवीर्यो राजराजाधिराजः ।

नरपतिभुजगानां मानदम्परित्फणानां

प्रतिकृति गरुडाज्ञा [ ] निर्व्विषी [ ] वावकता ॥<sup>१</sup>

‘ तत्पश्चात् नृपतिसर्पों के मानदर्प से उठे हुए फणों को, विषाकर प्रतिकार-गरुणाज्ञा देने वाले, सतत राज्यश्री से आलंगित वज्राः - स्थूल तथा स्वभुजजनित-पराक्रम सम्राट् (स्कन्दगुप्त) की जय हो ।’ यहां आलम्बनभूत नरपति-भुजगों (शत्रुओं) के मानाभिमान से फणा (शिर) उठाने की क्रिया से उदीप्त और आश्रयभूत स्कन्द की विषाकर गरुडाज्ञा प्रदान करने की क्रिया (अनुभाव) आदि से परिपुष्ट उत्साह पूर्ण आत्वाद्य बन जाता है । स्कन्दगुप्त के आवेग आत्सुक्य आदि संचारी प्रवृत्त हैं । उसी के ‘भितरीलेव’ में भी स्कन्द पर आश्रित युद्धवीरतापरक उत्साह बड़ी सफलता के साथ अभिव्यंजित हुआ है ।

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोधतेन

जितितलक्ष्मीये येन नीता त्रियामा [I]

समुदितत्र [L] कोशान्पुष्यामित्रांश्च [f] अज्वा

जितपचरणपीठे स्थापितोवामपादः [II]<sup>२</sup>

मन्दसौर स्तम्भलेख में यशोधर्मन् की शौर्य प्रशंसा स्कन्दगुप्त की प्रशंसा के समान ही है —

‘ अन्तः पुरस्थ लीलोचान सदृश शत्रुओं की सेना को भीतर से आलोहित कर, वीरपुरुषों के यश को नूतन-पादपों के समान फुकाकर, वृणारूपी पल्लव रचनाओं से शरीर के सौन्दर्य-वर्द्धक अलंकारों को धारण करने वाले जनाधिप यशोधर्मन् की जय हो ।’<sup>३</sup>

१: जूनागढ़ लेख, का०६०६०, भाग ३, पृ० ५६, श्लोक २

२: का०६०६०, भाग ३, सं० १३, पृ० ५३-५४, श्लोक ४

३: ५०—का०६०६०, भाग ३, संख्या ३५, पृ० १५३, श्लोक ५

प्रायः, राजाओं के वर्णन-पात्र होने के कारण अभिषेकों में वीरोचित उत्साहभाव का सर्वाधिक सम्प्रेषण हुआ है। इस सम्बन्ध में समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति (प्रायः सम्पूर्ण)<sup>१</sup>, यज्ञोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भलेख<sup>२</sup>, आदित्यमेन का अपसद शिलालेख<sup>३</sup>, पुलकेशिन् (दि०) कालीन ऐन्दोलेख<sup>४</sup> द्रष्टव्य हैं।

दानलेखों का विषय प्रशस्ति से सर्वथा भिन्न होने पर भी उत्साह-भाव की अभिव्यक्ति उनमें भी प्रचुर मात्रा में हुई है। 'ओं स्वस्ति' से लेकर घोषणा स्तम्भ पर्यन्त होने वाला राजवंशवर्णन ही इस भाव का सुरक्षित स्थान है। बलमीलेखों एवं चालुक्य दानलेखों में इसका विशेष आश्रय मिला गया —

— 'शैलवात्प्रमृति सह्यगद्वितीयवाहुरेव समदपराजघटा-  
स्फोटनप्रकाशित मत्त्व (त्त्व) निरूपणः'<sup>५</sup>

— 'मित्रकण्ठास्त्रप्रवरदुर्गमैर्णकेनैव प्रतीतानेक-  
समरसुखे रिपुनृपतिरुच्चिरजलास्वादनरसनायमान-  
ज्वलदमल नि शित नि स्विंशधारयावयूतधराणिभा  
सुजगमोगसदृश निजपुज विजित विजिगीषुरात्मकवना-  
वमश्नानेक प्रहारः'<sup>६</sup>

दानवीर — दानपात्र वीरभाव के आलम्बन, दानपात्र, पर्व, अर्थिजनन, अर्थिजन, तीर्थादि होते हैं। इसके उद्दीपन दानमांजन द्वारा की गई प्रशंसा अथवा अन्य दाताओं के वर्णन आदि हैं। अर्थिजन का आदर सत्कार अपनी दानशक्ति की प्रशंसा अनुभाव हैं तथा मति, हर्ष, गर्वादि इसके संचारी भाव होते हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण दानलेख राजाओं की दानवीरता के ही परिचायक हैं। दानदान प्रायः ब्राह्मण या गणभूयोग होते थे, जिनकी विद्वता उत्साह भाव का उद्दीपन बन जाती थी, क्योंकि ब्राह्मणों की विद्वता<sup>७</sup>, स्वधर्म

१- का० इ० इ०, मा० ३ पं० १

२- वही, सं० ३३

३- वही, सं० ४२

४- इ० ऐण्डि० मा० ५ पृ० ९७-९३

५- धरमेन (दि०) का 'मर' ताम्रशासन, -भाव० पृ० ३१ पं० ११

६- चालुक्य विक्रमादित्य (प्र०) का वेङ्कटल्लिशासनपात्र -- का० प्ले० इ० कां० प्र० म्यू०, मा० १ पृ० ५२ पं० १०-१३

७- जैसे - 'षडङ्गपारगाय गोलशर्मण' -- अँगौडू दानलेख, ए० इ०, मा० १५ पृ० २५१ पं० १०-११



कर्मनिरतता<sup>१</sup> तथा यज्ञगम्प्यार्थ-इतिहास-सुगाण-धर्मशास्त्र<sup>२</sup> की बहुज्ञता, नृपति के हृदय में दानप्रेरणणा को उद्बुद्ध करनी लीं। दान के विशेष अभिलषित पर्व कार्तिक पूर्णमासी - विष्णुवत्सुदिन<sup>३</sup> सूर्य<sup>४</sup> - चन्द्रग्रहण<sup>५</sup> आदि होते थे। राष्ट्रकूट विमुराज के एक दानलेख में ब्राह्मण नन्न को अग्रहार भूमि के साथ ५०० स्वर्ण-शलाकाएं भी दक्षिणास्वरूप दी गयीं<sup>६</sup>।

किन्तु उल्लिखित सम्पन्न विवरण दानलेखों के नीरस एवं असाहित्यिक भाग में स्थान पाते हैं। इसलिए इनके आधार पर दानवीरतापरक (साहित्यिक) उत्साह भाव का निरूपण करना अनौचित्य को स्पष्ट निमंत्रण देना है। इस मान्यता को लेकर शिलालेखों अथवा दानपत्रों के वे ही दानपरक अंश ग्राह्य हैं, जो साहित्यिक वातावरण में लिखे गए हैं, जैसे —

----- सुवर्ण-दाने

[स्वा]रिता नृपत्यः पृथुराघवाघाः [॥]<sup>७</sup>

‘स्वर्णदान करने में पृथु एवं राघव आदि राजा भी जिसके सामने उन्नीस पड़ गए थे।’ अथवा --

[अनन्यसाधारण-दानशक्तिः

द्विजः प्रकाशो भुवि विन्ध्यशक्तिः [॥]<sup>८</sup>

‘द्विजन्माओं का प्रकाशभूत विन्ध्यशक्ति असाधारण दानशक्ति समन्वित था।’ कलचुरि कृष्णराज को ‘नियतस्खलित दान प्रसर में वनवारण-यूथपे’ की संज्ञा मिली -- ‘नियतमस्खलितदान प्रसरेण --- वनवारण यूथपेन--’<sup>९</sup>

१- ए० इ०, मा० १४ पृ० १६६ पं० ६

२- ए० इ०, मा० १८ पृ० ५७ पं० १६-१७

३- ए० इ०, मा० १६ पृ० २६० पं० १६-२०

४- कले० इ० का० स्टो० निलोर डि०, मा० १ पृ० १६४ पं० २१

५- सा० इ० इ०, मा० १ पृ० ३४ पं० ४२

६- महाराष्ट्रांतील प्रा० ता० शि०, (१६४१ पूना) पृ० ८ पं० १२-१५

७- समुद्रगुप्त का एरण जिलालेख, का० इ० इ०, मा० ३ पृ० २० श्लो० २

८- इ० के० टे० वै० इ०, पृ० ६६ श्लो० २

९- हुदराज का सरस्वती ताप्रलेख, ए० इ०, मा० ६ पृ० २६७ पं० ६-७

कृष्णराज का पुत्र जंकगण दीनान्य-कृपणों को मनोरथ के अधिक धन प्रदान  
 करता था -- "दीनान्य-कृपण-सममिलषित-मनोरथाधिक-निकामफलप्रदः"<sup>१</sup>

राष्ट्रकूट नन्तराज की भी इसी प्रकार दानपञ्चमा की गई है -- "दानाद्भीकृत  
 पा[णि]णना प्रतिदिनं येन द्विपेन्दायितं"<sup>२</sup>। मेत्तक गुहमेन, प्रार्थनाधिक धन प्रदान  
 करने के कारण विद्वान्, सुहृत् एवं प्रणयिजनों को आनन्दित करता था --  
 "प्रार्थनाधिकारप्रदानानन्दितविद्वत्सुहृत्प्रणयिहृदयः"<sup>३</sup>

कदम्ब रविवर्मन् का जितेन्द्रनिमित्तभूमिदान सम्बन्धी शासनपत्र  
 आद्यान्त कन्दोबद्ध है। इसी कन्दोबद्धता की ओर मैं नीरस भूमिदान सम्बन्धी  
 विवरणात्मक उद्धृष्ट को भी साहित्यिक सम्मान प्राप्त हो गया। जबकि  
 अन्यान्य दानलेखों में ऐसे अंशों को व्यावसायिक भाग कह कर ही पृथक् कर दिया  
 जाता है। अतः पत्रात्मकता के कारण उक्त दानलेख का अधोलिखित  
 श्लोकाद्वै, रविवर्मन् की दानवीरता की पुष्टि कर सकता है --

मानेन जत्वारि निर्वर्णानि

दवां जितेन्द्राय मही[र] महेन्द्रः [॥]<sup>४</sup>

दयावीर --- इसके आलम्बन दयापात्र, उद्दीपन दयापात्र की दयनीय  
 स्थिति, अनुभावि दयापात्र को सान्त्वना देकर आश्वस्त करना एवं गंवारी हर्ष,  
 धृति आदि हैं। किन्तु उभिलेखों में अपने शौर्यादि गुणों को ही चित्रित कराने  
 में राजागण लागूकशील रहे। उनकी दयादुता के संकेत मात्र प्राप्त होने हैं।

गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा प्रष्ट राजवंशों की संस्थापना उसकी  
 दयावीरता का ही प्रमाण है -- "अनेकप्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूत-  
 निखिलम[व]न - विन[र]ण-मान्त-यज्ञगः"<sup>५</sup>। मालवनीय विश्ववर्मन् की दयावीरता  
 का ज्येष्ठाकृत अधिक वर्णन हुआ है -- "तह दीन-हीनो पाशुरुम्पा काने वाला,  
 दरिद्र और आर्च जनों को सान्त्वना देने वाला, अल्पधिक दयालु एवं अनाश्रित  
 जनों का आश्रय था" --

१- बुद्धराज का सरस्वती ताम्रलेख, स० ई०, भा० ६, पृ० २६८ पं० १२-१३

२- नन्तराज का तिवरखेड दानलेख, स० ई० भा० ११ पृ० २७६ पं० ४-५

३- परमेन बालादित्य का बौदाद ताम्रशासन, भाव० पृ० ४० पं० ६

४- ई० ऐण्डि० भा० ६ पृ० २६ श्लो० ३

५- प्रयाग प्रशस्ति, भा० ६० ई० भा० ३ सं० १ पृ० ८ पं० २३

दीनानुकम्पनपरः श्रृंगारः - वर्ग -

मन्त्र [ १ ] प्रदो ( ५ ) शिखरानुराधनाथः ।<sup>१</sup>

स्पष्ट है, -- यहाँ दीन, शान्त एवं अनाथजन दयावीरतापरक उत्साह के आलम्बन हैं । उनकी दीनता, दरिद्रता एवं लाश्रयहीनता उद्दीप्त है । उनको मान्त्वना देना अनुभाव है । परिणामतः शर्मादि संन्यासी यहाँ स्वतः अनुमेय हैं ।

धर्मवीर -- हमें, धर्मशास्त्रों के प्रति निष्ठा, आलम्बन, धर्मशास्त्रीय उपदेशों की श्रवणादि क्रियाएँ उद्दीप्त, शास्त्रों में बताई गई पद्धति पर चलना या इनके अनुसार आचरण करना अनुभाव और धृति, ज्ञाना आदि संन्यासीभाव होने हैं । इन सबसे परिपुष्ट धर्माचरणपरक उत्साह, धर्मवीर-रस में परिणत हो जाता है ।

भारतीय राजाओं में धर्मवीरपरक उत्साहभाव की अभिव्यंजना सर्वत्र सहज सुलभ है । यहाँ तक कि भारतीयता को ग्रहण करने के पश्चात् पश्चिमी चाक्रय रुद्रदामन् ने गौड्राह्मण एवं धर्मकीर्ति, की वृद्धि के लिए ही पुनर्निर्माण जैसा लोकोपकारी कार्य करवाया ।<sup>२</sup> गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त को शास्त्रों के तत्त्वार्थों को जानने का एक मात्र अधिकारी ( शास्त्रतत्त्वार्थमर्हः )<sup>३</sup> एवं धर्म के बन्धनों में रहने वाला व्यक्ति तथा ( धर्मप्रावीरबन्धः )<sup>४</sup> । मालवनीश विश्ववर्मन् अपने यावन काल में ही शास्त्रों में विदर्शित पद्धति पर चलने के कारण परिवर्द्धित शुद्ध बुद्धि हो गया था । राजाओं को सद्धर्म मार्ग दिहाते हुए उसने मरत की तरह संसार का परिरक्षण किया --

अथै ( ५ ) पि यो वयमि संपरिवर्तमानश्च -

शास्त्रानुसारपरि [ वार्द्धित ] शुद्धबुद्धिः ।

सद्धर्ममार्गमिव राजसु दर्शयिष्यन्

रक्षणाविधिं मरतवज्जगतः करोति ॥<sup>५</sup>

१- मन्दसौरलेख ( बन्धुवर्मन् कालीन ), का० ६० इ०, मा० ३ पृ० ८२ श्लो० २५

२- इ० रेण्डि०, मा० ७ पृ० २६१ पं० १५

३- का० ६० इ०, मा० ३, पं० १ ( पृ० ६ ) श्लो० ३

४- वही, श्लो० ८

५- विश्ववर्मन् कालीन गंगधर शिलालेख, का० ६० इ०, मा० ३ पृ० ७५

मैत्रिक सरग्रह (दि०) को वर्णत्रिपाचार सुव्यवस्थित रखने के कारण साक्षात् धर्म के समान कहा गया है । उसने तृष्णादुष्य पूर्व-नृपतियों द्वारा कीने गए देवब्रह्मद्वयों को अतिसरल मन से पुनः अनुमोदित किया । फलतः त्रिभुवन में अग्निन्दित उच्च एवं उत्कृष्ट बलधर्म के ध्वज में अपने वंश को प्रकाशित किया था । इसके अतिरिक्त वह देवद्विजाति एवं गुरुओं का सम्मान करता था, उसके 'धर्मोदित्य' द्वितीय नाम का यही रहस्य है ।<sup>१</sup> उसका अनुज ध्रुवमेन (तृ०) विविध वर्णोन्ज्वल शास्त्रों के अत्यधिक अध्ययन में तदुपमासितव्रवण था, जानों के रत्नालंकार को उसके लिए पुनरुक्ति के समान की थे ।<sup>२</sup> राष्ट्र के पुत्र यशोगुप्त की धर्मवीरता की प्रशंसा में कवि प्रमरगोम कहता है कि शान्तस्वभावमूर्ति वह धर्मपुत्र यज्ञक्रिया में अविरत सम्यस्त था । उसके द्वारा यज्ञों में हल्लास जाने की आशंका में इन्द्र ( स्वर्ग झौड़ते हुए ) विशेष प्रसन्न नहीं होता था --

च (त) स्यापि दुध (घ) धर्मगुण-शान्तस्वभावमूर्तिः

यज्ञक्रिया - सतत - दीक्षित - दान - दत्ताः [१]

आह्वान - शंक्ति-पुराधिपतिश्च यस्य

लेभे न शर्म पुनरागमनाय श [ ३ ] : ॥<sup>३</sup>

मयानक --

नृपति के शौर्योत्कर्ष का वर्णन, सुवपत्ता के मानुपतिक मय चित्रण के बिना कैसे सम्भव हो सकता है ! राजा की प्रशंसा में उसके शत्रुओं के मयचित्रण के अतिरिक्त अभिलेखों में मय-भाव का अपने प्रकृत रूप में भी परिपोषण हुआ है । रुद्रदाम्न् और स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ (गिरिनार) लेखों में अतिवृष्टि की हँति का विशद और मीषण चित्रण श्रेताओं के हृदय में वायनारूप में स्थित मय के लिए पुष्ट उर्वरक का कार्य करता है । आलम्बन का सफल चित्रण श्रेताओं पर वांछित प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकता है । सर्वप्रथम रुद्रदाम्न् के लेख में अतिवृष्टिजन्य विमीषिका का वर्णन इस प्रकार है --

१- ड०- ए० ई०, मा० २२ पृ० ११८ पं० ३८-४१

२- वही, पृ० ११८ पं० ३२-३३

३- कोटी साद्रीलेख, -- ए० ई० मा० ३० पृ० १२५ श्लो० ७

----- - सृष्टिवृष्टिना पर्जन्येन रक्षाविभूतायामिव पृथिव्यां  
 कृतायां गिरेः यजतः सुवर्णसिक्तापलाशिनी-प्रभृतीनां नदीनां अतिमात्रोद्-  
 वृत्तैर्व्वेगैः संतुप्त------[यम]णानुरूप-प्रतीकारमपि गिरिशिखर-तरु-लतादृश-  
 कोपत[त्प]न्नार-शरणोच्छ्रय-विध्वंसिना युग-निधनसदृशपरम-घोर-बो(वे)गेन  
 वायुना प्रमथि[त]सलिलविज्ञाप्तजर्जरीकृताव [दीर्घा]-----[क्ति]-  
 ता मवृत्तागुल्मलताप्रतानं आनदी (प्रतानमानदी) [त]लादित्युद्धाटित-  
 मारीत् । १

भीषणावर्षा करने वाले बादलों के कारण समस्त पृथ्वी ने  
 एक समुद्र का सा रूप ले लिया । परिणामतः ऊर्जयत् पर्वत से निकलने  
 वाली सुवर्णसिक्ता और पलाशिनी प्रभृति नदियों में भरकर बाढ़ आ गयी ।  
 तदनन्तर सुदर्शन बांध की रक्षा के निमित्त यथावसर उपाय किए जाने पर  
 भी पर्वत-शिखरों, वृक्षों, कूलकगारों, शृङ्खलाओं, भवनों के ऊपरी  
 भागों, दरवाजों तथा रक्षा निमित्त निर्मित ऊँचे-ऊँचे स्थानों को तप्त-  
 नक्ष करने वाले, प्रलयकर प्रभञ्जन सदृश प्रचण्ड वेगशील पवन से अलौहित जल  
 के विज्ञोप से जर्जरित तथा पत्थर, वृक्ष, फाड़फाँड़ा और लताओं के  
 फँके जाने से क्षुब्ध सुदर्शनभील, पलाशिनी प्रभृति उल्लिखित नदियों के  
 तीव्र प्रवाह से नदी की सतह तक उखाड़ दिया गया । स्पष्ट ही ये यहाँ  
 भीषणावर्षा आलम्बन है ।

पृथ्वी का समुद्र-सा बनना, नदियों में बाढ़ का आना, गिरि  
 शिखर एवं कूल कगारों का बहना, प्रचण्ड वेग से पवन का चलना सुदर्शनभील  
 का टूटना आदि वर्णन उद्दीपन के अन्तर्गत ग्राह्य हैं । बाढ़-ग्रस्त पौरजनों  
 के गूढ स्वैदकम्प आदि अनुभाव हैं और उनके संत्रासादि ( हाहाभूतासु प्रजासु  
 पं० १८ ) व्यभिचारी भाव । इन सब क से भयरूप स्थायीभाव प्रबुद्ध होकर  
 भयानकरस की सृष्टि करता है ।

भीषणावर्षाकाल के कारण सुदर्शनभील की ऐसी ही स्थिति

— पयात्पक रूप में स्कन्दपुस्त के ब्रूनागदलेख में चित्रित हुई है ।<sup>१</sup> इसमें भी सुदर्शन के दूटने की क्रिया और नदियों की बाढ़ के वर्णन से उद्दीप्त 'अम्बुदकाल' रूप 'आलम्बन', जनता के 'क्या' क्रिया जाय, क्या क्रिया जाय' चिल्लाने (अनुभाव) तथा विषाद (विषादमानाः), औत्सुक्य (अपुवुरुत्सुकाः) आदि संकारियों से पुष्ट होकर मय स्थायीभाव, मयानकरस में परिणत हो जाता है ।

वर्ण्यमान राजा के प्रसंग में उसके शत्रुओं के 'मय' भाव का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होता है । ऐसे स्थलों में यह भाव कविनिष्ठ देवविषया रति के घरातल पर आधारित होता है, जैसे वत्सपट्टिरवित यह श्लोक ---

वैद्यव्य-तीव्रव्यस्त-स्तनानां स्मृत्वा (स्मृत्वा) यमवाप्यरि-सुन्दरीणां ।  
मयाद्भवत्थायतलोवनानां धनस्तनायासकरः प्रकम्पः ॥

'जिम (बन्धुवर्मा) के स्मृतिजन्य मय से आज तक वैद्यव्य की विषम-वेदना से दुःखित विशाल आँखें वाली शत्रुमणियों के स्तनों में क्लेशकर भीषण कम्पन उत्पन्न हो जाता है ।'

सुदृष्टि में मालवनरेश के सुतदर्शन मात्र से 'मयनष्टवेष्टा' शत्रुगण पहले ही भाग जाते थे ।<sup>३</sup> ऐसे वर्णनों से अभिलेख भरे पड़े हैं । किन्तु इनमें शुद्ध रूप से 'मय' भाव की अभिव्यंजना हुई है, — ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

१- अथ क्रमेणाद्बुदकाल आगतेऽपि दाघकालं प्रविदार्य तोयदः ।

जवर्ष तोयं बहु संवतं चिरं सुदर्शनं येन विमद वात्चरात् । [१]

इमाश्च या रेवतमाद्विनिर्गताः पलाशिनोयं पिकताविलासिनी ।

समुद्रकान्ताः निरबन्धनोषिताः पुनः पतिं शास्त्रयथोचितं ययुः । [१]

अवेक्ष्य वर्षागमजं महोदप्रमं महोदधैर्जयता प्रियेषुना ।

अनेकरीरान्तजपुष्पजोभितो नदीमयो हस्त इव प्रसारितः । [१]

विषादमानाः सलुर्ज्वतो जनाः कथं कथं कार्यमिति प्रवादिनः ।

मिथो हि पूर्वापररात्रमुत्थिता विचिन्तयां चापि अपुवुरुत्सुकाः । [१]

---- का० इ० इ०, मा० ३ पृ० ६० श्लो० २६, २८-३०

२- बन्धुवर्मा कालीन मन्दसौर लेख, का० इ० इ०, मा० ३ पृ० ८३ श्लो० २८

३- संग्रामसूदृष्टं मुखं समुदीक्ष्य यस्य

नाशं प्रयान्त्यरिगणा मयनष्ट वेष्टाः ॥

---- विश्ववर्मा कालीन गंगघार शिलालेख, का० इ० इ० मा० ३ पृ० ७४  
श्लो० ४

इस प्रकार का श्लेष-विण, नृपति के पराक्रमवर्णन का गद्ययोगी बनकर रह जाता है ।

बीमत्स —

पल्लव पारमेश्वरवर्म्मा (प्र०) के दूरगमशासनपत्र के युद्धवर्णन सम्बन्धी अधोलिखित पद्य में जुगुप्सा भाव दर्शित है --

रुधिरमधुपानमन्त्रप्रगीतकृष्माण्ड [राक्ष] स-पिशाचे [॥]  
द[त्त]ल्यतुल्यकालत्रनिमयनीत्यम् (नृत्यत्) कबन्धशतर्यानी [॥] <sup>१</sup>

जिस (रणभूमि में) कृष्माण्ड, राक्षस और पिशाच रुधिरमदिरा पीकर मत्त बने उच्च स्वर से गा रहे थे (और) सैन्धवों योद्धाओं के धड़ पीषण नृत्य करते हुए, काल के संगीत में तुल्य काल दे रहे थे — ।<sup>१</sup> यहाँ कृष्माण्ड-राक्षस-पिशाच शालम्बन हैं । रुधिर और कबन्धयुक्त रणभूमि का दृश्य तथा रुधिर-पानादि उद्दीपन है । इनमें जुगुप्साभाव घुष्ट होकर बीमत्स-रस-परिणाम में पहुँच जाता है ।

इसी शासनपत्र के १५वें कन्द में भी जुगुप्सा भाव की स्वस्थ अभिव्यक्ति देखते की जाती है —

मृश(ग)मदमिश्री(वि)त-शोणित-कुङ्कुमधनलिप्य [मा]न धूमितले [॥]  
विरहितनिपतितबाह्यीवजं [घो]रुकाण्ड-दन्तजलौये (धे) [॥]

(जिस युद्धभूमि में) सेनाओं ने अपने बाहु-दण्ड, शिवा, जंघों की लड़ी-बड़ी लड़कियाँ और दांत गिराकर कौड़ रहे थे, (वह धूमितल) घायलों के कस्तूरी-मिश्रित शोणित से ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों कुङ्कुम से घना लीपा गया हो ।

अवसृत —

विस्मयभाव के कहीं-कहीं छींटे ही दिखाई देते हैं । इसका कारण यह है कि मूलतः यथार्थ के घरातल पर आधारित अभिलेखों में न किसी इन्द्रजाल

---

१- मा० ३० ३०, मा० १ पृ० १४६ पं० ३८-४०, युगपत् ३० -- संशोधित पाठ्य (हुल्ल) २० - ३०, मा० १७ पृ० ३४२ श्लो० २०



या मायाजात का वर्णन सम्भव था और न किसी अलौकिक वस्तु का चित्रण।  
अभिलेखों का आभाष भी इतना व्यापक नहीं, जिसमें कल्पना को निर्बाध  
उड़ाने दिया जा सके। अतः आख्याओं की भांति अभिलेखों में विस्मय के पर्वत  
नहीं स्थापित किए जा सके। उनमें केवल यथार्थ के समतल के ऊपर अपनी  
नम्र उंचाई लिये, उभरते हुए टीले की देरी जा सकते हैं —

यस्यातिमानुषं कर्म दृश्यते विस्मयाजुनीधेन ।

अद्यापि कोशवर्द्धनतटात्पुनः पवनजस्येव ॥<sup>१</sup>

‘सात्र’ भी जन समुदाय द्वारा उस जीवितगुप्त (प्र०) के अलौकिक कार्य,  
पवनसुत (कुमान) की, कोशवर्द्धनतटा के पारो गई समुद्री-कलांग की भांति बड़े  
विस्मय से देखे जाते हैं।<sup>२</sup> यहां जालम्बनयुत ‘अतिमानुष’ कर्मों का सविस्मय  
(नेत्रविकास सहित) देखा जाना स्वाभाविक ही था। परिणामतः ‘अनीधे’  
में हर्ष का गंवार होना भी स्पष्ट है।

प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए हरिषेण भी ऐसा ही कहता है  
कि ‘उसके अलौकिक कर्मों को देखकर विस्मयजन्य हर्ष के साथ एक व्यक्ति  
भावपूर्वक आनन्द का स्वाद लेते जाते थे’ —

[दृ]ष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुजसदृशान्य[इस]तौइमिन्नहर्षा  
म[त]िरास्वादय[न्तः] -----[के]चित् [।]<sup>३</sup>

(‘विस्मय’ और ‘अदभुत’ शब्दों के प्रयोग से उक्त दोनों उद्घरणों  
में ‘स्वशब्दवाच्यत्व’ एस-दोष अवश्य आ गया है।)

ब्रह्मपुर से उद्घुष्ट दोनों तलेश्वरपत्रों<sup>३</sup> में भगवान् वीरभेष्वर स्वामी  
(शेषनाग) का स्मरण किया गया है। दोनों में शेषनाग के रूप का मध्य  
वर्णन, विस्मयभाव को जागरित करने में सर्वथा समर्थ है। प्रथम पत्र की  
अपेक्षा द्वितीय में यह वर्णन अधिक विशद और सुन्दर है। इसलिए विस्मय  
के जालम्बन का यह सफल चित्रण सहृदय पाठकों के ऊपर अपना वांछित  
प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकता : ---

१- आदित्यसेन का अपसद शिलालेख, का० ३० इ० ०, मा० ३ पृ० २०३ इलो० ६

२- का० ३० इ० ०, मा० ३ सं० १ पृ० ६ इलो० ५

३- २० इ० ०, मा० १३ पृ० १०६-१२१

\* सकल भुवनमवपद्मं विमानकाणि (९) नन्त -

पूर्वेनायावेया गिन्त्यात्यइमुतोइहृत-प्रसृतप्रभावा-

तिज्यस्य कणातरविपुलविकट-सकृदापटल-निकट-

प्रकृतमणियण किरणारुणितपातालतलस्य धरणि-

धरण-योग्य-धारणाधार (रि)णी भुजगराजकम्प-

स्य (स्य) भगवद्भरिणे श्वरस्वामिनः \* १

(सुनाल के समय) गारै भुवन की सत्ता को तोड़फोड़ कर अनेक खण्डों में विभक्त करने वाले अनन्तसृष्टि, जनादि, श्रव्य, चिन्त्य, अत्यन्त बहुभुत अत्यधिक प्रभावशाली पृथ्वीतलस्य विपुल एवं विकट विस्तृत कणावाल को अरुणित कर देने वाले, पृथ्वी के मारवत्न करने योग्य धारणा सम्पन्न भुजगराज (शेषनाग) के रूप भगवान् हरिणेश्वर स्वामी के -----

यहां भुवनों को तोड़-फोड़ कर अनेक खण्डों में विभक्त करने में शेषनाग का क्रोध नहीं है। यह उसकी सज्ज दिलने ढुलने की क्रिया का परिणाम है। इस क्रिया में जो विस्मय की सृष्टि होती है उसके सामने भूकम्प-परक भीति उपरती नहीं। पृथ्वी के नीचे विपुल विकटकणा पर उगे हुए मणियों की किरणों में पाताल के अरुणित होने का वर्णन विस्फारित नयनों के साथ कौन मद्धय न सुनेगा !

ज्ञान्त रस —

ज्ञान्त रस की अभिव्यक्ति प्रायः वहां देखी जाती है, जहां, मन्दिर ह्रा-प्रपारामदि के निर्माण की पृष्ठभूमि में निर्माता के प्रयोजनविशेष का निर्दर्शन किया जाता है, जैसे अलग्गिरि के निम्नाङ्कित पत्र में —

विवाधरी-रु निर-पल्लव-कण्ठ पूर-

वातेरिता [स्थि]रतरं प्रविचिन्त्य [लो]कं ।

मानुष्यमर्त्यं-नित्रयांश्च तथा विशालां

[स्ते]षां शुभा-[म]ति[रभूद]क्ला ततस्तु [।।] 2

विवाधरियों के सुन्दर, वायुप्रेरित जतः चंचल पल्लवों से बने कर्णा-भूषणों के समान इस संसार को चलायमान समझ कर तथा तद्वत् मानव-संचित मक्ती धनराशि को भी दाणस्यायी मानकर (मन्दमौर के) उन पट्टावली ने मंगलमय निश्चय को सुदृढ़ किया ।

यहाँ भौतिक होने के कारण उक्त प्रकृतिक घटनाव-श्रितियों पर  
आश्रित, संसार तथा धन की क्षणभंगुरता सम्बन्धी ज्ञान के आलम्बन को  
पादर मन्दिरनिर्माण भावना में उद्दीप्त, क्षणस्थायी संसार के प्रति करुण, वि,  
रोमांच आदि अनुभावों से व्यक्त, निर्माण निश्चयजन्य हर्ष, अंत्युक्त  
विशेष तथा मति (अर्थनिरूपण) आदि गंवारियों में पूर्ण, स्थायी भाव  
निर्देश, शान्तरस में परिणत हो जाता है।

विष्णु-मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि में ब्राह्मिक की पत्नी  
यशोमती की विरक्त मनःस्थिति एवं तत्त्वज्ञ प्रयोजन-विशेष के सिन्धु में कवि  
'दामोदर' ने शान्तरस की सर्वांगीण प्रतिष्ठा की है —

विलोक्यामी लक्ष्मीं ज्ञानयननिमेषप्रविसमां  
तयो वितं रङ्गादनुतरतरङ्गाङ्ग -तरलम् [1]  
तरन् संसाराच्चिं विषम-विषय-ग्राह-कलितं  
स्थिरं पोताकारं मन्दिरमन्वरो[३]कैमरिपु [॥]<sup>२</sup>

'धन की देवी लक्ष्मी को अपने ही निमेष के समान चंचल जानकर  
(तथा) यौवन और धन को लघु लहर के (सूर्यरश्मि के सम्पर्क में) रंगिन मध्यभाग  
के समान तरल (क्षणभङ्गुर) समझकर उस (यशोमती) ने विषम विषय-  
वासना रूपी मकरों के पूर्ण संसार-सागर को पार करने के लिए कैमरिपु  
विष्णु का स्थिर पोताकार मन्दिर बनवाया।'

नरवर्मन् कालीन मन्दिरां अपिलेख<sup>१</sup> के सङ्गित होने के कारण यह  
अनुमान नहीं किया जा सकता है कि वह विष्णु मन्दिर-निर्माण के प्रसंग में  
लिखा गया कथा किसी अन्य प्रयोजन से। फिर भी उसमें अपने यश एवं  
पुण्य-सम्पन्न के परिवर्द्धन में कृतोद्यम (श्लो० ८) वर्णवृद्धि के पुत्र (श्लो० १३) की  
निर्वृति सम्बन्धी मनोदशा देखते ही बनती है। वह व्यक्ति इस संसार को  
मृगजल, स्वप्न, विद्युत् और दीपशिक्षा के समान चंचल समझकर संसार के आचार  
अप्रमेय, अज, विषु (व्यापक) एवं शरण्य वासुदेव की शरण में चला गया (विष्णु  
की मक्ति करने लगा)। उसके मन्त्रिष्णु में यह सत्य कौंधा कि वासुदेव एक  
वृक्ष वृक्ष के समान हैं, जो स्वर्गलाभ रूपी उदार फल प्रदान करते हैं। वह

१- का० ३० इं०, भा० ३ पृ० ८२ श्लो० २२

२- अपराजित कालीन उदयपुर शिलालेख, ए० इं० भा० ४ पृ० ३१ श्लो० ८

३- ए० इं०, भा० १२ पृ० ३१५-३२१

वृद्धा अप्सरा रूपी पल्लवों से युक्त और स्वर्ग-विमान रूपी अगणित शाखा-  
मन्त्राण हैं। जिस प्रकार स्नेह वृक्षों से गानी की छंदे उपकृती हैं उसी प्रकार उस  
वृद्धा से भी जलदों के जलरूपी मधु का उत्स फूटना है ---

स्वर्णः-सुगन्धधार विवर्दिनृवीर्यः (विवर्द्धनकृतोद्यमः) [१]

मृगतृष्णाज्जलरूपत्रियुक्तीयशिलाजलम् ॥

जीवलोकमिमं ज्ञात्वा शरणं शरणङ्गतः [१]

त्रिदशोदारकलदं स्वर्गमित्री-चारुजलम् [१]

विमानानेकविटपं तोयदाम्भुमर्ष्यावम् (मधुम्रवम्) [१]

वासुदेवं जादुवासमप्रमेयमन्नं विभुम् ॥

(श्लो० ६-११)

मालवानरेण विण्ववर्म्न् के सेवक मयूराक्षक ने गंगरातठवर्गीनगर में  
(मिनाई के) रूप, तालाब, (विष्णु) मन्दिर, देवनाभाभवन आदि का निर्माण  
निर्देशभाव में प्रेरित होकर की किया। उसने जीवन भर की न्यायार्जित  
सम्पत्ति को विष्णु के निष्चित अग्र का भावान् के प्रति अपनी परम्परा  
प्रदर्शित की। जीवन में है की क्या? — सभी का जीवन अनित्य और  
असार है। और, धन सम्पत्ति के प्रति आसक्ति क्यों? वह भी तो  
दोलायमान फूले के समान लसल है :—

सर्वस्यजी वितम नित्यमयारनञ्ज

दोलाकलामनुविविन्त्यनण विमुक्तिम् ।

न्यायागनेन विभवेन परांच मक्तिं

विस्थापयन्नुपरिचक्रगदाधरस्य ॥<sup>१</sup>

भाव —

अभिलेखों में सर्वाधिक अपविध्यङ्ग भाव, राजविषयक रतिभाव है।  
जहां दानपत्रों में 'ओं स्वरित' में 'कुशली' तक इस भाव की विद्यमानता है,  
वहां स्मारक लेखों में भी तत्कालीन नृपति की प्रशंसा के अवसर पर इसकी  
प्राप्ति स्पष्ट है। राज-प्रशस्तियाँ तो प्रायः जायीपान्त इस भाव से  
अनुप्राणित रहती हैं। इस प्रकार जेसरशासनपत्र<sup>२</sup> की प्रथम पैंतालीस पंक्तियाँ,  
जिनमें बलमीनरेखों की वंशपरम्परागत-प्रशंसा है, इसी राजविषयारति से

१- गंगधार शिलाश्लेष, का० ४० ई०, भा० ३ पं० १७ पृ० ७५ श्लो० १८

२- ए० ई०, भा० २२ पृ० ११४-१२०

अनुस्यूत हैं । मन्दसौर स्तम्भलेख (स्मारक)<sup>१</sup> में यशोधर्मन् की प्रशंसा-  
परक पांच श्लोक(श्लो०५-९) इसी भाव के धरातल पर उत्थापित हैं ।  
प्रशस्तियों में अगणना प्रमाण प्रचलित<sup>२</sup> में भी अन्तिम ढाई पंक्तियों को  
छोड़कर कविनिष्ठ राजविषया रति की परिलक्षित होती है ।

देवविषया रतिभाव का उदाहरण 'मावलिबरम्' के  
गणेश मन्दिरलेख में देखा जा सकता है —

सम्भवस्थितिसंसारकारणं वीतकारणः[१]

भूयादत्यन्तकामाय जगतां काममर्दनः ॥<sup>३</sup>

इसी भाँति मुनि(बुद्ध)-विषया रतिभाव —

मुनिर्मुनीनाममरोमराणां गुरुर्गुरुणां प्रवरो वराणां ।

जयत्यनाभोगवि(वि)बुद्धबुद्धिर्बुद्धाभिधानोनिधिरद्भुतानां ॥<sup>४</sup>

त्रिशिरापल्लि के समीपवर्ती पल्लवलेख में शंका और अस्या, इन  
दो भावों की सन्धि दर्शनीय है । पार्वती को सन्देह है कि शिव कहीं  
नयनाभिरामसलिला, उद्यानरूपी मालाओं को धारण करने वाली प्रियगुणा  
'कावेरी' पर असक्त न हो जायें, क्योंकि कावेरी अपने शोभासमुदय में  
गिरिकन्यका से श्रेष्ठतर है और शिव भी माने हुए नदीप्रिय हैं । (अतः कवि  
की धारणा है कि) इसीलिए अपने पितृकुल (हिमालय) को छोड़कर,  
'सावधान, कावेरी को न छेड़ना, क्योंकि पल्लव सम्राटों की प्रेयसी होने  
के कारण यह पर स्त्री है ।' यह कहती हुई शैलजा नित्य इस पर्वत पर  
बैठकर शिव की चाँकसी करती रहती है ।<sup>५</sup>

१: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ३५

२: वही, सं० १

३. सातपगोडाओं के पल्लव अभिलेख—ए०ई०, भाग १०, लेख संख्या २०  
पृ० ८, श्लोक १

४: गुलवादा गुहालेख, इ०के०टे०वै०ई०, पृ० ८८ श्लोक १

५. कावीरीनयनाभिरामसलिलामाराममालाधराम्(रां)  
देवो वीक्ष्य नदीप्रियः प्रिय[गु]णामप्येष रज्येदिति[१]  
साशंका गिरिकन्यका पितृकुलं हित्वेह मन्ये गि[रां]

नित्यन्तिष्ठति पल्लवस्य दयितामेतां बुवाणामनदीम् ॥ —सा०ई०ई०,  
भाग १, सं३३, पृ० २६, श्लोक १

वर्ष, आत्सुक्य और घृति की मनोरम त्रिवेणी, प्रयाग प्रशस्ति का चौथा छन्द है । अपने योग्यतम पुत्र समुद्रगुप्त को अक्षि पृथ्वी का राज्य-भार सौंपते हुए चन्द्रगुप्त (प्र०) में उक्तभावों का संगम वरिष्ठोपा ने बड़ी कुशलता से निवृत्त किया है —

रत्न[३] व-व्याकुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेतिणा वज्रुषा  
यः पित्राभिहितो नि[रौदय] निवि[लं पाह्येव] मूर्तिर्विर्मति<sup>१</sup>

चिन्ताभाव की शान्ति और परिणामतः वर्षभाव के उदय को चित्रित करने में अधोलिखित पद्य आकर्षणा-केन्द्र है । सदा-विजित सुराष्ट्र प्रान्त का विद्रोह-बहुल होना स्वाभाविक ही था । इसलिए स्कन्द-गुप्त वहाँ ऐसे गोप्ता (राज्यपाल) की नियुक्ति करना चाहता था, जो सब प्रकार से योग्य होकर विजित जनता के हृदय को भी जीत सके । उसने अनेक दिन और रातें गोप्ता-नियुक्ति-विषयक चिन्ता में बिताई<sup>१</sup> । किन्तु अन्त में स्वल्प एतदर्थ पण्डित की योग्यता का विचार कर उसका हृदय बौंसों उछलने लगा —

सर्वेषु भृत्येष्वपि संवत्सेषु  
यो मे प्रशिष्यान्नितिलान्सुराष्ट्रान् ।  
आ ज्ञातमेकः क्लृपणदितो  
भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥<sup>२</sup>

१: का०६०ई०, भाग ३, पृ० ६, श्लोक ४

२: का०६०ई०, भाग ३, सं० १४, पृ० ५६, श्लोक ११

क - रति-निरूपण

रीति को स्वयं काव्य की आत्मा का सम्मान देने वाले आचार्य वामन में तीन ही रीतियाँ स्वीकृति हुई<sup>१</sup> - वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली । रुद्रजयदेव, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इनके अतिरिक्त 'लाटी रीति' को भी मान्यता दी<sup>२</sup> - यह अतिरिक्त रीति वैदर्भी एवं पांचाली की मध्यगता मानी गई है - 'लाटी तु रीतिवैदर्भीपांचाल्योरतरे स्थिता'।<sup>३</sup> किन्तु यह मध्य स्थिति एक अस्वतंत्र स्थिति है । यदि वह मध्यगता होने से वैदर्भी की ओर ओर झुकी रहेगी, तो वैदर्भी ही मानी जायेगी और पांचाली के सन्निकट प्रतीत होगी, तो पांचाली ही बन कर रह जायेगी । इसलिए 'लाटी' की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना उचित नहीं । इसी प्रकार 'लाटी' समित्त अवन्ती एवं मागधी रीतियाँ भी ध्वनिषुष्ट साहित्य-सिद्धान्त को मान्य नहीं ।

रसों की उपकृती रीति एक विशिष्ट पद रचना<sup>४</sup> या पद संघटना<sup>५</sup> है । काव्यों में पदयोजना कवि के रचना शिल्प पर आधारित है । इसलिए रीति को विदर्भ, गौड़ प्रभृति देशों में प्रचलित 'वचन-विन्यास-क्रम' कह कर सीमित करना उचित नहीं । प्रत्येक कवि की अपनी व्यक्तिगत पद-योजना होती है । अतः विदर्भ देशज कवि भी स्वभाव-भेद से समास बहुस्त गौड़ी का आश्रय ले सकता है । कुन्तक ने इसीलिए रीति (मार्ग) को कविस्वभाव-परक मानकर रीतियों (मार्गों) के आनृत्य की परिकल्पना की, किन्तु गणना की अशक्यता के कारण वह उनके सामान्य त्रिविध्य का ही पक्षपाती बना ।<sup>६</sup>

१- रीतिरात्मा काव्यस्य-का०सू०वृ० १।२।६ तथा द्रष्टव्या त्रिधा वैदर्भी गौड़ीया पांचाली च' का०सू०वृ० १।२।६

२- काव्यालंकार (रुद्रज) १५।२०, चन्द्रा. ६।२२, सा०द० ६-२

३- सा० द० ६-५

४- विशिष्टापदरचना रीति :- का०सू०वृ० १।२।७

५- पदसंघटना रीति :- सा०द० ६-१

६- यद्यपि कवि स्वभावभेदनिबन्धनत्वादन्तर्भेदमिन्नत्वमनिवार्य, तथापि परिसंख्यातुम-अशक्यत्वात् सामान्येन त्रिविध्यमेवोपपद्यते । - वक्रोक्तिजीवित - १।२४ कारिका की वृत्ति (पृ० १०२)



साधारण दाढ़ी तक, जिनका जीवनकाल उम्र मदी में बँटता है, जो प्रस्तुत पबन्ध की विवेच्य कालावधि की उत्तरी सीमा है, मूलभूत दो ही रीतियाँ (मार्गद्वय) थीं - वैदमी और गाँधी।<sup>१</sup> पांचाली रीति के अन्वेषक आचार्य वामन हैं। अन्वेषण क्रिया के प्रयोग में 'पांचाली' की पूर्वसूता स्पष्ट है। आचार्य वामन को तो एक प्रचलित पदसंघटना के नामकरण का श्रेय मिलता है। लौकिक साहित्य की तरह अभिलेखों में भी इन तीनों ही रीतियों का यथावसर प्रयोग हुआ है। कभी-कभी तो एक ही अभिलेख में अनेक रीतियों का आश्रय लिया गया। समुद्रगुप्त की प्रमाण प्रशस्ति<sup>२</sup> का पद्य वैदमी एवं गद्य गाँधी रीति में है। वैसे भी - सम्पूर्ण अभिलेखीय साहित्य के अध्ययनोपरान्त यकी निष्कर्ष निकलता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, कन्दोयोजना में कवियों ने वैदमी का, तथा गद्यविधान में गाँधी का आश्रय लिया। जोज और समामुख्यस्त्व में गद्य को मशक करने की साधना में अभिलेखों का गाँधी मार्गानुसरण स्वाभाविक ही था। किन्तु, यह प्रयोजन ही बनाई हुई विश्वता है, क्योंकि हृदय में अभिलेखीय कवि वैदमी रीति के ही समर्थक रहे। इस समर्थनका प्रमाण केवल उनका प्रस्तुत किया हुआ पाठ्य ही नहीं, अपितु कतिपय स्थलों में आए वैदमी रीति विषयक मन्दर्भ भी हैं।

अभिलेखों की रीति मान्यता --

रुद्रदामन् के गिरिनार लेख के विषय में इहूलर मन्दोदय ने लिखा --  
 'जो कोई इसे ध्यान पूर्वक पढ़ता है, उसे प्रतीत होता है कि शैली के विकास के क्षेत्र में यह अभिलेख महाकाव्यों की अपेक्षा पर्याप्त उन्नत स्तर प्रस्तुत करता है।'<sup>३</sup>  
 अभिलेख के रचयिता का शैलीगत उन्नत स्तर प्रस्तुतीकरण अनुमाने में ही नहीं हुआ, अपितु इसके पीछे उसकी एक मान्यता भी है, जोकि काव्यशास्त्र के इस प्रारम्भिक काल में आन्दोलन की एक नयी तरंग बन कर उपस्थित हुई। काव्य स्रष्टा जो विचार अपने सर्वप्रिय पात्र के मुँह से प्रकट करता है, अथवा जिन विचारों को उसके सम्बन्ध में व्यक्त करता है, वे उसके व्यक्तिगत मान्यता-ओं या धारणाओं के निष्कर्ष होते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वे विचार उसके अपने होने हैं, प्रबन्धों अथवा नाटकों की कथानक सम्बन्धी परिस्थितियाँ, उसकी ऐसे विचार

१- इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपं निरूपणात् ।

तद्वैदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिक्रियस्थिताः ॥

-- काव्या १।१०१

२- का० इ० इ०, मा० ३ सं०१

३- "Whoever reads it attentively would feel that in the matter of the development of the style, it shows a stage considerably in advance of the epics." --

-- इ०सेण्टे०, मा० ४२, पृ०१६१

व्यक्त करने के लिए विवश नहीं करतीं। गिरिनार लेख का कवि मा। यदि अपने आराध्य नृपति रुद्रदाम्न् के काव्यरचना कौशल के विषय में कहता है कि वह 'स्फुटलघु-मधुर-चित्रकान्त-शब्द-सम्प्योद्गारलंकृत-गद्य-पद्य-विधान प्रवीण'<sup>१</sup> था, तो यह, गद्य-पद्य विधान सम्बन्धी उसकी अपनी मान्यता ही है, और यही उसकी वैयक्तिक काव्य जंगली का रहस्य भी है। यहाँ, 'स्फुट' शब्द स्पष्टता के लिए और 'लघु' प्रसादगुण के कर्म में प्रयुक्त हुआ है। 'मधुर', माधुर्य अर्थात् रसवर्ध के लिए है। 'चित्र' आश्चर्योत्पादक लोजस् गुण का स्थानापन्न है। भरत मुनि ने भी 'लोजस्' की मृष्टि के लिए सम्पत्, विविध-विचित्र, माधुस्वर वाले एवं उदार पदों का होना आवश्यक माना है।<sup>२</sup> 'कान्त' पद यहाँ प्रिय, ललित अर्थात् सुखमार शब्द 'निकन्धन' के लिए है। 'शब्द-सम्प्योद्गार' का कर्म, 'मगवान् लाल इन्द्रजी' ने 'शब्दपरक, कवियों के परम्परागत संकेतों में उदार' -- लिया है।<sup>३</sup> इस प्रकार गिरिनार अभिलेख के कवि ने द्वितीय शताब्दी में ही काव्यविधान के लिए वैदर्भी रीति के कतिपय आवश्यक तत्त्वों को ही यहाँ प्रस्तुत किया है। दण्डी ने इस रीति के लिए सातवीं सदी में अर्धोलिखित दस तत्त्व आवश्यक माने --

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुखमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाध्यः ॥

इतिवैदर्भीमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।<sup>४</sup>

गिरिनार अभिलेख के 'स्फुट', 'चित्र', 'लघु' आदि तथाकथित सन्देहोत्पादक शब्दों के लिए दण्डी-कथित क्रमशः 'अर्थव्यक्ति', 'लोजस्', और 'प्रसाद' शब्द दृढ़ता पूर्वक रसे जा सकते हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का विकास गारत्य में प्रारम्भ हुआ। उत्तरोत्तर विकास उत्तरोत्तर जटिलता को पृष्ट करता है। जिस दिन सर्व प्रथम काव्य ग्रंथ का निर्माण हुआ, वही दिन वैदर्भी का साहित्य में अवतरण का दिन माना जायेगा, क्योंकि जिस पथ पर प्रथम साहित्य स्रष्टा चला, कालान्तर में उस पथ का नाम ही वैदर्भी मार्ग पड़ गया। भरत मुनि ने तो काव्य के जो दस गुण

१- ई० ऐचिन्ठ, भा० ७, पृ० २६१ पं० १४

२- समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदयुतम् ।

मानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते ॥ ना० शा० १६।१०५

३- इ० - इहलर द्वारा उद्धृत मगवान् लाल इन्द्रजी का कर्म -- 'शब्देष्टु शब्दविषयः कवीनां सम्यः संकेत आचारो वा तेन उदारम्' -- ई० ऐचिन्ठ० भा० ७२ - पृ० १६३ पा० १०५६

४- काव्या, १।४१-४२

बतलाए<sup>१</sup>, वण्ही उन्हीं को वैदभी<sup>२</sup> रीति के दस तत्त्व कहता है । जिस प्रकार कालिदास सर्वश्रेष्ठ कवि होने के कारण<sup>३</sup> कवि शब्द का ही पर्याय माना जाता है, उसी प्रकार वैदभी<sup>४</sup> रीति भी सर्वश्रेष्ठ रीति होने से, या आदि रीति होने से अपने जीवन के लिए उन सभी गुणों को समेट ले गई, जो स्वयं काव्य के गुण हैं, जैसे कि यह सिद्धान्त, कि जहां काव्य होगा, वहां वैदभी<sup>५</sup> रीति होगी, और जहां वैदभी<sup>६</sup> मार्गाभाव होगा, वहां काव्याभाव होगा — इस अन्वय-व्यतिरेक से घटित हो ।

गिरिनार लेख की ही भांति, गारुलक वंशीय सिंहादित्य के पलिताना शासन पत्र में सिंहादित्य की प्रशंसा-परक अधोलिखित पंक्ति भी वैदभी<sup>७</sup> रीति के ही पोषक तत्त्वों को उद्घाटित करती है —

‘स्फुटमधुरललितौदारधीर-गम्भीर-वल्गुप्रसृताभिधानः’ (सिंहादित्यः)

यहां ‘स्फुट’, ‘मधुर’, एवं ‘उदार’ शब्दों का वही तात्पर्य है, जो रुद्रदामन्(प्र०) के लेख में । ‘वल्गु’ का अर्थ है प्रिय या सुन्दर, अतः यह ‘कान्त’ का पर्याय है । ‘ललित’ पद विश्वनाथ की ‘रचना ललितात्मिका’<sup>८</sup> उक्ति का शब्दगत प्रतिनिधि है । अर्थाभिव्यक्ति के साथ ‘ललित्व’ के प्रति अभिलेखीय कवियों का सहज आकर्षण है, और ये दोनों वैदभी<sup>९</sup> रीति की प्रमुखतम आवश्यकताएं हैं । कामरूप नरेश भास्कर वर्मन् के विषय में द्वविशासन-पत्र में लिखा गया कि वह ‘स्फुट-ललितपद’ वाले ‘सर्वमार्गकवित्व’<sup>१०</sup> से सम्पन्न था । यहां भी वैदभी<sup>११</sup> मार्गानुसारी कवित्वकी और ही शासन-पत्र रचयिता का संकेत है । उक्त शासन पत्र स्वयं में भी वैदभी<sup>१२</sup> का ही अनुसरण करता है । इसी प्रकार ६८६-६९० ई० के भालरापाठन अभिलेख के रचयिता भट्ट शर्षगुप्त द्वारा की गई अपनी ‘प्रशस्ति’ की प्रशंसा<sup>१३</sup> भी वैदभी<sup>१४</sup> रीति के आवश्यक तत्त्वों का संग्रह सी प्रतीत होती है :—

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिमाधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशेते ।

— ना०शा०, १६।६६

२. २०ई०, भाग ११, पृ० १८, पंक्ति १६

३. सा०द०, ६।२-३

४. ‘सु(स्फुट)ललितपदं सर्वमार्गकवित्वं(त्वम्) ।

येन प्राप्य प्रभाभिः — द्वविशासन पत्र, २०ई०, भाग ३०, पृ० ३०४, श्लोक ७

५. ६० रेण्ट०, भाग ५, पृ० १८१, श्लोक १२

रम्यैर्जनप्रतीतैरर्थानुगतेरकूर्णैश्शब्दैः [ः।]

रचितेयमनभिमानात्प्रशस्तिरति भट्टशर्वाङ्गुप्तेन [।।]

अभिलेखीय कवियों का वैदभी रीति के प्रति इतना आग्रहशील होने पर भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे गौड़ी और पांचाली रीतियों की उपेक्षा नहीं कर पाए । उद्देश्यभेदजन्य काव्येतर शिल्पविधान होने के कारण अभिलेखों में वक्ता का तो प्रश्न ही नहीं उठता, हां, वाच्य के औचित्यानुसार गौड़ी और पांचाली को भी सम्मान दिया जाना स्वाभाविक ही था ।<sup>१</sup>

अभिलेखों में रीति-निर्वाह—

वैदभी—यह स्पष्ट है कि रुद्रदामन् के गिरिनार—अभिलेख का रचयिता भले ही विचारों से वैदभी रीति का समर्थक रहा हो, अपने गद्य के लिए उसने समास-बहुला गौड़ी का ही आश्रय लिया । (कोई आवश्यक नहीं कि विचार सदैव व्यवहार में लाए जाय । ) क्योंकि, वैदभी माधुर्य व्यञ्जक वृत्तों से सम्पन्न, असमस्त या अल्पसमासयुक्त एक ललित रीति का नाम है, जैसे कि अधोलिखित उद्धरणों में इस रीति का प्रयोग—

निष्पार्पिता [मिति मुदा] पुरुषात्तमेन

शैलीं हरस्य तनुमप्रतिमाननेन [।]

कृत्वा शिवं शिरसि [धा] रयतात्मसंस्थ-

मुच्चैः शिरस्त्वमव [लस्य] कृतं कृतात्यम् [।।]<sup>२</sup>

या—

तस्यामदित्यामिव चक्रपाणि

न्नारियणी मानुषतां प्रप [य] [।]

तेनैव ताम्ना कलिजान्निहन्तुं

दोषां (षान्) प्रजाया इव पार्थिवो (ऽ) भूत् [।।]<sup>३</sup>

---

१. ६०— तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः— ध्व०, तृ० उद्योत,

कारिका ६२

२. सा०इ०इ०, भाग १, सं० ३४, पृ० ३०, श्लोक ४

३. द्वाविंशसन पत्र, ए०इ०भाग ३०, पृ० ३०० श्लोक ३६

इस रीति में समासहीनता के नियम पर ढील इसलिए दी गई कि असमस्त पदों की योजना सदैव सम्भव नहीं। रचना को अवश्य ललित होना चाहिए और यह लालित्य श्रुतिमधुर व्यंजनों से ही आ सकता है ---

त्रियं वरां वलिचरमादिशंतु ते  
भवद्विषा[ः]श्रीघनपाद-पांसवः[॥]  
सुरासुराधीशशिक्षामणित्विषां  
मना(न)न्तरंय्ये(रंयै) विलसन्ति संवये ॥<sup>१</sup>

अथवा इसी अभिलेख के एक श्लोक का यह संगीत प्रचुर चरणा-  
सुरांगनास्संगम्याम्बभूविरे ॥ (श्लोक७)

पद्य में तो वेदभी मार्ग का प्रचुर मात्रा में अनुसरण किया गया<sup>२</sup> किन्तु अभिलेखीय गद्य ने भी इसकी उपेक्षा नहीं की :—

तस्य सुनुः प्रतप्तरुचिरकनकावदातः कल्पतरुर्वाविरत-  
मभिरुचितफलप्रदः सततमृतगुणस्यैव वसन्तसमयः वसन्तसमयस्यैव प्रविकाशित-  
निविडचूततरुवनाभोगः सरस इव कमलनिवह कमलनिवहस्यैव प्रबोधः महा-  
विषधरस्यैव मणिः मणोरिव स्वच्छतारभावः :<sup>३</sup> — इत्यादि

अथवा— अपि च प्राक्तने तपसि यशसि रहसि चेतसि  
चक्षुसि बपुषि (वपुषि) च पूजितो जनेन<sup>४</sup>

१. सा०इ०इ०, भाग १, पृ० ३६, श्लोक १

२. इ० — अन्यान्य उद्धरण—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, का०इ०इ०, भाग ३, श्लोक १३ तथा श्लोक १६ आदि। अपराजित का उदयपुर लेख, ए० इ०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ५-६, कदम्ब रविवर्मन् का क्षाशासनपत्र, इ०एचिट०, भाग ६, पृ० २६, श्लोक ३ आदि

३. प्रा०ले०मा०, भाग २, पृ० ४२

४. तीवर्देव का बलोद शासनपत्र, ए०इ०, भाग ७, पृ० १०४, पं० १०-११

गाँधी—यह रीति ओजोगुणाभिव्यञ्जक वर्णों से सम्पन्न, समासबहुला और उद्भट होती है।<sup>१</sup> ओजोगुणा की अभिव्यञ्जना में महा-प्राणा वर्ण सर्वथा सत्ताम होते हैं। वर्णों का क्रम भी ऐसा सटा हुआ होना चाहिए कि अनुप्रास वैशिष्ट्य की स्पष्ट प्रतीति होती हो। गाँधी—मार्गाश्रित रचना में समास बाहुल्य के कारण स्वाभाविक रूप से वाक्यों का कम प्रयोग होता है। प्रयाग प्रशस्ति<sup>२</sup> का गद्य गाँधी रीति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। शब्दाढम्बर, ओज, अनुप्रास एवं समास, गाँधी रीति के सभी आवश्यक तत्त्व इसमें समाहित हैं। इसके अतिरिक्त समस्त गद्य भाग में केवल तीन ही वाक्यों का प्रयोग हुआ है।

अंशे प्रथम वाक्य में ही १४ पंक्तियाँ हैं (पं० १७-३०)। सांभाग्य से समुद्रगुप्त की दिग्विजय और उसके व्यक्तित्व एवं वंशक्रम-निदर्शन परक होने के कारण इस वाक्य की पदसंघटना अपेक्षाकृत अधिक उदात्त एवं उद्भट है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि साहित्यिक अभिलेखों का गद्य अधिकांश रूप में गाँधी मार्गावलम्बी ही है, पुष्टि में कतिपय उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं :—

स्वस्ति श्रीपुरात्समधिगतपंचमहाशब्दानेकनतनृपतिकिरीटकोटि-  
घृष्टचरणानखदम्पणाद्भासितोपकण्ठदिहोमुखः प्रकटरिपुराजलक्ष्मी-कैशपाशाक-  
र्षणादुल्ललितपाणिपल्लवः (पल्लवो) निशितनिस्त्रिंशु (स्त्रिंश) धनघाताति-  
तारिद्वरदकुम्भ-मण्डलगलद्व (ब) ल्लशोपात-सटासिक्तमुक्ताफलकूरमण्डितरणा-  
होगणाः (णा) विविधरत्नसंभारलाभलोभविजृम्भमाणारिद्वार-वारि-वाढ-  
वानलश्चन्द्रोदय इवाकृतकरोद्देगः क्षीरोद इवाविभूतानेकातिशायिरत्नस-  
स्पत् ।<sup>३</sup>

अथवा—

कर्मगतक्रमागतस्फीतापरान्तादिदेशपतिरपरिमितनृपतिनत-  
चरणकमलस्वभुजपरिपालनप्रतापाधिगतप्रचुरद्रविणाविश्राणानावाप्तसर्व्वदिग्व्यापि-

१: सा०द० ६।३-४

२: का०द० ०, भाग ३, सं० १

३: तीवरेदव का बलोद शासनपत्र, २०ई०, भाग ७, पृ० १०४, पं० २-८

यह भी एक सर्वतोदृष्ट सत्य है कि जहाँ, उद्भट एवं आहम्बरपूर्ण पदयोजना होगी, वहाँ अतिशयोक्ति के लिए सज्ज ही तैयार हुआ रहेगा, जैसे कि चालुक्य पुलकेशिन् (दि०) के पुत्र विक्रमादित्य की प्रशंसा में लिखी गई ये पंक्तियाँ —

चित्रकण्ठाख्यप्रवरतुरंगमेणैकैर्नव प्रतीतानैक-समरनुवै रिपुनृपति-  
रुधिरजलास्वादन-रसनायमानज्वलदमलनिशितनिस्त्रिंशधारयावधृतधरणि-  
भरभुजगभोगसदृशनिजभुजविजितविजिगी शूरात्मकवचावमग्नानैकप्रहारः २

अथवा —

स्वरदनकुलिशविभिन्नरिपुहृदयोद्गतरुधिरधारास्नपितमस्तकमत-  
मातंगोदयपर्वत-तरुणारविः × × × × × करगतलंगोत्कृतपरनृपदन्ति-  
दन्तोत्थितवह्निशिखोदीपितरुणभूमिः ३

पदों के समासजन्य सन्निध्य से इस रीति की एक बड़ी विशेषता अनुप्रास-प्रचुरता भी है। गुर्जर नरेश दद (तृ०) बाहुसहाय के प्रिन्स आबवेल्स संग्रहालय वाले शासन पत्र के अधोलिखित उद्धरण में भ, प, त, र, द, च, य, म, न, ड, ङ, ध आदि व्यंजनों की आवृत्ति गद्यबन्ध में विशेष आकर्षण भर देते हैं :—

श्री हर्षदेवाभिभूतवलभीपतिपरित्राणोपजातभूमदभृशुभाभ्रविभ्रमय-  
शोवितानः श्रीददस्तस्यसूनुरशंकितगतप्रणायिजनोपभुक्तविभवसंबयोपवीयमानमा-  
नो निर्वृत्तिरनेक-कण्टकभट(वंश)सन्दोहदाहदुर्ललित-प्रतापानलो निशितनिस्तृ  
(स्त्रि)ंशधारादारितारातिरिक्कुम्भमुक्ताफच्छलोल्लसितसितयशोशुकावगु-  
णिठतदिग्वध[२]वदनसरसिजः ४

१. व्याघ्रसेन का सूरत ताम्रपत्र, ए० ई०, भाग ११, पृ० २२०, पं१-३

२. विक्रमादित्य (प्र०) का वैक्लनल्लि शासन पत्र, का प्ले० इ० आ००प्र०म्यू०  
भाग १, पृ० ५२, पं० १०-१३

३. पुलकेशिन् (दि०) का 'आम्रवटवक' ग्रामदान का शासन पत्र, प्रा०ले०मा०  
भाग ३, (का०मा०) सं० १५१, पृ० ११६

४. ए०ई०, भाग २७, पृ० २००, पं ४-७



पांचाली — पांचाली रीति का अनुसरण करने वाली रचनाओं में माधुर्य एवं ओजो गुणाभिव्यंजक वर्णों को छोड़कर अन्य वर्णों (प्रसाद-गुणाभिव्यंजक) की योजना होती है। इसमें पांच या छः पदों से बड़े समास नहीं होते।<sup>१</sup> परिणामतः इस रीति पर अवलम्बित रचना प्रसन्न-वर्णों की स्पष्ट रचना होती है। अभिलेखीय पद्य साहित्य में इसके उदाहरण भी सर्वत्र सुलभ हैं —

कर्ता द्विषाणां(र्ग)समुच्छ्रयाणां

कर्ता च कत्याणा-परम्पराणाम् ।

चित्ते सदा स[०] भृतभक्तिपूते

धत्ते पदं यस्य मृगा[ ह०] कर्मो(मौलि[:])<sup>२</sup>

अथवा बगुमा दान लेख का सूर्यस्तुतिपरक यह श्लोक:—

प्रथमदिक्सरसी-प्रि(पृ)थु पंकजं

गगनवारिधिविद्रुमपल्लवं ।

त्रिदशरक्तजपाकुसुमं नवं

दिशतु वो विजयं रविमण्डलं(लम्) ॥<sup>३</sup>

गद्य में भी इस रीति का प्रभाव यत्रतत्र परिलक्षित होता है—

ऋतविषसमप्रसादकोपस्य लोकोपचयप्रवृत्तसर्वारम्भस्य वसन्त-मास इव सर्व्वजननयनहृदयानन्दस्य करिकरौदारपीनभुजस्य स्वभुजपरिपालना-तिमुदितपौरजानपदस्य<sup>४</sup> इत्यादि

१. सा०द० ६।४

२. पनमलह(पल्लव) लेख, ए०ई० १६, पृ० ११४, श्लोक ५

३. ई० रेण्ट०, भाग १८, पृ० २६७, श्लोक १

४. पल्लव सिंहवर्मा का वैसन्त शासन पत्र, का० प्ले० इ० आ० प्र० म्य० भाग १, पं० ४-७

माधुर्य, ओज एवं प्रसाद— क्रमशः इन तीन गुणों को लेकर चलने वाली उल्लिखित तीन रीतियों की गुणाभिव्यञ्जकता स्पष्ट है, फिर भी यहाँ गुणों का पृथक् विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

रस और गुण में धर्मिधर्मभाव का सम्बन्ध है। काव्य का सारभूत तत्त्व, रस होता है। गुण उसके ही उत्कषहेतु हैं। इसलिए गुण, अद्भिःगत्व को प्राप्त रस पर अवलम्बित हैं<sup>१</sup> और रसधर्मभूत हैं। प्राचीन आलंकारिकों की यह मान्यता कि गुण, शब्द और अर्थ के शोभावह धर्म हैं, ध्वनिपुष्ट काव्यशास्त्र को स्वीकार नहीं। क्योंकि ध्वनिवादी शब्द और अर्थ को रसरूप अंगों के अंगमात्र मानते हैं। उन्हें इससे अधिक सम्मान देने के पक्षपाती नहीं हैं। इसके विपरीत वे कहते हैं कि क्योंकि माधुर्यादि गुणों की प्रतिष्ठा का रसस्य रसगत मधुरता ही है।<sup>२</sup> इसलिए गुणों का रस से अपृथक्सिद्धत्व स्पष्ट है।

ध्वनिवादी आचार्य गुणों की संख्या तीन ही निर्धारित करते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।<sup>३</sup> रीतिवाद के जन्मदाता आचार्य-वामन भी गुणों की संख्या दस (ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यञ्जित और कान्ति)<sup>४</sup> बतलाकर इन्हें फिर शब्दगत एवं अर्थगत सिद्ध करते हैं।<sup>५</sup> मम्मट किन्तु ध्वनिवाद के सबल समर्थक आचार्य इस 'दशगुणवाद' को निराधार कहते हैं। मम्मट के न पुनर्दर्श एवं विश्वनाथ के ते त्रिधा कथन में दस गुणों का निषेध और तीन गुणों का ही निर्धारण है। मम्मट ने तो आगे स्पष्ट ही कह दिया कि इन तथाकथित दस गुणों में कुछ तो ऐसे हैं जो इन तीनों में अन्तर्भूत हैं, कुछ दोषभावमात्र हैं, उन्हें गुणों की संज्ञा देना ठीक नहीं और कुछ तो

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽद्भिःगन् ते गुणाः स्मृताः । — ध्व०, दि० उद्योत,  
कारिका २६

२. शृंगार एवं मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।

तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ध्व० दि० उद्योत,  
कारिका ३०

३. माधुर्यजिःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दर्श । — का०प्र०, ८।८६

तथा— 'माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा, सा०द० ८।१

उलटे दोषत्व को ही धारण करते हुए प्रतीत होते हैं :—

केचिदन्तर्ध्वन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिता : ।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥<sup>१</sup>

गुणों की संख्या तीन निर्धारित हो चुकने पर भी अभिलेखों के दृष्टिकोण से साँकुमार्य गुण के प्रति आस्था सजग सी हो रही है। वामन ने इसको 'अपारुष्य' एवं 'श्रुतिसुखदत्व' गुण कहा है।<sup>२</sup> अपारुष्य का अर्थ, श्रुतिकटुत्व के साथ अमंगलसूचक पदों का अभाव भी लिया जा सकता है, जिसको अंग्रेजी में यूफेमिज्म (EUPHEMISM) कहते हैं। इसमें मरणा सम्बन्धी या अनिष्टकर तथ्यों को प्रकारान्तर से कहा जाता है, ऐसा कथन कानों को उद्वेजकर प्रतीत नहीं होता। आठगुणों को ही मान्यता देने वाले चन्द्रालोककार जयदेव ने भी 'साँकुमार्य' गुण की सत्ता स्वीकार करते हुए कहा कि यह 'पर्यायपरिवर्तन' जन्य 'अपारुष्य' गुण है। इसके लिए उन्होंने उदाहरण भी अपनी मान्यता के अनुरूप ही दिया कि 'अमुक व्यक्ति अग्नि का आलिंगन करके कथाशेषता को प्राप्त हो गया —

साँकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात् ।

स कथाशेषतां यातः समालिङ्ग्य मरुत्सङ्गम् ॥<sup>३</sup>

यहां श्रवणाद्वेजकर मरणाकथा को कवि ने पर्यायपरिवर्तनजन्य अपारुष्यरूप प्रदान किया। अभिलेखों में इस प्रकार के वर्णन सर्वत्र सुलभ हैं, जैसे चन्द्र के मेहरौली लौहस्तम्भ की यह उक्ति कि 'वह, सम्राट् बहुत समय तक पृथ्वी का भार वहन करने के उपरान्त थका हुआ सा, उसे त्याग कर दूसरे लोक, (स्वर्ग) को चला गया।'<sup>४</sup> यहां भी चन्द्र की मृत्यु का कथन कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा से हुआ है। दूबि शासन पत्र<sup>५</sup> में नरक और

१. का०प्र०, ८।६६

२. 'अजरठत्वं साँकुमार्यम्' — बन्धस्याजरठत्वमपारुष्यं यत्तत्साँकुमार्यम्—  
का०सू०वृ०, ३।१।२२

३. चन्द्रा० ४।८

४. '[लि]न्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां' — मेहरौली लौह  
स्तम्भ लेख, का०इ०इ०, भाग ३० पृ० १४१, श्लोक २

५. ए०इ०, भाग ३०, पृ० २८७, — ३०४

भगदत्त से लेकर भास्करवर्मन् तक छन्दोबद्ध भौमनारकवंशक्रम-परिगणन हुआ है। स्वाभाविक ही था, एक नृपति की मृत्यु के विषय में कह कर ही कवि, नये सम्राट् के शौर्य-वीर्य की प्रशंसा करता। किन्तु इस अभिलेख के कुशल कवि ने भी स्थल-स्थल पर पर्यायपरिवर्तन का आश्रय लिया और सम्राटों की मृत्यु की सूचना अपरुष शब्दों में दी, जैसे —

गते तु तस्मिन्निदशेऽसख्य --

मभून्नेन्द्र[: ]पितृ[तु]न्यविक्रमः [।]

प्रख्यातिमान् (अ) ज्ञानगुणोदयोज्जितः

समुद्रतुल्य[: ]स समुद्रवर्मा ॥ (श्लोक ११)

अथवा —

कम्पारिण कृत्वा स शुभानि राजा

हत्वा रिपूणां महतां [कुलानि] ।

[भुक्त्वा] च भो [गान् सु]कृ [तैरु]पात्तान्

कालेन श [अक्राति]थिताजग [ाम] ॥ (श्लोक १६)

ऐसे वर्णन अन्यान्य लेखों में भी सहज सुलभ हैं किन्तु इन्हें पृथक् से गुण स्वीकार करना युक्ति-युक्त नहीं। काव्य की परिभाषा का एक अंश दोषहीनशब्दार्थज्ञा (अदोषां शब्दार्थों) के अन्तर्गत ही तथ्यस्थित सौकुमार्य गुण मानना तर्कसंगत है। इस प्रकार कष्टत्व श्रुतिकष्टत्व एवं अमंगलसूचक अलीलत्व दोषों के अभाव के अतिरिक्त 'सौकुमार्य' कुछ भी नहीं। अतः अभिलेखों के सन्दर्भ में भी तीनों ही गुणों का निरूपण उचित है।

माधुर्य— चित्तद्वीभावमय आनन्द ही माधुर्य है और इसका अभिव्यक्त दोत्र सम्भोग शृंगार, विप्रलम्भ एवं करुणा रस हैं, जिनमें यह उत्तरोत्तर मधुर प्रतीत होता है।<sup>१</sup> इसमें श्रुतिकट्ट वर्ण ट, ठ, ड, और ढ को छोड़कर अन्य क से म तक के वर्णों का विशेष प्रयोग किया जाता है। ये वर्ण अपने वर्ग के अन्त्य के संयोग से एक विशेष नाद-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। अन्य वर्णों से असंयुक्त रेफ और मूर्धन्य पाँच कार भी तद्वत् सम्पादन के साथ प्रयोग में लाये जा सकते हैं। यह मधुर पदयोजना या तो

सर्वथा समास चीन हो अथवा स्वल्पसमासवाली ।<sup>१</sup> वैसे कहीं-कहीं उल्लिखित वर्ज्य वर्णों में किसी एक की अपवाद रूप से प्राप्ति, काम्य ही मानी जाती है, जैसे अधोलिखित श्लोक में आर संयुक्त रेफ से सामान्य माधुर्य-गुण पर आंच नहीं आती —

प्रियतम कुपितानां कम्पयन्बद्धरागं  
किसलयमिव मुग्धं मानसं मानिनीनां [१]  
उपनयति नभस्वान्मानभंगाय यस्मिन्-  
न्कुसुम-समय-मासे तत्तन्निर्मापितो (९)यम् ॥<sup>२</sup>

जैसे कि पहले भी कहा जा चुका है कि शान्त रस के अभिव्यंजन क्षेत्र में माधुर्य गुण अपने उत्कृष्टतम रूप में उपस्थित होता है क्योंकि शान्त रस में सहृदयहृदय की सुकुमारता अधिकतम होती है, जैसे कि दामोदर कवि के नीचे के श्लोक से स्पष्ट है । यहाँ भी 'कैटभ' का श्रुतिकटु वर्ण 'ट' तथा 'प्रति ओर' ग्राह्य के संयुक्त रेफ सामान्य माधुर्य गुण को विशेष ठेस नहीं पहुँचाते —

विलोक्यासौ लक्ष्मीं स्वनयननिमेषप्रतिसमां  
वयो वित्तं रंगन्तुतरंगान्तरलम् ।  
तरन् संसाराब्धिं विषमविषयग्राहकलितं  
स्थिरं पोताकारं भवनमकरोत्कैटभरिपो [:] ॥<sup>३</sup>

इसी तरह यह गुण राजभियारतिभावपरक निर्मांकित स्थलों में भी देखा जा सकता है —

— स्मरलीलालाचलापांगैल्लोचनेःपुरयोषितां (ताम्) ।  
गतवानेकपात्रत्वं परस्परजिहीष्ण्या ॥<sup>४</sup>

भगवतो गोकर्णं (ण्णं)स्वामिनश्चरणकमलयुगलप्रणामाद्विगत-  
कलिकलंकौ गांगामलकुलतिलकौनयविनयसम्पदामाधार [:]स्वासिधारापरिस्पन्दा

१. सा०द० ८।३-४

२. यशोधर्मन् विष्णुवर्द्धन कालीन मन्दसौर स्तम्भलेख, का०३०ई०, भाग ३,  
पृ० १५४, श्लोक २६

३. अपराजितकालीन उदयपुर लेख, २०ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ८

४. भास्करवर्मन् का दूबिशासन पत्र, २०ई०भा० ३०, पृ० ३००, श्लोक ३३

धिगतसकलकलिंगाधिराज्यः प्रविततचतुरदधिसलितरंगमेखलावनितलामल-  
यशा [ः]..... १

“आदिकालराजर्षिर्षिम्भानां आश्रितजनाम्भानां कदम्बानां  
धर्ममकाराजस्य २”

ओजोगुण — रांद्र वीरादि रसास्वाद से सम्बद्ध अथवा उनके  
अनुभव के परिणामस्वरूप ओजोगुण वित्त की विस्तृति या उष्णाता है ।<sup>३</sup>  
यह विस्तृति, वीर, बीभत्स एवं रांद्र में क्रमेणाधिक्य को प्राप्त होती है ।  
ओजोगुणायी रचना दीर्घसमासवती एवं औद्धत्यशालिनीपदयोजना होती है ।  
वर्णानिर्वाचन के दृष्टिकोण से भी इसकी निजी विशेषता है । इनमें वर्णों  
के प्रथम एवं द्वितीय प्रभृति वर्णों के पारस्परिक संयोग, संयुक्त रेफ, संयुक्त  
अथवा असंयुक्त ट-वर्ग के प्रथम चार वर्ण, शकार और षकार के प्रचुर  
प्रयोग आवश्यक समझे जाते हैं,<sup>४</sup> जैसे —

यस्यौत्केतुभिरुन्मदद्विपकरव्याविद्वलोध्रुमे-

रुद्धतेन वनाध्वनिध्वनिनदद्विन्ध्याद्रिरन्ध्रेष्वलैः [I]

बालैर्वृक्वि-धूसरेण रजसा मन्दांशुसंस्तप्यते

पर्यावृत्त शिखण्डिचन्द्रक इव ध्यामं रवेर्मण्डलम् ॥<sup>५</sup>

‘वासुल’कवि विरचित यशोधर्मदेव के मन्दसार स्तम्भ लेख की  
पंक्ति-पंक्ति में ओजोगुणावाही औद्धत्यपूर्ण पदसंघटना दृष्टिगोचर होती  
है, उदाहरणार्थ —

आविर्भूतावलेपैरविनयपटुभिल्लंघिताचार [पा]गौ-

म्पौचादेदं युगीनरपशुभरतिभिः पीड्यमाना नरेन्द्रेः ।

यस्य क्मा शार्ङ्गपाणोरिव कठिनधनुज्यार्किणा [इ०क] प्रकोष्ठ [०]

बाहुं लोकोपकार-व्रत-सफल परिस्पन्दधीरं प्रपन्ना [II]<sup>६</sup>

१. इन्द्रवर्मन् का तेक्कालि ताम्रशासन, ए०ई०, भाग १८, पृ० ३०६, पं० ३-७

२. तीन कदम्ब ताम्रशासन (शासन सं० ३) ज० बॉ० ७४० रॉ० २०६०, भाग १२

(१८७६) पृ० ३२३

३. सा० ८० ८।४

४. वही ८।५-६

५. यशोधर्मन् विष्णुवर्द्धन् कालीन मन्दसार स्तम्भलेख, का० ई० ई०, भाग ३,

अथवा रविकीर्ति का यह श्लोक —

नानाहेतिशताभिधातपतितप्रान्ताश्वपतिद्विपे

नृत्यद्भीमकबन्धुबुकिरणज्वालासञ्च[?]रणे ।

लक्ष्मीर्भावितचापलापि च कृता शौर्य्येण येनात्मसा-

त्रा(द्रा)जासीज्जयसिञ्चत्लभ इति स्थातश्चलुक्यान्वयः ॥<sup>१</sup>

कवि वत्सभट्ट की यह बड़ी विशेषता है कि वह भावानुरूप पदसंघटना प्रस्तुत करने में सदैव सजग रहता है । अधोलिखित श्लोक दृष्टान्तके रूप में लिया जा सकता है, जिसमें उसने बन्धुवर्मा के ललित गुणों की प्रशंसा में कोमल शब्दों का ही प्रयोग किया, लेकिन चौथा चरण क्योंकि शौर्यादिनिदर्शनपरक है, इसलिए उसकी शब्दावली में वत्सभट्ट ने आवश्यक परिवर्तन कर दिया :—

तस्यात्मजः<sup>स्वर्ध</sup>नयोपपन्नो ब[न्धु]प्रियो बन्धुरिव प्रजानां (नाम्) ।  
बन्ध्वर्तिहर्ता नृप-बन्धुवर्मा द्विदृप्तपदादापणैक[द]जाः ॥<sup>२</sup>

ओजोगुणवाही श्लोक युक्त अन्यान्य कुन्दोबद्ध कतिपय अभिलेखों में अपराजित कालीन उदयपुर लेख ( दामोदर कवि )<sup>३</sup> दुर्गिण-कालीन फल्गुपाठन लेख ( भट्टशर्गुप्त ),<sup>४</sup> शिवगुप्त बालार्जुन कालीन सेनखपाटन लेख ( सुमंगल कवि )<sup>५</sup> कूरम शासन पत्र ( संशोधित पाठ्य )<sup>६</sup> विशेष उल्लेखनीय हैं । आदित्यसेन के अपसद् शिलालेख की ही ये पंक्तियाँ कितनी सशक्त और रसानुरूप ओजोगुणमयी हैं :—

घोराणामाह्वानां लिखितमिव जयं श्लाघ्यमाविर्दधानो  
वदाद्युद्धामशस्त्रघ्राणकठिनकिणग्रन्थि-भङ्गमे लेखाच्छलेन ॥<sup>७</sup>

१: रेहोल शिलालेख, ई०रेण्टि०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ५

२: बन्धुवर्मा कालीन मन्दसौर शिलालेख, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० ८२, श्लोक २६

३: द्र०-श्लोक २, ए०ई०, भाग ४, पृ० ३१

४: द्र० श्लोक १, ई० रेण्टि०, भाग ५, पृ० १८१

५: द्र० श्लोक १, ए०ई०, भाग ३१, पृ० ३५

६: द्र०-श्लोक १६, ए०ई०, भाग १७, पृ० ३४१

७: का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २०२, श्लोक ३



शासन पत्रों के साहित्यिक भागों में भी ऐसे स्थलों की कमी नहीं —

‘ प्रादामोदारदोर्दण्डदलितद्विषद्वर्ग-दम्प[ः]प्रसर्प्यत्पटीय[ः]  
प्रताप-प्लोषिताशेषशत्रुवंश[ः]’<sup>१</sup>

‘ प्रवण्डदोर्दण्डमण्डलाग्रतुण्डवण्डितारातिमत्त-मातंगविमुक्तमुक्ता-  
फलप्रसाधितासे(शे)ष[रणा]महीमण्डलः’<sup>२</sup>

प्रसादगुण — यह सर्व-रस-साधारण गुण है । इसका काव्य के सभी रसों के प्रति समान सम्पर्कत्व है ।<sup>३</sup> शब्दों के अर्थ इसमें अवणामात्र से ही स्पष्ट हो जाते हैं ।<sup>४</sup> अभिलेखों की भाषा लौकिक संस्कृत साहित्य से अपेक्षाकृत सरल होने से, उनमें इस गुण से सम्पन्न पदसंघटना का आधिक्य स्वाभाविक ही है —

श्रीचन्द्रगुप्तस्य महेंद्रकल्पः

कुमारगुप्तस्तनयस्स[मग्राम् ।]

ररत्ता साध्वीमिव धर्मपत्नीम् (पत्नीं)

वीर्याग्रहस्तेरुपगुह्य भूमिम् [।।]<sup>५</sup>

तस्माज्जज्ञे केशवः केशवेन

तुल्यो लोके ख्यातकीर्त्तिप्रदानः [।]

आद्ये मार्गे स्थेयसीं स्थायिधर्म्मा

मानोत्तुंगा सन्ततिं यस्ततानां।<sup>६</sup>

१. शीलादित्य तृतीय (वलभीश) का जैसर शासन पत्र, ए०ई०भाग २२,  
पृ० ११८, पं० ३६-३७

२. महाभवगुप्त जनमेजय का सोनपुर ताम्रशासन, ए०ई०भाग २३, पृ० २५१  
पं० ० ६-७

३. सम्पर्कत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणाक्रियः ।। ध्व०द्वि०उद्योत, कारिका ३३

४. शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ।। सा०द० ८।८

५. घटोत्कच गुप्त का तुमैन खण्डित लेख (पूरक), सि०ले०, भाग १, पृ० ४६५  
(परिशिष्ट)

६. स्वामिभट का देवगढ़ पाषाणालेख, ए०ई०, भाग १८, पृ० १२६, — १२७ श्लो ३

अथवा गुलवादा गुहालेख (अजन्ता के निकट) का यह श्लोक—

मुनिर्मुनीनाममरोमराणां गुरुर्गुणां प्रवरो वराणां(णाम्) ।  
जयन्त्यनाभोगविबुद्धबुद्धिर्बुद्धाभिधानो निधिरद्भुतानां(नाम्) [१] १

इस प्रकार तीनों रीतियों एवं तीनों गुणों का यथावत् प्रयोग अभिलेखों के वेतन भोगी कवियों ने किया । उल्लिखित उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो गया कि इन कवियों की लेखनी कितनी सधी हुई थी और भाषा पर उनका कितना अधिकार था । सातवीं सदी तक न मूर्छा रीतिवाद की प्रतिष्ठा हुई थी और न रसों के साथ गुणों के धर्मधर्मभावत्व की गहराई का आविष्कार ही हो पाया था । ऐसी स्थिति में भी जब इन राजकर्मचारी कवियों के काव्यों को ध्वनि सम्मत साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर कसा गया, तो वे खरे ही उतर आए । अकैता की लेखन-सम्बन्धी या उनकी ही भाषाविषयक छोटी-मोटी भूलें, उनकी कृतियों के गुणसन्निपात के सामने, उसी प्रकार भुलाई जा सकती हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा के कलासमुदय के समक्ष उसकी कृष्ण लांकुन रेखाएँ ।

---

काव्यसौन्दर्य — 'ऋत्कार'

प्रस्तुत प्रबन्ध की कालावधि का अन्तिम क्षोर वहाँ पहुँचता है, जहाँ से वास्तविक रूप में काव्यशास्त्र प्रणयन की धारा गतिशील हुई । इस युगारम्भ में काव्याचार्य, काव्यों के बाह्यसौन्दर्य—'ऋत्कारों' की ओर ही विशेष आकृष्ट हुए । किन्तु वे ऋत्कारों का स्थूल विवेचन ही कर पाए । उनके ग्रंथों में काव्यप्रकाशादि उत्तरवर्ती ग्रंथों जैसा सूक्ष्म वर्गीकरण देखना उचित नहीं ।

सामान्य रूप से यह सातवीं शताब्दी भट्टि भामह और दण्डी<sup>१</sup> की युगशताब्दी है । भले ही भामह की आचार्य साधना कृती सदी के अन्तिम प्रहर से प्रारम्भ हुई हो, उसकी आचार्य पद-प्रतिष्ठा सातवीं सदी के प्रारम्भ में माननी ही तर्क संगत है । भामह और दण्डी मुख्य रूप से ऋत्कारवादी आचार्य हैं । उन्होंने नूतन ऋत्कार आविष्कृत किए और उनकी परिभाषाएँ स्थिर कीं । भामह ने कृतीस<sup>२</sup> और दण्डी ने पेंतीस<sup>३</sup> अर्थालंकार निरूपित किए । ऋत्कारों का काव्य में प्रवेश तो ऋग्वेद से ही होने लगा था, आचार्यों को तो केवल उनकी पहिचान और नामकरण का श्रेय मिलता है । इस दृष्टि से प्रथम आचार्य भरत माने जाते हैं ।<sup>४</sup> उन्होंने नाट्यशास्त्र में चार नाट्य ऋत्कार गिनाए — उपमा, दीपक, रूपक और यमक ।<sup>५</sup> भरत और भामह के बीच में भी भट्टि के अतिरिक्त अन्यान्य आचार्यों ने ऋत्कारों का विवेचन किया होगा, किन्तु उत्तरवर्ती ग्रंथों की जगमगाहट के समझा उनके ग्रंथ मन्दप्रभ होकर लुप्त हो गए ।

१. कुछ विद्वान् दण्डी का काल ८ वीं सदी पूर्वार्द्ध भी मानते हैं—

• ६०—डे साहब का मत—हि०सं०पौ०, भाग १, पृ० ६७

२. काव्यालंकार (भामह) द्वि० परिच्छेद

३. काव्या०(दण्डी) २।४-७

४. "What we find in Bharat constitutes the earliest speculation on the subject that we possess....."  
— हि० सं० पो० (डे) भाग १ पृ० २०

काव्यालंकार में भामह द्वारा प्रयुक्त अन्ये 'अपरे', या 'कैचित्' शब्द, पूर्ववर्ती अथवा समकालीन आचार्यों की विद्यमानता के ही सूचक हैं ।

सर्वमान्य सत्य है कि काव्य अलंकारों का अनुगमन नहीं करते, अपितु अलंकार ही काव्यों के सुहापेक्षी होते हैं । कालिदास की प्रवाह-मयी कविता में तैरने वाले स्वाभाविक अलंकारों को देखकर कोई नहीं कह सकता कि उसने अलंकारों का गुम्फन सप्रयास किया । आचार्यों ने भी जितने अलंकारों का अन्वेषण उसकी कविता में किया, अपने काव्यों के प्रज्ञापति कालिदास को उतने अलंकारों की विद्यमानता का ज्ञान संभवतः न रहा होगा । कवि की यह अर्हता नहीं कि उसे अलंकारों का सम्यक् ज्ञान हो ।

यह तो शुद्ध साहित्य-साधकों की बात है किन्तु राजाओं, सामन्तों और श्रेष्ठियों के निर्देश-नियन्त्रण में रचना करने वाले अभिलेखीय कवियों की तो परिस्थितियाँ भी विपरीत थीं । अभिलेखों में ऐसे स्थल प्रचुरता से प्राप्य हैं, जो यह सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ हैं कि उनके कवि अलंकारों के प्रति विशेष आग्रहशील नहीं थे । यह भी हो सकता है कि उनको वह नहीं लिखने दिया गया, जो वे लिखना चाहते थे, उदाहरणार्थ वत्सभट्ट-रचित यह पद्य—

वैधव्य-तीव्रव्यसन-दातानां स्मि(स्मृ)त्वा यमघाप्यरि-सुंदरीणां  
भयाद्भवत्यायतलोचनानां घनस्तनायासकरः प्रकम्पः ॥<sup>१</sup>

जिस (चन्द्रधुवर्मा) को स्मरण करके आज भी वैधव्य की तीव्रवेदना से दुःखित विशालनयना शत्रुनारियों के पीन वज्रःस्थल में भय-जनित घना क्लेशकारक प्रकम्प उत्पन्न हो जाता है । शब्द-योजना में तनिक परिवर्तन करके इस पद्य में आसानी से स्मरणालंकार का समावेश किया जा सकता था । किन्तु वत्सभट्ट ने अवसर की उपेक्षा की । इसी लेख के सूर्य स्तुति परक अधोलिखित श्लोकार्द्ध में अधिकालंकार की प्रतिष्ठा हो सकती थी ( भले ही इस अलंकार के नामकरण संस्कार में अभी कुछ देरी थी ) —

तत्(तु)व-ज्ञानविदोऽपि यस्य न विदुर्बलार्थयोऽप्युच्यताः  
कृत्स्नं यस्य गभस्तिभिः प्रवृत्तैः पुष्पाणि लोकावयम् ।<sup>१</sup>

यहाँ यह कहने का तात्पर्य नहीं कि काव्य में अलंकारों के महत्त्व को अभिलेखों के कवि सम्प्रदायों की न थे । १५० ई० के रण्डदामन्(प्र०) के लेख में काव्य के सन्दर्भ में अलंकार का उल्लेख हुआ है ।<sup>२</sup> स्कन्द के जूना-गढ़ लेख में 'उपमा' एवं 'उपमान' का प्रयोग काव्यशास्त्रीय अर्थों में ही हुआ ।<sup>३</sup> रविकीर्ति के अलंकार-ज्ञान का संकेत तो रेहौल लेख का प्रत्येक - कन्द देता है । एक श्लोक में तो 'यथासंख्या' का उल्लेख उसने प्रकृत अर्थ में ही किया है ।<sup>४</sup>

यह सब होते हुए भी अभिलेखीय कवियों का अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों की ओर विशेष झुकाव देखा गया । श्रुतिमधुरता का स्वाभाविक आकर्षण ही इसका रहस्य है । शब्दालंकारों में भी क्लिष्ट अलंकारों का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर है । अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सरल एवं स्वाभाविक अलंकारों का ही विशेष प्रयोग हुआ । क्योंकि साम्य देना, आरोप स्थापित करना अथवा किसी वस्तु में किसी अन्य की सम्भावना व्यक्त करना मानव की सहज प्रवृत्ति है । अन्य अलंकार भी, जिनका अन्वेषण अभिलेखों में किया गया है, अस्वाभाविकता और कृत्रिमता से दूर हैं । रविकीर्ति, दामोदर आदि ऐसे कवि अल्पसंख्यक ही हैं, जो अलंकारों को सायास निर्मलता देने के पदापाती प्रतीत होते हैं ।

### शब्दालंकार

अनुप्रास— वहाँ के साम्य को अनुप्रास कहते हैं ।<sup>५</sup> दूसरे शब्दों में स्वरों के असमान रहने पर भी जहाँ पद या वाक्य में व्यंजन -

१. का०३०ई०, भाग ३, पृ० ८१, श्लोक २

२. द्र०-ई०रेण्ट०, भाग ७, पृ० २६१, पं० १४

३. द्र०-का०३०ई०, भाग ३, पृ० ६०, श्लोक १६

४. रेहौललेख, ई०रेण्ट०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ३

५. का०प्र० ६।१०४

सादृश्य हो, वहाँ अनुप्रास होता है। व्यंजनों के दुहराव अधिक दूरी पर नहीं होने चाहिए और उन्हें रसभावादि के प्रतिकूल भी नहीं पहना चाहिए। अनुप्रासों का निरूपण यहाँ श्रुत्यनुप्रास से किया जा रहा है —

श्रुत्यनुप्रास—यह अनुप्रास प्रायः समान उच्चारण वाले व्यंजनों की आवृत्ति है। इसलिए इसमें ब, व, श, ष, ल, न, ण, तथा य, ज में भेद नहीं समझा जाता है, जैसे—

— 'बभूव वाकाटक-वंश-के[तु:]' <sup>१</sup>

— 'सम्बत्सर-शतेषु सप्तषु' ... <sup>२</sup>

— 'स्वेषाम्बलानां बलदेववीर्यः' (कवि रविल) <sup>३</sup>

— 'गृहाणि पूणैन्दुकरामलानि: ...' (कवि वत्सभट्ट) <sup>४</sup>

— 'स जयति जगतां पति पिनाकी' <sup>५</sup>

— 'जगाहिरे यस्य जगन्ति रम्याः सत्कीर्तय .....' <sup>६</sup>

कैकानुप्रास—जहाँ अनेक स्वरव्यंजनों की एक बार आवृत्ति होती है, वहाँ कैकानुप्रास होता है, उदाहरणार्थ —

— 'दाने धनेशं धियि वाचि चेशं

रतां स्मरं संयति पाशपाणिम्' <sup>७</sup> (कवि रविल)

— 'ददौ जिनेन्दाय मही[-]महेन्द्रः' <sup>८</sup>

१. हरिषोण का अजन्ता गुहालेख, इ०के०वे०इ०, पृ० ६६, श्लोक ३

२. दुर्गिण कालीन फाल्गुपाठन लेख, इ०रेण्ट०, भाग ५, पृ० १८१  
श्लोक ११

३. मालव संवत् ५२४ का मन्दसौर लेख, ए०इ०, भाग २७, पृ० १५, श्लोक १०

४. बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ८१, श्लोक १२

५. यशोधर्मन् कालीन मन्दसौर शिलास्तम्भलेख, का०इ०इ०, भाग ३,  
पृ० १५२, श्लोक १

६. ईशानवर्मन् का हरह लेख, हि० लि० इ०, पृ० १४२, श्लोक ५

७. मा०संवत् ५२४ का मन्दसौरलेख, ए०इ०, भाग २७, पृ० १५, श्लोक ६

८. कदम्ब रविवर्मन् का शासनपत्र, इ०रेण्ट०, भाग ६, पृ० २६, श्लोक ३

वृत्यनुप्रास— एक या एक से अधिक व्यंजनों की एक से अधिक आवृत्ति में वृत्यनुप्रास होता है, जैसे—

- संसारापारवारिप्रसररयसमुत्तारणे बद्धकक्ष्या  
दोर्दण्डाः पान्तु शौरेस्त्रिभुवनभवनोत्तम्भनस्तम्भभूताः<sup>१</sup>  
— (कवि दामोदर)
- वयो वितं रंगतनुतरतरंगंगतरलम्<sup>२</sup>
- दधार धाराधरधीरघोषः<sup>३</sup> — ( कवि रविल )
- कृतान्तपरशुर्ज्य(र्ज)यत्यजितराजजेता(ऽ)जितः<sup>४</sup>
- जातिजातां जारमिव जातेषु<sup>५</sup>
- गणपतिमगणितगुणगणमसूत कलिहानये तनयं<sup>६</sup> ॥
- कान्तःकारुणिकः कलंकरहितः केतुः करालो द्विषाम्<sup>७</sup>
- धरणिधरण्योग्यधारणाधार(रि)णो<sup>८</sup>

अन्त्यानुप्रास— प्रथम स्वर के साथ पद या पाद के अन्त में पड़ने वाली यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति, अन्त्यानुप्रास है।<sup>९</sup> अभिलेखों में इस अनुप्रास का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ —

रणेषु यः पार्थसमानकर्मा  
बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्मा ॥<sup>१०</sup>

१: अपराजित का उदयपुर लेख, ए०ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक २

२: वही, पृ० ३१, श्लोक ८

३: मा०संवत्, ५२४ का मन्दसौरलेख, ए०ई०, भाग २७, पृ० १५, श्लोक ७

४: गु०मु०(अलतैकर)फ०-२० सं० ७

५: भास्करवर्मन का दूबि दानलेख, ए०ई०, भाग ३० पृ० २६६ श्लोक २१

६: भास्करवर्मन् का निधानपुर शासन पत्र, हि० लि० ६०, पृ० २३७,  
श्लोक ११

७: राष्ट्रकूट नन्नराज का संगलूद दानलेख, ए० ई० भा० २६, पृ० ११४,  
श्लोक २

८: तलेश्वरशासन, ए०ई०, भाग १३, पृ० १२८, पं० २-३

९: सा०द० १०।६

१०: बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ८२, श्लोक २४



निर्म्मापिता [मिति मुदा] पुरुषात्तमेन  
शैलीं हरस्य तनुमप्रतिमामनेन [।] <sup>१</sup>

लाटानुप्रास— यह अनुप्रास एक से अधिक पदों की आवृत्ति में होता है। <sup>२</sup> इसमें शब्द और अर्थ की अभिन्नता होते हुए भी तात्पर्य का भेद रहता है। वणानुप्रास से भिन्न होने के कारण इसे पदानुप्रास भी कहा जाता है। लाटदेश ( गुजरात का एक भाग ) के कविजनों या जनता में विशेष प्रिय होने के कारण इसका नाम लाटानुप्रास पड़ा। बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर शिलालेख, दशपुर के पट्टवाय त्रेणी की प्रेरणा से वत्स-भट्टि ने रचा। ये पट्टवाय पहले लाटविषय के रहने वाले थे। <sup>३</sup> कालान्तर में वे व्यवसाय के दृष्टिकोण से दशपुर में बस गये थे। स्वाभाविक रूप से इन काव्यप्रेमी बुनकरों को लाटानुप्रास के प्रति प्रेम रहा होगा। अपने लेख में जिसका प्रयोग करने के लिए उन्होंने वत्सभट्टि से विशेष आग्रह किया होगा। वत्सभट्टि ने भी उनके आग्रह का सम्मान किया —

तस्यात्मजः स्वर्यनयोपपन्नो ब[न्धु]प्रियो बन्धुरिव प्रजानां ।  
बन्ध्वर्त्ति-हर्ता नृप-बन्धुवर्मा द्विदृष्टपञ्चाज्ञापणकदम्बाः ॥ <sup>४</sup>

यह, दशपुर के तत्कालीन स्थानीय शासक बन्धुवर्मा का वणि है। इस श्लोक में 'बन्धु' शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है। पहला 'बन्धु' परिजनों के, दूसरा 'बन्धु' सहायक के, तीसरा भाई, <sup>और चौथा</sup> 'बन्धु' शासक का नाम ही है। यहाँ 'समस्तासमस्तप्रातिपदिक' की आवृत्ति के कारण पाँचवें प्रकार का लाटानुप्रास है।

यमक— इस अंकार में अर्थ की विद्यमानता में भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वणों की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति होती है। <sup>५</sup> यमक के स्थूलरूप से

१. सा०इ०इ०, भाग १, संख्या ३४, पृ० ३०, श्लोक ४

२. 'पदानां सः' का०प्र० ६।११३

३. का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ८१, श्लोक ४

४. का०इ०इ०, भाग ३, पृ० पृ० ८२, श्लोक २६

५. का०प्र० ६।११७

यमक के दो भेद हैं (१) पादवृत्ति (श्लोक के चतुर्थांश में रहने वाला) एवं (२) पदांशवृत्ति (श्लोक के चतुर्थांश के भी एक अंश में प्राप्य) । उक्त द्वितीय भेद के दो उदाहरण (तृतीय एवं चतुर्थ पाद के अन्त में आने वाला यमक ) रेहोल लेख से उद्धृत किए जा रहे हैं —

— अभवन्तुपजातभीतिलिंगा यदनीकेन सको[स]लाःकलिंगा [ः] ।।<sup>१</sup>

— स जयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्त्तिः ।।<sup>२</sup> [॥

श्लोक के चारों ही पादान्तों में भिन्न-भिन्न यमकों की योजना करने में कवि दामोदर का रचनाकौशल दर्शनीय है—

यावद्धानोःसुराग्रवृष्टिातजलमुचस्तुंगरंगास्तुरंगा

यावत् कामर्ति(न्ति)पृथिवीतलमतुलजला नो समुद्राःसमुद्रा [ः] ।

यावन्मेरोन्नमेरु-प्रसवसुरभयो भान्ति भागाः शुभागा [ः]

शोरे[र्द्ध]मस्तु तावत् कृतनियमनमद् विप्रसिद्धं प्रसिद्धम् ।।<sup>३</sup>

कवि दामोदर यमक के प्रति विशेष आग्रही है । अपराजित के सेनापति वराहसिंह की पत्नी यशोमती के वर्णन में जो यमक योजना उसने की, वह दो-दो चरणों के युग्म में है —

तस्य नाम दधती यशोमती गेहिनी प्रणयिनी यशोमती ।

चित्तमुत्पथगतं निरन्धती सा बभूव विनयादरन्धती ।।<sup>४</sup>

इसी प्रकार रविकीर्त्ति द्वारा तीन बार 'कदम्ब' शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग ( कदम्ब वंश, कदम्ब वृक्ष एवं कदम्ब=समूह ) भी यमक का अच्छा उदाहरण है, जैसे —

पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम् [॥]<sup>५</sup>

१: ई०रेपिट०, भाग ५, पृ० ७०, श्लोक २६

२: वही, श्लोक ३७

३: अपराजित का उदयपुर लेख, ए०ई०, भाग ४, पृ० ३१- ३२ श्लोक १०

४: वही, पृ० ३१, श्लोक ६

५: रेहोल लेख, ई०रेपिट०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक १०

‘अनियतस्थानावृत्ति’ यमक के स्फुट उदाहरणों में कुछ अधो-  
लिखित हैं —

‘वनाध्वनि ध्वनि ननद्’,<sup>१</sup> ‘विषम-विषय-ग्राह-कलितं’  
(कवि दामोदर)<sup>२</sup>, ‘तस्मै नमोस्तु सुगताय [ग]ताय शान्तिम्’ (कवि  
रविल)<sup>३</sup>, ‘अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरद्भिः’ (सम्राट् हर्ष ?)<sup>४</sup> ‘विक्रमेण  
क्रेमेण’<sup>५</sup> ‘दयालुरनाथनाथ’ (वत्सभट्टि)<sup>६</sup>, ‘यामास्त्रियामास्त्रिव’  
(कवि रविशान्ति)<sup>७</sup> ‘करपल्लवैः पल्लवैः’ (कुब्जकवि)<sup>८</sup> ‘कलाकलाप-  
रमणीयः’<sup>९</sup> ‘ततोगिरानाम गिरापगोदधिः’<sup>१०</sup> ‘सद्वर्म्मसदम्बानां  
कदम्बानां’<sup>११</sup> ‘गतघनगगनाभेन पद्मनाभेन’<sup>१२</sup> ।

श्लेष — श्लेष दो प्रकार का होता है (१) शब्द श्लेष  
और (२) अर्थश्लेष । जहाँ किसी शब्द विशेष की सत्ता के कारण  
ही अनेक अर्थ निकलें, वहाँ शब्दश्लेष और जहाँ एक वाक्य विशेष  
से ही अनेक अर्थ निष्पन्न हों, वहाँ अर्थश्लेष होता है ।<sup>१३</sup> शब्द श्लेष

१. का० इ० इ०, भाग ३, पृ० १५३ — श्लोक ६ ( यशोधर्मन्कालीन  
मन्दसौर स्तम्भ लेख)

२. उदयपुर लेख, ए०इ०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ८

३. मा० संवत्, ५२४ का मन्दसौर लेख, ए०इ०, भाग २७, पृ० १५  
श्लोक १

४. बौसखेरा शासन-पत्र, हि०लि०इ०, पृ० १४६, पं० १३ तथा मधुवन शासनपत्र  
ए०इ०, भाग ७, पृ० १५८, पं० १६

५. का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ५३, श्लोक ३ (स्कन्दगुप्त का भितरीलेख)

६. बन्धुवर्माकालीन मन्दसौर लेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ८२, श्लोक २५

७. ईशानवर्मन् मौखरीका हरह लेख, ए०इ० भाग १४, पृ० ११७ श्लोक १४

८. तालगुण्ड लेख — ए०कणार्कभा०, ७, पृ० २०० (पाठ्य)

९. निधानपुर शासनपत्र, हि०लि०इ०, पृ० २३७, श्लोक १५

१०. सा०इ०इ०, भाग १, संख्या ३२, पृ० २६, श्लोक २

११. कदम्ब रविवर्मन् का लेख — इ०ऐपिट०, भाग ६, पृ० २६, पं० ५

१२. मेर्करशासनपत्र, इ०ऐपिट०, भाग १, पृ० ३६३

१३. का०पृ०, १०।१४७

के भी अभंग, सभंग एवं उभयात्म तीन प्रकार होते हैं ।<sup>१</sup> अभंग श्लेष का एक उदाहरण नीचे द्रष्टव्य है :—

‘ (वह ध्रुवसेन द्वि०) बालादित्य) सन्धि, विग्रह और समास के निश्चय में निपुण था ।<sup>२</sup> यहाँ सन्धि, विग्रह और समास, तीनों शब्द बिना तोड़-मरोड़ (या अन्य के आश्रय को लिए बिना ही ) दो-दो अर्थों के निष्पादक हैं — वह व्याकरणा की सन्धियाँ, सन्धि विच्छेदों एवं समास के निश्चयों में निष्णात था या वह अन्य राजाओं के साथ सन्धि करने में, उनसे युद्ध करने में या मेल बढ़ाने में कुशल था ।<sup>३</sup>

सभंग श्लेष का एक उदाहरण कूरम शासन पत्र से दिया जा रहा है —

‘ महेन्द्रस्यैव सुरचितसम्पदो महेन्द्रवर्म्मणः सुप्रणीतवर्णाश्रिम-धर्म्मस्य पुत्र [ः]..... ’ ३

‘ महेन्द्र के समान सुरचितसम्पत् वर्णाश्रिमधर्म का व्यवस्थापक महेन्द्रवर्मा का पुत्र (परमेश्वरवर्म्न)..... ’ यहाँ ‘सुरचितसम्पदः’ में जो श्लेष है, वह उपमा का पोषक होने के कारण स्वतंत्र नहीं, फिर भी है सभंग— सुरचित (अच्छी तरह रची हुई सम्पत्ति वाला ) और सुरचित ( जिसने अपनी सम्पत्ति देवताओं के लिए संचित की है । ) इन दो अर्थों से इन्द्र और महेन्द्रवर्मा दोनों पर घटित होने के कारण ही साम्य की रूपरेखा तैयार की गई ।

अभिलेखों में स्वतंत्ररूप से योजित श्लेषों के उदाहरण बहुत कम हैं । यत्र-तत्र जो श्लेष-गुम्फन मिलते हैं, वे प्रायः अन्य अलंकारों की ही पृष्ठभूमि तैयार करते रहते हैं ; जैसे:—

‘ भीषणाशब्दवाले, प्रचण्ड-वेग-प्रभंजन से आकुलित खड़गतावरण से युक्त तथा शराशन, नाग, तिलक, पुन्नाग से घने होने के कारण कानन

१. सा० द० १०।१२

२. ‘सन्धिविग्रहसमासनिश्चयनिपुणः’ — शीलादित्य (तृ०) का जेसर शासन पत्र, ए० ई०, भाग २२, पृ० ११७, पं० २२

३. सा० ई० ई०, भाग १, पृ० १४८, पं० १८

यहाँ एकमात्र श्लेष योजना के आधार पर युद्धक्षेत्र को कानन की उपमा दी गई है। यदि खड्गलतावरणादि के दो-दो अर्थ न होते, तो साम्य का कोई आधार नहीं था। 'खड्गलतावरण' के कानन पदा में अर्थ हैं, --खड्ग, लता एवं वरणा वृक्षा। युद्धक्षेत्र के पदा में इनके अर्थ हैं -- खड्गलता अर्थात् टढ़ी तलवार और आवरण का अर्थ है, ढाल। इसी प्रकार कानन पदा में 'सराशननागतिलकपुन्नागघने' का अर्थ है शर नामक घास सहित असन, नाग, तिलक एवं पुन्नाग वृक्षाओं से घने हुए। युद्धक्षेत्र पदा में --धनुषा लिए, श्रेष्ठ हाथियों में बैठे योद्धा-प्रवरों से भरे हुए। इस प्रकार यह अस्वतंत्र श्लेष उपमा का पोषक है।

श्लेष से परिपुष्ट उपमाओं का एक अन्य उदाहरण नीचे द्रष्टव्य है —

'शरा(र)त्काल इव कृतबन्धुजीवोत्सवःपूर्वाचलेन्द्र इव मित्रोदया-  
नुकूलमहिमा' १

पूर्वीय चालुक्य इन्द्रवर्मा शरत्काल के समान था। शरत्काल में जिस प्रकार बन्धुजीव फूलों का उत्सव होता है, उसी प्रकार वह भी बन्धु-बान्धवों एवं प्राणियों के लिए हर्षप्रद था। वह पूर्वाचल के समान था, जिस प्रकार पूर्वाचल मित्र (सूर्य) के उदय होने के लिए अनुकूल महिमा सम्पन्न होता है, उसी प्रकार वह भी वयस्यों या समर्थकों के लिए अनुकूल था।

यहाँ 'बन्धुजीव' एवं 'मित्र' शब्दों में श्लेष होने के कारण ही इन्द्रवर्मन् की उपमा शरत्काल एवं उदयाचल से दी गई।

१. खड्गलतावरणायुते सराशननागतिलकपुन्नागघने [I] उद्धत-कलकलशब्दे  
कानन इव चण्डवेगपवनाकुलिते [II] .....

— कुरम-शासन का संशोधित पाठ्य, २० ई०, भाग, १७,  
पृ० ३४१, श्लोक ११ (हुल्श)

२. इन्द्रवर्मन् का कोण्डणगूरु शासन, २० ई०, भाग, १८, पृ०—३  
पंक्ति १३—१५

उपमा — उपमान में भेद के साथ सादृश्य को उपमा कहते हैं ।<sup>१</sup>

रसों में जो स्थान शृंगार का है, अलंकारों में वही स्थान उपमा का है । इसकी लोकप्रियता का एक प्रमाण यही है कि कवियों ने सर्वाधिक आश्रय इसी अलंकार का लिया है । भवभूति के मतानुसार जैसे एक कारण रस की निमित्त भेद से विभिन्न विवर्तनों को प्राप्त होता है, उसी तरह यह अलंकार भी अनेक अलंकारों की आधारभूमि है ।

संस्कृत साहित्य के कवियों की भाँति अभिलेखीय कवियों ने भी उपमा का प्रचुर प्रयोग किया । कुछ उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं :—

श्रौती पूणार्पणमा का उदाहरण, हरिषेण रचित प्रयाग प्रशस्ति से ही प्रस्तुत किया जा रहा है — दान, भुजविक्रम, संयम एवं शास्त्रसम्मत वाक्यों के प्रकाशन से (समुद्रगुप्तका) 'यज्ञ' अनेक मार्गों से, एक के ऊपर दूसरा संचित होकर उठता हुआ, तीनों भुवनों को पवित्र करता है, जैसे शिवजटा की भीतरी गुफा में रुककर फिर कूटने के कारण वेग से ऊँची से ऊँची सतह में बहने वाला अनेक मार्गाश्रित गंगा का शुभ सलिल (तीनों लोकों को पवित्र करता है) ।<sup>२</sup>

यहाँ विशेषणों समेत 'यज्ञः' उपमेय, गांग पयः' उपमान'इव' वाचक एवं 'पुनाति' पद साधारण धर्म है ।

श्रौती पूणार्पणमा का अन्य उदाहरण 'वत्सभट्ट' रचित मन्दसौर लेख में दर्शनीय है —

१: का०प्र०, १०।१२५

२. प्रदान-भुजविक्रम-प्रशमशास्त्रवाक्योदये

रूपय्युपरि संचयोच्छ्रितमनेकमार्गं यज्ञः [I]

पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटान्तर्गुहा —

निरौध-परिमोदा-शीघ्रमिव पाण्डु गांग[पयः [I]—का०ह०इ०, भाग ३

पृ०, ६, श्लोक ६

‘रमणीय दो नदियों की चंचल लहरों से आलिंगित (दशपुरनगर) ऐसा शोभित होता है, जैसे एकान्त में, सुस्तनी प्रीति और रति द्वारा आलिंगित कामदेव का शरीर हो ।’<sup>१</sup>

यहाँ यत् (दङ्गपुर) उपमेय, स्मरांग, उपमान, ‘इव’ वाचक पद एवं ‘भाति’ सामान्य धर्म है ।

लुप्तोपमाओं के कुछ उदाहरण, जैसे —

‘आयुर्वायुविलोर्ल’<sup>२</sup> ‘शशिकरशुचयः कीर्तयः सम्प्रताना’<sup>३</sup> आदि में इवादि वाचकों का लोप है । इसी प्रकार वाचक एवं धर्मों के लोप युधिष्ठिर वृत्तेः<sup>४</sup> अथवा ‘पूर्णन्दु-मं(म)ण्डल-मयूख-विभूति-वक्त्र’<sup>५</sup> आदि वाक्यों में देखे जा सकते हैं ।

एक उपमेय का अनेक उपमानों से सादृश्य निरूपण के दृष्टान्त भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं, उदाहरणार्थ—

‘इस जीवलोक को मृगतृष्णाजल, स्वप्न, विद्युत् एवं दीप के समान चंचल जानकर.....’<sup>६</sup>। ऐसे स्थलों में मालोपमा ही कही जायेगी । इसी भाँति भिन्न-भिन्न साधारण धर्म लिए अनेक उपमानों से एक उपमेय की सादृश्य कल्पना भी मालोपमा ही है, जैसे—

‘जिस(कूप) में प्रियजनों के संगम के समान शीतल, मुनियों के मन के समान निर्मल एवं गुरुजनों के उपदेशों के समान पथ्यकर जल है ( इस जल को ) पीता हुआ संसार सुख प्राप्त करता है ।’<sup>७</sup>

१. यद्भात्यभिरम्यसरि[द्]द्वयेन चलोर्मिणा समुपगूढं [१]

रहसि कुचशालिनीभ्यां प्रीतिरतिभ्यां स्मरांगमिव ॥ —का०इ०इ०, .

भाग ३, पृ० ८१ श्लोक १३

२. शिवगुप्त कालीन सेनखपाट लेख, ए०इ०, भाग ३१, पृ० ३६, श्लोक २७

३. प्रयागस्तम्भलेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६, श्लोक ८

४. प्रवरसेन (द्वि०) का तिरौदिशासन , ए०इ०, भाग २२, पृ० १७२, पं० ६

५. कौटी साद्री लेख, ए०इ०, भाग ३०, पृ० १२४, श्लोक ५

६. ‘मृगतृष्णाजलस्वप्नविद्युदीपशिखाचलम् ॥

जीवलोकमिमं ज्ञात्वा.....’ — नरवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख, ए०इ०

भाग १२, पृ० ३२०, श्लोक ६-१०

७. यस्मिन्सुहृत्संगमशीतलंच मनो मुनीनामपि निर्मलंच ।

वचो गुरुणामिव चाम्बु पत्स्यं पेपीयमानः सुखमेति लोकः । ।

—मा०संवत् ५२४, का मन्दसौर लेख, ए०इ०, भाग २७, पृ० १६, श्लोक १२



मूर्त का सादृश्य अमूर्त से स्थापित करने में उक्त उदाहरण में कवि 'रविल' का रचना कौशल दर्शनीय है। शासनपत्रों में श्लेषोत्थापित उपमाओं का बहुत प्रयोग हुआ है। यत्र-तत्र उपमेय एवं उपमान में कोई सादृश्य न होने पर भी केवल समान शब्दों (श्लिष्ट) से वर्ण्य होने के कारण उपमा उपस्थित कर दी गई है। ऐसी उपमाएँ चमत्कार प्रधान होने के कारण साहित्य में अपना स्थान रखती हैं। गद्यकवि, विशेषतः सबन्धु और बाण के श्लेषप्रपञ्चों से इन श्लेषोत्थापित उपमाओं की पर्याप्त समानता है।

श्लेषोत्थापित उपमाओं के कुछ उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं —

“(चालुक्य विजयादित्य) लक्ष्मीप्रभव (धन का उत्पादक अथवा भगवती लक्ष्मी को उत्पन्न कराने वाला) होने के कारण क्षीरसागर के समान है, सततरङ्गितपद्म (लक्ष्मी की रक्षा करने के कारण अथवा कमलों की रक्षा करने के कारण) होने से दिनकर के समान है, कुमुदवनप्रिय (पृथ्वी का सहर्ष पालन करने से प्रिय अथवा कैववन का प्रिय) होने के कारण चन्द्रमा के समान है, ----- दुःशासनदायक (दूषितशासनपद्धति का नाशक या कैव दुःशासन का नाशक) होने से भीम के समान है।”<sup>१</sup>

इसी प्रकार —

— यस्य च सद्भोगः शेषोरगस्येव विमल किरणामणिशताविष्कृत-  
गौरवः सकलजगत्साधारणः”<sup>२</sup>

— सत्पद्मो वैनतेय इवाकृष्टशत्रुनागकुलसन्ततिः”<sup>३</sup>

— येन च रुचिरवंशशोभिना नियतमस्खलितदानप्रसरेण प्रथितजलगरि-  
मणान्नवनवारण यूथपेनेवाविशंक विचरता वनराज्य इवानमिता दिशः”<sup>४</sup>

१. प्रा०ले०मा०, भाग २, पृ० ३३ →

क्षीरसागर इव लक्ष्मी-प्रभवः दिनकर इव सततरङ्गितपद्मः शशधर  
इव कुमुदवनप्रियः ----- धर्मजानुज इव दुःशासनदायकः” — प्रा०ले०  
मा०, भाग २, पृ० ३३, (का०मा०)

२. प्रशान्तरागदद का शिरीषपत्रकग्रामदान लेख, प्रा०ले०मा०, अ० २, पृ० ४२ (का०मा०  
३. वही, पृ० ४१

४. बुद्धराज का सरस्वती, ताप्रशासन, स०इ०, भाग ६, पृ० २६७, पं० ६-७

श्लेषाव्यापित मालोपमा का एक उत्कृष्ट उदाहरण, पल्लवपरमेश्वरवर्मन् की अधोलिखित प्रशंसा में देखा जा सकता है —

वह भरत के समान सर्वदमन (भरत पद्म में उसका वात्यावस्था का नाम, नृपति पद्म में सबका दमन करने वाला) था, सगर की भाँति उसने असमंजस का त्याग किया (सगर पद्म में—असमंजस पुत्र का त्याग, राजा पद्म द्विविधा का त्याग)। कर्ण की भाँति वह पुष्कलांग था (कर्ण, समृद्ध आ देश का राजा था, राजा के पद्म में—परिपुष्ट शरीर)। वह ययाति के समान प्रियकाव्य था (ययाति अपने श्वसुर 'काव्य' अर्थात् शूराचार्य को बहुत चाहते थे, राजा के पद्म में काव्यरसिक)।<sup>१</sup>

उपमेयोपमा — जहाँ उपमेय और उपमान, दोनों की परस्पर परिवृत्ति प्रतिपादित होती है, वहाँ उपमेयोपमा होती है।<sup>२</sup> कवि रविकीर्ति के अधोलिखित पद्य में यह अलंकार द्रष्टव्य है —

जब, त्रिपुरनाशक (शंकर) के समान कान्ति सम्पन्न वह (पुलकेशिन्) मन्दोन्मत्त हाथियों के समूह के आकार की अपनी सैकड़ों नौकाओं के सहारे पश्चिम-समुद्र की लक्ष्मी रूपा पुरी को मर्दित कर रहा था, तब मेघ-समूह रूपी सेना से घिर कर नवीन-कमलवर्ण काला आकाश, समुद्र के समान और समुद्र, आकाश के समान बन गया।<sup>३</sup>

यहाँ आकाश एवं समुद्र बारी-बारी से उपमेय और उपमान रूप में प्रतिपादित किए गए हैं।

१. भरत इव सर्वदमन [ः] सगर इव कृतासमंजसत्यागः [।]

कर्ण इव पुष्कलांगो यः प्रियक [र्ण] व्यो ययातिरिव [।।]

—कूरम शासन का संशोधित पाठ्य (हुल्श) २०ई०भाग १७, पृ० ३४० श्लो० ५ ।

२. का०पृ० १०।१३६

३. अपरजलधेर्लक्ष्मी [ः] यस्मिन्पुरीं पुभित्प्रभे

मदगजघटाकारेन्नाविं शतैरवमृद्नोति [।]

जलदपटलानीकाकि (की) ण्णान्नवोत्पलमेवक-

ञ्जलनिधिरिव व्योम व्योमस्समोभवदम्बुभिः (धिः) [।।]

—रेहोल लेख, ई०एचिए०, भाग ५, पृ० ७०, श्लोक २१

उत्प्रेक्षा — ' जहाँ प्रकृत (उपमेय) का उसके समान (अप्रकृत) उपमान के साथ तादात्म्य सम्भावित किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षा - लंकार होता है ।' <sup>१</sup> तादात्म्य की यह सम्भावना, मानव कल्पना की सहज उद्भावना है, इसीलिए अलंकारों के प्रति विशेष प्रयत्नशील न होने पर भी अभिलेखीय काव्यों में इस अलंकार के दर्शन प्रचुरता से होते हैं ।

वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा का एक उदाहरण — जिस (वसन्त) ऋतु में सरस-कोमल पंचम युक्त कोकिलों के स्मरशरसदृश प्रलाप विरही जनों के हृदयों का मानो भेदन करते हैं । ' यहाँ मानो भेदन करते हैं ' इस सम्भावना में उत्प्रेक्षा है । वाच्य यहाँ 'इव' शब्द है । 'स्मरशरनिभा' की उपमा , उत्प्रेक्षा की ही सव्योगिनी है ।

यशोधर्मा द्वारा स्थापित ऊँचे शिलास्तम्भ के विषय में कवि 'वासुदेव' की उक्ति देखिए :— ' इसका जन्म प्रशंसनीय वंश में हुआ, इसका पापविनाशकरित्र सुन्दर दिखाई देता है, यह धर्म का आवास है, इसके द्वारा निर्धारित लोक-नियम चलायमान नहीं होता — इस प्रकार यशोधर्मा के गुणों को मानो चन्द्रबिम्ब पर लिखने के लिए, सप्रेम उठाई गई पृथ्वी की भुजा — यह स्तम्भ शोभित होता है ।' <sup>२</sup>

यहाँ यः (स्तम्भ) उपमेयभूत है । उपमानभूत यशोधर्मा के गुणों को चन्द्रबिम्ब पर लिखने वाली सप्रेम उठाई गई पृथ्वी की भुजा के साथ उस स्तम्भ की स्वरूपता की सम्भावना व्यक्त की गई है । यहाँ फलोत्प्रेक्षा है, क्योंकि भुजा के सराग उत्तिक्षिप्त किए जाने के फल में चन्द्रबिम्ब पर

१. का०प्र०, १०।१३७

२. यस्मिन् काले कलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापाः भिन्दन्तीव स्मरशरनिभाः प्रोषितानां मनांसि ।

—यशोधर्मन् कालीन मन्दसौर लेख, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० १५४, श्लोक २५

३. इ[ल]ाघ्ये जन्मास्य वंशैरितमघहरं दृश्यते कान्तमस्मि-

न्धर्मस्यायं निकैतश्चलतिनियमितं नामुना लोकवृत्तम् [I]

इत्युत्कर्षं गुणानां लिखितुमिव यशोधर्मणाश्चन्द्र-बिम्बे

रागादुत्क्षिप्त उच्चैर्भुज इव रुचिमान्यः पृथिव्या विभाति [II]

—यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भ लेख, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० १४७

श्लोक ८ ।

यशोधर्मन् के गुणों को लिखने की क्रिया उत्प्रेक्षा है। यह उत्प्रेक्षा वाच्य इसलिए है, क्योंकि इसमें 'इव' का प्रयोग है।

इसी प्रकार हेतुप्रेक्षा का उदाहरण — 'नदीप्रिय होने के कारण शिव कहीं, नयनमनोहरसलिला, तीरस्थ उद्यानों की माला वाली, प्रियगुणा इस कावेरी को देखकर इसी पर आसक्त न हो जायें', — मुफे (कवि को) प्रतीत होता है, इसी ढर से (कावेरी) नदी के लिए पल्लव राजाओं की प्रिया (अर्थात् परस्त्री) कहती हुई, संशंकित पार्वती अपने पितृकुल हिमालय को छोड़कर (कावेरीतीरस्थ) पर्वत पर नित्य निवास करती है।<sup>१</sup>

(शिवसहित) उस पर्वत पर पार्वती की नित्यनिवास करने की क्रिया में पति (शिव) के परदारासक्त होने की आशंका यहाँ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित है।

ससन्देह— जहाँ, उपमेय की उपमान के साथ एक रूपता के कारण सादृश्यमूलक संशय होता है, वहाँ संसन्देह अलंकार होता है। इसके दो प्रकार होते हैं— भेदोक्ति एवं भेदानुक्ति-परक। प्रथम में उपमेय एवं उपमान में वैधर्म्य का कथन एवं द्वितीय में अकथन होता है। फिर ये तीन प्रकारों में उपविभाजित हैं (१) शुद्ध सन्देह (२) निश्चयगर्भसन्देह और (३) निश्चयान्त सन्देह।<sup>२</sup>

भेदानुक्ति-परक सन्देह का उदाहरण, कदम्ब रविवर्म की प्रशंसा-वली इस उक्ति में देखा जा सकता है — 'शोभायुक्त चंचल स्वर्णमाल एवं (सुदर्शन)चक्र को छोड़कर, राजा (रविवर्मन्) के रूप में (आया हुआ) स्वयं यह दैत्यजित् विष्णु ही तो नहीं।'<sup>३</sup>

१. कावीरी नयनाभिरामसलिलामाराममालाधराम्  
 देवो वीक्ष्य नदीप्रियः [गु]णामप्येषा रज्येदिति [।]  
 साशंका गिरिकन्यका पितृकुलं हित्वेह मन्ये गि[रौ]  
 नित्यन्तिष्ठति पल्लवस्य दयितामेतां ब्रूवाणा नदीम् ॥

— त्रिशिरापल्लि का समीपवर्ती गुहास्तम्भ लेख, सा०ई०६०, भाग १, पृ० २६, श्लोक १

२. ५० — का०पृ०, १०।१३८

३. नृपच्छलेन किं विष्णुर्दैत्यजिष्णुरयं स्वयम् [।]  
 हिरण्मय-चलन्मालं त्यक्त्वा चक्रं विभावितम् [।]

— रविवर्मन् का देवगैरी शासन पत्र, स०ई०, भाग ३३, पृ० ६०, श्लोक ५

भेदानुक्ति-परक निश्चयगर्भ ससन्देह का एक उदाहरण कवि भट्ट-  
शर्वगुप्त की रचना से उद्धृत है ---

‘ राजा दुर्गिणा तुल्याकृति के कारण अन्धकरिपु शंकर को शंकित करता है। शंकर कहते हैं कि यह, दग्ध हो जाने पर भी विशेष शरीर की कान्ति वाला मन्मथ कैसे पैदा हो गया ?’<sup>१</sup> यहाँ तुल्याकृति के कारण शिव को पहले दुर्गिणा पर कामदेव का संशय हुआ, फिर मन्मथ के दग्ध हो जाने के विचार से वह संदेह थोड़ा शिथिल पड़ा; किन्तु अन्त में ‘कैसे उत्पन्न हो गया ?’ इस प्रश्न में संशय बना ही रहा। इसलिए यहाँ निश्चयगर्भ सन्देह है।

रूपक—उपमेय और उपमान के अभेदोत्पत्ति या काल्पनिक अभेद को रूपकालंकार कहते हैं।<sup>२</sup> रूपक के तीन प्रकार हैं—सांग, निरंग और परम्परित/सांग भी समस्तवस्तुविषय एवं एकदेशविवर्ति, दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार निरंग के भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं माला। परम्परित के श्लिष्ट एवं अश्लिष्ट दो भेदों के भी शुद्ध और माला दो-दो उपभेद हैं।

अभिलेखों में ‘रूपक’ का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उल्लिखित भेदो-पभेदों में कुछ के उदाहरण नीचे दृष्टव्य हैं —

सांगरूपक समस्त वस्तुविषय—‘जिसने चमकती किरणों वाले खड्ग-रूपी सैकड़ों दीपकों के सहारे गजरूपी अन्धकार समूह को मिटाकर रणरूपी रंगमन्दिर में कटच्छुरियों की लक्ष्मी रूपी कन्या का पाणिग्रहण किया।’<sup>३</sup>

१. शंकामन्धकविद्विषश्चकुरन्ते तुल्याकृत्वि(ति)त्वादहो

दग्धोप्येष विशेषविग्रहर्नचिर्ज्जातः कथं य(म)न्मथः ॥

—भालरापाठन शिला लेख— ई० रेण्टि०, भाग ५, पृ० १८१,

श्लोक ५

२. का०पृ०, १०।१३६

३. स्फुरन्मयूखैरसिदीपिकाशतैः (तेर्)

व्युदस्य मातंगतमिस्रसंचयम् [१]

अवाप्तवान्यो रणरंगमन्दिरे

कटच्छुरिश्रीललनापरिग्रहम् ॥

—रेहोल लेख, ई० रेण्टि०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक १२

यद्वा असि, पातंग आदि सभी आरोपों के विषय (उपमेय) और दीपिका, तमिस्र आदि आरोप्यमाणा (उपमान) शब्द प्रतिपाद्य हैं । साथ ही यहाँ, रूपक के द्वारा विवाह क्रिया के सभी पक्षों का स्पर्श किया गया है । अतः यह समस्तवस्तुविषय सांग्रूपक है ।

समस्तवस्तुविषय सांग्रूपक का एक अन्य उदाहरण कामरूपनृपति सुस्थित वर्मा की यह प्रशंसा है — ' जिसने व्याकरणाक्षपी सलिल वाले, दर्शनक्षपी मत्स्यीं वाले, विस्तृत सांख्यक्षपी बड़े नक्षों वाले, मीमांसाक्षपी सारसबहुलसरिताओं युक्त, तर्क क्षपी पवन से उर्मिल, व्याख्यानक्षपी लहरों की परम्परा से अतिगहन, न्यायार्थक्षपी फेन से परिपूर्ण अज्ञेय शास्त्रार्थ-सागर को पार किया ।' १

सांग्रूपक एकदेशविवर्तिप्रकार—रूपक के इस प्रकार में कुछ आरोप्य-माणा विषय तो शब्द-प्रतिपाद्य होते हैं और कुछ ऐसे , जो अर्थ सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं, जैसे—'शीघ्रता से चलायमान मीनक्षपी चंचल नेत्रों वाली कावेरी नदी, चोलों को जीतने के लिए सहसा उद्यत जिस (पुलकेशिन् द्वि०) के टपकते हुए मदजल युक्त हाथियों के पुल से रुद्ध-प्रवाहा होने के कारण समुद्र के स्पर्श (आलिंगन) से वंचित हो गई ।' २ यद्वा उपमेयभूत द्रुतशफरी का आरोप्य-माणा विषय 'विलोल नेत्र' शब्द प्रतिपाद्य है । इसी के अर्थ सामर्थ्य से कावेरी

१. येन व्याकरणादको नय-तिमिः सांख्योरु-नक्षो महान्

[मि]मांसा व(ब)हु[सा]रसानुसरितः(तस्)तक्क्रानिलावी[जितः]

व्याख्यानोर्मि-परम्परातिगहनो न्यायार्थ-फेनाकुलः(कुल-)

स्तीण्णी(ऽ)ज्ञेय-सरित्पति-प्रकरणाः[स्रो]तो वि [ऽऽऽऽ] ।।

—भास्करवर्मन् का द्वाविंशतः शसन, २०ई०, भा० ३०, पृ० ३०२, श्लोक ५५

२. कावेरी द्रुतशफरी विलोलनेत्रा

चोलानां सपदि नयोद्यतस्य यस्य [।]

प्रश्च्योतन्मदगजसेतुरुद्धनीरा

संस्पर्शं परिहरति स्म रत्नराशेः ।।

— रेहोल लेख, ई० रेण्ट०, भाग ५, पृष्ठ ७०,

श्लोक ३०

स्वतः ही नायिका के रूप में वर्णित, है। शब्द-प्रतिपाद्य न होने पर भी रत्नराशि (समुद्र) उसका पति बन जाता है और इसी भाँति पति के आलिङ्गन से वंचित करने वाला मार्गाविरोधी 'मदगजसेतु' जल नायक या उपपति की भूमिका निभा देने लगता है। इसी प्रकार वत्सभट्ट का निम्नलिखित उदाहरण—

‘चारों समुद्रों की तटरूपी चंचल करधनीवाली, सुमेरु और कैलास रूपी बृहत् स्तनों वाली, वन-पथों के विकसित पुष्पों से सहास पृथ्वी (रूपी रमणी) जब कुमारगुप्त (द्वि०) (रूपी पति) से शासित हो रही थी।<sup>१</sup> यहाँ उपमेयभूत 'समुद्रान्त', 'सुमेरुकैलास' आदि के आरोप्यमाणविषय (उपमान) मेखला, बृहत्पयोधर आदि शब्दप्रतिपाद्य हैं। इन्हीं आरोपणों के अर्थसामर्थ्य से शब्दप्रतिपाद्य न होने पर भी पृथ्वी स्वतः ही रमणी बन जाती है और कुमारगुप्त (द्वि०) उसका पति अर्थात् उपमेयभूत पृथ्वी एवं कुमारगुप्त (द्वि०) के उपमान रमणी एवं पति अर्थसामर्थ्य से ही प्रतीत होते हैं।

निरंगरूपक(शुद्ध) — यह रूपक आंगिभावरहित होता है। दूसरे शब्दों में यह रूपकान्तरों से मिश्रित नहीं होता।<sup>२</sup> जैसे ----- 'हरिदत्त ने धर्मार्थ (भूमिदान के सम्बन्ध में) (कदम्ब) नृपति (रविवर्मन्) को विज्ञापित किया। (इसपर) मुस्कान रूपी ज्योत्स्ना से अभिषिक्त वचनों—शुक्त नृपति बोला<sup>३</sup>... । यहाँ स्मित में जो ज्योत्स्ना का आरोप है, उसके पोषण के लिए दूसरे आरोप नहीं। अतः यह आरोप रूपकान्तरों से अमिश्रित है।

मालानिरंगप्रकार — इसमें एक रूपक में अनेक उपमानों का आरोप होता है, किन्तु प्रधान रूपण के पोषक अन्य आरोप नहीं होते, जैसे— (बुद्धराज) शक्तिशाली शत्रुओं की शक्ति से समुद्भूत दर्पाविभव के ध्वंस का कारण (हेतु), व्यवस्था का सेतु और सिद्धि का आवास था।<sup>४</sup> यहाँ एक

१. चतु[स्समुद्रान्त] विलालमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।

वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥

---बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख— का० इ० इ०, भाग ३, पृ० ८२,

२.--श्लोक-२३- का०पृ० १०।१४३

३. धम्मार्थं हरि[द]त्तेन सौ(ऽ)यं विज्ञापितो नृपः[।]

स्मितज्योत्स्नाभिषिक्तेन वचसा प्रत्यभाषत ॥

---रविवर्मन् का देवगैरे शासन— २० इ०, भाग ३३, पृ० ६१,

श्लोक १३



उपमेयभूत राजा में प्रध्वंसहेतु 'सेतु' आदि अनेक उपमान आरोपित हैं। इसलिए यह मालारूपक है। इसे निरंग इसलिए कहा जायेगा कि प्रध्वंसहेतु आदि रूपा के परिपोषक यहाँ अन्य आरोप नहीं। इसी प्रकार मैसूरी नृपति शार्दूल की यह प्रशंसा, — 'शत्रु राजाओं का वह काल था, प्रणायी लोगों का कल्पवृक्षा और अनेक समरों के व्यापारों में शोभाप्राप्त क्षत्रकुल का दीप था,'<sup>१</sup> भी रूपक के इसी उपभेद के अन्तर्गत आयेगी।

रूपक का तीसरा प्रसुद प्रकार परम्परित है, जिसमें एक मुख्य आरोप के निमित्तभूत अन्य आरोपों की घटना की जाती है। यह भी पदों के श्लिष्ट एवं अश्लिष्ट होने के कारण दो प्रकार का होता है—श्लिष्ट शब्द निबन्धन परम्परित और अश्लिष्ट शब्द निबन्धनपरम्परित।<sup>२</sup> कवि दामोदर विरचित उदयपुर लेख में इस दूसरे भेद का एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

‘विष्णु के वे भुजदण्ड (आप लोगों की) रक्षा करें, जो लक्ष्मी के क्रीडाकाल के उपधान (तकिये) हैं, प्रलयजलनिधि में स्थित अवल चट्टानें हैं, दर्पान्मत्त दैत्यराजरूपी वृक्षा के गहनवन को काटने वाले निपुण कुठार हैं, प्रसरण क्रिया में वेगप्राप्त माया रूपी अपार जलराशि को रोकने में कटिबद्ध जो (भुजदण्ड), त्रिभुवनरूपी भवन को धामने के लिए स्तम्भभूत हैं।’<sup>३</sup>

यहाँ आरोपविषय और आरोप्यमात्रा सभी पद अश्लिष्ट हैं। छन्द में शब्दनिबन्धन परम्परित की सीमा प्रलयजलनिधि से लेकर श्लोकान्त तक है। प्रलय, दैत्येन्द्र आदि पर गलनिधि, द्रुमगहनवन आदि के आरोप 'दोर्दण्डों' पर 'गण्डशैल' या 'कुठार' आदि के आरोपों के निमित्त हैं।

१. कालः शत्रुमहीभुजां प्रणायिनां इच्छाफलः पादपः

दीपः क्षत्रकुलस्य नैकसमरव्यापारशोभावतः [I]

—अनन्तवर्त्मन का बराबर शैलगुहा लेख— का० इ० इ०, भाग ३,

पृ० २२३, श्लोक २

२. का०प्र०, १०।१४५

३. लक्ष्मीलीलोपधानं प्रलयजलनिधिस्थायिनो गण्ड-शैला

दर्पाद्वृत्तासुरेन्द्र-द्रुम-गहनवनच्छेददक्षाः कुथा(ठा)राः ।

संसारापारवारि-प्रसर-रय-समुत्तारणो बद्धकक्ष्या

दोर्दण्डाः पान्तु शौरेस्त्रिभुवन-भवनात्तम्भनस्तम्भभूताः ।

—ए०इ०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक २

यहाँ अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित का भी माला-प्रकार है, क्योंकि एक 'दोर्दण्डाः' रूपी उपमेय में अनेक उपमान आरोपित हैं ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन के अमाला (शुद्ध) भेद को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं —

— उस (हर्षगुप्त) का पुत्र, नृपतिश्रीमणि श्रीजीवितगुप्त था, जो उदित शत्रुओं की नारियों के मुख रूपी नलिनवनों के लिए एक मात्र हिम-कर (चन्द्रमा) था ।<sup>१</sup>

— श्लोद्भव सैन्यभीत), कामिनियों के नयनरूपी प्रमरों के लिए कमल था ।<sup>२</sup>

दोनों उदाहरणों में आरोपविषय एवं आरोप्यमाणा पद श्लिष्ट नहीं । प्रथम में जीवितगुप्त राजा में चन्द्रमा के आरोप का निमित्त, शत्रु-नारियों के मुख में नलिनवनों का आरोप है । इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में राजा पर किए गए कमल के आरोप का निमित्त कामिनियों के नयनों पर प्रमरो का आरोप, स्पष्ट है ।

अपह्नुति— जहाँ प्रकृत अर्थ का निषेध करके अप्रकृत की सिद्धि की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है ।<sup>३</sup> दूसरे शब्दों में इसमें उपमेय को असत्य दिखलाकर उपमान की सत्यता की प्रतिष्ठा की जाती है । इसलिए

१. श्रीजीवितगुप्तोभूत् जिातीश्वूडामणिः सुतस्तस्य ।

यो दृप्तवैरिनारीमुखनलिनवनेकशिशिरकरः ।।

— आदित्यसेन का अपसद्वेख— हि० लि० ७०, पृ० १४६—१५० ,

श्लोक ४

२. 'सीमन्तिनीनयनषट्पदपुण्डरीकः' — सैन्यभीत माधववर्मन(द्वि०) का पुरा-

षोत्तमपुराशासन— २०ई०, भाग ३०, पृ० २६७, पं० २२

३. का० प्र०, १०।१५६

यदा कदा व्याज, क्ल आदि शब्दों के द्वारा भी अप्हुति का निर्देश होता है :—

‘पराजित शत्रुओं के गज-कुम्भस्थलों से फूटकर निकलने वाले मुक्ताफलों के क्ल से जिस दद का विमल यशोवितान फैल गया था ।’<sup>१</sup>

अथवा—

‘अनेक समरसंकटों के समझा आर और परिणामतः मारे गए शत्रु-सामन्तसमूह की वधुओं के प्रभातकालीन-रुदन के क्ल से जिस दद का निर्मल निस्त्रिंश प्रताप ऊँचे स्वर से गाया जाता था ।’<sup>२</sup>

प्रथम उदाहरण का तात्पर्य यह है कि ये मुक्ताफल नहीं, अपितु दद के विमल यशोवितान हैं । द्वितीय में—शत्रुनारियों के रुदन के प्रकृत अर्थ का निषेध करके अप्रकृत उद्गीयमान विमलनिस्त्रिंशप्रताप की सिद्धि की गई है । दोनों स्थानों में ‘क्ल’ शब्द का प्रयोग किया गया है । (दूसरे उदाहरण में ‘प्रभात समय’ इसलिए रखा गया है कि राजाओं की प्रतापप्रशंसा प्रभातकाल में ही ऊँचे स्वर से गाई जाती थी । )

समासोक्ति— इस अंकार में श्लिष्ट (दो अर्थों वाले) विशेषणों के माध्यम से प्रस्तुत में अप्रस्तुत बात कही जाती है ।<sup>३</sup> शब्दान्तर में, इसमें कार्य, लिंग, और विशेषणों की समानता से प्रस्तुत वर्णन में किसी अप्रस्तुत का वर्णन प्रतीत होता है, जैसे, ‘भगवान् विष्णु के लिए यह उत्तम भवन उसी राजा (आदित्यसेन) ने बनवाया, जिसने लक्ष्मी के उपभोग करने की इच्छा के कारण, शरच्चन्द्रबिम्ब के समान शुभ और सारे संसार में प्रसिद्ध, अपनी बहुत बड़ी कीर्ति को चिरकाल तक अप्रसन्न किया । इसलिए वह अद्भुत-

१. ‘विनीतारिगजकुम्भविगलितमुक्ताफलच्छलप्रनि(वि)कीर्णविमलयशोविता-  
नेन’ — दद (प्रशान्तराग) का दानपत्र, — प्रा०ले०मा०, भाग २,

संख्या ७६, पृ० ४१ (का०मा०)

२. ‘अनेकसमरसंकटप्रमुखागत—निहतशत्रुसामन्तकुलवधुप्रभातसमयरुदितच्छलाद्गीय  
मानविमलनिस्त्रिंशप्रतापो’ — ददगुर्जर (प्रशान्तराग) दो दान लेख—  
स०ई०, भाग ५, पृ० ३६, पं० २-३

३. का०पृ० १०।१४८

तमा कीर्ति, सापत्न्यद्वेष के कारण सागर पार तक चली गई ।<sup>१</sup>

यहाँ प्रस्तुत कीर्ति में अप्रस्तुत नायिका की प्रतीति होती है, जो पति के प्रेम को प्राप्त करने वाली अपनी सपत्नी के वर से रुठकर दूर चले जाने तक का साहस संचित कर बैठती है । कीर्ति के कार्य, लिंग एवं विशेषण इठी हुई नायिका पर भी घटित होते हैं ।

अतिशयोक्ति- आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति को चार रूपों में स्थिर किया,<sup>२</sup> लेकिन इन चार रूपों के दर्शन सफलता पूर्वक साहित्यिक ग्रन्थों में ही हो सकते हैं । अभिलेखों को यदि इस चतुर्विध अतिशयोक्ति से आँका जाय तो शायद स्थल-स्थल में प्राप्त होने वाली अतिशयोक्ति भी ठुकराई जा सकती है । उदाहरणार्थ 'यदि' या 'चेत्' से होने वाली किसी असम्भव बात की कल्पना, जो कि तीसरी प्रकार की अतिशयोक्ति है, ऐतिहासिक लेखों में कैसे सम्भव है ? उसका निर्वाह तो कल्पना प्रधान किसी साहित्यिक कृति में ही सम्भव है ।

इसलिए अभिलेखों को प्रारम्भिक आचार्यों की स्वाभाविक परिभाषा से देखना ही तर्कसंगत है । भामह लोकातिक्रान्तगोचर बात को अतिशयोक्ति कहता है ।<sup>३</sup> इसी प्रकार दण्डी प्रस्तुत के लोकसीमा से बाहर होने वाले वर्णन में अतिशयोक्ति स्थिर करता है ।<sup>४</sup> ये दोनों परिभाषाएँ वास्तव में एक ही तथ्य का उद्घाटन करती हैं । इन्हीं पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार अभिलेखों में अतिशयोक्ति ढूँढ़ना उचित है । इस दृष्टि से समुद्रगुप्त का प्रयाग

१. येनेयं शरदिन्दुबिम्बध्वला प्रत्यातभूमण्डला

लक्ष्मी-संगमकांदाया सुमहती कीर्त्तिश्चिरं कोपिता ।

याता सागरपारमद्भुतमा सापत्न्यवेरादहो

तेनेदं भवनोत्तमं दिातिभुजा विष्णोः कृते कारितं (तम्)॥

— आदित्यसेन का अपसद् शिलालेख, का० इ० इ०, भाग ३, पृ० २०४,  
श्लोक २६

२. ५०-का.प्र० १०।१५३

३. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥

— काव्यालंकार (भामह) २।८१

४. काव्या०, २।२१४

स्तम्भ लेख प्रायः आद्यान्त अतिशयोक्तिपूर्ण है ।<sup>१</sup> तद्वत् मन्दसौर नृपति विश्ववर्मा की प्रशंसा देखिए —

‘ उसने धैर्य से मेरु को, वंशागतगुणों से वैज्य (पृथु) को, प्रभा-  
समुदय से इन्दु को, बल से विष्णु को, दीप्ति से असह्य प्रलयकालीन अग्नि  
को एवं विक्रम से सुराधिपति इन्द्र को भी जीत लिया था ।’<sup>२</sup>

अभिलेखों में समान वर्णन वाले श्लोकों की कमी नहीं । स्थल — स्थल  
पर राजाओं के अतिरंजित वर्णन प्राप्त होते रहते हैं, जैसे पूर्वीय चालुक्य  
जयसिंह(प्र०) की प्रशंसा, कि ‘वज्र कान्ति, बुद्धि, शौर्य, आध्यात्मवृत्ति,  
दान एवं रूप में क्रमशः इन्दु, बृहस्पति, सूर्य, समुद्र, कर्ण एवं कामदेव से भी  
अधिक था ।’<sup>३</sup>

कवि रविकीर्ति पुलकेशिन् (प्र०) के विषय में कहता है कि ‘उसके  
त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) पथ का अनुगमन करने में आज भी संसार का कोई  
नरपति सक्षम नहीं । अश्वमेधयाजी उसने जब पृथ्वी को ‘अवभृथ’ कराया,  
तो उसमें चमक आ गई ।’<sup>४</sup>

आम्रवटवक ग्रामदान सम्बन्धी लेख में पुलकेशिन् (द्वि०) के लिए प्रयुक्त  
इस उक्ति में भी कितनी अतिरंजित कल्पना है कि वह ‘करगत खंग द्वारा  
शत्रुओं (राजाओं) के हाथियों के दन्त खण्डित करने के कारण उठी हुई  
अग्निज्वाला से प्रदीप्त रणभूमि वाला था ।’<sup>५</sup>

१. का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १

२. धैर्येण मेरुमभिजातिगुणैर्न वैज्यमिन्दुप्रभासमुदयेन बलेन विष्णुम् ।

[सम्ब]र्तकानलमसह्यतमं च दीप्त्या यो विक्रमेण च सुराधिपतिं विजिग्ये ।।

— विश्ववर्मा का गंगधार लेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ७४ श्लोक ६

३. द्र० — पेह्लवेगि शासन, २० ई०, भाग १६, पृ० २५६, पंक्ति १०-१२

४. यत्त्रिवर्गपदवीमलं क्षितौ नानुगन्तुमधुनापि राजकम् [I]

भूश्च येन ह्यमेधयाजिना प्रापितावभृथमंजना बभौ [II]

— रेहोल लेख, इ०रेपिट०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ८

५. ‘करगतखंगोत्कृतपरनृपदन्तिदन्तोत्थितवह्निशिवोदीपितरणभूमिः — प्रा०ले०

मा०, भा० ३, पृ० ११६ (का०मा०)

वह प्रशान्तराग की यह प्रशंसा देखिए — 'सजलजलधर पटल से निकली हुई चन्द्रकिरण से प्रबुद्ध कुमुद के समान धवल यश से उसने नभोमण्डल (के प्रकाश) को स्थगित कर दिया था ।' १

बलभी नरेशों के सभी लेख अतिशयोक्ति-प्रचुर हैं । उनकी पंक्ति-पंक्ति अतिशय वर्णनों से बोधिल है ।

अन्त में, यशोधर्मन् की सेना द्वारा उड़ाई गई धूलि का वर्णन देखिए — 'फहराती ध्वजाओं वाली वनपथों में हाथियों के सूड़ों से लोभ्राड्डुमों को उखाड़ने वाली, अपने गर्जन-तर्जन से विन्ध्यपर्वत की गुफाओं को प्रतिध्वनित करने वाली, जिस (यशोधर्मन्) की सेनाओं द्वारा विजय यात्रा के समय उड़े हुए रासभ-धूसर-धूलि पटल से मन्दप्रभ सूर्यमण्डल मयूर पंख के तिर्यक् बँदोवा के समान निस्तेज दिखाई देता है ।' २

प्रतिवस्तूपमा — जब उपमान और उपमेय वाक्यों में (कथितपदता दोष के निवारणार्थ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा ) एक ही साधारण धर्म का उपादान किया जाता है, तब प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है । ३ उदाहरणार्थ पण्डित के पुत्र चक्रपालित की अधोलिखित प्रशंसा —

'उस पण्डित से उत्पन्न होने पर वह (चक्रपालित) यदि न्यायप्रिय था, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? मुक्तकलाप और कमलों के समान शीतलचन्द्र (शीतांशु) से क्या उष्णता सम्भव है ?' ४

१. 'सजलधनपटलनिर्गतैरजनिकरकरावबोधित (कुमुदधवल) यशोप्रतानस्थगित-नस्थमन्त्रनभोमण्डलो, — प्रा०ले०मा०, भाग २, सं० ७६, पृ० ४३ (का०मा०)

२. यस्योत्केतुभिरनन्मदद्विपकरव्याविद्वलोद्भ्रमे  
रुद्धतेन वनाध्वनिध्वनिनदद्विन्ध्यादिरन्ध्रेब्बलेः ।  
बालेयच्छविधुमरेण रजसा मन्दांशुसंलदयते  
पर्यावृत्त-शिखण्डिचन्द्रक इव ध्यामंरवेमण्डलम् ॥

— यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भ लेख, का० इ० इ०, भाग ३, पृ० १५३  
श्लोक ६

३. का०पृ० १०।१५४

४. यो [ ( S ) जायतास्मात् खलु ] पण्डिता ?  
त्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्रं ।

यहाँ प्रथम उपमेय एवं द्वितीय उपमान वाक्य है । दूसरे शब्दों में प्रथम का द्वितीय से औपम्य स्थापित किया जा रहा है, किन्तु 'न्यायवानत्र किमस्ति चित्रम्' और 'किमुष्ठां भविता कदाचित्'—इन विभिन्न वाक्यांशों से वस्तुतः एक ही साधारण धर्म की प्रतिष्ठा हुई है । अतः इस हन्व में प्रतिवस्तुपमालंकार मानना युक्तियुक्त है ।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तु-पमा एवं दृष्टान्त का पृथक्-पृथक् विवेचन तो किया है, किन्तु उनकी मान्यता है कि दोनों अलंकार एक दूसरे के अन्तर्भूत किए जा सकते हैं ।<sup>१</sup>

दीपक—जहाँ (१) प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) के (गुण क्रियादि रूप ) धर्म का एक बार कथन होता है अथवा (२) जहाँ एक ही कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान और अधिकरण) में किसी एक का अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध विवक्षित रहता है, वहाँ दीपक अलंकार होता है ।<sup>२</sup> प्रथम दीपक का नाम क्रियादीपक और द्वितीय का कारक दीपक है । प्रथम (क्रिया दीपक ) का उदाहरण, भास्करवर्मन् के द्वावि शासन पत्र में दृष्टव्य है —

‘दूसरे लोक में जले जाने पर भी वह पुत्रवान् राजा अपने पुत्र से ऐसा ही प्रसन्न हुआ, जैसे बहुत पहले स्वर्ग’ में राजा दशरथ (भूमिस्थित नृपति) राम से<sup>३</sup> । यहाँ ‘स पुत्री’ (वह पुत्रवान्) प्रस्तुत और प्राकरणिक है और ‘दशरथो नृपः’ ( राजा दशरथ) अप्रस्तुत अथवा अप्राकरणिक । दोनों में ‘मुपदे’ (प्रसन्न हुआ) क्रियारूप धर्म समान भाव से सम्बद्ध है ।

कारक दीपक का उदाहरण भी उपर्युक्त शासनपत्र से ही दिया जा

१. ‘यदि तु न तेषां दादिण्यं तदैकस्यैवालंकारस्य दो भेदौ—प्रतिवस्तुपमा दृष्टान्तश्च ।’ रसगंगाधर दृष्टान्तप्रकरण, पृ० ५३५ ( बनारस, सन् १९०३ )

२. का०पृ०, १०।१५६

३. स पुत्री तेन मुपदे लोकान्तरगतौ ( ५ ) पि सन् [१] रामेणैव पुरा राजा स्वर्गे दशरथो नृपः ।। २०६०, भाग ३०, पृ० ३००, श्लोक ३८



रहा है — महेश्वर के समान नीति तथा स्फूर्ति प्रताप की ज्योति वाले, जिस (भास्करवर्मन्) के द्वारा कलि प्रध्वंसित किए जाने पर, हगमगाता हुआ धर्म फिर स्थिर हुआ, दुर्जनों की वाणी के भीतर गई हुई कीर्ति मुक्त करके मृगी के समान (विचरने के लिए) छोड़ी गई, जीवविलास विधि से शुद्ध किए जाने पर लक्ष्मी स्वीकृत हुई।<sup>१</sup> यहाँ, एक कारक 'येन' (करुणा) 'संरोपितः', 'उद्भिता' आदि अनेक क्रियाओं के साथ सम्बद्ध है।

तुल्ययोगिता — जहाँ नियत प्रकृत या अप्रकृत के गुण या क्रियारूप साधारण धर्म का ग्रहण किया जाता है, वहाँ तुल्ययोगिता अस्कार होता है,<sup>२</sup> जैसे इस उक्ति में — जिसका कुल, शील से; प्रभुत्व, आज्ञा से; शास्त्र, शत्रुओं के संहार से; क्रोध, निग्रह से; प्रसाद, दान से एवं धर्म, देवब्राह्मण-गुरुजनों के पूजन से प्रकाशित होता है।<sup>३</sup>

यहाँ शील, आज्ञा आदि समन्वित कुल एवं प्रभुत्वादि सभी प्रस्तुत हैं, जो कि एक ही 'प्रकाश्यते' क्रिया रूप साधारण धर्म से सम्बद्ध हैं।

इसी प्रकार 'अविरुद्धता' रूपी गुण की तुल्ययोगिता अधोलिखित उद्धरण में द्रष्टव्य है —

‘यस्य च न विरोधि रूपं शीलस्य यौवनं सद्गुणस्य विभवः प्रदानस्य त्रिवर्गसेवा परस्परापीडनस्य प्रभुत्वं दानान्तेः कलिकाले गुणानामिति ॥’<sup>४</sup>

१. धर्मः प्रस्थलितः कलिं पुनरपि प्र[ध्वं]स्य संरोपितः

कीर्तिर्दुर्जन-वागुदोदरगता मुक्त्वा मृगीवोद्भिता ।

लक्ष्मीः जीव-विलास[नीत]विधिना संस्कृत्या(त्य) च स्वीकृता

भूयो येन महेश्वराश्रय-नयः स्फुरायि-प्रतापार्चिषा ॥

— भास्करवर्मन् का द्वाविंशतः शासन, १०६०, भाग ३०, पृ० ३०४, श्लोक २५

२. का०पृ० १०।१५८

३. यस्य प्रकाश्यते सत्कुलं शीलेन प्रभुत्वमाज्ञया शस्त्रमरातिप्रणिपातेन कोपी निग्रहेण प्रसादः प्रदाने धर्मो देवद्विजातिगुरुजनसपर्ययेति । — दद

प्रशान्तराग का शिरीषपत्रक ग्रामदान सम्बन्धी लेख, प्रा०ले०मा०, भाग २,

पृ० ४२ (का०मा०)।

४. वही, पृ० ४३

व्यतिरेक— जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का व्यतिरेक (आधिक्य या उत्कर्ष) दिखाया जाता है, वहाँ व्यतिरेक अंकार होता है।<sup>१</sup> एकगुजर शासनपत्र से इसका सुन्दर उदाहरण नीचे दिया जा रहा है:—

सौम्यत्व वैमत्य, शोभा और कलाओं के कारण जिस (सामन्त दद) का साम्य चन्द्र से किया जाता है, कलंक के कारण नहीं। अर्थात् चन्द्रमा में तो कलंक है, लेकिन दद में कलंक (अपवाद) नहीं। लक्ष्मी के आवासस्थल होने के कारण कुलकण्टकों को शोभासमुदय से नीचे (नाल या चरणों पर) कर देने के कारण जिसकी उपमा कमलाकर से दी जाती है, कमल के पंकजन्मता के कारण नहीं, क्योंकि दद, पंकजन्मा (पाप से उत्पन्न) नहीं। इसकी समानता सत्त्व, उत्साह और विक्रम के कारण ही मृगाधिराज (सिंह) से की जाती है, (सिंह की) क्रूरश्रयता के कारण नहीं। महासागर से इसकी तुलना लावण्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य एवं पृथ्वी के अनुपालन के कारण की जाती है, न कि समुद्र के व्यालाश्रय (सर्प, सलाश्र) होने के कारण.....<sup>२</sup> यहाँ उपमेयगत उत्कर्ष और उपमान गत अपकर्ष के हेतुओं का श्लिष्ट शब्दों से प्रतिपादन किया गया है।

शशांकराज की प्रशंसा में लिखे गए निम्नलिखित श्लोक में भी व्यतिरेक अंकार की है, यद्यपि इसमें भावाभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से हुई है।

यस्य गाम्भीर्य-लावण्य व(ब)हुरत्नतयानया [१]

न समः क्षारकालुष्य-व्यालोपय(व्यालो[पांग])तयोदधि [॥<sup>३</sup>]

१. का० प्र० १०।१५६

२. यश्चोपमीयते शशिनि सौम्यत्ववैमत्य-

शोभाकलाभिः न कलंकैः श्रीनिकेतशोभाशोभाकलाम्भिः न कलंकैः समुदया-

धःकृतकुलकण्टकतया कमलाकरे न पंकजन्मतया सत्त्वोत्साहविक्रममृगा-

धिराजे न क्रूरश्रयतया लावण्यस्थैर्यगाम्भीर्यस्थित्यनुपालनतया महोदधौ

न व्यालाश्रयतया..... —दद प्रशान्तराग का दान पत्र—

प्रा० ले० मा०, भाग २, पृ० ४२ (का० मा०)

३. मिदिनापुर में प्राप्त शशांकराज के दो ताम्रपत्र:— (द्वि० ताम्रपत्र)

ज० र्ग० ०२० स० र्वि० (ले०) भा० ११, पृ० ६ श्लोक ३

यहाँ प्रथम श्लोकाई में गिनाए गए गुणों के कारण साम्य होने पर भी (यद्यपि समता का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है) द्वितीय श्लोकाई में उपमान समुद्र के साम्य में बाधक हेतुओं का उल्लेख कर दिया गया है।

उपमेय के आधिक्यवर्णन का एक भिन्न प्रकार कदम्ब रविवर्मन् की प्रशंसा में देखा जा सकता है — रविवर्मन् के भुजबन्धों से आलिङ्गित, चन्दन की सुरभि से प्रीतमानसा लक्ष्मी उतनी प्रसन्न भगवान् विष्णु के वदाःस्थल पर भी नहीं हुई।<sup>१</sup>

विशेषोक्ति— जहाँ समस्त प्रसिद्ध कारण के उपस्थित होने पर भी उसके कार्य का असद्भाव वर्णित हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है।<sup>२</sup> रविशान्ति रचित अधोलिखित पंक्तियों में इसी अलंकार की विद्यमानता है—

यस्यार्द्धस्थितयोऽपि हृदये नास्थायि चेतोभुवा  
भूतात्मा त्रिपुरान्तकः स जयति त्रेयःप्रसूतिर्भवः [॥]<sup>३</sup>

— भूतात्मा, त्रिपुरान्तक एवं कल्याणों के जन्मस्रोत उन शिव जी की जय हो, अर्द्ध भाग में नारी स्थित होने पर भी जिनके मन में मनोभव द्वारा अपनी स्थिति नहीं बनाई जा सकी।<sup>४</sup>

पड़ोस में नारी की स्थिति होने पर भी शिव के मन में मनोभव द्वारा घर न बना सकने में अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है, क्योंकि यहाँ समस्त कारण के सद्भाव में भी कार्य का असद्भाव है और मनोभव क्यों या किस निमित्त स्थान नहीं बना सका, — इसका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है।

यथासंख्य — पदार्थों के पूर्वक्रम के साथ पश्चाद्गती पदार्थों की उसी क्रम से सम्बन्ध-व्यवस्था ही यथासंख्य अलंकार है।<sup>५</sup>

१. त्रैभुजगदा [श्लिष्ट] चन्दन-प्रीतमा [न] सा [॥]

तथा श्रीन्नर् (ना) भवत्प्रीता मुरारेरपि वदासि ॥ — रविवर्मन् का देवंगेरी शासनपत्र, ए० ई० भाग ३३, पृ० ६०, श्लोक १०

२. का० प्र० १०। १६३

३. — ईशानवर्मन् का हरह लेख, हि० लि० ३०, पृ० १४२, श्लोक १

४. का० प्र०, १०। १६४

हरिणी, समुद्रगुप्त के विषय में कहता है— 'साधु और  
असाधुओं के लिए उदय एवं प्रलय के कारणभूत उस अचिन्त्य पुरुष का ....' <sup>१</sup>  
यहाँ साधु एवं असाधु क्रमशः उदय तथा प्रलय से सम्बन्धित हैं।

इसी तरह— '(वह बलभी नरेश गुह्येन) रूप, कान्ति, स्थैर्य,  
गाम्भीर्य, बुद्धि एवं सम्पत्ति में कामदेव, चन्द्रमा, हिमालय, सागर, बृहस्पति  
एवं कुबेर से भी आगे बढ़ा था।' <sup>२</sup> यहाँ भी पूर्ववर्ती रूपादि गुणों का  
पश्चाद्वर्ती कामदेवादि से क्रमपूर्वक सम्बन्ध रखा गया है।

यथासंख्य के दो अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं —

(१) 'ग[त]न्धर्व-हस्तिशिखाधनुर्विष्ट वत्सराजेन्द्रार्जुनसमेन' <sup>३</sup>

(२) हरनारायणब्रह्मत्रितयाय नमः सदा ।

शूलचक्राक्षसूत्रोद्ध-भाव-भासित-पाणिने ॥ <sup>४</sup>

अर्थान्तरन्यास— जहाँ साधर्म्य और वैधर्म्य की दृष्टि से सामान्य  
का विशेष द्वारा और विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है,  
वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है <sup>५</sup>, उदाहरणस्वरूप 'रविशान्ति' का  
यह पद्य —

यो बालेन्दुसकान्तिकृत्स्नभुवनप्रेयो दधौवनम्

शान्तः शास्त्रविचारणाहितमनाः पारं कलानांगतः ।

लक्ष्मीकीर्तिसरस्वतीप्रभृतयो यं स्पृध्वैवाश्रिता

लोकैकामितकामिभावरक्तिकः कान्ताजनो भूयसा ॥ <sup>६</sup>

१. 'साधुवसाधुदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य' — प्रयाग प्रशस्ति—का० ६० ई०,  
भाग ३, पृ० ८, पं० २५

२. 'रूपका[न्ति]स्थैर्यगाम्भीर्यबुद्धिसम्पद्भिः स्मरशशांकाद्रिराजौदधित्रि-  
दशगुरुधनेशानतिशयानः' — बोट्टाद में प्राप्त धरसेन बालादित्य का  
दानपत्र—भाव०, पृ० ४०, पं० ५

३. कदम्ब कृष्णवर्मन् (द्वि) का बन्नहल्लि शासन — २० ई०, भाग ६, पृ० १८,  
पंक्ति ८

४. २० कर्णाभागा, ६, पृ० ६०

५. का० प्र० १०।१६५

६. ईशानवर्मन्, कोट्टाद में प्राप्त धरसेन बालादित्य का  
दानपत्र—भाव०, पृ० ४०, पं० ५

‘वह (सूर्यवर्मा पाँखरी) समग्र भुवन के प्रिय, बालचन्द्र की कान्ति से सम्पन्न याँवन को धारण करता हुआ, शान्त और शास्त्रों में दत्तचित्त होकर (समस्त) कलाओं में पारंगत हो गया था । परस्पर स्पर्धा करती हुई सी लक्ष्मी, कीर्ति, सरस्वती आदि (रमणियाँ) जिसका (उसका) आश्रय लिए थीं । (ठीक ही है इस) संसार में नारियाँ इच्छित प्रेमी के प्रति अत्यधिक भावरसिक होती हैं ।’

यहाँ, पद्य के तीन चरणों का वर्णन, एक सामान्य विषय है, जिसके समर्थन हेतु चतुर्थ चरण में एक विशेष अर्थ का न्यास किया गया है । समर्थन हेतु भी यहाँ साधर्म्य है । इसलिये इस पद्य में प्रथम प्रकार का अर्थान्तरन्यास है, जो ‘साधर्म्य हेतु’ के माध्यम से विशेष से सामान्य के समर्थन में होता है । उक्त छन्द के ‘कला’ शब्द में श्लेषचमत्कार भी दर्शनीय है ।

विरोध— (बाह्यरूप से) विरुद्ध सा भासित होने वाला अलंकार, विरोध है । यह, जाति के जाति से, जाति के गुण से, जाति के क्रिया से, जाति के द्रव्य से, गुण के गुण से, गुण के क्रिया से, गुण के द्रव्य से, क्रिया के क्रिया से, क्रिया के द्रव्य से एवं द्रव्य के द्रव्य से ‘विरोध वर्णन’ में, दस प्रकार का होता है ।<sup>१</sup>

गुर्रर दद प्रशान्तराग के पिता जयभट्ट की प्रशंसा में लिखे गए निम्नलिखित वाक्यों में गुणों का गुणों से विरोध है :—

‘शूर होने पर भी (वह) सदैवकीर्ति के विषय में भीरु था, तृष्णा रहित होने पर भी गुणार्जन में उसकी तृष्णा समाप्त नहीं हुई थी, सर्वप्रदानशील होने पर भी परयुवती को हृदयदान करने में वह पराङ्मुख था ...’<sup>२</sup>

यहाँ शूरता एवं भीरुता, तृष्णारहितता एवं सतृष्णाता, दानशीलता एवं दानपराङ्मुखता गुणों में परस्पर विरोध है । (परन्तु यह वास्तविक विरोध नहीं । यहाँ विरोध में खड़े किए वाक्यांश प्रकारान्तर से गुण ही हैं।)

१: सा०द० १०६७-६८

२. ‘शूरपि सततमयशोभीरुः अपगततृष्णो (ऽ)पि गुणार्जनाविच्छिन्नतर्षः सर्वप्रदानशीलो (ऽ)पि परयुवतिहृदयदानपराङ्मुखः’— दद (प्रशान्तराग) का दानपत्र, — प्रा०ले०मा०, भाग २, संख्या ७६, पृ० ४२-४३

गुण, गुण का विरोध कथन अधोलिखित पंक्तियों में भी देखा जा सकता है —

‘ (ध्रुवसेन बालादित्य) प्रकृष्टविक्रम होने पर भी करुणामृदु हृदय था, विद्वान् होने पर भी अभिमानी नहीं था, दीखने में सुन्दर होने पर भी संयमशील था :.....<sup>१</sup>

गुण सर्व क्रिया का एक उत्कृष्ट उदाहरण यह है कि— (कदम्ब नृपति मृगेश) ने स्वयं भयदरिद्र होने पर भी शत्रुओं को महद् भय प्रदान किया ।<sup>२</sup> यहाँ, भयदरिद्र होने पर भी महद् भय देने के अर्थ में केवल बाह्यतः ही विरोध है । भय-दरिद्र के तात्पर्य निहर या निभीक की प्रतीति हो जाने के कारण ही तथाकथित विरोध का निरास हो जाता है ।

विरोधाभास— मम्मटादि कतिपय आचार्यों ने विरोध और विरोधाभास में कुछ अन्तर नहीं लिया है । फिर भी कुछ काव्यशास्त्रियों ने विरोधाभास की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है । उनके मत से जहाँ विरोधा-लंकार में गुण, द्रव्य, क्रिया और जातिवाचक पदार्थों का आपस में विरोध की बाह्य प्रतीति होती है, वहाँ विरोधाभास में केवल श्लेषादि अलंकारों के कारण यह प्रतीति होती है । इसमें विरोध की भलक मात्र मिलती है ।<sup>३</sup> उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित उक्ति—

‘ (कोसलनरेश तीव्रदेव का पिता नन्नदेव) कुतूष्णा और नितान्तत्यागी था ।<sup>४</sup> यहाँ विरोधाभास है, क्योंकि ‘कुतूष्णा’ के श्लेष से ही विरोध का आभास मिल रहा है । श्लेष का अर्थज्ञान होने के साथ ही विरोध का निरास हो जाता है— वह राजा कु= पृथ्वी की (विजय)-तृष्णा रखता हुआ अत्यन्त त्यागी था । अर्थ स्पष्ट हो जाने पर यहाँ वस्तुतः कुछ भी विरोध नहीं है ।

१. प्रकृष्टविक्रमो(ऽ)पि करुणामृदुहृदयः श्रुतवानप्यगर्वित कान्तो(ऽ)पि प्रस(श)मी — शीलादित्य (तृ ०) का जेसर शासनपत्र, २०६०, भाग २२, पृ० ११७, पं० २३

२. स्वयं भयदरिद्रा(द्रो)पि शत्रुभ्यो(ऽ)दाद्महाभयम् — कदम्ब मृगेश का दानपत्र— इंडोएशिया, भाग ६, पृ० २४, पं० ७

३. इ०—चन्द्रा० ५।७४-७५

स्वभावोक्ति— बच्चों आदि की प्रकृति सिद्ध क्रियाओं या उनके रूप वर्णन में स्वभावोक्ति अस्कार होता है ।<sup>१</sup> आचार्य दण्डी स्वभावोक्ति एवं जाति को प्रायः एक ही मानते हैं ।<sup>२</sup> रुद्रट ने तो इसे जाति कह कर ही व्यवहृत किया ।<sup>३</sup>

मृगया में तीर-लगे धनुष को कानों तक खींचने में अनन्तवर्मा मोखरी का कामदेव के समान शरीर, जीवन के प्रति निस्पृह हरिणियों द्वारा खड़े होकर स्निग्ध और मुग्ध आँखों से बहुत देर तक अपलक देखा गया ।<sup>४</sup>

सुन्दरवस्तु को पाकर हरिणियाँ अपनी अन्य सारी क्रियायें छोड़-कर खड़ी हो जाती हैं और उसे अपलक देखने लगती हैं । हरिणियों के इस स्वभाव का यथार्थ चित्रण होने के कारण यहाँ स्वभावोक्ति अस्कार है ।

सहोक्ति— जहाँ 'सह' आदि शब्द के अर्थ सामर्थ्य से एक पद की अनेकार्थबोधकता होती है, वहाँ सहोक्ति अस्कार होता है ।<sup>५</sup> कवि रविकीर्ति का निम्नलिखित श्लोक सहोक्ति का अच्छा उदाहरण है :—

स यदुपचित[म]न्त्रोत्साहशक्तिप्रयोग-

दापितबलविशेषो मंगलेशः समन्तात्[१]

स्वतनयगतराज्यारम्भयत्नेन सार्द्ध'

निजमतनु च राज्यं जीवितं चोज्झति स्म ॥<sup>६</sup>

मंगलेश राजा (पश्चिमी चातुर्व्यवश) जिसका बल पुलकेशिन् द्वारा संगृहीत मंत्र एवं उत्साहशक्ति के माध्यम से क्षीण कर दिया गया

१: का०प्र० १०।१६८

२: काव्या०(दण्डी) २।८

३: काव्यालंकार ७।३० (रुद्रट)

४. अन्तायानन्तवर्मा स्मरसदृशपुज्जीविते निःस्पृहाभिः

दृष्ट[:]स्थित्वा मृगीभिः सुचिरमनिमिषस्निग्ध मुग्धेक्षणाभिः [११]

— नागार्जुनी गुहा-केरव, का० ३०३०, भाग ३ पृ० २२५ श्लो ३

५: का०प्र० १०।१७०

६. —रेहोल लेख— इ०रेण्ट०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक १५



था, अपने पुत्र को राजा बनाने के प्रयत्न के ही साथ अपने राज्य और जीवन से भी हाथ धी बैठा ।<sup>१</sup> यहाँ राजा बनाने के प्रयत्न के साथ-साथ ही राज्य एवं जीवन दोनों से हाथ धोने की उक्ति में सहोक्ति है । 'सह' का स्थानापन्न शब्द यहाँ 'सार्द्ध' शब्द है ।

सहोक्ति के सन्दर्भ में एक पल्लव अभिलेख का उदाहरण भी द्रष्टव्य है —

“(इस) पर्वतराज के शिखरस्थित विचित्र शिलामन्दिर में (जब पल्लव) नृपति ‘गुणभर’ ने स्थाणु (शिव) की प्रस्तरमूर्ति स्थापित की, तो उसने स्थाणु (स्थिर) को यथार्थ रूप से अचल कर दिया और इस तरह उस स्थाणु के साथ ही साथ वह ‘गुणभर’ स्वयं भी ( अपनी कीर्ति के माध्यम से) संसार (लोकों में) स्थाणु (स्थिर) हो गया ।”<sup>१</sup>

यहाँ 'सह' के शब्दयोग से स्थाणु की स्थापना तथा उसके अर्थ-योग से 'गुणभर' का भी स्थाणु (अचल) होना कहा गया है ।

विनोक्ति— जहाँ एक वस्तु के बिना दूसरे के अशोभन होने या शोभन होने का वर्णन किया जाता है, वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है ।<sup>२</sup>

मन्दसौर के पट्टवाय अपने वस्त्रों का विज्ञापन वत्सभट्ट की कविता के माध्यम से इस प्रकार करते हैं — “ तारुण्य- कान्ति से सम्पन्न (एवं) स्वर्णहार ताम्बूल और पुष्पाभरणों से सम्यक् अलंकृत होने पर भी (दशपुर) की रमणियाँ गुप्त संकेतस्थल पर रेशमी वस्त्रयुगल के बिना अपने प्रियतम से मिलन नहीं करती ।”<sup>३</sup> स्पष्ट है कि पूर्णतः प्रसाधित होने पर

१. शैलेन्द्रमूर्द्धनि शिलाभवने विचित्रे,

शैलीन्तनुं गुणभरो नृपतिर्निधाय [।]

स्थाणुं व्यधत्ति विधिरेण यथार्थसंज्ञं

स्थाणुः स्वयंच सहतेन जगत्सु जातः [।] — सा०३०३०, भाग १,

सं० ३४, पृ० ३०, श्लोक १

२. का०प्र० १०।१७१

३. तारुण्यकान्त्युपचितो (ऽ)पि सुवर्णहार-

ताम्बूल-पुष्पविधिना समलंकृतो (ऽ)पि।

नारीजनः प्रियमुपैति न तावदगूयां (श्र्यां)

होने पर भी दक्षपुर की तरफियाँ युगल रेश्मी वस्त्रों के बिना अपने को इस योग्य नहीं समझतीं कि वे अपने प्रियतम को मिलने जा सकें । दूसरे शब्दों में सब कुछ होने पर भी उक्त वस्त्रों के बिना उनमें अपने प्रियतम को आकर्षित करने का सामर्थ्य नहीं आता । इसलिए यहाँ विनोक्ति अलंकार मानना ही उपयुक्त है ।

परिवृत्ति— जहाँ दो समान वस्तुओं का अथवा दो असमान वस्तुओं का परस्पर विनिमय वर्णित होता है, वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है ।<sup>१</sup> जैसे —“ देव, ब्राह्मण और गुरुओं के चरणकमलों में किए गए प्रणाम के कारण घृष्ट वज्रमणि-कोटि से निर्गत रुविरकिरणमय मुकुट-वाले ( उस दद प्रज्ञान्तराग ) की शोभा उद्भासित हो गई थी । ”<sup>२</sup> यहाँ प्रणाम-देने के कारण विनिमय में उद्भासित-श्री : होने का लाभ स्पष्ट है । अतः यहाँ परिवृत्ति अलंकार मानना ही युक्ति संगत है ।

काव्यलिंग— जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप से हेतु का कथन किया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है,<sup>३</sup> यथा—

न विद्यते (S) सौ सकले (S) पि लोके  
यत्रोपमा तस्य गुणैः क्रियते ।  
स एव कात्स्न्येन गुणान्वितानां  
बभूव नृ (नृ) णामुपमानभूतः । [1] <sup>४</sup>

सारे संसार में ऐसा कोई भी नहीं, जिसके गुणों की तुलना उसके (चक्रपालित के) गुणों से की जाय । (परिणामतः) स्वयं वह ही गुणी व्यक्तियों के लिए उपमानस्वरूप था ।

१: का० प्र० १०।१७२

२: “ देवद्विजातिगुरुचरणप्रणामोद्घृष्टवज्रमणिकोटिरुविर-दीधिति-विराजित-मुकुटोद्भासित-श्री : ” — दद प्रज्ञान्तराग का दान-पत्र— प्र० ले० मा०, भाग २, संख्या ७६, पृ० ४३ (का० मा०)

३: का० प्र० १०।१७०

४. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, का० इ० इ०, भाग ३, पृष्ठ ६०, श्लोक १६

यहाँ प्रथम वाक्यार्थ, दूसरे का चेतु रूप से उपनिबद्ध है। मल्लिनाथ काव्यों के ऐसे स्थलों में काव्य-लिंग अलंकार ही मानते हैं। पद्य के प्रथमाद में उपमानलुप्ता उपमा का स्फुरण भी है। अतः समस्त कृन्द में उपमा-काव्यलिंगसंकर की स्पष्ट स्थिति है।

पर्यायोक्त— व्यंग्य अर्थ के उक्तिवैचित्र्य पूर्वक अभिधान में पर्यायोक्त अलंकार होता है।<sup>१</sup> मेकला के पाण्डववंशी वत्सेश्वर की प्रशंसापरक निम्नांकित श्लोक पर्यायोक्त अलंकार का उत्तम उदाहरण है —

‘ उस (जयबल) का पुत्र वत्सेश्वर राजा बना। युद्ध में विजयों को दृष्ट कराने वाले उस प्रख्यात, दयावान्, संयमी एवं विधिक्रियाओं के ज्ञाता ने शत्रुओं के गृह के समीपवर्ती उद्यानों को वन्यमृगों से आकीर्ण करवा दिया।’<sup>२</sup>

यहाँ उक्तिवैचित्र्य पूर्वक अभिधान — शत्रुओं के गृहोपवनों में जंगली मृगों का प्राबल्य उत्पन्न करना है। इससे यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि उसके शत्रुओं का पूर्णनाश हो गया था।

उदात्त— जहाँ किसी वस्तु की ऐश्वर्यशालिता का वर्णन अथवा वर्ण्यवस्तु के प्रसंग में ( उसकी विशेषता दिखाने के लिए आरूप है) महापुरुषों का वर्णन किया जाता है, वहाँ उदात्तालंकार होता है।<sup>३</sup>

समृद्धिमत्ता की दृष्टि से वत्सभट्ट का मालवदेश तथा दशपुरवर्णन, उदात्तालंकार के उदाहरण स्वरूप ग्राह्य हैं, भले ही उसमें मरकत मणियाँ अथवा चन्द्रकान्तमणियाँ से निकलने वाले जल का कल्पनाप्रसूत वर्णन न हो। ऐतिहासिक नगर दशपुर के प्रत्यक्षा वर्णन में इस तरह की काल्पनिक वस्तुओं के लिए स्थान भी नहीं था। वत्सभट्ट रचित वर्णन इस प्रकार है —

१: सा०६०, १०।६०

२. तस्याह्वाहृतजयः प्रथि[तो दया?]वां (वान्)

वत्सेश्वरः प्रशमितो गुणवान्विधिज्ञः [I]

पुत्रो(S)भवद्विपुग(गृ)होपवनानि येन

वन्यैमृगैः प्रचुरतामुपपादितानि । [I] — ब्रह्मनी शासन पत्र, २०६०,

भाग २७, पृ० १४०, श्लोक २

३. का०प्र०, १०।१७६—१७७

वह दशपुर मालवदेश का तिलकरूप है, (जो मालवा) मत हाथियों के गण्डप्रदेश से टपकते हुए मदजल से सिंचित चट्टानों वाले सहस्रों पर्वतों से विभूषित है। उसमें कतिपय स्थल पुष्पभार से नमित वृक्षासमूहों से अलंकृत हैं। जिस (मालव) के सरोवर वकसंकुल हैं। जब तीरस्थ वृक्षाओं से पुष्प गिरते हैं, तो उन सरोवरों का जल रंगीन हो उठता है (वैसे स्वयं में भी वे सरोवर) खिले हुए कमलों से शोभायमान हैं। कहीं, लोल-लहरों से कंपित कमलों से पराग के फड़ने के कारण इस पीतवर्ण हो जाते हैं, कहीं अपने पराग के पूरधार से नम्र कमलों से सरोवर शोभित हैं। (इस मालव देश में जैसे दशपुर नगर के) उपवन, अपने पुष्पभार से नम्र टीलों, मदमुखर अलि-वृन्दों के गुंजन से तथा अविरत संचार करती हुई पुरांगनाओं से अलंकृत हैं। (जिस दशपुर के भवन) फहराती हुई ध्वजाओं, कोमलांगनाओं और अत्यन्त श्वेत और अत्युच्च शिखरों से ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे विद्युत्लता की प्रभा से रंगीन शुभ्र मेघ - खण्ड हों। (जिस दशपुर के भवन) कैलासपर्वत के उत्तुंग शिखरों के समान दीर्घ कृज्जों और चबूतरों से शोभित हैं, जो भवन संगीत के आलापों, दीवारों पर उत्कीर्ण चित्रकर्मों तथा (कैलिवनों) के लहलहाते हुए कदलीद्रुमों से सजे हुए हैं।<sup>१</sup> आदि-आदि।

मालव देश प्राकृतिक सौन्दर्य तथा दशपुर नगर अपनी रूपसज्जा के कारण विशेष समृद्धिशाली चित्रित किए गए हैं। इसलिए विवेच्यमान विषय के स्वरूप और तद्गत कवि की स्वातंत्र्य-सीमा के दृष्टिकोण से यह सारावर्णन उदात्त ही गिना जायेगा।

वर्ण्यवस्तु की विशेषता दिखाने के लिए अंग रूप से महापुरुष या भगवान् के वर्णन का उदाहरण अधोलिखित है —

जिस शरत् काल में नीलोत्पलों से निकले हुए पराग से अरुण-जल (चारों ओर) फैला रहता है, बन्धूक और बाण के कुसुमों से काननों के छोर उज्ज्वल लगते हैं और जो शत्रु, भगवान् विष्णु की निद्रा समाप्ति का समय है।<sup>२</sup>

१. ५०--बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसार लेख, का०६०६०, भाग ३, पृ० ८१

श्लोक ६-११

२. नीलोत्पल प्रसृतोऽवरुणाम्बुकीणौ

बन्धूकबाणकुसुमोऽज्ज्वलकाननान्ते [१]

निद्राव्ययायसमये मधुसूदनस्य

यहाँ वर्य शरत्काल में भगवान् विष्णु की निन्द्राव्यय का पौरा-  
णिक प्रसंग अंगरूप से है, जो कि मुख्य विषय का विशेषाभाूत होने पर  
उसे और भी प्रभावोत्पादक बना देता है ।

अनुमान—न्यायदर्शन की ही भाँति काव्य में भी लिंग से लिंगी  
का ज्ञान अनुमान है ।<sup>१</sup> कार्य से कारण का ज्ञान करना भी इस अंकार का  
एक प्रकार है, जैसे उस बालुक्य (जयसिंह) का पुत्र रणाराग, दिव्यमहिमा-  
सम्पन्न और पृथ्वी का एकमात्र स्वामी था । निद्रा की स्थिति में (देवताओं  
से असामान्य पलक मूँदने पर), जिसके देवत्व का ज्ञान, संसार उसके शारी-  
रिक उत्कर्ष से ही करता था ।<sup>२</sup>

यहाँ, शारीरिक उत्कर्ष के द्वारा कारणाभाूत देवत्व के ज्ञान किए  
जाने से अनुमानालंकार है ।

परिकर—साभिप्राय विशेषणों के द्वारा जहाँ अर्थ प्रतिपादित  
किया जाता है, वहाँ परिकरालंकार होता है ।<sup>३</sup> जैसे संप्रान्तजनों के  
द्वारा उपभोग्य बहुत समय से उपहृत लक्ष्मी को इन्द्र के सुखनिमित्त, बलि  
से छीनने वाले, कमलनिवासिनी लक्ष्मी के चिरन्तन विश्राम स्थल , सब  
दुःखों को जीतने वाले अत्यन्त जिष्णु (जयशील) विष्णु की जय हो ।<sup>४</sup>

यहाँ लक्ष्मी को छीनकर वापिस लाने, लक्ष्मी के विश्रामस्थल बनने  
और दुःखों को जीतने के सन्दर्भ में भगवान् विष्णु का अत्यन्तजिष्णु  
विशेषण विशेष अभिप्राय-सम्पन्न है ।

१. लिंगाद्यल्लिंगिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते । सर०कण्ठा० ३।४७

२. तदात्मजो(ऽ) भूदणारागनामा दिव्यानुभावो जगदैकनाथः[।]  
अमानुषत्वं किल यस्य लोकस्सुप्तस्य जानाति वपुःप्रकर्षात्[।]

—रेहोल लेख, ई०, रेण्टि०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ६

३. का०पृ० १०।१८३

४. श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां

त्रिदशपति-सुखार्थं यो बलेराजहार ।

कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः

स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः ।। — स्कन्दगुप्त का

जुनागढ़ लेख, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० ५८-५९, श्लोक १

परिसंख्या—`स्थान विशेष पर किसी वस्तु की अनुपस्थिति बतला-  
कर दूसरे स्थान में उसी वस्तु की नियमित सत्ता जहाँ बताई जाती है, वहाँ  
परिसंख्यालंकार होता है ।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ कलचुरि कृष्णाराज की प्रशंसा-  
परक निम्नलिखितपंक्ति—

जिसका शस्त्र, दुःखी लोगों के दुःख निवारणार्थ और विग्रह केवल  
शत्रुओं के अभिमानभंगार्थ था । उसका ज्ञान विनय के लिए; विभवार्जन दान के  
लिए; दान, धर्म के हेतु और धर्म, निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए ही था ।<sup>२</sup> यहाँ  
शस्त्रों की सत्ता स्वीकार तो की गई है (किन्तु लोगों को दुःख देने के लिए  
नहीं, अपितु) उनकी पीड़ा हरने के लिए । यदि कृष्णाराज के जीवन में  
विग्रह (युद्ध) थे, तो (जन संभार या धन लूटने के लिए नहीं अपितु) शत्रुओं  
के मान मर्दन के लिए । इसी प्रकार उसकी विद्वत्ता (अभिमान करने लिए नहीं  
अपितु) विनय प्राप्त्यर्थ थी; इत्यादि ।

उल्लिखित उद्धरण में वस्तुओं की सत्ता के स्थाननिर्देश के साथ,  
अन्य स्थानों में उनकी अनुपस्थिति का स्पष्टीकरण भी किया गया है ।  
इसलिए यहाँ 'मम्मट' की तृतीय परिसंख्या अर्थात् 'अप्रश्नपूर्विकाव्यंग्यव्यव-  
च्छेदा परिसंख्या' है ।<sup>३</sup> 'अप्रश्नपूर्विका' कहलाए जाने का कारण यह है कि  
प्रथम दो परिसंख्याओं में प्रश्नों के साथ इस अलंकार की घटना होती है ।  
जैसे— 'सेव्य क्या है ? भागीरथी तट' या 'भूषण क्या है ? यश, न  
कि रत्न ।' इस द्वितीय प्रश्नपूर्विका—वाच्यव्यवच्छेदा' के ठीक विपरीत  
चाँची परिसंख्या होती है, जिसे 'अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेदा परिसंख्या'  
कहते हैं । इसमें किसी वस्तु की उपस्थिति के स्थान के साथ अनुपस्थिति  
स्थान भी वाच्य रहता है, उदाहरणार्थ—(तीवरदेव का पिता नन्नराज)  
असन्तुष्ट था तो धम्मार्जिन में, सम्पत्तिलाभ में नहीं; स्वल्प(न्यून) था तो  
क्रोध में, न कि प्रभाव में; यश में ही लोभी था, परिवित्तापहरण में नहीं ।

१. चन्द्रा० ५।६५

२. 'यस्य च शस्त्रमापन्नक्राणाय विग्रहः पराभिमानभंगाय शिञ्जितं विनयाय'  
— शंकरगण (कलचुरि) का आभोग शासन पत्र, का० ७० ई०, भा० ४

(१) पृ० ४१, पं० ८-६

३. द्र०— का० ५० १०। १८५ की व्याख्या

(यदि) आसक्त था तो मात्र सुभाषितों में, कामिनीक्रीडाओं में नहीं ।<sup>१</sup>

कारणमाला — जहाँ पूर्वपूर्ववर्ती अर्थ उत्तरोत्तरवर्ती अर्थ के लिए कारण रूप से वर्णित होता है, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है ।<sup>२</sup>  
जैसे — जिस (कलचुरि कृष्णाराज के लिए) विभवार्जन प्रदान के लिए, प्रदान धर्म के लिए, धर्म परमार्थ की प्राप्ति के लिए था ।<sup>३</sup>

यहाँ, पूर्वपूर्ववर्ती पद आने वाले पदों के प्रति कारण रूप से उप-निबद्ध होने के कारण, कारणमाला अलंकार ही मानना युक्तिसंगत है, परिसंख्या नहीं । ये पंक्तियाँ तृतीय प्रकार की परिसंख्या के पथ पर अवश्य चलीं, किन्तु इनमें उस अलंकार का उपेक्षात चमत्कार नहीं ।

सार — जहाँ किसी का उत्कर्ष वर्णन उत्तरोत्तर पराकाष्ठा तक पहुँचता हुआ दिखाया जाता है, वहाँ सारालंकार होता है,<sup>४</sup> उदाहरणार्थ—

चौलविषयस्य शैलो मौलिस्त्रियायं महामणिरिवास्य[१]

हरगृहमेतज्ज्योतिस्तदीयमिव शार्करं ज्योतिः ॥<sup>५</sup>

१. असन्तुष्टो धम्मार्जने न सम्पत्तामे स्वल्पः —

क्रोध (धे) न प्रभावे लुब्धो यशसि न परवित्तापहारे सक्तः सुभा-  
षित(तै)ष्णु न कामिनीक्रीडासु — तीवरदेव का बलौद शासन पत्र,  
ए०ई०, भाग ७, पृ० १०४, पं० १४-१६

२. का०पृ० १०।१८६

३. विभवार्जनं प्रदानाय प्रदानं धम्मयि धम्मश्चैयो(ऽ)वाप्तये — बुद्ध-  
राज का सरस्वती ताम्र शासन, ए०ई०, भाग ६, पृ० २६७, पं० ८ अथवा  
शंकरगुप्त का आभीष्ट शासन, का० इ० इ०, भाग ४ (१), पृ० ४१,  
पंक्ति ६-१०

४. का०पृ० १०।१६०

५. त्रिचनापल्लि का समीपवर्ती स्तम्भ लेख, सा० इ० इ०, भाग १, पृ० २६  
श्लोक ३



यद्यपि उत्प्रेक्षामूलक अभिव्यक्तीकरण के कारण उक्त पद्य आचार्यों द्वारा दिए गए सारालंकार के उदाहरणों से कुछ विचित्र सा है, किन्तु इसमें सारालंकार को मानना ही उचित प्रतीत होता है। उद्धरण में चोलविषय को एक शरीर मानकर पर्वत को उसका मौलि(उत्तमांग)निरूपित किया गया है। मौलि में जड़ित शिवमन्दिर, उस उत्तमांग में ग्रथित एक महामणि (मुख्यमणि) है। (मौलि के भी ऊपरी भाग में जड़े होने के कारण यह महामणि श्रेष्ठतर है।) उस महामणि में भी उसकी ज्योति जो कि स्वयं शांकर ज्योति ही है, श्रेष्ठतम और सारभूत है। यदि उत्प्रेक्षाबन्धन पर विशेष बल न दिया जाय तो यहाँ चोलविषय से लेकर ज्योति तक उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन ही प्रतिपादित हुआ है।

असंगति— भिन्न देश होने पर भी जहाँ कार्यकारणरूप से अवस्थित धर्म, अपने उत्कर्ष विशेष के कारण युगपत् अवस्थित प्रतीत होते हैं, वहाँ असंगति अलंकार होता है<sup>१</sup>; जैसे 'वह तपस्वी (रविवर्मन्) साम्राज्य में वर्तमान होने पर भी (स्वयं) मत्त नहीं होता। (अपितु इसकी) यह (राज्य)-श्री' अन्यों को ऐसा उन्मत्त करती है, जैसे उन्होंने अत्यधिक मदिरा पी हो।'<sup>२</sup>

श्रीसम्पन्न होने से मद-कारण-स्थान है रविवर्मन्, किन्तु उन्मत्त होते हैं, अन्यजन। स्पष्ट है, यहाँ कार्य और कारण अपनी एकत्र अवस्थिति का त्याग करते हुए प्रतीत हो रहे हैं।

विषम— तृतीय प्रकार के विषमालंकार का एक उदाहरण नीचे द्रष्टव्य है। विषमालंकार के इस प्रकार में कार्य के गुण, कारण के गुण से विषम पढ़ते हैं<sup>३</sup>—

उस वीतराग ने इस (संसार में) राजाओं को सकलंक कर दिया।<sup>४</sup>

१: का०प्र० १०।१६१

२: सामाज्ये वर्तमानोऽपि न म(ग)द्यति परन्तपः [I]

श्रीरेशा मदयत्यन्यानतिपीतेव वारुणी ॥ —कदम्ब रविवर्मन् का देवंगेरे शासन, ए०ई०, भाग ३३, पृ० ६०, श्लोक ६

३: का०प्र० १०।१६४

४: वीतरागेण तेनेह सकलंका नृपा कृता: [I] — भास्करवर्मन् का दुबि शास ए०ई०, भाग ३०, पृ० ३०१, श्लोक ४५

यहाँ कारण और कार्य के गुणविपर्यय होने से विषमालंकार है, भले ही कारणभूत वीतराग श्लेष समर्थित है ।

भ्रान्तिमान्—सादृश्य के कारण प्राकरणाक में अप्राकरणाक की प्रतीति ही भ्रान्तिमान् अलंकार है ।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ—

जिस (ईश्वरवर्मन् मोंखरी) के यज्ञों में शास्त्रानुकूल निरन्तर जलाए जाने वाले हव्यज्वाल से निकला हुआ अंजनश्याम धूम जब दिग्मण्डल में छा गया तब पागल और उद्वत चित्त वाला मयूरसमुदाय यह सोचकर वाचालता को प्राप्त हो गया कि वर्षाकाल में नवीन जलभार से भुका हुआ यह मेघ-समूह आ पहुँचा है ।<sup>२</sup>

यहाँ तुल्यदर्शन होने के कारण प्रस्तुत धूमराशि में अप्रस्तुत मेघावली की भ्रान्ति विवक्षित है, जिस भ्रान्ति के कारण उन्मत्त मयूर केकामुखर हो गए ।

उल्लिखित उद्धरण रविशान्ति विरचित हरह लेख से है । कवि रविशान्ति भ्रान्तिमान् अलंकार के प्रति विशेष प्रयत्नशील प्रतीत होता है । इसी अभिलेख में प्रायः समान भाव एक दूसरे छन्द में भी हैं । उसमें भी यज्ञ का धूमजाल, मेघाशंकि मयूरों को मुखर करता हुआ वर्णित हुआ है ।

सैंहपुर के यदुवंशी राजा यज्ञवर्मा की प्रशंसा में भी प्रायः समान भाव व्यक्त किए गए हैं :—

श्रीयज्ञवर्मनामा तदंगजोऽधून्महीपतिर्येन ।

यज्ञाज्यधूमजलदेनिर्यत्केकाः कृताः शिखिनः ॥<sup>४</sup>

१. का०पृ० १०।२००

२. यस्यैज्यास्वनिशं यथाविधि हुतज्योतिर्ज्वलज्जुन्मना धिमेनांजनभंगमेवक-  
रुचा दिक्चक्कवाले तते । आयाता नववारिभारविनमन्मेघावली प्रावि-  
ढित्युन्मादोद्धतचेतसः शिखिगणा वाचालतामाययुः ॥

—ईशानवर्मन् का हरह अभिलेख, हि० लि० इ०, पृ० १४३,

श्लोक १०

३. वही, पृ० १४२, श्लोक ७

४. जालंधर अथवा अधुना प्रचलित लाखामण्डल शिलालेख, ज०रा०२०२सौ, भा०२०  
पृ० ४५६, श्लोक १०

उल्लेख— ज्ञातृभेद या विषयभेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार का उल्लेख ही उल्लेखालंकार है ।<sup>१</sup> विषय-भेद-निबन्धन उल्लेख का एक उदाहरण कवि 'रविल' की अधोलिखित उक्ति द्रष्टव्य है —

‘ एक होने पर भी वह (दत्तभट) अनेकसम्भावित होता था, — अर्थजन उसे दान में कुबेर, विद्वज्जन बुद्धि में बृहस्पति, स्ति-में प्रमदार रति में उसे स्मर और शत्रुवर्ग युद्ध में वरुणा ( या यम) मानते ।’<sup>२</sup>

यहाँ प्रकृत (दत्तभट) का कुबेर बृहस्पति आदि रूपों में जो उल्लेख है उसके कारणाभूत उसकी दानवीरता विद्वता आदि धर्मों में भेद हैं । इसलिए यहाँ विषयभेद निबन्धन है । पृथक् पृथक् जनों के द्वारा उसे कुबेर, बृहस्पति आदि अनेकसम्भावित किया गया, इस कारण इस उल्लेख को उत्प्रेक्षा-योग-मूलक कहा जायेगा ।

विशेष— विशेषालंकार तीन प्रकार का होता है ।<sup>३</sup> इसके प्रथम प्रकार ( जिसमें बिना प्रसिद्ध आधार के, आधेय की अवस्थिति बताई जाती है ) का उदाहरण अधोलिखित श्लोकांश में द्रष्टव्य है—

‘ महावन में शान्त हुई दावाग्नि सदृश शत्रुओं को नष्ट करने वाले जिस ( दिवंगत चन्द्र ) के प्रयत्नों का स्मारक रूप प्रताप आज भी ( अर्थात् उसके दूसरी पृथ्वी में चले जाने पर भी ) गामाश्रितस्येतरां — श्लोक का प्रथम वरुण ) इस पृथ्वी को नहीं छोड़ता है ।’<sup>४</sup> यहाँ सम्राट् चन्द्र रूप आधार के बिना ही उसके आधेयभूत प्रताप की पृथ्वी में अवस्थिति का वर्णन होने से विशेषालंकार है ।

१. सा०द० १०।३७

२. दाने धनेशं धिष्यि वाचि चेशं

रतां स्मरं संयति पाशपाणिम् [१]

यमर्त्थिविद्वत्प्रमदारिवर्ग-

सम्भावयांचकुरनेकधैरम् [१]

— मा० संवत् ५२४ का मन्दसौर लेख, ए० इ०, भा० २७, पृ० १५,

श्लोक ६

३. का०प्र० १०।२०३

४. चन्द्र [ गुप्त द्वि० ] का मेहरौली लौहस्तम्भ लेख, का० इ० इ०, भाग ३

पृ० १४१, श्लोक २ शान्तस्येव महावने दुर्गभुजो यस्य प्रतापो महा-  
नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः।क्षितिम्

उल्लेख— ज्ञातृभेद या विषयभेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार का उल्लेख ही उल्लेखालंकार है ।<sup>१</sup> विषय-भेद-निबन्धन उल्लेख का एक उदाहरण कवि 'रविल' की अधोलिखित उक्ति द्रष्टव्य है —

‘ एक जाने पर भी वह (दत्तभट) अनेकधा सम्भावित होता था, — अर्थजन उसे दान में कुबेर, विद्वज्जन बुद्धि में बृहस्पति, स्ति-में प्रमदार रति में उसे स्मर और शत्रुवर्ग युद्ध में वरुणा ( या यम) मानते ।<sup>२</sup>

यहाँ प्रकृत (दत्तभट) का कुबेर बृहस्पति आदि रूपों में जो उल्लेख है उसके कारणभूत उसकी दानवीरता विद्वत्ता आदि धर्मों में भेद हैं । इसलिए यहाँ विषयभेद निबन्धन है । पृथक् पृथक् जनों के द्वारा उसे कुबेर, बृहस्पति आदि अनेकधा सम्भावित किया गया, इस कारण इस उल्लेख को उत्प्रेक्षा-योग-मूलक कहा जायेगा ।

विशेष— विशेषालंकार तीन प्रकार का होता है ।<sup>३</sup> इसके प्रथम प्रकार ( जिसमें बिना प्रसिद्ध आधार के, आधेय की अवस्थिति बताई जाती है) का उदाहरण अधोलिखित श्लोकांश में द्रष्टव्य है—

‘ महावन में शान्त हुई दावाग्नि सदृश शत्रुओं को नष्ट करने वाले जिस (दिवंगत चन्द्र) के प्रयत्नों का स्मारक रूप प्रताप आज भी (अर्थात् उसके दूसरी पृथ्वी में चले जाने पर भी) गामाश्रितस्येतरां — श्लोक का प्रथम चरण ) इस पृथ्वी को नहीं ढोहता है ।<sup>४</sup> यहाँ सम्राट् चन्द्र रूप आधार के बिना ही उसके आधेयभूत प्रताप की पृथ्वी में अवस्थिति का वर्णन होने से विशेषालंकार है ।

१. सा०द० १०।३७

२. दाने धनेशं धिषि वाचि चेशं  
रतां स्मरं संयति पाशपाणिम् [।]  
यमर्त्थिविद्वत्प्रमदारिवर्ग-  
सम्भावयांचक्कुरनेकधेकम् [।।]

— मा० संवत् ५२४ का मन्दसौर लेख, ए० इ०, भा० २७, पृ० १५,  
श्लोक ६

३. का०प्र० १०।२०३

४. चन्द्र [ गुप्त द्वि० ] का मेहरौली लौहस्तम्भ लेख, का० इ० इ०, भाग ३  
पृ० १४१, श्लोक २ शान्तस्येव महावने डुरभुजो यस्य प्रतापो महा-  
भ्राष्ट्राप्युत्सृजति प्रणाशितरिवोदमत्तस्य शेषः क्षितिम् [।।]

तद्गुण — जहाँ कोई वस्तु, अपने गुण का परित्याग कर (समीपस्थ) उत्कृष्ट गुणसम्पन्न वस्तु के गुण को ग्रहण करती हुई वर्णित होती है, वहाँ तद्गुण अंकार होता है ।<sup>१</sup> उदाहरण के लिए —

‘भगवान् शंकर के (शिरस्थ) रत्न से निकलती हुई, (उसके) कण्ठ की प्रभा से नीलत्व एवं (भुजगों की) फणामणिमणियों की किरणों से रक्तिम-वर्ण प्राप्त करती हुई, त्रिभुवनसरोवर में ( अपनी पावनता ) भरने वाली गंगा आप लोगों को पवित्र करे ।’<sup>२</sup>

यहाँ शुभसलिला गंगा समीपस्थ शिवकण्ठ से नील एवं फणामणियों के सम्पर्क से रक्तिम वर्ण ग्रहण करती हुई चित्रित हुई है । गंगा प्रकृत है और समीपस्थ शिवकण्ठ एवं फणामणिकिरण अप्रकृत । प्रकृत, अप्रकृतों की गुण-समृद्धि से अभिभूत हो गया है । सामान्य जीवन में श्वेतवर्ण, नीलवर्ण से उत्कृष्ट समझा जाता है, किन्तु यहाँ वह बात नहीं । महेश्वर के कण्ठ की नीलिमा , जिसके पीछे संसार कल्याण की एक गौरव-गाथा है, और जिसने परिणामतः (हालाहल पायी) शिव को ‘नीलकण्ठत्व’ तक प्रदान किया, गंगा के श्वेतवर्ण से कहीं ऊँचा है । इसी प्रकार रक्तिमा भी मणि-किरणसम्पन्ना होने के कारण गंगा के श्वेत वर्ण से श्रेष्ठ है, क्योंकि ये मणियाँ उन भुजगों की हैं, जिन्हें गंगा को शिरोधार्य करने से पहले, शिव द्वारा आभूषण बनाए जाने का गौरव प्राप्त हो चुका था ।

अंकारसंसृष्टि — अनेक अंकारों की परस्परनिरपेक्षता में भी, एकत्र स्थिति को अंकार संसृष्टि कहते हैं ।<sup>३</sup> शब्दांकारों की संसृष्टि जैसे ‘जात’ कवि रचित निम्नलिखित श्लोक में —

तस्माज्जज्ञे केशवः केशवेन

तुल्यो लोके ख्यातकीर्तिप्रदानः [१]

१. सा०६० १०।६०

२. .... नीलित्वं कण्ठधाम्ना फणामणिकिरणैः शोणितमानन्दधाना ।

नित्ययान्ती स्थाणुरत्ना त् त्रिभुवनसरोवरी वः पुनीतात् —

—सा०६०६०, भाग १, सं० २४, पृ० १२, श्लोक १; टि०—

— इस श्लोक के प्रथम एवं चतुर्थ चरण आंशिक खण्डित होने के कारण कोड़ दिए गए हैं ।

३. का०५० १०।२०७

आद्ये मार्गे स्थैयसीं स्थायिधर्मा  
मानोत्तुंगां सन्ततिं यस्ततान ॥<sup>१</sup>

इस कन्द में , यमक (केशवः केशवेन), ऐकानुप्रास( द्वितीय चरण के 'ले' वर्ण में ) तथा वृत्त्यनुप्रास (द्वितीय में और चतुर्थ चरण के 'ते' में ) परस्पर निरपेक्षा रूप से अवस्थित हैं ।

अर्थालंकारों की संसृष्टि— उस पुलकेशिन् (प्र०) का पुत्र कीर्तिवर्मा हुआ, जो नल, मौर्य एवं कदम्ब जातियों के लिए कालरात्रि था । परस्त्रियों से निवृत्त मनोवृत्ति होने पर भी उसकी बुद्धि शत्रुओं की राजलक्ष्मी में अनुरक्त थी ।<sup>२</sup>

यहाँ प्रथम श्लोकार्द्ध में रूपक एवं द्वितीय में विरोधालंकार है । दोनों अलंकार तटस्थ और एक साथ विद्यमान हैं ।

शब्दार्थालंकार संसृष्टि—

स जयति जगतां पतिः पिनाकी  
स्मितरवगीतिषु यस्मि दन्तकान्तिः ।  
द्युतिरिव तडितां निशि स्फुरन्ती  
तिरयति च स्फुरत्यत्यदश्च विश्वम् ॥<sup>३</sup>

'जगन्नाथ पिनाकी भगवान् शंकर की जय हो, मुस्कान, सम्भाषण और संगीत के समय जिनकी स्पष्ट दन्तच्छवि , रात्रि में विद्युद्दीप्ति के समान, इस संसार को तिरौहित और प्रकट करती रहती है ।'

इस पद्य में 'ज' 'ते' एवं 'प' का अनुप्रास एवं उपमालंकार, निरपेक्षा रूप से एक साथ अवस्थित हैं ।

अलंकार-संकर— जहाँ अनेक अलंकार स्वतंत्र रूप से स्थित न होने के कारण परस्पर अंग और अंगी रूप से वर्तमान रहते हैं, वहाँ अलंकार-संकर

१. स्वामिभट्ट का देवगढ़ पाषाण लेख, ए०ई०, भाग, १८, पृ० १२६-१२७  
श्लोक ३

२. नलमौर्यकदम्बकालरात्रिस्तनयस्तस्य बभूव(व)कीर्तिवर्मा [I]  
परदारनिवृत्तचित्तवृत्तेरपि धीर्यस्य रिपुश्रियानुकृष्टा ॥ —

रेहोललेख, ई०ए०ए०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ६

३. यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भ लेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० १५२-श्लोक १

होता है ( यह भी शब्दगत, अर्थगत एवं शब्दार्थगत होता है । ) अलंकार संकर के तीन प्रकार हैं: — आंगिभावसंकर, सन्देकरूप संकर तथा एकपद-प्रतिपाद्यरूप संकर ।<sup>१</sup>

आंगिभावसंकर—जैसे रविशान्ति रचित निम्नलिखित पद्य में ---

प्रविशती कालिमारुतघट्टिता द्वातिरलक्ष्यरसातलवारिधौ ।

गुण<sup>र</sup>शतैर्वबध्य समन्ततः स्फुटितनोरिव येन बलाद्रिध्र(द्धृ)ता ॥<sup>२</sup>

जिस (ईशानवर्मा मौखरी) ने, कलिमारुत का अपेड़ा लाने पर अलक्ष्य रसातल-सागर में डूबती हुई जीर्ण नौका के समान पृथ्वी का (अपने) सैकड़ों गुणों से चारों ओर से बाँध कर, बलात् उद्धार किया ।<sup>३</sup>

यहाँ शब्दार्थलंकार संकर है । 'कलिमारुत' और 'रसातल सागर' में रूपक, 'स्फुटितनोरिव' में उपमा तथा 'गुण' में श्लेष है । तीनों अलंकार स्वतंत्र रूप से चमत्कारक नहीं । तीनों को एक दूसरे की अपेक्षा है । परिणामतः परस्पर आंगिभाव सम्बन्ध से ही ये तीनों चमत्कार उत्पन्न करते हैं ।

श्लेष, उपमा और विरोध का संकर प्रकटादित्य की अधोलिखित प्रशंसा में देखा जा सकता है :—

श्रीमान् प्रकटादित्य द्विजवर-निकराश्रय ( राजा पक्षा में श्रेष्ठ ब्राह्मण समूह का आश्रयदाता, कल्पद्रुम के पक्षा में श्रेष्ठ पक्षियों को आश्रय देने वाला ) और बड़े हुए गुणों युक्त (कल्पद्रुम के पक्षा में त्वचा के भीतर से फूटकर निकले हुए बरगद के समान ढोरों वाला ) होने के कारण कल्पद्रुम के समान है, जो कल्पद्रुम ( अथवा राजा ) प्रकट-मूल (राजा पक्षा में—जनता का स्पष्ट आधार, वृक्षा पक्षा में जिसकी जड़ें बाहर निकली हुई हों ) होने पर भी अत्यन्त निष्कम्प (राजा पक्षा में कम्परहित, निडर, वृक्षा पक्षा में स्थिर) है ।<sup>३</sup>

१. का०पृ० १०।२०८—२११

२. ईशानवर्मन् का हरह लेख, हि०लि०इ०, पृ० १४३ श्लोक १५

३. श्रीमान् प्रकटादित्यो [द्वि]जवरनिकराश्रयप्रवृ(?)द(?)—गुणः।

कल्पद्रुम इव नितरां निष्कम्पः प्रकट-मूलोऽपि ॥

— प्रकटादित्य का सारनाथ शिलालेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २५, पंक्ति ६—७



रूपक एवं उपमा (केवल शब्दालंकार) का संकर पल्लव परमेश्वर-वर्मन् के युद्ध के वर्णन में द्रष्टव्य है — “ऊँचे-ऊँचे तुरंग रूपी तरंगों वाले, वेग से चलते हुए गजरूपी मकरों से उत्पन्न विषम आवर्तवाले, निरन्तर बजने या ऊपर निकलने वाले शंखों से मुँह-बुले समुद्र की भाँति (युद्धस्थल में.....)”<sup>१</sup>

अन्त में एकपदप्रतिपाद्यसंकर के भी उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं। इस संकर-प्रकार में एक समान पद में शब्द और अर्थ दोनों अलंकारों की युगपत् अवस्थिति देखी जाती है :—

—“अस्मादेव शशांकशुभ्रयशसः श्रीनन्नराजाख्यया”<sup>२</sup>

—(कवि सुमंगल )

यहाँ “शशांकशुभ्रयशसः” पद में उपमा तथा वृत्त्यनुप्रास (श में) की युगपत् अवस्थिति है। इसी तरह रूपक और अनुप्रास “रविःकदम्बोरन-कुलाम्बरस्य”<sup>३</sup> में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

१. तुंगतुरंगतरंगे प्रचरत्फरिमकरजनितविषमावत्तो (तेँ) [I]

अविरलमुदीण्णशंखे विजृम्भमाणो समुद्र इव [II] — कूरमशासन के दो पत्रों का संशोधित पाठ्य, २० ई०, भाग १७, पृ० ३४१, श्लोक १०

२. सेनखपाट प्रस्तरलेख, २०ई०भाग ३१, पृ० ३५, श्लोक ८

३. रविवर्मन् का अस्मपत्र, ई०ए०ए०, भाग ६, पृ० २६, श्लोक ३

कवि सर्वतंत्र स्वतंत्र होकर भी कुछ निश्चित पर्यादाओं में बंधा है। जहाँ वह इन पर्यादाओं का उत्सर्जन करता है, वहाँ उसके काव्य में कुछ त्रुटियाँ आनी स्वाभाविक ही हैं। ये त्रुटियाँ ही शास्त्र-निर्दिष्ट दोष हैं, जिनका न होना अच्छे काव्य की परिभाषा का एक अंग है,<sup>१</sup> क्योंकि दोष काव्य के रसादि रूप, मुख्य अर्थ के अपकर्षक होते हैं। फिर भी कविता के प्रवाह में प्रमाद भी स्वाभाविक है। इसलिए अपने काव्य को सर्वथा दोषमुक्त रखना किसी महाकवि के लिए भी सम्भव नहीं। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, श्री हर्ष आदि सभी के काव्यों में न्यूनधिक रूप में दोष प्राप्त होते हैं। फिर अभिलेखीय कवियों की तो परिस्थितियाँ ही भिन्न थीं। अधिकांश रूप में वे राजकीय कर्मचारी थे। उन राजकीय कर्मचारियों में भी बहुत से साहित्य से बिल्कुल भिन्न कार्य वाले विभागों में नियुक्त थे। उस समय की राजनैतिक परिस्थितियाँ भी अस्थिर और परिवर्तनशील थीं। अभिलेखीय कवियों को राजकीय कार्यव्यस्तता के कारण भी अपने काव्य को एक बार लिखने के बाद संवारने का अवसर नहीं मिला। कालिदास, भारवि, माघ आदि ने जब सर्वप्रथम अपने काव्य भूर्जपत्र या ताड़पत्रों पर लिखे होंगे, तो उन्होंने अपने जीवन काल में ही उन्हें अनेक-बार पढ़ कर संशोधित किया होगा, शब्द बदले होंगे और नए वाक्यों का विन्यास किया होगा। इस प्रकार उनके काव्यों का पर्याप्त परिष्कार उन्हीं के द्वारा हो गया होगा। कालान्तर में प्रतिलिपिकार-सुधियों ने भी, जैसा कि आधुनिक सम्पादन कला में देखा जाता है, अपने अनुसार उनके काव्यों में कुछ आपत्तिजनक शब्द या पंक्तियाँ परिवर्तित कर संशोधन किया होगा। पाठान्तरों का यही कारण है। जहाँ पाठान्तर कम प्राप्त होते हैं, वहाँ यह तर्क रखा जा सकता है कि संशोधित प्रतियाँ ही अधिक लोकप्रिय होती हैं इसलिए मूल कवियों द्वारा लिखित जीर्ण पाण्डुलिपियों को पाठकों ने सहज ही भुला दिया होगा। लेकिन ऐसा सौभाग्य अभिलेखीय कवियों के काव्यों को कहाँ मिलता। राजाज्ञा से एक निश्चित समय के भीतर लिखा गया काव्य या शासन तत्काल अन्य कर्मचारियों द्वारा टंक द्वारा धातु या शिलाखण्डों पर गहरा और स्थायी रूप से खोद दिया गया, जिसके कारण उनके काव्य के गुणों के साथ दोष भी स्थायी रूप से खुद गए, उनमें

परिवर्तन किए जाने की सम्भावना जाती रही । इन सब दृष्टियों से यदि अभिलेखीय साहित्य सदोष अधिक हो, तो हमें उनको न्याय दृष्टि से देखना चाहिए ।

प्रथम शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक की विराट् अधि के अन्तर्गत आने वाले लेखों में यदि दोष ढूंढे जाय, तो कदाचित् दोषों के सम्पूर्ण उदाहरण उन्हीं में मिल जायेंगे । लेकिन विस्तारभय के कारण यहां प्रमुख दोषों का ही विवेचन युक्तिसंगत होगा । वैसे अभिलेख-साहित्य भी एक सुन्दर कैलिवन है, भले ही उसमें कण्टकजाल भी प्रचुर मात्रा में हों । हमारा कर्तव्य कैलिवन का सौन्दर्य लेना है । कण्टकजाल के प्रति भी आँखें नहीं बन्द करनी हैं । हाँ कंटीली फाड़ियों के प्रति विशेष आग्रहशील न होकर विलम्बा निर्धारित क्रमेलकत्व की उपाधि से अपने का अवश्य बचाना है ।<sup>१</sup>

श्रुतिकटुत्वदोष —

वीरादि रसों के अभाव में काव्य में परुषवर्णना ही श्रुतिकटुत्व दोष है । अर्थ के दृष्टिकोण से उचित होने पर भी इसमें ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जो कानों को उद्देजकर लगते हैं, जैसे—

षष्ठ्या साक्षेः सगरात्मजानां  
 खात [ः] खतुल्यां रुचिमादधानः ।  
 आस्योदपानाधिपतेश्चराय  
 यशांसि पायात्पयसां विधाता ॥<sup>२</sup>

साठ हजार सगर पुत्रों के द्वारा खोदा गया, आकाश की (नीली) शोभा को धारण करने वाला समुद्र, बहुत समय तक ( निर्दोष ) नामक कूप के स्वामी के यश की रक्षा करे !

१. कणामृतं सूक्तिरसं विमुच्य  
 दोषो प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।  
 निरीक्षते कैलिवनं प्रविश्य  
 क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥

— विक्रमांक० १। २६

२. का० ७०६०, भाग ३, सं० ३५, श्लोक ४

‘षट्पा’ ‘सातः’ एवं ‘सतुल्य’ शब्दों में दुःश्रवत्व है । अतः यहाँ वाक्यगत श्रुतिकटु दोष है । कुब्ज कवि के कदम्बकुलवर्णन सम्बन्धी निम्न-लिखित पंक्ति में आए ‘त्र्यार्षवर्त्म’ पद में भी यही दोष है :—

त्र्यार्षवर्त्म चारितीपुत्रमृषिमुख्य मानव्य गोत्रजम् ।।<sup>१</sup>

अप्रयुक्तत्व—

जब कोई शब्द नियमानुकूल व्याकरण एवं कोशग्रन्थों से समर्थित होने पर भी परम्परागत रूप से प्रयुक्त न हो, तो उस शब्द के प्रयोग में पदगत अप्रयुक्तत्वदोष होता है । जैसे ‘पद्म’ शब्द का प्रयोग केवल नपुंसक लिंग में ही किया जाता है, भले ही कोशों में उसे पुल्लिंग एवं नपुंसकलिंग—दोनों लिंगों में स्वीकार किया गया हो, जैसे कि अमरकोश में लिखा है—  
‘वा पुंसि पद्मं नलिन-परविन्दं मञ्जोत्पलम्’ ।<sup>२</sup> इस दृष्टि से ‘छोटी साद्री’ लेख के रचयिता भ्रमरसौम ने ‘वक्त्रपद्मान्’<sup>३</sup> लिखकर परम्परा की उपेक्षा की है । अतः इस उद्धरण में पदगत अप्रयुक्त दोष है ।

निरर्थकत्व—

जब छन्दों में ‘च’ ‘हि’ ‘तु’ ‘सु’ आदि का प्रयोग केवल पादपूर्ति के लिए ही किया जाता है, तब यह दोष होता है । ‘सु’ का प्रयोग ‘सुष्ठु’ अथवा सुन्दर के लिए किया जाता है, लेकिन कतिपय स्थलों में इसके बिल्कुल निरर्थक प्रयोग भी मिल जाते हैं, जैसे—

..... आह्व-गजेन्द्र-स (सु) दम्पहर्ता ~ ४

वर्ण्यमान नृपति युद्धों में ( आर शत्रुओं के ) गजराजों के दर्प

१. शान्तिवर्मन् का तालगुण्डलेख, ए० क० १०, भाग ७, पाठ्य पृ० २००

श्लोक ४.

२. अमर०, १।१०।३६

३. गौरी का छोटी साद्रीलेख, ए० ६०, भाग ३०, पृष्ठ १२५, श्लोक १०.

४. ए० ६०, भाग ३०, पृ० १२५, श्लोक ६

को करने वाला था । यहाँ 'दर्प' के पूर्व 'सु' का कोई प्रयोजन नहीं । इसका प्रयोग कवि ने केवल पादपूर्ति के लिए ही किया । 'सु' का अर्थ 'बड़ा' भी ले लिया जाय, तब भी कोई संगत-अर्थ नहीं निकलता । इसलिए यहाँ इसके प्रयोग में निरर्थक दोष है । 'सुकांतिके बाहुल्यदिने ( 5 ) -थ पंचमे' १ में तो 'सु' का प्रयोग अर्थसंगत है क्योंकि कवि की आँखों के सामने रमणीय शारदी दृश्य थे ।

पादपूर्तिजन्य 'च' की निरर्थकता का उदाहरण सुमंगल कवि रचित शिवगुप्त बालार्जुनकालीन सेनखपाट लेख में द्रष्टव्य है —

आयुर्व्यायुविलोलं नि ( १ ) वृत्तिधनं चात्रवु ( बुद्धच )

—वु ( बु ) द्विजनैः ।

अशुभच्छिच्छुभमीदृक्कालं पात्यं च कृतमपरैः [ १ ] २

'आयु' तो वायु के समान चंचल है और निर्वृत्ति धन ( के पार-लौकिक महत्त्व ) को समझ बूझ कर बुद्धिमान् लोगों को दूसरों के अशुभकर्मवि-घातक ऐसे ( मन्दिर जीर्णोद्धार सम्बन्धी ) कार्यों की रक्षा करनी चाहिए । यहाँ श्लोकार्द्ध का प्रथम 'च' तो सार्थक है, लेकिन द्वितीयार्द्ध में आया 'च' निरर्थक है ।

अश्लीलत्व —

अपनी अर्थबोधता के अतिरिक्त व्रीडा, जुगुप्सा एवं अमंगल भाव-व्यंजक पद में पदगत अश्लीलत्व दोष होता है, जैसे —

[ जयति श्री लो ] कनाथः ( थो )

यः पुसां सुकृतकर्मफलहेतुः [ १ ]

सत्यतपोमय-मूर्तिर्लोकद्वय-साधनो धर्मः [ २ ] ३

यहाँ 'साधन' शब्द पुरुषोन्दित्र्य के लज्जास्पद अर्थ का भी अभिव्यंजक होने के कारण अश्लील शब्द है । ( लोकनाथ, 'पुसा', आदि

१. उदयगिरि गुहालेख—का०इ०इ०, भाग ३, सं० ६१, श्लोक २

२. इ०इ०, भाग ३१, पृ० ३६, श्लोक, २७

३. मल्लसारुल ताम्रपत्र—पृ० ३६०, श्लोक १ ( सि०इ०, भाग १ )

शब्दों का सान्निध्य उसको और भी लज्जास्पद बना रहा है । )

जुगुप्साव्यंजक पद 'वायु' आदि शब्द हैं । 'वायु' शब्द चाहे पवन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता हो, उससे 'अमानवायु' की सज्ज प्रतीत होती है, जैसे, सुमंगल कवि विरचित 'आयुष्वायुविलोम'—<sup>१</sup> आदि उपर्युक्त श्लोक में 'वायु' शब्द घृणासूचक है ।

अमंगल सूचक अश्लीलत्वं का सुन्दर दृष्टान्त निम्नांकित श्लोकाद्ध में प्रयुक्त 'समाप्ति' शब्द है :—

यौ श्रेष्ठित्वं सर्वसत्त्वा (त्त्वा)नुकम्पां  
सम्यक्कुर्वाणां नीतवन्तां समाप्तिं (प्तिम्) ॥<sup>२</sup>

'मण्डन तथा गर्ग नामक श्रेष्ठियों (सेठों) ने प्रभूत धन उपार्जित कर अपने श्रेष्ठित्व को सम्यक् रास्ते पर लगाकर, उसे सभी प्राणियों के ऊपर दया करने वाली समाप्ति (सम् + आप्ति = पूर्णता) तक पहुँचाया ।' सामान्य व्यवहार में 'नाश' के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ 'समाप्ति' अमंगल-सूचक है ।

संदिग्ध—

दो या अधिक अर्थों के उपस्थापक पद या वाक्य में संदिग्ध दोष होता है । इस दोष के कारण तात्पर्यभूत अर्थ के निराकरण में सन्देह बना रहता है ।

मालव संवत् ५२४ के मन्दसौर लेख में 'दत्तभट' की प्रशंसा में रविल कवि कहता है कि 'उस अकेले व्यक्ति को अथीजन, दान में कुबेर के समान, विद्वान्, बुद्धि में वृक्षस्पति के समान, प्रमदास', रति में कामदेव की भाँति, शत्रुगण युद्ध में वरुणा (यम-यम) के समान—(आदि) अनेक प्रकार से सम्भावित करते थे —

१. सेनखपाट लेख, २०ई०, भाग ३१, पृ० ३६, श्लोक २७

२. सक्राई शिलालेख, २०ई०, भाग २७, पृ० ३२, श्लोक ७

दाने धनेशं धियि वाचि चेशं

रतां स्मरं संयति पाशपाणिम् [१] इत्यादि ।<sup>१</sup>

यहाँ 'धियि वाचि चेशं' में भी संदिग्ध दोष है । कवि का विवक्षित अर्थ था— वह दत्तभट धियि ( बुद्धि में ) वाचि ईश = वागीश (वाचस्पति = बृहस्पति) था, लेकिन यहाँ 'धियि' (बुद्धि में) एवं 'वाचि' (वाणी में) ईश ( शिव ) —यह अर्थ भी इसी वाक्यांश से प्रकट हो रहा है ।

विरुद्धमतिकृत—

वर्णित विषय के विरुद्ध प्रतीति कराने वाला दोष 'विरुद्धमतिकृत' है, जैसे दामोदर कवि का निम्नांकित श्लोक —

स्पृष्टा वक्षसि लीलया करुणहं [ः] काचित्कचाकर्षणा—

दन्या कामपरेण पादपतनेः कण्ठगृहेणापरा ।

धन्यास्ताः भुवने सुरेन्द्र-तनवो या प्रापिता निर्वृतिं

स्पृत्वोत्थं स्पृह्यन्ति गोपवनिता यस्मै स पायाद्वरिः :<sup>२</sup>

‘ खेल ही खेल में किसी के वक्षस्थल छू लिए जाने पर, किसी के बाल खींचे जाने पर, कामाभिभूत होकर किसी के चरणों में गिरने से और अन्य किसी के कण्ठगृह (आलिंगन) किए जाने पर, इस संसार में स्वर्ग की वे रमणियां धन्य हैं, जो परमानन्द को प्राप्त होती हैं — ऐसा सोचने पर गोपवनितारं जिसकी स्पृहा करती हैं, वे हरि ( सबकी ) रक्षा करें ।’

यहाँ 'कचाकर्षणा' एवं कण्ठगृह', दो विरुद्धमतिकृत पद हैं । प्रेम में बाल खींचने के प्रकृत अर्थ की अपेक्षा यहाँ भगड़े में या कोप में बाल खींचने की प्रतीति हो रही है । इसी प्रकार कण्ठगृह, शब्द आलिंगन की अपेक्षा गलघंटी देने के अर्थ में, विरुद्धमति उत्पन्न कर रहा है ।

विसन्धित्व—

विसन्धित्व का अभिप्राय है सन्ध्यभावजन्य बन्ध-शैथिल्य से ।

१. ए०ई०, भाग २७, पृ० १५, श्लो० ६

२. अपराजित का उदयपुर लेख, ए०ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक १.



अभिलेखों में इस दोष के उदाहरण प्रायः मिलते हैं । प्रमरसेन-रचित कौटी सान्नी लेख<sup>१</sup> में इसके एक-दो उदाहरण दृष्टव्य हैं —

त (त) स्यैव आञ्च गजेन्द्र-स (सु)दर्पवर्त्ता ।<sup>२</sup>

यहाँ 'तस्यैव' और 'आञ्च' में कवि का ऐच्छिक और आनु-शासनिक विशेषरूप विसन्धि है, जोकि काव्यप्रेमियों को बहुत ही अक्षरती है । इसी लेख का एक अन्य उदाहरण —

तत्सर्व्वं मम अज्ञायं भवतु नः

मातापित्रि (तृ)भ्यामिदं (दम्)<sup>३</sup>

भले ही 'मम' और 'अज्ञायं' में सन्धि कवि ने हृन्दोयोजना की आवश्यकता की दृष्टि से न की हो, उसकी कृति को बन्धशैथिल्य का दोष तो सङ्गना ही पड़ेगा, क्योंकि स्वेच्छा से एक बार भी सन्धिता का उल्लंघन दोष माना गया है ।<sup>४</sup>

हतवृत्तता —

मात्रा अथवा गण-व्यवस्था के अनुसार ठीक होने पर भी हृन्दों में यतिभंग आदि के कारण हतवृत्तता दोष होता है । वत्सभट्टविरचित मन्द-सौर लेख में इसका उदाहरण देखिए —

स्मरवशतरुणाजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु — ।

स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भर्त्सिततुङ्गिनिर्मपाते ॥<sup>५</sup>

आयाँ हृन्द के प्रथम एवं तृतीय पाद में बारह मात्राएं होती हैं । मध्यगत यतियों के स्थल भी ये ही पादान्त हैं । उक्त उदाहरण में 'स्मरव-शतरुणाजनवल्' तक बारह मात्राएं हैं । परन्तु 'बल्' कोई स्वतंत्र शब्द नहीं । इसमें 'वल्लभ' शब्द के अस्वतंत्र खण्ड हैं । फलतः यहाँ यति का अथवा प्रथम

१: ए०६०, भाग ३०, पाठ्य पृ० १२४—१२६

२: वही, श्लोक ६

३: वही, श्लोक १२

४: द्र० — 'संघितां न करोमीति स्वच्छया सकृदपि दोषः प्रगृह्यादिहेतुकत्वे कृत् ।', का०प्र०, सप्तम उल्लास, पृ० २१३

५: का०६०६०, भाग ३, पृ० ८३, श्लोक ३३

पाद का भी विराम मिलता नहीं । अतः यहाँ अव्यताप प्रवृत्तता स्पष्ट है ।

इसी लेख के ३६ वें श्लोक में भी यही दोष है । संयोग से यह भी आयाँ की है —

वत्सरशतैषु पंचसु विंशत्यधिकैषु नवसु चाब्देषु ।  
यातेष्वभिरम्य [तप]स्य मास-शुक्ल द्वितीयायां ॥

इस आयाँ के तृतीय चरण की चारह मात्राएं 'तप'स्थ' शब्द के 'तपस्' तक बनती हैं, किन्तु शब्द तो 'तपस्य' है, 'तपस्' नहीं । अतः 'तपस्' के उच्चारण के बाद की अपेक्षित यति की धाह लेने में शब्द की सत्ता पर आंच आ जाती है ।

न्यूनपदत्व —

जहाँ वाक्य में किसी अभिप्रेत अर्थ के वाचक आवश्यक पद का प्रयोग नहीं मिलता, वहाँ न्यूनपदत्व दोष होता है । दामोदरकवि रचित उदयपुर लेख के निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट रूप से यह दोष है —

सूचीर्व्विस्फोटयन्तः स्फुटितपुटरजोधूसराः कैतकीना-  
माधुन्वन्तः कलापान्मदकलवचसां नृत्यतां बर्हिणानाम्(म्) [ः]  
मेघालीर्व्विजिपन्तः सलिलकणभृतो वायवःप्रावृषण्य  
वान्त्युर्ज्वर्यत्र तस्मिन्पुरा (र)नरकरिपोर्मन्दिरं  
—संनिविष्टम् ॥ १

मूर्तिस्थापना सञ्चित नरक-रिपु विष्णु का मन्दिर उसमें (तस्मिन्) निर्मित हुआ, जिसमें (जिस ऋतु में) जलकणवादी बरसाती पवन, जलधर-परम्परा को क्षिन्न-भिन्न करते हुए, मदभरी मृदु कैकावाले नृत्यनिरत मयूरों के पंखों को धुनते हुए तथा प्रकट-पराग पुट-कैतकीपादपों की सूचियों को चटकाते हुए बड़े बैग से बहते हैं । 'यहाँ' तस्मिन् के साथ 'काले' या 'समये' शब्द के प्रयोग के अभाव में न्यूनपदत्व दोष है, अथवा 'प्रावृषण्य' के प्रयोग से

१: ए०ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ६

२. प्रावृषण्यः पुमान्:नीपे प्रावृट्कालकालभवे त्रिषु ।

(वर्षा) काल का बोध हो जाने पर यदि यह मान लिया जाय कि 'तस्मिन्' का विशेष कोई कालवाचक शब्द नहीं, अपितु स्थानवाचक शब्द होगा (जिस स्थान या प्रदेश में उक्त विष्णु मंदिर बनाया गया और जहाँ पावस, इतने सुन्दर दृश्य उपस्थित करता है) फिर भी यहाँ स्थान विशेष का उल्लेख न किए जाने से उक्त दोष बना ही रहता है।

पुनरुक्तत्व —

शब्दतः प्रतिपादित अर्थ के, पुनः शब्दतः प्रतिपादन रूप दोष को पुनरुक्तत्व कहते हैं। एक, श्लोद्भव लेख से इसका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

..... भगवत्स्थित्युत्पत्तिप्रलयसृष्टि - संहृकार(संकार)कारणस्य  
नृ (त्रि)भुवनगुरोःपादभक्तः १

यहाँ 'सृष्टि' और 'संकार' शब्द पूर्वोक्त 'उत्पत्ति' एवं 'प्रलय' के ही पर्यायवाची हैं। इसलिए यहाँ पुनरुक्तत्व दोष है।

इसी प्रकार 'कूरम' पल्लव दानलेख के तृतीय श्लोक में जो भाव है, वे ही भाव कतिपय उन्हीं शब्दों के साथ चतुर्थ श्लोक में भी दुहराए गए हैं। तृतीय श्लोक में कवि पल्लव वंश की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि 'जिसमें (पल्लव वंश में) हम ऐसा कोई राजा उत्पन्न हुआ नहीं सुनते हैं, जो धार्मिक न हो, जिसने सोमयाग न किया हो, जिसने अन्यायपूर्ण युद्ध का ढण्ड उठाया हो, जो मिथ्या संयमी हो, जो दानवीर न हो, या जिसने उदारता के लिए ही वीरकृत्य न किया हो, जिसका मिथ्यावादिता-जन्य-कुटिलमुख हो, जो युद्ध में अधीर हो गया हो— ऐसा निर्विघ्न एवं संकटहीन पल्लववंश पृथ्वी का शासन करे :—

अब्रह्मयमसौमयागमयथाप्रस्थानदण्डोद्यमम्

मिथ्यादान्तमदानशूरमनृतव्याहारजिह्माननम् [1]

जातं यत्र नरेश्वरन्न नृ (शृ)णुमोयुद्धेषु वा विक्ल [वम्]

निर्विघ्नः (घ्नं) पृथिवीन्निरीतिमवतान्तत्पल्लवानां कुलम्॥

१. शशांक राजकालीन सैन्यभीत माधवराज (दि०) का गंजाम लेख— ए० ई० भाग ६,

पृ० १४५, पं० १६-१७

२. कूरमशासनपत्र, सा० ई० ७५०, भाग १, पृ० १४८, श्लोक ३.

शार्दूलविक्रीडित के बड़े कलेवर में आने वाले कतिपय समान भाव एवं शब्द संक्षेप में अधोलिखित अनुष्टुप् छन्द में द्रष्टव्य हैं —

स्थेयातत्पल्लवकुलम् (लं) यत्र जातञ्जनेश्वरः (रम्) [१]

असृणुयम् (म) दातारम् (म) शूरान्ानुशुभम् [१] १

विद्याविरुद्धत्व —

शास्त्रों से असम्मत अथवा शास्त्रों के विरुद्ध अर्थ का उपनिबन्धन विद्याविरुद्धत्व दोष है ।

पांचमुख वाले होने के कारण शिव को पंचानन, पंचमुख या पंचास्य कहा जाता है । चतुरानन शब्द केवल ब्रह्मा के लए ही सुरक्षित है, परन्तु कवि भट्टशर्वांगुप्त ने शिव को 'वक्त्रचतुष्टय' से हंसते हुए दिखाकर अपने अधोलिखित श्लोक में विद्याविरुद्धत्व दोष को ही निमन्त्रण दिया —

संध्या वासरकामिनी तृ (त्रि)पथगा पत्नी तथाम्भोनिधे-

स्तत्सक्तो न विभेष्यधादपि कथं निर्दग्धकामव्रतिन् ।

इत्थं वाक्य-परम्पराविगर्ह (गह)णोक्तो भवान्या भवो

भूयाद् वक्त्र(त्र)चतुष्टयेन विस्सनुच्चैश्चिरं वः श्रिये ॥ २

‘सन्ध्या, सूर्य की कामिनी है, इसी भाँति गंगा सागर की प्रेयसी है । हे कामदेव को दग्ध करने वाले व्रती ! इन परपत्नियों पर आसक्त होकर तुम पाप से क्यों नहीं डरते हो ?’ — इस प्रकार वाक्य परम्परा से पार्वती के उपालम्भों के कारण चार मुखों से ठहाका मारकर हंसने वाले शिव आप लोगों को समृद्धि प्रदान करें !’

यहाँ<sup>यहाँ</sup> तर्क भी युक्तियुक्त नहीं कि शिव के केवल चार मुख ही हंसते रहे हों और एक मुख चुप रहा हो । यदि अर्द्धनारीश्वर की संयुक्त-स्थिति में पांचवां मुख पार्वती का ही माना जाय, तो सारे श्लोक की अर्थसंगति ही बिगड़ जायेगी, क्योंकि संयुक्तस्थिति की जकड़न में न शिव को परस्त्रीगमन की कूट

१. कूरमशासनपत्र, सा० ई० ७०, भाग १, पृ० १४८, श्लोक ४

२. दुर्गणकालीन भालरापाठन लेख, इ० ऐ० टी०, भाग ५, पृ० १८१  
श्लोक २.

मिलेगी और न (परिणामतः) पार्वती को सतद्विषयक उपालम्भ देने का अवसर भी प्राप्त होगा ।

अन्यसंगतदोष —

कतिपय आचार्यों ने इस दोष को अविमृष्टविधेयांश के अन्तर्गत माना है । फिर भी कुछ काव्यशास्त्रियों ने इसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है । वैसे यह दोष भी समासजन्य ही है ।

जहाँ अभिप्रेत अर्थ का किसी अन्य के साथ सम्बन्ध दिखाई देता है, वहाँ यह दोष होता है ।<sup>१</sup> जैसे: —

‘लङ्गधारानिश्चिन्ननिश्चेषप्रतिवृत्तिरिपुव (ब)लो — ’<sup>२</sup>

यहाँ ‘निश्चित’ शब्द लङ्गधारा का विशेषण होने के कारण उससे पहले आना चाहिए था । इसी तरह ‘निश्चेष’ रिपुवले का विशेषण है, न कि ‘प्रतिवृत्ति’ का । परन्तु ‘प्रतिवृत्ति’ के ठीक पूर्व होने के कारण वह अपने विशेष्य से संगत न होकर ‘प्रतिवृत्ति’ पद से संगत हो गया है । इसलिए इन दोनों स्थलों में अन्यसंगत दोष है ।

नरवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख की ‘चतुस्समुद्रपर्यङ्ककतोयनिद्रालवे नमः’<sup>३</sup> पंक्ति में यह दोष है । इसमें ‘पर्यङ्क’ शब्द ‘तोय’ के पीछे आना चाहिए था, अन्यथा ‘पानी के पर्यङ्क’ की अपेक्षा ‘पर्यङ्क के पानी’ का अर्थ निकल रहा है ।

-----

१. ‘अभिमतार्थस्यान्यविशेषणात्त्वप्रत्यायकत्वमन्यसंगतत्वम् —’, चन्द्रा०, पृ० ३६, व्याख्या.

२. सैन्यभीतमाधवराज (द्वि०) का गंजाम लेख—ए०ई०, भाग ६, पृ० १४५, पं० ११-१२

३. नरवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख—ए०ई०, भाग १२, पृ० ३२०, श्लोक १

### अभिलेखों में प्रकृति-चित्रण

मानव का आदिकाल से ही चिरसहचरी-प्रकृति के प्रति रागात्मक सम्बन्ध रहा है। इसीलिए प्रकृति के उपादान रम्य हों या रौद्र अथवा युगपत् भीषणरमणीय, मानव के स्नेहतरलहृदय में कुतूहल की लहरें उठाने का सामर्थ्य सुरक्षित रखे हैं। सांख्य यद्यपि दर्शन है, लेकिन उसकी दार्शनिक प्रकृति भी चिर पंगु पुरुष में गतिमयता भरने के लिए अपने को प्रकाशित करती है। वैसे भी सौन्दर्य का अनुसंधान करना मानव की जन्मसिद्ध प्रवृत्ति है। तभी तो मर्कटि कण्व के आश्रय में शकुन्तला अपने फूलों के नवकुसुमप्रसूति-समय उत्सव मनाती थी और सौन्दर्य को यथास्थान बनाए रखने या शीघ्र नष्ट न करने के लोभ से वह स्वयं प्रियमण्डना भी स्नेह के कारण पल्लव नहीं तोड़ती थी।<sup>१</sup> यह सौन्दर्य का बोध ही मानव को अन्य प्राणियों से पृथक् करता है। प्रत्यक्षा इस सौन्दर्य को पाकर वह नेत्रलाभ समझता है। नेत्रलाभ की पृष्ठभूमि में मनुष्य का कुतूहलप्रधान हृदय ही है। जिसके बिना, प्रकृति के प्रांगण में विचरण करने वाले पशु-पक्षी देखते हुए रहने पर भी, दर्शकों की श्रेणी में नहीं आते, क्योंकि वे हृदय रखने पर भी सहृदय नहीं। इसीलिए इन कल्पनाविहीन प्राणियों के अन्तःकरण पर दृश्य का चित्रमय प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। मानव को हृदय और कल्पना का वरदान मिला है। उसके मन में प्रकृति के उपादानों के प्रति सज्ज रतिभाव है दूसरे शब्दों में प्रकृति के उपादान मानव के रतिभाव के आलम्बन हैं। यह रतिभाव वस्तुगत सौन्दर्य अथवा मानव का उन वस्तुओं के साथ चिर-साहचर्य के कारण होता है।

विभाव दो प्रकार का होता है — आलम्बन और उद्दीपन। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र आलम्बन के अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे श्रोता या पाठकों के भावों के आधार बनते हैं, जैसे कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में हिमालय वर्णन। उद्दीपन में नायक-नायिकाओं के मनोभावों को ही प्रमुखता दी जाती है और प्रकृति वर्णन गौण-सा रहता है। इसमें प्रकृति को उनकी मनोदशाओं को उद्दीप्त करने का माध्यम मात्र बनी रहती है। अतः उद्दीपन रूप

प्रकृति अनुकूल स्थिति में अनुकूल भावों को और विपरीत परिस्थिति में विपरीत भावों को उद्दीप्त करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन विभावों के वर्णन परिमाण के विषय में कहते हैं कि 'उद्दीपन होने के लिए रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश क्या संकेत मात्र यथेष्ट है, किन्तु आलम्बन-मन्त्र होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।' <sup>१</sup>

सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पेड़-पौधे, लता-वीरुध, पशुपक्षी, दिशारं, ज्वालामुखी, पर्वत, समुद्र, सायंप्रातः और अस्तु सभी प्रकृति के उपादान हैं और काव्य के उभयात्मक वर्णविषय। इनकी भौतिक उपादेयता विज्ञान का विषय है, काव्य का नहीं। काव्य में प्रकृति के इन्हीं उपादानों का कभी आलम्बनात्मक या कभी उद्दीपनात्मक वर्णन होता है। आलम्बनात्मक वर्णन भी कभी तटस्थ व्यंग्यरेखाएँ वर्णन शैली पर अथवा कभी मानवीकरण या समासोक्तिपरक शैली पर होता है। मेघदूत में तो कालिदास ने कामार्त्त यज्ञ के द्वारा मेघ को सदैववाहक बनाकर प्रकृति के उपादानों का द्रुतत्वादिरूपों में चित्रित करने का प्रयोग भी कर दिया।

### प्रकृति-चित्रण की परम्परा—

ऋग्वेद से ही इस नैसर्गिक-सुषमा-सम्पन्न भारतभूमि की प्रकृति के प्रति भारतीय काव्यस्रष्टाओं की आग्रहशीलता रही है। स्वर्ग की दुहिता ऊष्मा का रथ में बैठकर भुवनों में घूमने का जो चित्रण ऋग्वेद में हुआ है, <sup>२</sup> वह भव्य समासोक्तिपरक वर्णन है। ऋग्वेद के प्रकृति-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता है—प्रकृति के उपादानों का मानवीकरण। इसीलिए मरुत् (१।८५), सूर्य (७।६३) आदि, देवताओं के रूप में चित्रित हुए हैं। ऋग्वेदिक कवि प्रकृति के केवल अकलुष सौन्दर्य से ही मुग्ध नहीं थे, वे उसके भीषण दृश्यों से आतंकित भी थे। इन्द्र सूक्त में झिलती हुई पृथ्वी और कम्पित पर्वतों के संश्लिष्ट चित्र <sup>३</sup> या पर्जन्य सूक्त में वृक्षा उखाड़ने और सिंह-गर्जन करने वाले बादलों के वर्णन <sup>४</sup> प्रकृति के भीषण कृत्यों के काव्यात्मक

१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २५

२. ऋ०, अ० ४।५१

३. ऋ०, अ० २।१२-२

४. वही, ५।८३-२



उद्घाटन हैं। वर्णन-विस्तार के कारण वे बादल हमारे स्थायी भाव 'भय' के आलम्बनभूत हैं।

रामायण महाभारत में भी प्रकृतिवर्णन आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में हुआ है। रामायण में चित्रकूट के विविध-वृक्षाँ और निर्भरों के वर्णन<sup>१</sup> अथवा 'शशांकीदितसाम्यवक्त्रा' 'तारागणान्मीलित-नेत्रा' शरदु यामिनी के चित्रण<sup>२</sup> प्रकृति के आलम्बनात्मक वर्णन हैं। जहाँ वन्यवृक्षा अपने विविध पुष्पों और रमणीय पत्तों से विरहव्याकुल राम को प्रसन्न करने की अपेक्षा उन्मादित करते हैं, वहाँ आदि-कवि ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया।<sup>३</sup> वस्तुतः रामायण की प्रकृति मानव के कार्य-व्यापारों से पूर्ण सम्बेदना रखती है। सीताहरण के समय नलिनियों ध्वस्त कमला हो जाती हैं, जलवर त्रस्त रहते हैं<sup>४</sup>, यह, विरह विधुर राम के साथ जड़-प्रकृति की चेतन सन्धानभूति नहीं तो, क्या है? महाभारत में भी उभयात्मक प्रकृति चित्रण हुआ है। 'काम्य-वन-प्रवेश-प्रसंग', वर्षा ऋतु के अवण और दर्शनमूलक आलम्बनात्मक चित्र प्रस्तुत करता है।<sup>५</sup> दूसरी ओर युद्धक्षेत्र-कुरुक्षेत्र की त्रियामा जब भीषणता के कारण, सङ्ग्रयामा<sup>६</sup> कही जाती है, तो युद्ध विभीषिका के सन्दर्भ में रात्रि का ऐसा वर्णन, श्रोताओं के 'भय' भाव को उद्दीप्त करने का सम्पूर्ण सामर्थ्य सुरक्षित रखता है।

बौद्धकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में प्रकृति को प्रायः 'उद्दीपन' के रूप में लिया। सिद्धार्थ के मनोभावों के समय-समय पर परिवर्तित करने के लिए भी उसने प्रकृति का माध्यम बनाया। वसन्त के शाद्वल-प्रान्तर और गीतिप्रचुरवन सिद्धार्थ की संवेगोत्पत्ति के ही सहायक हैं।<sup>७</sup>

कालिदास में तो प्रकृतिवर्णन का वैविध्य सर्वस्वीकृत है। सम्पूर्ण ऋतुसंहार षड्ऋतुओं की मनोरम-परिक्रमा का प्रस्तुतीकरण है। ऋतुप्रसंग में युगपत् मानव की मनोवृत्तियों पर पड़ने वाले प्रभाव के मनोवैज्ञानिक निरूपण

१: वा०रा० २।६४।६९० तथा १३

२: वही, ४।३०।४७

३: वा०रा० ४।१।६८

४: वही, ३।५२।३७

५: म०भा०, पुराणोत्तिहाससंग्रह, पृ० ३८

६: वही, पृ० ८४

७: बुद्ध० ३।१

के कारण इस काव्यके अधिकांश प्रकृति चित्रण उद्दीपनके ही गिना जायेगा ।<sup>१</sup>  
सूक्ष्मदर्शिता की तुलिका को तीव्र अनुभूतियों की मसि में ढुंकाकर ही, कालि-  
दास भौगोलिक सत्यों के पटल पर इतने सुन्दर प्रकृतिचित्र उतार पाया ।  
मेघदूत और रघुवंश तेरहवें-सर्ग के प्रकृति वर्णन समग्र विश्वसाहित्य की  
विरस्थायी सम्पत्ति हैं ।

भारवि-रचित किरातार्जुनीय में भी प्रकृति चित्रण महाकाव्यों  
की अपेक्षित मात्रा में है । धानों की परिणाम-रम्यता वाले शरत्काल,<sup>२</sup>  
शिखरों से आकाश को सहस्रधा फाड़ने वाले हिमालय<sup>३</sup>, 'खिन्नजिह्व-  
रश्मिसमूह' वाले सायंकालीन सूर्य<sup>४</sup> तथा 'शैलरुद्धगोर-शरीरवाले'<sup>५</sup> चन्द्रमा  
के संश्लिष्ट चित्र प्रभावोत्पादक हैं । माघ के प्रकृति-चित्रण में चित्रात्मकता कम  
और चमत्कार अधिक है । वैसे उसने एक सम्पूर्ण सर्ग रैवतक वर्णन के लिए ही  
नियोजित किया । भाग्यविपर्यय होने के कारण सञ्चर होने पर भी  
अवलम्बनहीन सूर्य,<sup>६</sup> नागयूथन्मलिन अन्धकार<sup>६</sup> आदि वर्णन एक फटके में  
आकर्षित तो करते हैं; किन्तु इस प्रकृतिचित्रण की पृष्ठभूमि में माघ के  
अलंकार-योजना के उद्देश्य को जानकर, प्रकृतिवर्णन के शुद्धता के पक्षपाती  
रसिक को अधिक शान्ति नहीं मिलती । श्रीहर्षप्रणीत नैषधीयचरित के  
२२ वें सर्ग का संध्यावर्णन, नल और दमयन्ती के भावों का उद्दीपन है; किन्तु  
१६ वें सर्ग के प्रभातवर्णन का उद्देश्य चाहे नलदमयन्ती को निद्रा से जगाना हो,  
संश्लिष्ट होने के कारण, ओताओं के भावों का भी आलम्बन बन सकता  
है ।

आँख और श्रवण को युगपत् तुष्ट करने वाला, साहित्य का  
अत्यधिक नियम-निर्यत्रित कर् सदस्य नाटक भी प्रकृति के रूप-विभव की  
उपेक्षा न कर पाया । स्वप्नवासवदत्त में अस्तशिखर को जाता हुआ संज्ञाप्त  
किरण सूर्य,<sup>७</sup> अभिज्ञान शाकुन्तल में कृष्णामृग की सींग पर अपनी बाईं

१: उदा०, ऋसं०, ३।२४

२: किराता० ४।२२

३: वही, ५।१७

४: वही, ६।५

५: वही, ६।१६

६: शिशु ० ६।६

६: वही, ६।१८

७: स्वप्न० १।१६

और लुजलाती हुई मृगी का दुष्यन्तप्रस्तावित चित्र,<sup>१</sup> मुडाराजास में दिशाओं को रमणीयता प्रदान करने वाला शरत्काल,<sup>२</sup> मृच्छकटिक में जलदमें जलार्द्रमन्त्रिणादरभृंगनील और विद्युत्प्रभारचित-पीतपटोत्तरीय मेघ,<sup>३</sup> रत्नावली में मधुप्रसंग को पाकर मत्तद्रुम<sup>४</sup> आदि के वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि संस्कृत नाटककार भी परमोदार प्रकृति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। भवभूति प्रकृति के भयावह दृश्यों का अधिक पक्षापाती है। उत्तररामचरित में वर्णित दण्डकारण्यभाग<sup>५</sup> तथा गोदावरी के 'गद्गद्' नादपूरित भयंकर गह्वरों वाले दक्षिण के पर्वत,<sup>६</sup> प्रकृति के इस भीषणपक्ष के आलम्बनात्मक चित्रण हैं।

अधिक आलंकारिता से बोझिल होने पर भी संस्कृत गद्यकाव्य भी रम्य दृश्यवर्णनों के उदार भण्डार हैं। इसलिए चाहे बाणभट्ट स्थाणु- (दूँठ, शिव) संगत और मृगपति सेवित विन्ध्याटवी का वर्णन करता हो<sup>७</sup> या सुबन्धु, अम्बर, (कपड़ा, आकाश) विस्तारक, 'काष्ठोदीपक' मध्याह्न कालोन्मुख सूर्य<sup>८</sup> का, अथवा दण्डी, चन्दनाश्लेष-शीतल लताओं का नृत्यशिङ्गाक आचार्यरूप वसन्त का,<sup>९</sup> ये सभी गद्यकवि दृश्यों के सविस्तार वर्णन करने से पाठकों के ऊपर अभीष्ट प्रभाव छोड़ने में समर्थ हुए।

अभिलेखों में प्रकृतिचित्रण का निर्वह-

विश्वनाथ ने महाकाव्य में प्रकृति के जिन उपादानों का वर्णन आवश्यक बताया,<sup>१०</sup> उनमें अधिकांश स्वाभाविक रूप से अभिलेखीय कवियों की

१: अभि०शा० ६।१७

२: मुद्रा० ३।७

३: मृच्छ०, ५।२

४: रत्ना० १।१७

५: उत्तर० २।१४

६: वही, २।३०

७: काद० पृ० ३६-४०

८: वासव० ३० २२७

९: दण्ड०, पृ० ४३०

(चौ० १८५८) वाराणसी

१०: सा०द० ६।३२२

भी रूचि के विषय बन गए । किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना समयानुकूल है कि दानपत्रों के व्यावसायिक भाग, जिनमें क्षेत्रग्रामादि सीमाओं के भांगोलिक विवरण भी होते हैं, रसालक न होने के कारण प्रकृति चित्रण नहीं, उदाहरणार्थ अस्तित्वमन् के उत्तमपत्र की ये पंक्तियाँ —

पश्चिमेन क्षेत्रपाली ततो वल्मीकः ततः (वल्मीकस्ततः) कृतुमा (कृत्रिमा) पाषाणपंक्तिः [1] उत्तरेणापि क्षेत्रपाली ततो वल्मीकः पुनर्वल्मीकः (वल्मीकस्ततः) पूर्ववल्मीकमनुप्राप्नोति १

वलभीश शीलादित्य (तृ०) के जेसर शासन पत्र में पाँच दलक्षेत्रों का सीमानिर्देश अत्यधिक विस्तार से किया गया है ।<sup>२</sup> किन्तु रसात्मकता और चित्रात्मकता के अभाव में ऐसे वर्णन प्रकृतिचित्रण नहीं माने जा सकते । किन्तु अभिलेखों के कवि केवल सीमाओं के वर्णन में ही नहीं रह गए । जब भी उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि प्रकृति के गूढ़-सौन्दर्य की खोज में निकली, वह अपने साथ मनोरम-चित्रों को सँजोकर लाने में समर्थ हुई । वे चित्र शुष्क-भित्ति पर खींचे गए हृदयहीन चित्रकार के निर्जीव चित्र नहीं । वे सहृदय कवि की समर्थतुलिका से प्रसूत चित्र हैं, जिनमें उनकी अनुभूतियों का रंग आज भी फीका नहीं पड़ा । इसीलिए वे चित्र भी कालिदास के संश्लिष्ट चित्रों की भाँति दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद एवं स्पर्श इन पञ्चेन्द्रियों की शक्तियों को तृप्त करने हैं । समय-समय पर सूर्य, चन्द्र, वन, पर्वत, नदी, तालाब, सागर और श्रुएं आदि सभी प्राकृतिक उपादानों के चित्र अभिलेखों में बहुत सुंदर ढंग से खचित हुए हैं ।—

सूर्य— बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर अभिलेखों में मंगलाचरणा के धरातल पर सूर्य का आलम्बनात्मक वर्णन है,— जो सूर्य, प्रतिदिन उदयाचल के तुंगशिखरों पर रश्मिजाल स्खलित करता हुआ शोभित होता है और जो क्षीबांगनाओं के कपोलप्रदेश के समान रक्तिम वर्ण है, ऐसा, सुन्दर किरणों के वस्त्र धारण करने वाला भास्कर आप लोगों की रक्षा करे ।”<sup>३</sup>

१. ए० ई० भाग १७ पृ० ३३३ पं० १६-१८

२. ए० ई०, भाग २२, पृ० ११६, पं० ४७—५५

३. वही, भाग १७ पृ० ३३, पं० १६-१८

३. यः [प्र]त्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-विस्तीर्णतुंगशिखरस्खलितांशुजालः [1] क्षीबांगना-जनकपोलतलाभिताम्रः पायात्स वस्सु [2] किरणाम [3] विवस्व

मित्रिकुल के ग्वालियर प्रस्तर अभिलेख के प्रथम दो छन्द भी भगवान् सूर्य की स्तुतिस्वरूप हैं। यहाँ भी स्तोत्रपद्धति पर सूर्य का आलम्बनात्मक वर्णन है — “ अपने किरणों के समूह से आकाश को उद्भासित कर बादलों से समुत्पन्न अन्धकार को दूर करते हुए, गमन वेद से च्लिते हुए सटावाले चकित घोड़ों से उदयगिरि के शिखरों को मण्डित करने वाले सूर्य की जय हो”<sup>१</sup> इसी लेख के आगे श्लोक में भगवान् भास्कर की भुवन भक्ता दीप एवं शर्वरीनाशहेतु कहा गया है।<sup>२</sup>

सेन्द्रक निकुम्भात्लक्षित सूर्योपासक था। बगुम्रा<sup>उल्लेख</sup>शासन के दूत-विलम्बित छन्द में मंगलाचरणा,<sup>३</sup> सूर्य का एक भव्य चित्र उपस्थित करता है—

प्रथमदिक्सरसीप्रि(पृ)धुपंकजं  
गगनवारिधिविद्रुमपल्लवं [।]  
त्रिदशरक्तजपाकुसुमं नवं  
दिशतु वो विजयं रविमण्डलं ॥

राजविधया रति पर आधारित सूर्यवर्णन अभिलेखों में सहज सुलभ है। बाढ़ाहाट (उत्तरकाशी) का त्रिशूललेख, (जिसको राहुल सांकृत्यायन सातवीं शताब्दी का मानते हैं<sup>४</sup>) इस प्रकार के सूर्य वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है — जब तक भगवान् भास्कर प्रातःकाल अपनी तरुणा किरणों से रात्रि के अन्धकार को दूर कर, ताराओं की चित्रावली को मिटाकर

१. [जय]ति जलदवल(वाल)ध्वान्तमुत्सायन्स्वे:

किरणानिवहजालेव्योमविद्योत्यदिभः [।]

उ[दयगि]रतटाग[.] मण्डयन् यस्तुर[.]गे:

चकितगमनवेदभ्रान्तचंचत्सटान्ते: । [।]

— का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १६२, श्लोक १

२. भुवनभवनदीपः शर्वरीनाशहेतुः[।]— वही, पृ० १६२, श्लोक २

३. इ०हेण्ट०, भाग १८, पृ० २६७, पं० १-२

४. गढ़वाल (राहुल) पृ० ३४८

गगन पर अपना विम्ब रूपी तिलक लगाते रहें, तब तक प्रतापी राजा गुह की यह कीर्ति सुरक्षित रहे ।<sup>१</sup> सूर्य का इसी प्रकार का वर्णन अपराजित के उदयपुर शिलालेख में भी दर्शनीय है — 'जब तक भानु के चरणों के नाबुनों (बुराग) बादल वृणित होते रहें'<sup>२</sup> ( तब तक यशोमती के द्वारा निर्मित विष्णु का यह धाम प्रसिद्ध रहे ) । महानामन् के बोध-गया शिलालेख में कवि, भगवान् बुद्ध के मन्दिर की दीर्घायु की कामना तब तक के लिए करता है 'जब तक क्लृप्ती किरणों के समूहवाला अन्धकार-नाशक सूर्य शोभित होता है ।'<sup>३</sup>

चन्द्र-तारक— सूर्य के उपासक अब भी भारत में बहुत संख्या में हैं। लेकिन चन्द्र की उपासना का अधिक प्रचार न रहा, इसलिए चन्द्र के निर्मित मन्दिरों की स्थापना भी नहीं हुई । इसके अतिरिक्त अभिलेखीय कवि राजाज्ञा के निर्देशों के नियन्त्रण में इसे होने के कारण चन्द्रमा का स्वतंत्र वर्णन न कर पाए । संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर अभिलेखों में जो भरतवाक्यीय छन्द आए हैं, वहाँ वर्ण्यवस्तु की दीर्घायु या अनश्वरता के प्रसंग में चन्द्रवर्णन उद्दीपन के लिए ही आया है, उदाहरणार्थ— 'जब तक भगवान् शंकर धवल शशिलेखा से नतोन्नत पीतवर्ण के जटासमूह को धारण करते हैं और जब तक भगवान् विष्णु कमलमाला को धारण करते हैं तब तक भगवान् यह भव्यभवन् स्थायित्व को प्राप्त करें ।'<sup>४</sup> मिश्रिकुल के ग्वालियर प्रशस्तिलेख में भी चन्द्रमा का ऐसा ही वर्णन हुआ है। इसमें गोपगिरि की शोभा की अनश्वरता की शुभकामना तब तक के लिए की जाती है 'जब तक शिव के जटाकलाप के वन में चन्द्र चमकता रहे ।' दानपत्रों में दान की अधि घोषित करने के प्रसंग में प्रकृति के इन चिरन्तन उपादानों का नामोल्लेख तो प्रायः होता है ।<sup>५</sup>

१. ड०—उ०या०द०, पृ० ५२०—५२१ श्लोक ३

२. यावद् भानो बुरागवृणितजलमुचः— २०ई०, भाग--४, पृ० ३२, श्लोक—१०

३. यावद्ध्वान्तापहारी प्रविततकिरणाः सर्वतो भाति भास्वान् ..... का०ई०ई०, भाग ३, पृ० २७६-२७७, श्लोक ८

४. अमलिनशशिलेखादंतुरपिंगलानां परिवहति समूहं यावदीशोजटानां ।

विकट(च)कमल-मालामंस-सक्तां च शांगी भवनमिदमुदारं शाश्वतन्तावदस्तु ॥  
—का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ८३-८४ श्लो

५. यावच्छर्वजटाकलापगहनेविद्योतते चन्द्रमा ..... का०ई०ई०, भाग ३, पृ० १६३ श्लोक—१३

६. आचन्द्रार्काणव-ज्ञात(ज्ञाति)सरि(त्)पर्वत समकालीन .....

—वलभीनरेश ध्रुवसेन बालादित्य का बौटाद. ताम्रपत्र, भाव०, पृ० ४२, पंक्ति १५

पर्वत—कवि-कल्पलताकार देवेश्वर कवि के निर्देशों के अनुसार पर्वत वर्णन करते समय कवि को मेघ, ओषधि, धातु, वंश, किन्नर, निर्भर, शृंग, तलहटियाँ, गुफायें, वन्य जीव और उपत्यका आदि को न भूलना चाहिए,<sup>१</sup> जैसे कुमार संभव में हिमालय वर्णन ।<sup>२</sup> अभिलेखों में हिमाद्रिवर्णन नहीं के बराबर है । इसका कारण यह है कि इस पर्वतीय प्रदेश में कोई इतना सशक्त राजा नहीं हुआ, जो इस मूर्तशोभाराशि का चित्रात्मक वर्णन अपने अभिलेखों में करवाता । अन्य अभिलेखों में हिमालय का नामोल्लेख तो हुआ है, किन्तु राजाओं की राज्यसीमा के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के लिए । जैसे यशोधर्मन् के मन्दसौर स्तम्भलेख में हिमालय का एक रेखाचित्र — '(उत्तर में) गंगा से आलिङ्गित शिखरों वाले हिमालय से और पश्चिम में समुद्र से लेकर.....'<sup>३</sup> सामन्तगण जिसको प्रणाम करते समय अपने बृहार्त्न के किरण समूहों के मिश्रण से भूमिभागों को चित्रकवरा कर देते हैं) इसी के आगे वाले श्लोक में वर्णित है कि 'जिसकी भुजाओं से आश्लिष्ट होकर हिमालय भी अपनी दुर्गमता के अभिमान को (झोड़) देता है ।'<sup>४</sup> इनमें हिमालय के सौन्दर्य और भीषण दुर्गमता के स्पष्ट संकेत तो मिलते हैं, परन्तु आश्लिष्ट वर्णन की चित्रात्मकता नहीं आ पाई ।

विन्ध्याटवी संस्कृत कवियों, विशेषतः गद्यकारों का प्रमुख वर्ण-विषय रही है, फिर अभिलेखों के कवि भी क्यों चुप रहते । मन्दसौर के स्तम्भलेख में कवि, चोटियों से गिरते हुए लंगूरों के क्रीडामय उल्लसद सँभुके वृद्धों वाले पारियात्र पर्वत.....'<sup>५</sup> आदि के संसूच्य चित्र उपस्थित करता है । वलभी दानपत्रों में विन्ध्यशैल की काली मिट्टी के श्याम सौन्दर्य और पयोधररूप पृथुलता के संकेत स्पष्ट मिलते हैं — 'चूर्णं ह्ये आरु विले-

१. शैले महोषधी धातुवंशकिन्नरनिर्भराः ।

शृंगपादगुहार्त्नवनजीवाद्युपत्यकाः ॥

—कविकल्पलता ३।१६

२. कुमार १।१-१६

३. आगंगाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः [।].....

का०३०३०, भाग ३, पृ० १४६, श्लोक ५

४. यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्गशिब्दाभिमान[म्] [।]...

का०३०३०, भाग ३, पृ० १४६, श्लोक ६

५. विन्ध्यस्यावन्ध्यकम्पार् शिखरतटपतत्पाण्डुरेवाम्बुराशे-

गर्लांगुलेः सहेलं प्लुतिनमिततरौः पारियात्रस्य चान्द्रेः ।

का०३०३०, भाग ३, पृ० १५४, श्लोक १६



विलेपन पिण्ड के समान श्याम विन्ध्यपर्वत रूपी विस्तृत पयोधरवाली पृथ्वी का पति श्री शीलादित्य का पुत्र.....<sup>१</sup> इसी प्रकार जैसर दानपत्र में 'ढेरभट' की राज्य सीमा उल्लेख में जब स्याद्रि और विन्ध्याद्रि का युग-पत् वर्णन होता है, तो मेघदूत की आप्रकृत वाली पंक्ति - 'मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषाविस्तारपाण्डुः'<sup>२</sup> की सत्सा याद आ जाती है। उल्लिखित दानपत्र में वर्णित है कि - 'बादल के बैठने से काले हुए शिखर-चूचुक्वाले 'सह्य' और 'विन्ध्य' रूपी स्तनों को धारण करनेवाली पृथ्वी का पति श्री ढेरभट.....'<sup>३</sup> यहाँ समासोक्तिनिबन्धन है। पर्वतों को पृथ्वी के स्तन कहने की प्राचीन परम्परा अभिलेखों में भी अविच्छिन्न रूप से प्राप्त होती है। मन्दसौर लेख में वत्सभट्ट कुमारगुप्त (द्वि०) से शासित पृथ्वी को 'सुमेरुकेलासबृहत्पयोधरा' कहता है।<sup>४</sup>

मिहिरकुल के ग्वालियर लेख में गोपगिरि को कवि ने 'नाना-धातुविचित्र' कहा है।<sup>५</sup> (इसी पर्वत पर सूर्य का मन्दिर था)। 'नाना-धातुविचित्र' कहने से कुमारसम्भव में वर्णित अकालसंध्या की प्रकट करने वाली हिमालय की धातुमत्ता की स्मृति सहसा सजग हो जाती है। कलिंग के शैलोद्भव राजाओं के अभिलेखों में 'कुलगिरि' महेन्द्राचल का वर्णन आलम्बन रूप में है। पृथिवी में सुमेरुपर्वत के समान इस प्रसिद्ध पर्वत के वर्णन में शिखर वन, निर्भरों का गुहागत नाद, पक्षीकलरव आदि सभी आवश्यक वस्तुओं के आने से एक संश्लिष्टचित्र आंखों के सामने थिरकने लगता है।<sup>७</sup>

१. लण्डितागुरु विलेपनपिण्डश्यामलविन्ध्यशैलविपुल-

पयोधराभोगायाः जौण्याः [ ] पत्युः श्री-शीलादित्यस्य

— शीलादित्य द्वितीय का लुणसिंह दानपत्र, भाव० पृ० ४८ (द्वि० पत्र)

पंक्ति १६

२. मेघ० (पूर्व) श्लोक १८

३. पयोदश्यामशिखरचूचुकरुचिरसह्यविन्ध्यस्तनयुगायाः जितेः पत्युः श्री ढेरभटस्य...

— का० ४०६०, भाग २२, पृ० ११७-११८, पं० २६-३०

४. का० ४०६०, भाग ३, पृ० ८२, श्लोक-२३

५. नानाधातुविचित्रे गोपाह्वयनाग्निभूधरे रम्ये [ ] का० ४०६०, भाग ३, पृ० १६३ श्लोक ६

६. कुमार० १।५

७. प्राच्याम्भोनिधिरुद्धसानुरतुलः पुष्यद्रुमालीवृतः

स्यन्दन्निर्भरवारिर्षारितदरीपातस्खलनि [न] स्वनः ।

स्वानत्रस्तपतत्रिवल्गुविरुतेरापूरितान्तर्गुहः

गुजरात के पर्वतों में ऊर्जयत्<sup>१</sup> या रेवतक पर्वत<sup>२</sup> आदि के नाम और संसूच्य चित्र भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं ।

नदी, झील, सरोवर,<sup>सूखे</sup> और सागर —

देवेश्वर ने सरिताओं के वर्णन में सागर-संगम, लहर, जल-गज, पद्म तटीय-वृक्षा<sup>३</sup> पर बैठे भ्रमर, अंस और चक्रादि का उल्लेख आवश्यक माना है ।<sup>३</sup>

प्रयाग प्रशस्ति में तो शिव की जटागुहा के भीतर से निकलने वाला गंगाजल, समुद्रगुप्त के त्रिभुवन को पावन करने वाले यश का उपमान मात्र है<sup>४</sup>। वहाँ गंगाजल का वर्णन अवश्य है, किन्तु अस्कार योजना के लिए । फिर भी वह वर्णन श्रोता या पाठक के अन्तःकरण में बिम्बग्रहण कराने का सामर्थ्य सुरक्षित रखे है । इसी प्रकार का वर्णन यशोधर्मन के मन्दसौर लेख में भी है । शालिमा<sup>५</sup> के शासन में नगर के व्यापारियों का अत्यधिक आदरणीय और विशुद्धकुल का प्रसार हुआ, जिस प्रकार हिमालयपर्वत से गंगा का तुंग और नम्रप्रवाह या चन्द्रमा से नर्मदा का विशाल जल समूह फैला ।<sup>५</sup> यहाँ भले ही कवि की दृष्टि में व्यापारियों का कुल प्रसार मुख्य एवं गंगा का वर्णन गौण है, फिर भी हिमालय से सञ्चरधाराओं में कूटनेवाला गंगाके तुंग एवं नम्रप्रवाह की चित्रात्मकता, दर्शनीय है ।

शैलोद्भव माधव (द्वि०) के गंगाम ताम्रपत्र में 'प्रस्तुत' शालिमा-नदी के वर्णन-प्रसंग में उसके उपमान-भूत अप्रस्तुत गंगा का ही इतना सुन्दर चित्रण हुआ है कि उपमेय की अपेक्षा उपमान ही कवि एवं श्रोताओं के भावों का आलम्बन बन जाता है । इस वर्णन में ऐसा लगता है कि दान-

१. रुद्रदामन् का गिरिनार लेख, ई०रेण्टि०, भाग ७, पृ० २६०, पं०-५

२. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६०,

श्लोक २८

३. सरित्यम्बुधियायित्वं वीच्यो जलगजादयः ।

पद्मानि षट्पदाहंसचक्राद्या कूलशाखिनः ।। कविकल्पलता ३।१७

४. का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६, श्लोक ६

५. हिमवत इव गांगस्तुंगनम्रप्रवाहः शशभृतश्च रेवा-वारिराशिः प्रथीयान् [१]

— का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १५३, श्लोक ११

पत्र का घोषणास्थान कौण्डिग्राम यदि इस शालिमा नदी के कूलोपकण्ठ में न होता, तो कवि गंगानदी के संश्लिष्ट दृश्यों को ही अपने अन्तःकरण में छिपाये रखता, न कि शालिमा के । फिर भी शालिमा के सुमनसंकुलकूटल घ्राणामूलक चित्र प्रस्तुत करने की योग्यता रखते हैं — विभिन्न मनोरम वृक्षाओं के प्रसूनों से ढके जिस शालिमा के दोनों तटों में जलाशय बन गए हैं, इसलिए, इसलिये जिसका प्रवाह, हिमगिरि के शिखरपर पड़ने से अनेक शिला-संघातों से बाहर को फूटती हुई, भगीरथ से लार्ई गई, गगनच्युत गंगा के समान है.... ।<sup>१</sup> के बन्धुवर्मन्<sup>कालीन</sup> मन्दसार-लेख में अपनी चंचल-भुजलताओं से दणपुर-नगर का गाढ़ आलिंगन करती हुई प्रीति और रति से उपमित, दो नदियों का समासोक्तिपरक वर्णन है ।<sup>२</sup>

रम्यवर्णनों के अतिरिक्त नदियों और फीलों के भयानक वर्णन भी अभिलेखों में प्राप्त हैं । रुद्रदामन् (५०) और स्कन्दगुप्त के गिरिनार|जुनागढ़ शिलालेख बाढ़ के भीषण दृश्य उपस्थित करने में सफल हुए हैं । रुद्रदामन् (५०) के लेख में वर्णित है कि 'मार्गशीर्ष' की कृष्ण-पक्षप्रतिपदा को भीषणावर्षा हुई, जिसके कारण संसार एक समुद्र सा बन गया । परिणामतः ऊर्जयत् नामक पर्वत से निःसृत सुवर्णसिक्ता, 'पला-शिनी' प्रभृति नदियों से बड़ी तेज बाढ़ आ गई । तदनन्तर सुदर्शन फील की रक्षा के सम्यक् उपाय होने पर भी पर्वत के शिखरों, पेड़ों, तटों, अटारियों, मकानों के ऊपरी भागों दरवाजों और बचाव के लिए निर्मित ऊँचे-ऊँचे स्थानों को विनष्ट कर देने वाले तथा प्रलयप्रभंजन के समान प्रचुण्ड-वेगयुक्त अंधड़े से मथे गए पानी के विज्ञोप से जर्जरीभूत तथा पाषाण, पृक्षा, फाहियों और लताओं के फेंकेंजाने से दग्ध यह सुदर्शन फील पूर्वकथित नदियों के प्रबल प्रवाह से नदी की सतह तक उठाह दिया गया ।<sup>३</sup> यहाँ

१. 'गङ्गा(न)तलविनि[:]सृतभगीरथावतारिसाया हिमवद्गिरैरुपरिपतना(द)-  
नैकशिलासंहा(धा) तविभिन्नवहिः पातालात्तर्ज्जलोधे(बहिष्पतितान्तर्जलोधा-  
अयाः)सुरसरित इव विविधतरुवरकुसुमसंखन्नोभयतटान्तविनिपतितजलाश-  
यायाः श[ालिमा]सरितः' — २० ई०, भाग ६, पृ० १४४, पं० ३-७

२. का०३०ई०, भाग ३, पृ० ८१८२ श्लोक १३

३. (पूर्वोद्धृत) — ई०रेण्ट०भाग ७, पृ० २६०, पं० ४-७

बाढ़ का संश्लिष्ट चित्र है। कवि ने प्रकृति के कोप को दिखाने के लिए भावानुसारी शब्दों का समुचित गुम्फन किया है। पंक्ति-पंक्ति में दर्शन और स्पर्श मूलक भगील की बाढ़जन्य भीषणता स्कन्दगुप्त के शिलालेख में भी चित्रित हुई है — 'इस संसार में किसी को भी ऐसी आशंका नहीं थी कि एक ही ज़ाण में टूटकर यह सुदर्शन दुर्दर्शन बनकर सागर के समान दिखाई देगा..... ।' १

भगीलों के अतिरिक्त जलाशय भी अभिलेखीय कवियों के वण्य-विषय रहे हैं। वत्सभट्ट ने बन्धुवर्मन् के मन्दसौर शिलालेख में दशपुर के सरोवरों का बड़ी कुशलता से चित्रण किया है — 'प्रफुल्ल-कमलों से शोभित सरोवरों में बतल तैरते हैं तथा तटीय वृक्षाओं के पुष्पों के गिरने से उन सरोवरों का जल विविध वर्णों में ज्वल हो गया है। कहीं चंचल लहरों से कम्पित कमलों के गिरते पराग से हंस, और कहीं समृद्ध पराग से नम्रीभूत कमलों से जलाशय शोभित हैं ।' २

भूखण्ड— चन्द्रगिरि के एक जैन लेख में आचार्य प्रभावन्द्र के तपस्या-स्थल कटवप्र-भू-प्रान्तर का सजीव भीषण चित्रण है— 'विभिन्न वृक्षाओं के पुष्प और पत्तों की सृष्टि के कारण चितकबरे, विपुल जलवाही मेघसमूह के समान बम्बे काले पत्थरों से ढके भूतल युक्त और शूकर, चील, व्याघ्र, भालू लकड़बग्घा, साँप, मृग आदि के समूह से आकीर्ण उपत्यका, कन्दरा, घाटी तथा बड़ी बड़ी गुफाओं वाले, अनितल ललामभूत कटवप्र नामक उच्च-

१. अपी ह्लोके सकले सुदर्शनं पुमां(पुमान्)हि दुर्दर्शनतां गतं ज्ञाणात् । भवेन्तु सोऽम्भोनिधितुल्यदर्शनं सुदर्शनं ----- ।।

का० ई० ७६०, भाग ३, पृ० ६०, श्लोक ३१

२. तटोत्थवृक्षाच्युतनेकपुष्पविचित्रतीरान्तजलानि भान्ति ।

प्रफुल्ल (ल्ल)पद्माभरणानि यत्र सरांसिकारण्डवसंकुलानि ।।

विलालवीचीचलितारविन्द-पतद्रजःपिंजरितेश्च हंसैः ।

स्वकेसरोदारभरावभुग्नेःक्वचित्सरांस्यम्बुरुहेश्च भान्ति । [I]

— का० ई० ७६० भाग ३, पृ० ८१, श्लोक ७-८

सागर— सैन्यप्रयाण की धूलि से दिशाओं के पटनिर्माण करने में दक्ष राजाओं के अभिलेखों में 'विजित्य गां सागरमेकलान्ता'<sup>३</sup> अथवा 'चतुरसमुद्रान्त[वि]लोलमेकलां'<sup>४</sup> आदि वर्णन मिलने स्वाभाविक ही हैं। इसलिए यदि इन सम्राटों के लिए समग्र पृथ्वी नगरीवत् लघु हो जाय या सागर परिवर्तन रूप<sup>५</sup> में सिमट जाए तो आश्चर्य क्या है। ऐसे वर्णन उदीपन की माने जायेंगे। विश्ववर्मन् के गंगधर शिलालेख में समुद्र का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हुआ है। लेकिन यह वर्णन भी उदीपनात्मक ही गिना जायेगा, क्योंकि इसमें दृष्टपराक्रम समुद्र, राजा के लिए नमस्कार करता हुआ चित्रित है— समुद्र, जिसके बल के लिए, रत्नप्रसूत प्रभा से रंगीन तटीय तालवृक्षां से तथा त्रस्त घड़ियालों के द्वारा टूटी फैनमाला वाले, तीव्रपवन से उठाई गई भीमतरंगों रूपी हाथों से नमस्कार करते हैं।<sup>६</sup> भरत-वाक्यों की परम्परा पर पौराणिक क्षीरसागर का वर्णन कन्हेरीगुहा ताम्रपत्र में प्राप्त है।

१. .... अवनितलललामभूते (S)थास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविध-तरुवर-कुसुम-दलावली-विरचना-श्वल-विपुल-सजल-जलद-निवह-नीलोपलतले वराह द्वीप-व्याघ्रद्वी-तरङ्ग-व्याल-मृग-कुलोपचितोपत्यककन्दरदरी मङ्गा-गुहा-गहन-भोगवति समुत्तुंग-शृंगे शिवरिणि — ए०क००, भाग २, पृ० १, ( संशोधित संस्क० )

२. 'यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटोषिताश्च (श्वः)सेनारजःपटविनिर्मितदिग्वितानः' — पुलकेशिन् (द्वि०) का रेहोल लेख, इ०रेपिट०, भाग ५, पृष्ठ ६६, श्लोक - ११

३. भास्करवर्मन् का दुर्बिसाग्रलेख, ए०इ०, भाग ३०, पृष्ठ ३८५, श्लोक २४ ।

४. बन्धुवर्मन् का मन्दसौरलेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ८२, श्लोक २३

५. पुलकेशिन् (द्वि०) कालीन रेहोल लेख, इ० रेपिट०, भाग ५, पृ० ७०, श्लोक ३२

६. रत्नोद्गमद्युति[विर]ज्जितकूलताले  
रुत्रस्तनक्कमकरदातफ्[ी]नमालैः ॥ (१)

चण्डानिलोद्धततरंगसमस्तहस्ते-

यूर्यस्या [पुर्वि]रपि बलानि नमःक्रियन्ते (नमस्क्रियन्ते) ॥

—का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ७५, श्लोक ६

इसमें पुष्पवर्मन् की कीर्ति के दीर्घायु की कामना तब के लिए की गई है — जब तक सङ्घर्षों तरंगों से चलायमान मकरों से उठाये गए भँवरों से युक्त जलिर-सागर का चंचल जल दुग्धमय रहे..... ।<sup>१</sup> जलिर समुद्र भले ही काल्पनिक है, प्रस्तुत वर्णन से सागर की उत्तालतरंगों वाली भीषणता, ओखों के सामने स्पष्ट नाचने लगती है ।

ऋतुवर्णन— मास के दो पड़ा होते हैं । दो मासों की ऋतु होती है और ऋः ऋतुओं का सम्बत्सर । देवजनों के मत से वर्षा चैत्र से और धर्मशास्त्र के ज्ञाताओं के मत से ब्राह्मण से प्रारम्भ होता है । राजेश्वर ने अपनी काव्यमीमांसा में देवजनों के अनुसार ही मास और ऋतुओं को ब्राह्मण से प्रारम्भ किया है,<sup>२</sup> किन्तु धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि वर्षा चैत्र से एवं ऋतु वसन्त से प्रारम्भ की जाय, तो एक बहुमान्य परम्परा का समर्थन होगा । तैत्तिरीय संहिता में भी ऋतु वसन्त से ही प्रारम्भ की गई है ।<sup>३</sup> ऋतुओं के परिवर्तन में नवीनता होती है । प्रत्येक ऋतु पृथ्वी को नवीन परिधान देती है । सामवेद भी समर्थन करता है कि सभी ऋतु रमणीय होती हैं ।<sup>४</sup> साहित्य में ऋतुवर्णन को एक आवश्यक कर्म माना गया है । भारत है भी तो प्रकृति से धनी । प्रकृति ने जितनी उदारता से भारत को दिया, उतनी उदारता से शायद ही किसी देश को दिया हो । सम्पूर्ण ऋः ऋतुओं का क्रमिक परिवर्तन भारत का नवीन शृंगार करता है । परिवर्तन में विविधता है और विविधता में चिरन्तन आकर्षण ।

निदेशपालक होते हुए भी अभिलेखों के कवि अन्य कवियों की भाँति स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय और निनिर्बन्ध थे । जब-जब उन्होंने प्रकृति के वातावरण को यह जानने के लिए देखा कि वे अपने स्मारकादि लेख कौन सी ऋतु में लिख रहे हैं, तो उनके संवेदनशील व्यक्तित्व के स्पर्श से ऋतु-

१. 'यावद्दीचीसहस्रप्रचलितमकराघु(घु)णित्तावर्ततीय[:]जलिरौदः—

जलिरतोयो — ६०के०टे०वै०इ०, पृ० ५८, श्लोक १

२. का०मी०, अ०-१८, पृ० ६६ (काङ्ग्रेज १८१६)

३. 'मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नमस्यश्चैषाश्चोर्जश्च सहश्च सहस्य-

श्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोऽसि ।' तै० सं० १- ४- १४

४. द्र० — साम०, पृ० ५० ई (३) द० - ४, मं० - २



वर्णन मुखरित हो गए । दानलेखों में इस प्रकार के स्तुवर्णन की संभावनाएं नहीं थीं । फिर भी जिस स्थान से दानपत्र उद्घुष्ट होता, वहाँ की स्तुरम-  
णियता की सूचनामात्र रचयिता दे सकता था, जैसे— 'सर्वर्तुस्तुरमणिया-  
द्विजयकलिंगनगरात्' ।<sup>१</sup>

आचार्यों ने यह स्तुवर्णन के प्रसंग में प्रकृति के जिन उपादानों का चित्रण आवश्यक बताया है<sup>२</sup>, उनका समुचित प्रयोग अभिलेखों में, काव्यों के समान ही हुआ ।

वसन्त— बन्धुवर्मन्कालीन मन्दसार लेख में, सूर्यमन्दिर के जीर्णोद्धार का समय फाल्गुन मास था । अतः फाल्गुन मास का वर्णन करते हुए, वत्सभट्ट शिशिरवसन्त सन्धि और वसन्त शैशव का मनोरम वर्णन करता है— फाल्गुन के उस मास में जब हरक्रीपानल-दग्ध अतएव पवित्र अंगवाला अंग अशोक, केवड़े, सिन्धुवार, लहराती अतिमुक्तक-लता और मदयन्तिका के सुयोविकसित कुसुमपुंजों से अपने बाणों को समृद्ध करता है, जिस फाल्गुन में मधुपान से प्रसन्नभ्रमरों के गुंजन से नगनों की शाखाएं भर आती हैं और नवप्रसूनविकास से रोध्रद्रुमों में सुकुमार कान्ति की प्रचुरता आ बैठती है..... ।<sup>३</sup> यहाँ विभिन्न वृक्षांशों के पुष्पोद्गम में दर्शनमूलक, भृंग के मधुपान में रसनामूलक तथा भृंगगुंजन में श्रवणमूलक चित्र उपस्थित हुए हैं ।

इसी अभिलेख के प्रारम्भिक श्लोकों (६-६) में दशपुर की सामान्य वासन्ती शोभा भी दर्शनीय है ।

यशोधर्मन्केदशपुरस्थ लेख में वर्णित 'निर्दोष' नामक कूप का निर्माण भी वसन्त में ही हुआ था— जिस (वसन्त) में कामदेव के तीरों

१. हस्तिवर्मन् का उत्तम शासनपत्र, २०ई०, भाग १७, पृ० ३३२, पं० १, तथा देवेन्द्रवर्मन् का 'सिद्धान्तम्' शासन, २०ई०, भाग १३, पृ० २१३, पंक्ति १

२. कविकल्पलता ३। २६-३३

३. स्पष्टरशोकरकैतकसिन्धुवारलोलातिमुक्तकलता मदयन्तिकानाम् पुष्प-पुष्पोद्गमेरभिनवैरधिगम्यनूनमेक्यं विजृम्भितशरे हरषू(धू)तदेहे ॥

मधुपानमुदितमधुकरकुलोपगीतनगने(र्ण)कपृथुशाखे ।

काले नव-कुसुमोद्गमदंतुरकान्तप्रचुर-रोद्ध्रे ॥ का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ८३, श्लोक ४०-४१



के समान, श्रुतिकौमल काकली विरही जनों के हृदयों का भेदन सी करती है तथा प्रत्येक वन में काम के कम्पितप्रत्यंचा वाले धनुष की भाँति भ्रमरों का सुरभिभारमन्द्र, गुंजन सुनाई देता है। इस सुमन-प्रचुर मास में मलयज, प्रियतम-कुपित माननियों के कुसुम सुकुमार मुग्ध हृदय के लिए मानभंग का 'निश्चय' भेंट करता है। ऐसेसमय में ही इस (निर्दोष कूप) का निर्माण हुआ<sup>१</sup>। कवि ने यहाँ वसन्तऋतु में खिलने वाले पुष्पों की परम्परागत नामावली प्रस्तुत नहीं की; अपितु मानवों के कोमल मनोभावों पर पड़ने वाले वासन्ती प्रभाव का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी किया है। कौयल की कूक विरही-जनों की हृदयगुहा में हूक बन जाती है। इसलिए वसन्त के उद्दीपनतत्त्व ही मानिनीनायिकाओं के मान शिथिल करने में सफल होते हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकृति का एक साथ चित्रण करके अभिलेख के नामहीन कवि ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

सम्पूर्ण भारतीय अभिलेखों में मन्दसौर के लेख वसन्त वर्णन के लिए विशेष उर्वर रहे। इसका श्रेय मालवा की नैसर्गिक सुषमा को है। कवि 'रविल' विरचित मालव संवत् ५२४ का मन्दसौर लेख, दत्तभट्ट निर्मित स्तूप, कूप, प्रपा और आराम का स्मारक लेख है। उस समय दशपुर का स्थानीय शासक प्रभाकर था। कवि कहता है कि उल्लिखित समाज-कल्याण सम्बन्धी निर्माण उस समय हुए जब— 'बालपद्म भ्रमरों के भार से थकान का अनुभव करते हैं, सालवृक्षा बहुत ही रमणीय लगता है और प्रेषित पतिकाएं कामज्वर की अग्नि से फुलस जाती हैं। जो ऋतु-कौयलों के नवीनराग आलापने की भूमि, प्रियाधरोष्ठसवर्ण किसलय वाले वृक्षाँ से युक्त समशीतोष्ण पवन

१. यस्मिन्काले कलमृदुगिरां कौकिलानां प्रलापा

भिन्दन्तीव स्मरशरनिभाः प्रेषितानां मनांसि ।

भृङ्गलीनां ध्वनिरनुवनं भारभन्द्रश्च यस्मि -

न्नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतौः ॥

प्रियतमकुपितानां रामयन्बदरागं

किसलयमिवमुग्धं मानसं मानिनीनां ।

उपनयति नभस्वान्मानभंगाय यस्मिन्

कुसुमसमयमासे तत्र निम्मापितो (S) यम् ॥ — का०६०६०, भाग ३

से रोमांचित उपवनों को नयी कान्ति दे जाती है ।<sup>१</sup>

यहाँ कवि वसन्त की बाह्य रंगीनी को चित्रित करने में अधिक आग्रहशील प्रतीत होता है । वर्णन की चित्रात्मकता दर्शनीय है । समशीतोष्णोपवन का स्पर्शमूलक चित्र आज भी यथावत् रोमांचित करने में समर्थ है ।

ग्रीष्म— भारत उष्ण देश है । ग्रीष्मकाल में तो इसकी उष्णता इतनी प्रखर हो जाती है कि इस ऋतु में भारतवासियों के कार्य-कलाप सदैव गतिमन्थर होते रहे हैं । हर्म्य-प्रकोष्ठों में वन्दन और कमल-दलों से शीतोपचार करवाने में प्रयत्नशील नृपतिगण इस समय प्रायः निष्क्रिय जीवन बिताया करते थे । अभिलेखों में भी इस ऋतु के विषय में किसीका श्राव-र्षण नहीं देखा गया । यदि ग्रीष्म का चित्रण किया जाता तो सूर्य का दुस्सह प्रताप और प्राकृतिक उपादानों पर तज्जन्य प्रभाव का साहित्यिक वर्णन होता, किन्तु अतिशयोक्तिप्रिय कवि आश्रयदाता राजा के समक्ष सूर्य के प्रताप को उन्नीस ही पड़ता देखना चाहते थे । फलतः अभिलेखों के कवियों को अपने अभीष्ट नृपति के सैन्यधूलिपटल से प्रखर सूर्यमण्डल भी ऐसा लगा जैसे मयूर-पंख का चन्द्रक हो ।<sup>२</sup>

वर्षा— वर्षावर्णन, रम्य और रोमंठ दोनों रूपों में हुए हैं । स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख यदि अपनी भीषणता से हमारे स्नायुतन्तुओं को भकभरो कर अन्तर्गुहा में प्रसुप्त स्थायीभाव भय को हठात् जगाता है, तो हरह, उदयपुर और मन्दसौर के लेख भारतीय वर्षा के सजल नेत्र-सुभग-

१. भृगांगभारालसबालपद्मे काले प्रपन्ने रमणीयसाले ।

गतासु देशान्तरितप्रियासु प्रियासु काम-ज्वलनाद्भुतित्वम् [I]

नात्युष्णशीतानिलकाम्पितेषु प्रवृत्तमतान्यभृतस्वते(ने)षु ।

प्रियाधरोष्ठारुणपल्लवेषु नवां व[ह] त्सूपवनेषु कान्तिम् [II]

—ए० ई०, भाग २७, पृ० १६, श्लोक १४-१५

२. बालेयच्छवि धूसरेण रजसा मन्दांशुसंलक्ष्यते

पर्यावृत्त शिखण्डचन्द्रकहव ध्यामंस्तेमण्डलम् ।

—यशोधर्मन् का मन्दसौर शिलालेख, का० ई० ई०, भाग ३,

पृ० १५३, श्लोक ६

चित्र प्रस्तुत करने में पर्याप्त सफल हुए हैं । भरतमुनि ने वर्षाविर्णनप्रसंग में कदम्ब, नीप, कुटज, घास के चरे मैदान, वीरबहुटी, मेघ, और सुख-स्पर्श पवन का वर्णन करना आवश्यक बताया है ।<sup>१</sup> लेकिन इन उपादानों की नामावली गिनाने से ही वर्षाविर्णन की इतिकर्तव्यता नहीं होती। इसके लिए कवि के सम्बेदनात्मक हृदय में वर्षा के प्रति गहरा ममत्व और फलतः अनुभूतिजन्य चित्रात्मक अभिव्यक्ति अपेक्षित है । तभी वर्षा के चित्रों में प्राणप्रतिष्ठा सम्भव है । इस निष्कर्ष पर भी अभिलेखीय कवि सफल ही उतर आते हैं ।

वर्षा के रम्य वर्णनों में ईशानवर्मन् का हरह लेख अपना विशिष्ट स्थान रखता है । इस लेख में वर्णित शिवमन्दिर का निर्माण वर्षाकाल में ही हुआ था । अतः प्रतिभासम्पन्न कवि रविशान्ति को इस ऋतु के सजल मनोहर चित्र प्रस्तुत करने का स्वर्णविसर मिल गया । मन्दिर के निर्माण-काल के विषय में वह कहता है — “जब बनेले भैंस के प्रयाग —  
वर्षा सदृश सञ्जल बादल, जिनके किनारों पर इन्द्रधनुष लगे रहते हैं तथा  
जिनमें बिजली काँधती रहती है, (सजल) धीरे गम्भीर गर्जन करते हुए दिशाओं पर पदार्तानते हैं और जब नीपों के कुसुम-प्रचुर (अतः) विनम्रशीर्ष ढालों को झकझोरते हुए पवन चलते रहते हैं; — बादलों वाली उस ऋतु में जलहीन बादल के समान शुभ शिव-मन्दिर का जलहीन (पुनरु) निर्माण हुआ ।”<sup>२</sup>

अपराजित के उदयपुर शिलालेख में वर्णित विष्णुमन्दिर के निर्माण का भी यही (वर्षा) समय था । भले ही इस मन्दिर में वासुदेव की मूर्ति का उद्घाटन मार्गशीर्ष में हुआ हो । “जब स्पष्ट गर्भ पराग से

१. कदम्बनीपकुटपेः शाद्वलेः सेन्द्रगोपकेः ।

मेघवातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत् ॥ — ना० शा० २५।३५

२. यस्मिन्कालेम्बुवाहा नवगवलरुचः प्रान्तलग्नेन्द्रचापा-

स्तन्वत्याशावितानं स्फुरद्गुरुतडितः सान्द्रधीरं वृणान्तः ।

वाताश्च वान्ति नीपात्नवकुसुमचयानप्रमूर्ध्नी धुनाना-

स्तस्मिन्मुक्ताम्बुमेघद्युति भवनमदो निर्मितं शूलपाणैः ॥

— हि० लि० ७६०, पृ० १४४, श्लोक २२

धूसर ह्रस्व कैतकियों की सूचियों को चटकाता हुआ, समद श्रवणसुभग कैका वाले नृत्यलीन मयूरों के पंखों को धुनता हुआ तथा मेघों को तितर-वितर करता हुआ, सलिलकणवाणी बरसाती पवन वेग से चलता रहता है, उसी ऋतु में पुर और नरक के शत्रु भगवान् विष्णु के मन्दिर का निर्माण हुआ ।<sup>१</sup> यहाँ कवि दामोदर की विषयाभिव्यक्ति दर्शनीय है । बरसाती पवनों को कर्ताकारक में रखकर अनेक प्राकृतिक उपादानों में उसका प्रभाव निरूपित कर सकने का वाक्य से सम्पूर्ण प्रावृत्काल का सांग वर्णन किया गया है ।

नरवर्मेन् कालीन मन्दसौर शिलालेख में वर्षाशिरस्-सन्धि का रम्यवर्णन है । यद्यपि तीसरे कन्द में 'प्रावृत्काल' स्पष्ट लिखे होने के कारण इसे वर्षा ऋतु में लेना ही युक्तिसंगत है । शिलालेख अपूर्ण है अतः उद्देश्य का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, फिर भी दो श्लोकों में मनः-तुष्टिकर वर्षा के कारण धुली आश्विन मास की पृथ्वी का समासोक्तिपरकवर्णन, कवि की उर्वर प्रतिभा का परिचायक है । दो ऋतुओं का युगवत् चित्रण कवि इस प्रकार करता है — 'मनुष्यों के मन को प्रसन्न करने वाले मंगलमय वर्षाकाल के आने पर तथा कृष्ण के द्वारा अनुहंसित इन्द्रोत्सव के प्रारम्भ होने पर, अन्न (ग्रीहि, यव) युक्त और काशपुष्प से अलंकृत, सस्य की माला पहनी हुई पृथ्वी उज्ज्वलता से बहुत शोभित हो रही है ।'<sup>२</sup>

वर्षाकाल का रांद्रचित्रण स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में बड़े सञ्जक्त शब्दों में है । ग्रीष्मकाल को, मेघादुम्बर के द्वारा भेदकर वर्षाकाल का आना, और अविश्राम वृष्टि के पश्चात् रैवतक पर्वत से निकली, पला-

१. सूची विर्विस्फोटयन्तः स्फुटित-पुट-रजोधूसराः कैतकीना-

माधुन्वन्तः कलापान्मदकलवचसांभृत्यतां बहिष्णानाम् (५) [१]

मेघालिर्विदिपन्तः सलिलकणभृतो वायवः प्रावृषेण्या

वान्त्युच्चैर्यत्र तस्मिन्पुरा (१) नरकरिपोर्मन्दिरं सन्निविष्टम् ॥

र०इ०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ६

२. प्रावृत्काले शुभे प्राप्ते मनस्तुष्टिकरे नृणाम् [१]

मघे (हे) प्रवृत्ते शक्रस्य शृष्णास्यानुमते तदा [१]

निष्पन्नग्रीहियवसा काशपुष्परलंकृता [१]

भाभिरम्यधिकं भाति मेदिनी सस्यमालिनी [१]

— र०इ०, भाग १२, पृ० ३२०, श्लोक ३-४

शिनी, सुवर्ण-सिकता प्रभृति नदियों का ( बाढ़ रूपी याँवन उभार से) सुदर्शन भरील के ( उपपत्तिरूप ) बाधा-बन्धन को तोड़ फोड़कर पति रूप सागर से मिलने जाना, उर्जयत पर्वत का तीरान्तपुष्पशोभित नदीरूप हाथ का ( आलंगन हेतु ) फैलाना, सुदर्शन भरील की समुद्रतुल्यदर्शन वाली दुर्दर्शनता आदि वर्णन आज भी आलोचकों को रोमांचित करने में सक्षम हैं ।<sup>१</sup> यहाँ परिस्थिति की भीषणता की गहराई के तटपर अनुभूति की तुलिका से ही कवि ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर सका है । भाषा, भावानुसारिणी और अभिव्यंजन, उग्र है । इसीलिए यह वर्णन हमारे भय का सख आलंबन बनने में सर्वथा समर्थ है ।

शरत्काल — मेघमुक्त अतः स्पष्टचन्द्रतारका शरद् ऋतु आती है । धौत-धरा बन्धूणा-बाणा आदि से अपना शृंगार करती है । सौन्दर्य-प्रिय कवि ने तभी तो उदयगिरिगुहा में 'जिन' प्रतिमा प्रतिष्ठापन के मास का उल्लेख करते समय 'कार्तिक' के पहले 'सु' उपसर्ग लगाया, — 'सुकार्तिके-बहुलदिने (९)धर्पंचमे' <sup>१</sup>। हो सकता है कि वर्णनविस्तारभीरु कवि के हृदय में शरत् के प्रति पर्याप्त आकर्षण रहने पर भी उसने कार्तिक के पहले 'सु' लगाकर ही सन्तोष की साँस ले ली हो । या 'रुचिरा' हृन्द की आरम्भिक लघुवर्णिता ने भी उसे 'सु' उपसर्ग लगाने के लिए विवश किया हो । फिर भी यह शब्द इतना संकेतात्मक है कि सस्यपिंगलधरा, धनप-योधरमुक्तगगन और उजली-उजली दिशाओं के रेखाचित्र आँखों के सामने थिरकने लगते हैं ।

‘सर्वजनचित्तसुखावह’ कार्तिकमास का समृद्ध चित्रण विश्ववर्मन् के गंगाधरशिलालेख में है । इस समय जब कि — ‘नीलकमलों से गिरे पराग से यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा में अरुण जल होता है, वनों की सीमाएँ बन्धुक एवं बाणों के फूलों से चमकती रहती हैं, मधुसूदन (विष्णु) की जागरण वेला इस ऋतु में उत्फुल्लकमलसमूह की भाँति शुद्ध तारक’<sup>२</sup> ( आकाश में विराजमान

१: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६० श्लोक २६, २८, २९, ३१

२. नीलोत्पलप्रसृतरेण्वरुणाम्बुकीणो बन्धुकबाणकुसुमोज्ज्वलकाननान्ते॥  
निद्राव्ययायसमये मधुसूदनस्य काले प्रबुद्धकुमुदागरे-शुद्धतारे ॥

—का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ७५, पं० २०-२२

रहते हैं, ऐसे समय पर राजा के सेवक मयूराक्षक ने गर्गरा के तटवर्ती नगर को वापी, तहाग, मन्दिर आदि बनवाकर समलंकृत किया । )'

यहाँ शारदी शोभा में विष्णु उत्थापनजन्य पवित्रताकी व्यंजना देना भी कवि का प्रयोजन था ।

मिहिरकुल के ग्वालियर लेख में वर्णित गोपगिरि पर सूर्य-मन्दिर के बनार जाने का समय भी कार्तिकमास ही था — जब चन्द्रमा के रश्मिहास से विकसित कुमुदों की गन्ध से सम्पृक्त शीतल पवन चल रहा था और गगनपति (चन्द्र) निर्मल होकर सुशोभित हो रहे थे ।<sup>१</sup> यहाँ घ्राणा, स्पर्श एवं दर्शनमूलक चित्रों का युगपत् वर्णन दर्शनीय है ।

हेमन्त—बन्धुवर्मन्कालीन मन्दसौर लेख में हेमन्त ऋतु का इतना विशद और सांग वर्णन हुआ है कि वह कालिदास के ऋतुसंहार के हेमन्त-वर्णन के समीप निस्संकोच रखा जा सकता है । कविसत्सभाट्ट सूर्यमन्दिर के निवेशन समारोह का वर्णन करते हुए कहता है कि ' (जिस ऋतु में) कैलि-गृहों में प्रियतम-प्रियतमाओं का मिलन होता है । सूर्य की मन्द किरणों के कारण अग्नि का ताप प्रिय प्रतीत होता है । मकलियाँ जल के भीतर क्लिपी रहती हैं । चन्द्रकिरणों के समान शीतल, प्रसादों के निचले खण्ड, चन्दन, पंखे और हार आदि का उपयोग नहीं किया जाता तथा हिमपात से कमल गल जाते हैं । जो ऋतु, लोभ्र, प्रियंगु और कुन्दलता के मधुपान से मत्त प्रमरों से मनोहर लगती है । तुषारकण से कर्कश और शीत पवनवेग से लवली तथा नगण की शाखाएं आन्दोलित होती रहती हैं और जिस ऋतु में कामाभिभूत युवकसमूह अपनी-अपनी प्रेयसियों के पृथुलमनोहर और पीन-जंघों, कुर्वों और नितम्बों के अशिक्षित परिरम्भ से ( उत्पन्न ऊष्मा के कारण) हिमपात को कुछ भी महत्त्व नहीं देते । ' २ ऐसी ऋतु में ही सूर्य मन्दिर

१. शशिरश्मिहासविकसितकुमुदोत्पलगन्धशीतलामोदे [१]

कार्तिक मासे प्राप्त[१]गगन-[पतां नि]म्पलेभाति । [१]

— का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १६२, श्लोक ६

२. रामासनाथ[र]चने दरभास्करांशु वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने ।

चन्दांशुहर्म्यर्तलचन्दनतालवृन्त-हारोपभोध(ग)रहिते हिमदग्धपद्मे ॥

रोध्रपियंगुतरकुन्दलताविकोश-पुष्पा सब प्रमु[१]दतालिकलाभिरामे ।

काले तुषारकणककर्कशशीतवात-वेग-प्रनृत्त-लवलीनगणकशाखे ॥

समरवशगतरणजनवत्सभांगना-विपुलकान्तपीनोरु-[१]

स्तनजघनघनालिंगननिर्भिस्सित-तुहित-हिमपाते ॥

की प्रतिष्ठा हुई ।

हेमन्त का कितना यथार्थ और उदार वर्णन है । ' जललीन-  
मीने' में सरोवरों की निस्तब्धता , ' हिमदग्धपद्मे' में हेमन्तकालीन  
श्रीहीनता, तुषारकणककर्णशीतवाते' में हेमन्ती पवन का देह को काटते  
चलना अभिव्यंजित है ।

शिशिर— दिन अथवा मास के नामोल्लेख से ही ऋतु-विशेष का चित्रण  
नहीं हो सकता । लेकिन गौरी के छोटी साद्री वाले अभिलेख में कविप्रमर-  
सौम, तिथि-चासर के नामोल्लेख करते समय ऋतु का संक्षिप्त चित्र देकर,  
ऐतिहासिक तथ्यों को काव्यात्मक बनाने में सर्वथा समर्थ हुआ है । 'देवी'  
की मन्दिरप्रतिष्ठा के समय का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि —  
' ५४७ वर्षों के पूर्णरूप से व्यतीत हो जाने पर माघमास के शुक्लपक्षा की  
दशमी को ( इस मन्दिर की ) प्रतिष्ठा हुई । शुक्लपक्षा का वह दिन  
पूर्णाविकसित कुन्द के समान धवल एवं उज्ज्वल था ।' १ इस श्लोक के प्रथम  
तीन चरणों में तिथि गणना की नीरसता है, परन्तु चतुर्थ चरण में  
काव्य की सरसता सुरक्षित करते हुए कवि ने प्रकृति का स्पष्ट रेखाचित्र  
खींचकर अपने को ऐतिहासिकनीरसता से बचा लिया ।

---

१. यातेषु पंचसु शतेष्वथ वत्सराणाम् ।

द्वे विंश (विंश)ती समधिकेषु सप्तकेषु [१]

माघस्य शुक्लदिवसे समगत् (त्वमगत्)प्रतिष्ठा(ष्ठा)म्

प्रीत्फुल्ल-कुन्द-द्ध्य (ध) वलोज्ज्व(ज्ज्व)लिते दशम्याम् ॥ —

ए०ई०, भा०, भाग ३०, पृ० १२६, श्लोक १३



## एकादश अध्याय

### व्यक्तित्व — चित्रण

संस्कृत काव्यों के पात्र अपने निश्चित आदर्शों का निर्वाह करते हुए चलते हैं। राम का शान्त गम्भीर व्यक्तित्व, परशुराम का क्रोधबहुलजीवन दुर्वासा का शापप्रचुर-व्यवहार आदि पाठकों के संस्कारों में इतने गहरे बैठ गए हैं कि उनमें लेशमात्र का परिवर्तन भी पात्रगत औचित्य खो बैठता है। इसीलिए निश्चित रसनिष्पत्ति के लिए निश्चित पात्र की अवतारणा करना कवि का प्रयोजन होता है। इन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण आचार्यों ने नायकों-नायिकों को अनेक वर्गों में बाँटा, जैसे दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य तदनन्तर पात्रगत विशेषताओं के कारण वे धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त में वर्गीकृत हुए।<sup>१</sup> शृंगारादि रस में तो इन चारों को भी दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ में विभाजित करके नायकों के सोलह भेद जो जाते हैं।<sup>२</sup> किन्तु इस भेदोपभेदों का उपयोग अभिलेखीय चरित्र-चित्रण में करना उपयुक्त नहीं। कवि निरंकुश कहें गए हैं, जब कि अभिलेखीय कवि नियंत्रित थे। कवि 'प्रजापति' होते हैं, किन्तु राजकीय सेवा में वेतनजीवी होने से अभिलेखीय कवि मनोनुकूलसृष्टि करने में असमर्थ थे। कवियों के पास कल्पना के पंख और स्वतंत्र आकाश होता है, किन्तु इनके पास यथार्थ का धरातल और उस पर भी गुरुत्वाकर्षण की जकड़न। प्रतिभा की दोनों में कमी नहीं, किन्तु दोनों के क्षेत्र पृथक् हैं। स्वतंत्र कवि अपनी लेखनी की नोक पर हृदय रख कर निर्द्वन्द्व लिखता था, किन्तु अभिलेखीय कवि की लेखनी के ऊपर राजा का बोझ था। यही कारण है कि दानपत्र आदि में राजाओं का प्रायः एक रूप प्रशंसात्मक वर्णन प्राप्त होता है। काव्यों में जहाँ स्वभाव निरूपण पात्रों के भाषण या कार्यों से अभिव्यक्त किया जाता है, वहाँ अमरावती<sup>३</sup> आदि

१: द०६०, २।३

२: 'रभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा,' सा०द०३।३५

३. सा०द०६०, भाग १, संख्या ३२

कुछ अपवादस्वरूप अभिलेखों को छोड़कर साक्षात् प्रशंसात्मक वर्णन द्वारा होता है। इसलिए अभिलेखों के नृपतियों को कात्मनिक नायकों के जैसे शास्त्रनिर्धारित वर्गों में रखकर, उनका चरित्रनिर्दर्शन करना, एक असफल प्रयास ही होगा। सोने की परीक्षा करने वाले निकष पर ताम्रपत्रों को रखना उचित नहीं। ये पात्र अदिव्य हैं और एक ही पात्र, विविध पक्षों को ढूँने वाले एकही अभिलेख के वर्णन से उदात्त, ललित और प्रशान्त तीनों हो सकता है। उद्धृत विशेषण शब्दवर्णन के प्रसंग के लिए आरक्षित रखा जाता है।

जहाँ तक सद्गुण हैं, वे एक उत्कृष्ट व्यक्तित्व में विद्यमान रहते ही हैं, अथवा उच्च व्यक्तित्व उन गुणों की ही अपेक्षा करता है। इसलिए व्यक्तित्व चाहे कल्पनाप्रसूत काव्यों का हो, या अभिलेखों का यथार्थ उन गुणों से संपृक्त न होने पर, श्रेष्ठ कैसे हो सकता है? धनंजय के शब्दों में ये गुण हैं —

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दत्ताः प्रियम्बदः ।

रक्तलोकः शुचिवर्गमी रुढवंशः स्थिरौ युवा ॥

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञा-कलामानसमन्वितः ।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥<sup>१</sup>

शब्दों के तनिक हेर-फेर के साथ विश्वनाथ ने नेता के विषय में धनंजय का ही समर्थन किया — 'त्यागी, कृती, कुलीन, सुश्रीक, रूपवान्, उत्साह समन्वित दत्ता, अनुरक्त लोक, तेजवान विदग्ध और शीलवान्' ।<sup>२</sup> ये गुण नेता के हैं, जिनकी विद्यमानता दिखाकर, उसके व्यक्तित्व की श्रेष्ठता स्थापित की जाती है। यही प्रयोजन अभिलेखीय कवियों का था, इसलिए अपने आश्रयदाताओं की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए वे उनमें इन्हीं गुणों को उभारने के लिए प्रवृत्त हुए। वर्णन का प्रकार भिन्न रहा, वर्णन के तत्त्व समान रहे। भरतमुनि ने जिन नृपति-गुणों की गणना की है, उनमें लोकपालनव्रतधर आदि कुछ ही अतिरिक्त गुण हैं, जिनका उल्लेख नेता के गुणों में नहीं हुआ, अन्यथा नेता और नृपति-गुणों में पर्याप्त साम्य

अब नेता और नरपतियों के आवश्यक गुणों का सामंजस्य करके उन्हें निम्नांकित शीर्षकों में रखा जा सकता है —

- (१) कुलीनता
- (२) रूपयावन
- (३) अनुरक्त लोक एवं प्रजापालक
- (४) कलावान् या कलाप्रिय
- (५) शास्त्रचतुर्धार्मिक और विद्वान्
- (६) त्यागी, उदार और दानी
- (७) बुद्धि-स्मृति-प्रज्ञा
- (८) स्थैर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, महासत्त्व
- (९) शूर-दृढ-तेजस्वी
- (१०) अन्यगुण (शीलवान्, मधुर, प्रियम्बद्, वाग्मी, विदग्ध, सत्यवान्, विनयी, मानी, दत्ता आदि)

उल्लिखित शीर्षकों के निकष पर ही भारतीय नरपतियों का व्यक्तित्व निरूपित किया जायेगा। पात्रों की संख्या यदि कम होती, तो प्रत्येक पात्र का पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व चित्रण सुविधाजनक होता, किन्तु सात सौ वर्षों के बृहत्<sup>काल</sup>कलेवर में आने वाले सैकड़ों राजाओं के विषय में अलग-अलग कहना सम्भव नहीं और न समुच्चयात्मक रूप में भी सभी को स्थान दिया जा सकता है। उद्देश्य यहाँ यह अवश्य है कि अधिकांश नृपतियों को स्थान मिले जिसके व्यक्तित्व का जैसा चित्रण, जिस गुण की पकड़ में आ जाय।

राजकर्मचारियों और महिष्यादि स्त्री पात्रों का चरित्र-चित्रण,

१. ५० — बलवान् बुद्धिसम्पन्नः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।  
 दत्ताः प्रगल्भी धृतिमान् विक्रान्तो मतिमांक्षुचिः ॥  
 दीर्घदर्शी महोत्साहः कृतज्ञः प्रियवाह० मृदुः ।  
 लोकपालनव्रतधरः कर्ममार्गविशारदः ॥  
 उत्थितश्चाप्रमत्तश्च वृद्धसेव्यर्थशास्त्रवित् ।  
 परभावेद्भि० गताभिज्ञः शूरो रक्षा० समन्वितः ॥  
 ऊहापोहविचारी च नानाशिल्पप्रयोजकः ।  
 नीतिशास्त्रार्थकुशलस्तथा चैवानुरागवान् ॥  
 धर्मज्ञोऽव्यसनी चैव गुणैरेतैः भवेन्नृपः ।

अभिलेखों में पर्याप्त न्यून हैं; इसलिए यहाँ उनका व्यक्तित्व गुण-विभाजन करके नहीं आँका गया है। वे जैसे हैं, सम्पूर्ण रूप से तद् रूप रख दिए गए हैं। ये दोनों वर्ग यहाँ गोटा, हैं। अतः इनके व्यक्तित्वचित्रण विभाग को प्रस्तुत परिच्छेद के परिशिष्ट की संज्ञा देना ही पथ्यकर है।

### कुलीनता —

धनंजय ने नायक को रुढवंश होना आवश्यक माना है।<sup>१</sup> विश्व-नाथ ने भी इसका समर्थन किया।<sup>२</sup> आचार्यों के आदेशानुसार कवियों को अपने काव्यों के लिए ऐसे ही विशिष्टकुलोद्भव नायकों का निर्वाचन करना पड़ता था। अभिलेखों में ऐसे निर्वाचन का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि अभिलेखीय नायकों (विशेषतः राजा, सम्राट् आदि) की कुलीनता तो इतिहाससिद्ध ही है। वत्सभट्टिरचित मन्दसौर लेख<sup>३</sup> आदि कुछ अपवादों को छोड़कर अभिलेखों को अधिकांश रूप में नृपतिगण ही उत्कीर्ण करवाते; राजा ही भूमिदान निबद्धन करने के लिए ताम्रपत्र लिखवाते। अतः इन महावंशप्रभव राजाओं की कुलीनता अथवा रुढवंशत्व के चित्रण में अभिलेखीय कवियों को कल्पना का आश्रय लेने की आवश्यकता न रही। हाँ, साहित्य का सुदृढभवन अतिशयोक्ति की नींव के बिना कैसे खड़ा हो सकता है? अतिरंजित वर्णनों के स्थलों में यह प्रश्न अपना स्वरूप परिवर्तन कर 'उत्तर' बन जाता है। जन साधारण अथवा साधु-सन्यासियों के द्वारा उत्कीर्ण करवाए गए लेख, जिनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है, यहाँ विवेच्य नहीं।

भारतीय इतिहास में गुप्तवंश महानतम वंशों में एक गिना जाता है, कहाँम प्रस्तरलेख में स्कन्दगुप्त के लिए 'गुप्तानां वंशजस्य'<sup>४</sup> अथवा भित्ती लेख में 'गुप्तवंशैकवीरः'<sup>५</sup> आदि वाक्यांश प्रयुक्त हुए हैं। ये केवल कुल-नामोल्लेख मात्र नहीं; अपितु इनके पीछे कुलगौरव कथन, कवि का अभीष्ट है। कुलीनता के लिए मातृवंश की उच्चता भी अपेक्षित है, तभी तो समुद्र-

१: द०६०, २।१

२: सा०६०, ३।३०

३: का०६०६०, भाग ३, संख्या १८

४: वही, पृ० ६७, श्लोक १

५: वही, पृ० ५३, श्लोक २

गुप्त के लिए लिच्छिविदोहित्र<sup>१</sup> विशेषण ससम्मान प्रयुक्त होता था । वाकाटक नरेश भी जिस प्रकार वाकाटकों के महाराज ;<sup>२</sup> अथवा 'वाकाटक-लतामस्य'<sup>३</sup> लिखवाकर अपनी कुल की उत्कृष्टता को व्यक्त करते थे, उसी प्रकार अपने मातृकुल के वर्णन से भी । रुद्रसेन(प्र०) को भवनाग-दोहित्र<sup>४</sup> कहने में विशेष गौरव दिया जाता है :—

अम्भारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पा-  
दितराजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्या[म]ल (भागीरथ्यमल) जलमूर्ध्नाभि-  
षिक्तानाम्भारशिवानाम्भारराजश्रीभवनाग-दोहित्रस्य<sup>४</sup>

बाँसकेड़ा<sup>५</sup> तथा मधुवन<sup>६</sup> शासनपत्रों में वर्द्धन-नृपतियों के 'उदार कुलक्रम' की बात कही गई है । कलचुरिनरेश विभिन्न पुरुषारत्नों की गुण किरणों से उद्भासित, महासत्त्वों के आवासभूत, दुर्लभ, गम्भीर निश्चितनियम-पालक समुद्र के समान राजवंश से समुद्भूत थे ।<sup>७</sup> राष्ट्रकूट नर-पतियों ने अपने वंश को क्षीरनिधि से उपमित किया है — विस्तीर्ण(पूर्ण)क्षी-  
तिपालनावाप्त्यशसि श्रीराष्ट्रकूटानामन्वये रम्ये क्षीरनिधाविव—<sup>८</sup> पश्चिमी चालुक्य पुलकेशिन्(द्रि) के ऐहोल शिलालेख में चालुक्यवंश का साम्य विपुल जल-निधि से किया गया है, क्योंकि वह वंश वसुन्धरा के शिरोभूषण-रूप पुरुषारत्नों की उत्पत्ति का स्थान था ।<sup>९</sup> पल्लव नरेश भी उत्तम कुलोत्पन्न थे । लेखों में इस वंश के आदिपुरुषों में द्रोण, अश्वत्थामा भी गिनाए गए हैं । परिणामतः पनमल्ल लेख में इसकुल का साम्य चन्द्रमा से निःसृत निर्मल गंगा-प्रवाह से दिया गया है — मन्दाकिन्या[ः] प्रवाहःशशिन इव महानन्वयःपल्ल-  
वानाम् ।<sup>१०</sup> यह साम्य उचित भी है, क्योंकि था भी तो यह भारद्वाज-

१. प्रयाग प्रशस्ति, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० ८, पं० २६, मथुरा प्रस्तर लेख,  
वही, पृ० २७, पं० ७

२. का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २३४, पं० १

३. प्रवरसेन(द्रि०) का चम्पक शासनपत्र, सि०इ०, भाग १, पृ० ४१८, स—सुडा

४. तिरौदी ताग्रशासन, ए०इ०, भाग २२, पृ० १७१, पं० ३-५

५. हि०लि०इ०, पृ० १४६, पं० १३

६. ए०इ०, भाग ७, पृ० १५८, श्लोक २

७. वेदनेर शासनपत्र, का०इ०ई०, भाग ४(१) पृ० ४६, पं० १-३

८. संगलुद शासनपत्र, ए०इ०, भाग २६, पृ० ११४, श्लोक १

९. इ०ऐ०ए०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक २

१०. ए०इ०, भाग १६, पृ० ११३, श्लोक २

गौत्रीय राजवंश— विमलतरभरद्वाजवंशोद्भवानाम् ।<sup>१</sup> तालगुण्ड लेख में कदम्ब काकुत्स्थवर्मन् को 'बृहदन्वययव्योमचन्द्रमा' कहा गया है ।<sup>२</sup> सेन्द्रक राज्य यद्यपि छोटा था किन्तु यह राजवंश 'सुमेरुशिवर' के समान स्थिर, रुचिर, उच्च एवं विकसित कीर्ति सम्पन्न<sup>३</sup> था । पूर्वी गंगनरेश इन्द्रवर्मन् आदि ने अपने वंश को 'गंगामलकुल'<sup>४</sup> कह कर अपनी कुलीनता व्यक्त की । शैलोद्भव माधव वर्मन् (द्वि०) अपने कुल को सद्वंश कह कर गौरवान्वित हुआ ।<sup>५</sup>

### रूपयावन—

विश्वनाथ ने रूपयावन सम्पन्नता को भी नायक के १० गुणों में गिनाया है ।<sup>६</sup> धर्मजय ने केवल 'युवा' शब्द से रूप की ओर भी सहज संकेत कर दिया ।<sup>७</sup> रूप, यावन पर आश्रित है, किन्तु पूर्णतः नहीं, क्योंकि कुछ सीमा तक वार्द्धक्य में भी रूप की रक्षा की जा सकती है । वास्तव में यह 'युवा' शब्द काव्यों के कल्पनाप्रसूत नायकों के लिए ही उपयुक्त है । अभिलेखों के नायक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं । अभिलेख लिखवाते समय या दान घोषणा के समय यह आवश्यक नहीं कि कोई राजा या दानकर्ता युवा ही रहा हो । उदाहरणार्थ अँगोदु दानपत्र की घोषणा के समय पल्लवनरेश विजय-स्कन्दवर्मन् (द्वि०) का राज्यसंवत्सर तैंतीसवाँ चल रहा था ।<sup>८</sup> यदि उसने चौबीसवर्ष की आयु में भी राज्यारोहण किया हो, तो दान घोषणा के समय वह सत्तावन वर्ष का रहा होगा । इसलिए इतिहास के मंच पर खड़े इन नायकों को युवा होना आवश्यक नहीं, यद्यपि कहीं-कहीं अभिलेखों में ही रूपके साथ 'युवा' शब्द भी प्राप्त हो जाता है, जैसे मन्दसौर नरेश बन्धुवर्मा के लिए प्रयुक्त वत्सभट्ट की यह उक्ति—

१: ए०ई०, भाग १६, पृ० ११३, श्लोक ३

२: ए० कर्णा, भाग, ७, पाठ्य पृ० २००, श्लोक ३

३: मुन्दखेडे शासन पत्र, ए०ई०, भाग २६, पृ० ११६, पं० १

४: जिरजिगी शासन पत्र, सि०ई०, भाग १, पृ० ४५६, पं० ३

५: पुराणोत्तमपुर शासनपत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६७, श्लोक ५

६: सा०ख०, ३—३०

७: द०ख०, २—१

८: विजयसम्बत्सरे त्रयस्त्रिंशे, ए०ई०, भाग १५, पृ० २५२, पं० १४—१५

वर्ण्यमान नरपति के आश्रित होने, अथवा रूप के प्रति मानवमात्र का स्वाभाविक समादर होने के कारण अभिलेखीय कवियों ने उनके रूपवैभव का अतिरंजित वर्णन किया है। गिरिनार शिलालेख में रुद्रदामन् को कान्तमूर्ति कहा गया है, जिसके परिणामस्वरूप उसने नरेन्द्रकन्याओं के आयोजित स्वयं-वर्णों में अनेक वरमालाओं को प्राप्त किया था—‘कान्तमूर्तिना.... नरेन्द्रक [न्या] स्वयम्वरानेकमात्मप्राप्तदाम्—[T]’ २ गुप्तसम्राटों में चन्द्रगुप्त (द्वि०) को ‘रूपाकृति’ ३ एवं ‘नरेन्द्रचन्द्र’ ४ कहा जाता था, ये विशेषण उसकी आकृति की सुन्दरता के ही द्योतक हैं। मिहरौली स्तम्भलेख में भी उसे चन्द्र सदृश मुखश्री—सम्पन्न कहा गया है—‘चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्र [स]दृशीं वक्त्रश्रियं विभ्रता’ ५। सिक्कों में, कुमारगुप्त भी चन्द्रमा से उपमित है, उदाहरणार्थ—‘गुप्तकुलव्योमशशी—’ ६ तथा ‘गुप्तकुलामलचन्द्रो—’ ७।

गंगधार शिलालेख में मन्दसौरनरेश नरवर्मन् के लिए ‘कान्त’ ८ तथा विश्ववर्मन् को ‘सकलेन्दुवक्त्र’ ९ कहा गया है। ‘कान्ताचित्तहर’ ‘स्मर-प्रतिसम’ १० ‘स्मरसदृशवपु’ मोखरी अनन्तवर्मा को (पृगया में) जीवन के प्रति निस्पृह मृगियों के द्वारा ‘स्निग्धमुग्ध आँखों से अपलक देखा जाना स्वाभाविक ही था। ११ त्रैलोक्य व्याघ्रसेन ‘शारदरजनिकरवपु’ वर्णित है। १२

१: का०इ०ई०, भाग ३, पृ० ८२--८३, श्लोक २७

२: इ०रेण्टि०, भाग ७, पृ० २६१, पं० १५

३: ‘रूपाकृति’ — इ०म्यू०क०, पृ० १०४ (स्मिथ)

४: गु०मु०, पृ० ७२, ७५, तथा फ० — २१, क्रम १७

तथा ड०—न्यू०क्रा०, १६१०, पृ० ४०४, संख्या २१

५: का०इ०ई०, भाग ३, पृ० १४१, श्लोक ३

६: गु०मु०, पृ० १२२

७: वही, पृ० १२६

८: का०इ०ई०, भाग ३, पृ० ७४, श्लोक २

९: वही, पृ० ७४, श्लोक ५

१०: वही, पृ० १२३, श्लोक २

११: वही, पृ० २२५, श्लोक ३

१२: इ०इ०, भाग ११, पृ० २२०, पं० ३



चन्द्रकान्ति का आश्रय तथा लक्ष्मी का प्रियतम होने पर भी चालुक्य पुलकेशिन (प्र०) को वातापि नगरी रूप दुर्लभ ने पति के रूप में वरणा किया ।<sup>१</sup> यहाँ अनेक रमणियों का एक साथ पति बनने की पृष्ठभूमि में पुलकेशिन (प्र०) का रूप भी एक कारण है । पल्लवनरेश को अपने रूपातिशय के कारण 'कामकलित'<sup>२</sup> नयनमनोहर<sup>३</sup> तथा 'अनुपम'<sup>४</sup> आदि विशेषणा प्राप्त हुए थे । विष्णुकुण्डिन् माधववर्मन् युवतिहृदयनन्दन<sup>५</sup> तथा अश्मकेशरिसाम्ब कमल एवं इन्दु के समान कान्तवदन था —

हरिसाम्बोम्बुराहेन्दुकान्तवक्त्रः ।<sup>६</sup>

छोटी साद्री लेख में माणवायनि गौत्रीय राजा राज्यवर्द्धन के मुख को पूर्णैन्दुमण्डलविभूति स्वरूप चित्रित किया गया है ।<sup>७</sup> इसी प्रकार हरह लेख में ईशमवर्मा को 'राजकमण्डलाम्बरशशी'<sup>८</sup> कहा गया है । पूर्वीय चालुक्य नृपति जयसिंह (प्र०) तो कान्ति के कारण चन्द्रमा से ( इन्दु रुचा ) और सुन्दर शरीर के कारण कामदेव से भी बढ़कर था "कन्दर्पमाहिततनुं वपुषाति-शेते" ।<sup>९</sup>

कलिंगदेश के शैलोद्भवों में पुलिन्दसेन अतिशय रूपवान् था । स्थूल एवं सुन्दर भुजाओं, विशालवक्त्र तथा कोमलदर्पों के समान लोचनयुक्त होने के कारण वह जनप्रिय था ।<sup>१०</sup> इसी वंश का शासक सैन्यभीत (द्वि०) माधववर्मा 'श्रीनिवास' सुन्दरियों के लोचनभृंगों के लिए कमल के समान आकर्षणाकेन्द्र, चित्रित हुआ है —

सीमन्तिनी-नयन-षट्पदपुण्डरीकः ।<sup>११</sup>

- १: इ०एण्टि०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ७ (रैहोल लेख)  
 २: हि०लि०इ०, पृ० १२१, सं० ८  
 ३: वही, पृ० १२१, सं० ६  
 ४: वही, पृ० १२२, सं० ११  
 ५: ए०इ०, भाग १३, पृ० ३३६, पं० ४-५  
 ६: इ०के०टे०वै०इ०, पृ० ७३, श्लोक ३  
 ७: ए०इ०, भाग ३०, पृ० १२४, श्लोक ५  
 ८: हि०लि०इ०, पृ० १४३, श्लोक ११  
 ९: ए०इ०, भाग १६, पृ० २५६, श्लोक १  
 १०: ए०इ०, भाग ३०, पृ० २६७, श्लोक ३  
 ११: वही, पृ० २६७, श्लोक ६

भरत ने राजाओं के अनिवार्यतम गुणों में एक 'लोकपालनव्रतधर' बतलाया है।<sup>१</sup> यदि नृपति ने इस गुण का सम्यक् निर्वहण कर दिया तो उसका विश्वनाथ एवं धनंजय निदर्शित अनुरक्तलोक<sup>२</sup> होना स्वाभाविक ही है।

चात्रप रुद्रदामन् अपनी जनप्रियता के कारण ही सभी जातियों के प्रतिनिधियों द्वारा अनुमोदित हुआ था।<sup>३</sup> राजा बनने के पश्चात् भी उसकी जनकल्याणी भावना का प्रमाण यह है कि उसने 'नगरवासी तथा ग्रामवासी प्रजाजन'ों को कर, बेगारी और भेंट आदि के लिए विवश न करते हुए राजकोष से अपार धनराशि व्यय कर सुदर्शन भौल का निर्माण करवाया था।<sup>४</sup> इसके अतिरिक्त पौरजानपदों के अनुग्रहार्थ उसने 'सुविशाल' सरीखे योग्य अमात्य (राज्यपाल) नियुक्त किए।<sup>५</sup>

गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त के अलौकिक कार्यों को देखकर लोग साश्चर्य एवं भावपूर्वक आनन्दित होते थे।<sup>६</sup> इसीवंश के कुमारगुप्त (दि०) के लिए मन्दसौर लेख में लिखा है कि उसके द्वारा 'चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखला, सुमेरु-कैलास बृहत्पद्मधरा, पत्नीरूपिणी पृथ्वी का शासनकिए जाते रहने पर, जो पृथ्वी वनों में खिले हुए फूलों के झल से सस्मित थी.....'<sup>७</sup> इस श्लोक के चतुर्थ चरण 'कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति' का प्रशासति शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। 'प्र' उपसर्ग सहित 'शास्' धातु का प्रयोग उसकी आदर्शशासन - व्यवस्था का ही सूचक है।

स्कन्दगुप्त, स्थानानुरूप योग्य राज्यपाल की नियुक्ति के विषय में कितना चिन्तातुर होता था, इसका प्रमाण सुराष्ट्रप्रदेश में पणदित्त का

१: ना०शा०, २४।७७

२: सा०द०, ३-३०, द०क० २-१

३: इ०ऐ०पिट०, भाग ७, पृ० २६०, पं० ६

४: वही, पृ० २६१, पं० १५-१६

५: वही, पृ० २६१, पं० १८-१९

६: का०इ०ई०, भाग ३, पृ० ६, श्लोक ५

७: वही, भाग ३, पृ० ८२, श्लोक २३

नियुक्ति सम्बन्धी वर्णन है।<sup>१</sup> मालववृषति विश्ववर्मा पृथिवी-रक्षा का कार्य भरतवत् करता था, (परिणामतः) उसके शासन करते रहने पर संसार में कोई भी व्यक्ति अधर्मरहित व्यसनान्वित एवं सुखवर्जित नहीं देखा गया।<sup>२</sup> वह अनाथों का नाथ, प्रणयिजनों के लिए कल्पद्रुमवत्, (वस्तुओं को) अभय-दान करने वाला एवं भीतजनपद के लिए बन्धु के समान चित्रित हुआ है।<sup>३</sup> उसका पुत्र बन्धुवर्मा, पिता के समान प्रजावर्ग का मानों बन्धु ही था।<sup>४</sup> वर्द्धनरेशों में प्रभाकर वर्द्धन भी प्रजाजनों के कष्टों को दूर करने वाला<sup>५</sup> वर्णित है।

मालवरी ईशानवर्मा ने क्रूरलोगों के आगमनजन्य उपद्रवों को कृपा और अनुरागादि लोकानन्दकर गुणों से शान्त किया।<sup>६</sup> हरह अभिलेख में ईशानवर्मा सूर्य के समान परोपकारी चित्रित हुआ है।<sup>७</sup> उसने 'कलिमारुत' से डगमगाई, अलक्ष्य-रसातलवारिधि में डूबती हुई पृथिवी की नौका को अपने व्यक्तित्व के सैकड़ों गुणों (ढोरों) से बलात् सुरक्षित स्थान की ओर खींच लिया था।<sup>८</sup>

अजन्ता गुहा लेख में वाकाटक हरिषेण को 'हरि' (प्रजा का कष्ट दूर करने वाला) तथा 'हर' (प्रजाजनों को आकर्षित करने वाला अथवा लोकप्रिय) कहा गया है।<sup>९</sup> पद्मिनीचालुक्य पुलकेशिन् (द्वि०) की समता, भुजाओं पर वसुन्धरा का भार धारण करने के कारण नारायण से स्थापित की गयी है।<sup>१०</sup>

१: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ५६, श्लोक ७-१२

२: वही, पृ० ७५, श्लोक १२-१३

३: वही, पृ० ८२, श्लोक २५

४: वही, पृ० ८२, श्लोक २६

५: मधुवन शासन पत्र, ए०इ०, भाग ७, पृ० १५७, पं० ३

६: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २३०, पं० ५, टि०--श्लोक खण्डित होने के कारण यहाँ पंक्ति संख्या ही लिखी गई है।

७: हि०लि०इ०, पृ० १४३, श्लोक १२

८: वही, पृ० १४३, श्लोक १६

९: इ०के०टे०वे०इ०, पृ० ७०, श्लोक १७

१०: का०प्ले०इ०आ०प्र०प्यु०, भाग १, पृ० ४४, पं० ६-१०

हूणनरेश तोरमाण पृथ्वी ( अपने राज्य ) का शासन न्यायपूर्वक करता था — 'न्यायतः शास्ता' <sup>१</sup>। उसका पुत्र मिश्रिकुल भी प्रजा के कष्ट को दूर करने वाला शासक था । <sup>२</sup> कलचुरि नरेश तुडराज चक्रधर के समान, प्रजाजनों की शान्ति को शान्त करने वाला चित्रित हुआ है । <sup>३</sup>

अलिकर लांकुन यशोधर्मन् के लोकपालनव्रत का प्रमाण यहीं से मिल जाता है कि 'अशुभकर्मा' अन्यान्य राजाओं से पीडित पृथ्वी, संसारो-पकार रूपी व्रत के सफलतापूर्वक पालन में स्थिर उसके बाहु के पास, विष्णु के (बाहु के ) पास, जैसे पहुँची । <sup>४</sup>

सेन्द्रकनूपति भानुशक्ति न्यायप्रिय था <sup>५</sup> उसके पुत्र आदित्यशक्ति की तुलना 'जितित्तिस्थितिराजकभूत्पालन' में निरत होने से समुद्र से की गई है । <sup>६</sup> इसी प्रकार राजा शिशुपाल को 'जत्रसद्धर्मपाल' कह कर सम्मानित किया गया है । <sup>७</sup>

कदम्ब नृपतिगण प्रजासाधारण के आशास्वरूप ही वर्णित हुए हैं । <sup>८</sup> इस वंश के राजा रविवर्मन् का अनुज भानुवर्मन् अपना एवं दूसरों का युगपत् परोपकार करने वाला था — 'स्वपरहितकरो' । <sup>९</sup> कदम्ब रविवर्मा को 'समस्तप्रजा के हृदयरूपी शुमुद के लिए चन्द्रमा' कहा गया है । <sup>१०</sup> कृष्ण-वर्मा (द्वि०) भी सम्यक् प्रजाजन के पालन में दत्ता था । <sup>११</sup>

सकल स्मृतिप्रणीत नियमों के सम्यक् पालन से प्रजाहृदय का अनुरजन करने के कारण मैत्रक गुह्येन के लिए राजा शब्द का कथन उपयुक्त ही

१: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १६२, श्लोक ३

२: वही, श्लोक ५

३: का०इ०इ०, भाग ४(१) , पृ० ४६, पं० १७

४: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १४६, श्लोक २

५: इ०ऐ०ए०, भाग १८, पृ० २६७, पं० ५

६: ए०इ०, भाग २६, पृ० ११६, पं० ६

७: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २५०, श्लोक १

८: इ०ऐ०ए०, भाग ६, पृ० २३, पं० ३

९: वही, पृ० २८, श्लोक १

१०: वही, पृ० ३२, पं० ७

११: बृहन्नलि शासन पत्र, ए०इ०, भाग ६, पृ० १८, पं० १२

था ।<sup>१</sup> गुप्तेन का पुत्र धरसेन (द्वि०) भी प्रजोपधातकारी आपत्तियों का दूर करने वाला था ।<sup>२</sup> धरसेन (तृ०) का अनुज ध्रुवसेन (द्वि०) का नाम बाला-दित्य सार्थक ही था, क्योंकि 'उदयमय' (शैशवकाल) से ही वह सारे संसार के हृदय में अनुराग उत्पन्न करने लगा था ।<sup>३</sup> इसी प्रकार त्रैकूटक व्याघ्रसेन प्रकृति से ही जनमनोर था ।<sup>४</sup>

पल्लवनरेश स्कन्दवर्मा (तृ०) को प्रजापालन में दत्ता एवं लोकपालों में पाँचवाँ लोकपाल कहा गया है ।<sup>५</sup> राजसिंह (द्वि०) कल्याणकारी कृत्यों को करने वाला था — "कर्ता च कल्याणपरम्पराणां" ।<sup>६</sup>

पश्चिमी गंग कोंगिणपुत्र माधव राज्य का प्रयोजन सम्यक् प्रजापालन मात्र समझता था — "सम्यक्प्रजापालनमात्राधिगतराज्यप्रयोजनः"<sup>७</sup>

सैकड़ों गजयन्त्रों के विघटन करने से लब्धप्रसादविजय शैलोद्भव सैन्यभीत (प्र०) को पाकर पृथ्वी (उसकी प्रजा) बहुत प्रसन्न हुई थी ।<sup>८</sup> पूर्वीय चालुक्य जयसिंह (प्र०) बृहस्पति के समान नयज्ञ,<sup>९</sup> और इन्द्रवर्मन् पुराण पुराण के समान 'बहुलोकान्तुते' एवं पुरारति (शिव) की भाँति भूतगणप्रिय था ।<sup>१०</sup> प्रजापालन की दृष्टि से उसे पाँचवाँ लोकपाल कहा जाता था ।<sup>११</sup> पूर्वीय गंगदानाणवि-पुत्र-इन्द्रवर्मन् न्यायादि सम्पदाओं का आधार था ।<sup>१२</sup>

१: बोटोद शासन पत्र, भाग ०, पृ० ४०, पत्र १, पं० ४-५

२: वही, पृ० ४०, पत्र १, पं० ६-१०

३: वही, पृ० ४१, पत्र २, पं० ८-९

४: सूरतशासन पत्र, ए०ई०, भाग ११, पृ० २२०, पं० ६

५: औंगोद् शासन पत्र, ए०ई०, भाग १५, पृ० २५४, पं० ८-९

६: पनमल्ल लेख, ए०ई०, भाग १६, पृ० ११४, श्लोक ५

७: मेर्कर ताम्रपत्र, इ० रेण्टि०, भाग १, पृ० ३६३

८: पुराणोत्तमपुर शासन पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६७, श्लोक ७

९: ए०ई०, भाग १६, पृ० २५६, पं० ६

१०: कोण्डणगूरु शासन पत्र, ए०ई०, भाग १८, पृ० ३, पं० ११-१२

११: वही, पृ० ३, पं० १३

१२: तैक्कलिशासन पत्र, ए०ई०, भाग १८, पृ० ३०६, पं० ५

कामरूप-प्राग्ज्योतिष के राजाओं में भोमनारक भास्करवर्मा शिव के समान परीपकारी था ।<sup>१</sup> समृद्धि भूरिफल कल्पवृक्षा सदृश वह सर्प-चीन ( कूरताविचीन ) और सरलता से अभिगम्य था । इसीलिए कहाया (संरक्षाण) पाने वाली जनता से वह (निरन्तर) परिर्वेष्टितपादमूल' होता था।<sup>२</sup>

कलावान् या कलाप्रिय—

विदेशी जोकर भी ज्ञात्रप रुद्रदामन् स्फुट (अर्थव्यक्ति सम्पन्न) लघु (प्रसादगुणोपेत), मधुर (माधुर्यगुणयुक्त), चित्र (ओजोगुणामय), कान्त (कोमल) शब्दसमय (शब्दसंकेत) तथा अलंकारयुक्त गद्यपद्य-काव्यरचना में निपुण था ।<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त अध्ययन, स्मरण और अनुभूति के माध्यम से वह संगीतकला को भी व्यवहार में लाया था ।<sup>४</sup>

आचार्यों से निर्दिष्ट गुणों के द्वारा उत्तम काव्य के विरोधी तत्त्वों को जगिण करके गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त विद्वन्मण्डली में अनेक शुद्ध तथा स्पष्ट रचनाओं के निर्माण से प्राप्त कीर्ति-साम्राज्य का भोग करता था ।<sup>५</sup> कवियों के काव्यविषयक ज्ञानदर्प को चूर्ण करने से तथा स्वयं भी उत्तम काव्य निर्माण करने के कारण वह कविराज की उपाधि से विभूषित था ।<sup>६</sup> केवल काव्यकला में ही वह इतना प्रवीण नहीं था, संगीत कला में भी उसने तुम्बुरुन एवं नारद तक को विहम्बित किया था ।<sup>७</sup>

वलभी नरेश ध्रुवसेन बालादित्य को कुमुदनाथ की उपाधि सार्थक ही प्राप्त हुई थी, क्योंकि स्वभाव से ही वह सकल कलाकलापों से संपृक्त था ।<sup>८</sup> यहाँ कुमुदनाथ के अर्थ में षोडश कलाओं तथा राजा के अर्थ में चौंसठ

१: हि० लि० ६०, पृ० २३६, पं० ४०-४१

२: वही, पृ० २३८, श्लोक २५

३: गिरिनार लेख, इं० ऐं० टि० भाग ७, पृ० २६१, पं० १४

४: वही, पृ० २६१, पं० १३

५: का० ६० ६०, भाग ३, पृ० ६, श्लोक ३

६: वही, पृ० ८, पं० २७

७: वही, पं० २७

८: बोट्टादशासनपत्र, भाव०, पृ० ४१, पं० ४-५

कलाओं का स्पष्ट संकेत है। इसी प्रकार 'वालेन्दुसकान्ति' मांछिर ईशान-  
वर्मा के पीछे भी कलाओं में पारंगत होने (पारंगतानागतः) का रहस्य था।<sup>१</sup>

जिन प्रकार यथाति, काव्य (शुद्धाचार्य, उन्नतस्) से बहुत प्रेम  
करता था, उसी प्रकार पल्लवनरेश परमेश्वर वर्मा (५०) भी 'प्रियकाव्य'  
था — 'यः प्रियक[वि]षयो यथातिरिक्'।<sup>२</sup> प्रिय काव्य का अर्थ है, काव्यों  
में रुचि रखने वाला, किन्तु उसका व्यक्तित्व केवल यहीं तक सीमित नहीं  
था, वह स्वयं भी ललितकलाओं के विलास में बतुर था — 'बतुरःकलाविलासे'।<sup>३</sup>

अन्यान्य नृपतिगण भी वैविध्य के साथ कलावान् चित्रित हुए  
हैं, जैसे, पश्चिमी गंग शैलियापुर माधव के लिए कहा गया है कि वह  
विद्वानों एवं कविरूप कान्चनों के लिए निकषोपलसदृश था।<sup>४</sup> इसी भांति  
प्राग्ज्योतिष (कामरूप) नृपति भास्करवर्मन् 'स्फुटललितपदयुक्त सर्वमार्ग  
कवित्व' से सम्पन्न, वर्णित हुआ है।

शास्त्रवान् धार्मिक और विद्वान् —

रुद्रदामन् ने गोब्राह्मण एवं धर्मकीर्ति की वृद्धि के लिए भग्न  
सुदर्शन मूर्ति का संस्कार करवाया था।<sup>५</sup> समुद्रगुप्त साधुओं के लिए उदय  
तथा आधुओं के लिए प्रलय स्वरूप था।<sup>६</sup> मालवनरेश नरवर्मा ने अनेक निय-  
मित और उदार यज्ञों से देवता तथा मुनिजनों को परितुष्ट किया था।<sup>७</sup>  
परिव्राजक महाराज हस्तिनदेवब्राह्मण भक्त था<sup>८</sup> और उसका परमभागवत  
पुत्र संज्ञोभ वृष्णिधर्म धर्म की संस्थापना में निरत रहता था।<sup>९</sup> मांछिर

१. किलि०६०, पृ० १४४, श्लोक १७

२. कूरमपत्र का संशोधित पाठ्य, २०६०, भाग १७, पृ० ३४०, श्लोक ५

३. वही, पृ० ३४०, श्लोक ७

४. इ०सेप्टि०, भाग १, पृ० ३६३

५. वही, भाग ७, पृ० २६१, पं० १५

६. वही, का०६०६०, भाग ३, पृ० ८, पं० २५

७. वही, पृ० ७४, श्लोक ३

८. वही, पृ० ६६, पं० ६ (बौद्ध ताम्रपत्र)

९. वही, पृ० ११४, पं० १० (बौद्ध ताम्रपत्र)



यज्ञवर्मा के द्वारा अपने यज्ञों में निरन्तर इन्द्र के जुलार जाने पर विरहव्यथिता पॉलोमी की कपोलश्री सदैव ऋपातमलिन रहती थी ।<sup>१</sup> नाम भी उसका यज्ञ-वर्मा सार्थक ही था, क्योंकि वह 'इष्टसमृद्धयज्ञमहिमा' <sup>२</sup> युक्त था । यह मौर्यवंश अपनी धर्म भावना के लिए विभूत था । इसी वंश के अनन्तवर्मा ने 'विन्ध्यभूधरगुप्त' में कात्यायनीदेवी की मूर्ति स्थापित की थी । <sup>३</sup>

वाकाटक प्रवरसेन(प्र०) ने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, वाजपेय, ज्योतिष्टोम, बृहस्पति सवसाधस्क एवं चार अश्वमेध यज्ञ किए थे ।<sup>४</sup> अंतिकर यशोधर्मन् ने शिव के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए भक्ति-कर्म भी मस्तक नहीं झुकाया था—यह कथन स्वाभिमानी यशोधर्मन् की अनन्यशिव भक्ति को ही व्यक्त करता है ।<sup>५</sup>

वर्द्धनवंशोत्पन्न नृपतियों में राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन तथा प्रभाकर-वर्द्धन परमादित्यभक्त चित्रित हुए हैं ।<sup>६</sup> प्रभाकर वर्द्धन का ज्येष्ठपुत्र राज्यवर्द्धन परम सांगत<sup>७</sup> था । कनिष्ठ पुत्र सम्राट् इर्ष के लिए परम माहेश्वर कहा गया है ।<sup>८</sup> इर्ष के समकालीन चालुक्य पुलकेशिन्(द्वि०) ने दिग्विजय के पश्चात् देवद्विजाति की आराधना करने के अनन्तर ही अपनी राजधानी में प्रवेश किया था ।<sup>९</sup> सैन्दरराज निकुम्भात्तशक्ति का वैभव देवद्विजाति एवं गुरु बान्धवों से उपभूक्त होता था ।<sup>१०</sup> राष्ट्रकूट नन्न ब्रह्मय<sup>११</sup> तथा विष्णु कुण्डन् गोविन्दवर्मन् परमधार्मिक था ।<sup>१२</sup> गोविन्दवर्मन् के पुत्र माधववर्मन् ने

१: का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २२४, श्लोक १

२: वही, पृ० २२७, श्लोक १

३: वही, पृ० २२७, श्लोक ४

४: द्वि०लि०इ०, पृ० १११, पं० १-२

५: वही, पृ० १३७, श्लोक ६

६: सौनपतमुद्रा—का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २३२, पं० २-७

७: वही, पृ० २३२, पं० ८-९

८: मधुवन शासनपत्र, ए०ई०, भाग ७, पृ० १५८, पं० ८

९: ई०रेपिट०, भाग ५, पृ० ७०, श्लोक ३२

१०: बगुम्रा शासन पत्र, वही, भाग १८, पृ० २६७, पं० १२

११: तीवरखेड शासन पत्र, ए०ई०, भाग ११, पृ० २७६, पं० ५

१२: इंदुर, शासन पत्र, ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३६, पं० २

सञ्च्य अग्निष्टोम यज्ञ किए और ग्यारह अश्वमेध-यज्ञान्त-स्नान से जगत्कल्मष प्रज्ञालित किए ।<sup>१</sup> पाण्डववंशीयनृपति वत्सराज को विधिल<sup>२</sup> और उसके पात्र नागबल को धर्मार्थसम्पादक<sup>३</sup> कहा गया है । आनन्दवंशज दामोदरवर्मन् चाँदमतावलम्बी था और भगवान् बुद्ध के चरणों का ही ध्यान करता था ।<sup>४</sup> कलचुरि कृष्णाराज का दान, धर्ममात्र के लिए था और धर्म त्रेयस् की सिद्धि के लिए ।<sup>५</sup>

मौरि आदित्यवर्मा को पाकर वणान्त्रिमाचारविधि के संचालन में ब्रह्मा को मानो साफल्य ही प्राप्त हो गया था— वणान्त्रिमाचारविधि-प्रणितैर्य<sup>६</sup> प्राप्य साफल्यमियायधाता ।<sup>६</sup> उसके यज्ञों के काले धूमजाल को देखकर मेघभ्रम से शिक्किल भी मुक्त हो जाते थे ।<sup>७</sup> गुह्येन (वलभी)सकलस्मृति प्रणित मार्ग का सम्यक् परिपालक बतलाया गया है ।<sup>८</sup> मंत्रक श्रीधरसेन (तृ०) सकलविद्याधिगम के कारण विद्वज्जनों को परितुष्ट करता था ।<sup>९</sup> सिक्कों में त्रैकूटक दहरसेन<sup>१०</sup> एवं उसका पुत्र व्याघ्रसेन<sup>११</sup> दोनों की परमवैष्ठाव चित्रित हुए हैं । गुर्जर नरेश दद (तृ०) मनुप्रणित नियमाध्ययन से लब्धविवेक स्वधर्मानुष्ठान प्रवीण एवं वणान्त्रिमव्यवस्था के उन्मूलककलिकाल का बाधक था ।<sup>१२</sup> दद(च) का मस्तक, देवछिजाति एवं गुरुचरणकमलों पर की गई प्रणतिक्रियाकी रथद्वारे परिणामस्वरूप सद्यनिर्गत रुचिर किरण सम्पन्न वज्रमणि के नौकों से युक्त मुकुट से उद्भासित रहता था ।<sup>१३</sup>

- 
- १: ईपुर शासन पत्र, ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३६, पं० ६-७  
 २: बेलनी शासनपत्र, ए०ई०, भाग २७, पृ० १४०, श्लोक २  
 ३: वही, पृ० १४१, श्लोक ६  
 ४: मट्टपादशासन पत्र, ए०ई०, भाग १७, पृ० २३६, पं० ११-२  
 ५: का०ई०ई०, भाग ४, (१), पृ० ४६, पं० ८-९  
 ६: हरह्लेख, हि०लि०ई०, पृ० १४२, श्लोक ६  
 ७: वही, पृ० १४२, श्लोक ७  
 ८: भाव०, पृ० ४०, पत्र-१, पं० ४-५ (बोटाद)  
 ९: वही, पृ० ४१, पत्र १, पं० २१-२२  
 १०: कै०ई०क्वा०ब्रि०म्यू०(रैप्सन) संख्या ६३०, पृ० १६८  
 ११: वही, संख्या ६७८, पृ० २०२  
 १२: ए०ई०, भाग २७, पृ० २००, पं० ८-९ (प्रिन्स आफ वेल्स म्यू० शासनपत्र)  
 १३: ए०ई०, भाग ५, पृ० ३६, पं० ३-४

‘सर्वशास्त्रार्थनिर्णयितृत्वज्ञ’ पल्लवनरेश विजयस्वर्णवर्मा ने अनेक गोचरिण्य भूम्यादि दानों के कारण सतत अभिवर्द्धमान धर्म का संवय किया था । इसके अतिरिक्त वह सदैव देवद्विजाति की शुश्रूषा में निमग्न रहता ।<sup>१</sup> पल्लव राजसिंह-नरसिंह वर्मन् (द्वि०) शैव था, जिसके संभृतभक्तिपुतचित् परेमृगांकमोलि सदैव अपना पद धरे रहते थे —

चित्ते सदा संभृतभक्तिपूते

धत्ते पदं यस्य मृगांकमो(मो)लि [ः] ॥<sup>२</sup>

प्राग्ज्योतिष के भौमनारक नृपतियों में वज्रदत्त सांग चारों वेदों के अतिरिक्त वाक्य प्रमाणाँ का ज्ञाता भी था ।<sup>३</sup> सुस्थितवर्मा (स्थिर वर्मा) अनेक विद्याओं में पारंगत था। उसने व्याकरण, नय सांख्य, मीमांसा, तर्क आदि के सागर को पार किया था ।<sup>४</sup> भास्करवर्मा को तो मानों विष्णु ने विकीर्ण वृणाश्रिम धर्म के प्रविभाग के लिए ही उत्पन्न किया था ।<sup>५</sup> इस कार्य की सिद्धि के फलस्वरूप ही उसे कहा गया है, ‘प्रकाशितार्यधर्मालोक’ ।<sup>६</sup>

पश्चिमी गांगनरेश आय्य (आर्य) वर्मन् नानाशास्त्रेतिहास एवं पुराणातत्त्वज्ञ था ।<sup>७</sup> उसका पुत्र माधव देवद्विजातिपूजनतत्पर एवं धर्माभ्यास-कृतमति था ।<sup>८</sup> पूर्विय गांगनरेश हस्तिवर्मन्<sup>९</sup> आदि सभी अपने कुलपर्वत महेन्द्र-चल-पर इन्द्रवर्मन्<sup>१०</sup> देवेन्द्रवर्मन्<sup>११</sup> आदि सभी अपने कुलपर्वत महेन्द्राचल पर स्थित चराचर गुरु सकलभुवन निर्माणिकसूत्रधार गोकर्णस्वामी के परम उपासक(शैव) थे ।

१: ए०ई०, भाग १५, पृ० २५१, पं० ६-८

२: पनमल्ल लेख, ए०ई०, भाग १६, पृ० ११४, श्लोक ५

३: दूबि शासन पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६८, श्लोक ४

४: वही, पृ० ३०२, श्लोक ५५

५: निधानपुर शासन पत्र, हि०लि०ई०, पृ० २३८, पं० ३४-३५

६: वही, पृ० २३८ पं०, ३७

७: सि०ई०, भाग १, पृ० ४५७, पं० ६-७

८: वही, पृ० ४५७, पं० ८-९

९: उलमिशशासन पत्र, ए०ई० भाग १७, पृ० ३३२, पं० १-३

१०: ए०ई०, भाग १४, पृ० ३६१, पं० १-३

११: वही, भाग १३, पृ० २१३, पं० २-५

अविरत दानशीलता के कारण त्रैकूटक व्याघ्रसेन का यश दिशाओं के व्यापने लगा था ।<sup>१</sup> उसका धन निरंतर आश्रितों, गुरुजनों, परिजनों, विद्वानों एवं सज्जनों में वितरित होता था ।<sup>२</sup>

‘वाकाटक विन्ध्यशक्ति’, ‘अनन्यसाधारणादानशक्ति’ था ।<sup>३</sup> राष्ट्रकूट नन्नराजा अर्थिजनों के लिए कल्पद्रुम के समान था ‘कल्पद्रुमों यो ( ५ ) र्थिनाम्’<sup>४</sup>। तिवरखेड शासन पत्र में नन्न को ‘दानाद्रीकृतपाणि’ के कारण ‘द्विपेन्द्रत्व’ की उपाधि प्रदान की गई है ।<sup>५</sup> इसी प्रकार पल्लवविजयस्कन्दवर्मा निरन्तर अनेक गोहिरण्य और भूमिदान से धर्मसंचय करने के प्रति आग्रहशील चित्रित किया गया है ।<sup>६</sup>

विष्णुकुण्डिन् नृपतिर्गो गोविन्दवर्मन् गुप्त सम्राटों की भाँति ही गो-हिरण्य एवं भूमि प्रदान करता था ।<sup>७</sup> विदेशी शासक होने पर भी तोरमाण के शासन करने के रहस्यों में सत्य, शौर्य के अतिरिक्त दानशीलता भी है ।<sup>८</sup> वर्द्धनसम्राटों में हर्षवर्द्धन की दानवीरता इतिहास-सिद्ध ही है किन्तु उसके इस गुण का कोई अभिलेखीय उल्लेख नहीं। हाँ, मधुवन<sup>९</sup> और बांसखेड़ा<sup>१०</sup> दानलेख स्वयं में उसकी दानशीलता के प्रमाण में रखे जा सकते हैं। इस अभिलेखों में हर्षवर्द्धन के आज राज्यवर्द्धन की दानप्रियता का अवश्य उल्लेख है वह सत्पथोपार्जित द्रविणा एवं भूमिदानों से अर्थिहृदयों को आनन्दित करता था । (बांसखेड़ा, पं० ४)

भौमनारक बलवर्मा अर्थिजनों के लिए यथाकाम दानी था ।<sup>११</sup>

- १: सूरत शासन पत्र, ए०ई०, भाग ११, पृ० २२०, पं० ३
- २: वही, पृ० २२१, पं० ६-७
- ३: इ०के०टे०वै०ई०, (अजन्ता गुहालेख) पृ० ६६, श्लोक २
- ४: संगलूदशासन पत्र, ए०ई०, भाग २६, पृ० ११४, श्लोक २
- ५: ए०ई०, भाग ११, पृ० २७६, पं० ४-५
- ६: अँगौाडू शासनपत्र, ए०ई०, भाग १५, पृ० २५१, पं० ६-७
- ७: इंदुर शासन पत्र, ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३६, पं० २
- ८: ग्वालियर शिलालेख, का०इ०ई०, पृ० १६२, श्लोक ३
- ९: ए०ई०, भाग ७, पृ० १५५-१६०
- १०: हि०लि०इ०, पृ० १४५-१४७
- ११: दुबि शासन पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० ३००, श्लोक ३०

गणपति वर्मा का नाम गणपति सार्क ही था, क्योंकि वह गणपति (गणेश) की भांति निरन्तर दानवर्षण करता था — “दानवर्षणामंजस”<sup>१</sup>। अन्यान्य राजाओं की दानशीलता की भी अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। पेहलवेगी शासनपत्र में पूर्वीय चालुक्य जयसिंह (प्र०) को तो दानशक्ति में कर्ण से भी आगे कहा गया है — रविजमी-हितदानशक्त्या<sup>२</sup>। पूर्वीय गंग इन्द्रवर्मा की, अतुलबलसमुदयावाप्त विपुल-विभवसम्पत्ति की लतामण्डपच्छाया में सुदृत् साधु, ब्रान्ध और अर्थजन (निरन्तर) विश्राम करते थे।<sup>३</sup> कलचुरि कृष्णाराज के लिए तो विभवार्जन दान के लिए ही था — विभवार्जनं प्रदानाय<sup>४</sup>। उसका पुत्र शंकरगण भी पिता के अनुकरण पर दीन अन्ध एवं अनार्थों को मनोरथाधिक दान करता था — दीनान्धक्रि-(कृ)-परा-समभिलषितमनोरथाधिकनिकामफलप्रदः।<sup>५</sup>

प्रायः सभी भारतीय राजाओं की दानशीलता का यत्रतत्र उल्लेख है। सभी दानपत्र, जैसा कि ऊपर वर्ण के सम्बन्ध में कहा गया है, उनकी वदान्यता के ही प्रमाण-पत्र हैं।

बुद्धि-स्मृति-प्रज्ञा —

समुद्रगुप्त, बुद्धि की तीक्ष्णता एवं विदग्धता में बृहस्पति को भी लज्जित करता था।<sup>६</sup> मालवानरेश विश्ववर्मन् भी बुद्धि में बृहस्पति वर्णित हुआ है।<sup>७</sup> वाकाटक पृथिविर्षण धीमत्त्वादि गुणों से सम्पन्न था।<sup>८</sup> बुद्धिविशालता के कारण कदम्ब काकुत्स्थवर्मा को “विशालधी” कहा गया है।<sup>९</sup> इसी वंश के हरिवर्मा के शरीर बुद्धि सत्त्व की पृष्ठभूमि में

१: निधानपुरशासनपत्र, जि० लि० ७६०, पृ० २३७, श्लोक ११

२: २०६०, भाग १६, पृ० २५६, पं० ११-१२, श्लोक १

३: जिरजिगी शासन पत्र, सि० ७६०, भाग १, पृ० ४५६, पं० ८-९

४: वेदनेर शासन पत्र, का० ७६०, भाग ४, (१), पृ० ४६, पं० ६

५: वही, पं० १५

६: प्रयागप्रशस्ति, का० ७६०, भाग ३, पृ० ८, पं० २७

७: गंगधार लेख, वही, पृ० ७४, श्लोक, ६

८: प्रवरसेन (द्वि०) का इन्दौर शासन पत्र, जि० लि० ७६० पृ० ११६, पं० ३

९: तालगुण्ड लेख, ए-कर्णा, भाग ७, पृ० २००, श्लोक ३

सत्कर्मों से प्राप्त उसकी पुण्यराशि की थी — 'पूर्व-सुचरितोपचितविपुल-  
पुण्य-सम्पादितशरीरबुद्धिसत्त्वः'<sup>१</sup>। विष्णुकुण्डिन् नृपति गोविन्दवर्मन् का  
पुत्र माधववर्मन् 'स्मृतिसम्पन्न' था ।<sup>२</sup> पाण्डव महाश्विगुप्त ने अपने प्रजा-  
प्रभाव से ही महाम्युदय प्राप्त किया था ।<sup>३</sup> पूर्वोक्त चालुक्य नृपति जयसिंह  
(प्र०) भी बुद्धि में वृद्धस्पति से भी अतिशय चित्रित है ।<sup>४</sup>

स्थैर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, महासत्त्व ---

स्थैर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, महासत्त्वादि ऐसे गुण हैं, जो अभिलेखों  
में प्रायः सभी राजाओं के लिए समानरूप से प्रयुक्त हुए हैं ।

स्कन्दगुप्त, सुराष्ट्र में योग्य गोप्ता की नियुक्ति के विषय  
में अधीर दिखाई देता है,<sup>५</sup> किन्तु गोप्ता रूप में वहाँ पाण्डित को नियुक्त  
कर चुकने पर उसी अधीर स्कन्दगुप्त के लिए 'धृतिमान्' शब्द प्रयुक्त हुआ  
है ।<sup>६</sup> वस्तुतः देखा जाय तो स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व अधीर नहीं, अपितु  
वह अधीरता तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों को देखते हुए प्रशासन-  
सुविधा के लिए, स्थानविशेष में व्यक्तिविशेषका नियुक्तिविषयक चिन्तन  
है ।

मालवानरेश विश्ववर्मन् ने अपने धैर्य में मेरु ( धैर्येण मेरुम् )  
को परास्त कर दिया था ।<sup>७</sup> मेरुक गुह्यसेन स्थैर्य में हिमालय और गाम्भीर्य  
में समुद्र से भी आगे था ।<sup>८</sup> धरसेन (तृ०) समस्त विद्याओं में पारंगत होने के  
कारण सम्पूर्ण विद्वज्जन को सन्तुष्ट करने से अत्यधिक सत्त्वसम्पत्ति से  
संपृक्त था ।<sup>९</sup> गुर्जर दद (दि०) गम्भीरीदारचरित<sup>१०</sup> तथा त्रैकूटक व्याघ्रसेन

१: हरिवर्मा का शासन पत्र, इ०एचिएट०, भाग ६, पृ० ३२, पं० ६-७

२: ए०इ०, भाग १७, पृ० ३३६, पं० ३

३: बार्दूलाशासन पत्र, ए०इ०भा०, २७, पृ० २६०, पं० ३

४: पैदुवेगि शासन पत्र, ए०इ०, भाग १६, पृ० २५६, श्लोक १

५: जूनागढ़ शिलालेख का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ५६, श्लोक ७-१२

६: वही, पृ० ५६, श्लोक १३

७: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ७४, श्लोक ६

८: जैसर शासन पत्र, ए०इ०, भाग २२, पृ० ११६, पं० ११

९: वही, पृ० ११७, पं० १७

१०: प्रिन्स ऑब वेल्स म्यू० शासन पत्र, ए०इ०भा० २७, १६६, पं० ३

‘सागरगम्भीर’ एवं गिरिगुरु (हिमालय) के समान स्थिर-प्रकृति था ।<sup>१</sup>  
कलचुरि बुद्धराज भी धैर्य-स्थैर्यादि गुणों से समन्वित था ।<sup>२</sup>

कदम्ब रविवर्मन् ने सत्त्व एवं धैर्य से ‘की’ अर्जित की थी ।<sup>३</sup>  
विष्णुकुण्डिन् मन्धाराज माधववर्मा सत्त्व, धैर्य आदि से सम्पन्न<sup>४</sup> एवं सुस्थिर  
धर्मा था ।<sup>५</sup> सेन्द्रक आदित्यशक्ति-कृतिस्थितिराजक एवं भूप्रपालन पर  
होने के कारण समुद्र के समान परमगम्भीर<sup>६</sup> चित्रित हुआ है । उसका पुत्र  
निकुम्भात्तशक्ति भी पिता के समान ही परमगम्भीर था ।<sup>७</sup>

गुप्तसाम्राज्य के पश्चात् पूर्वी भारत में शासन करने वाले सम्राट्  
समाचारदेव के लिए नृग, नहुष, ययाति एवं अंबरीष के समान धैर्य सम्पन्न  
कहा गया है ।<sup>८</sup> पूर्वीय चालुक्य जयसिंह (प्र०) अगाध आत्मवृत्ति से सागर  
से भी आगे था ‘वारिधिमाधतयात्मवृत्तेः’<sup>९</sup> शैलोद्भव यशोभीत का पुत्र  
माधव (द्वि०) धैर्यसम्पन्न था ।<sup>१०</sup> इसी भाँति कामरूपे नृपति समुद्रवर्मा समुद्र  
के ही समान अगाध स्वच्छगम्भीर<sup>११</sup> था । पर्वताकार राज्य का पारवनरेश  
विष्णुवर्मा धैर्य-स्थैर्य-गाम्भीर्यादि गुणाधिष्ठित था ।<sup>१२</sup>

१: सूरतशासनपत्र, ए०ई०, भा० ११, पृ० २२०, पं० ६

२: ए०ई०, भा० ६, पृ० २६८, पं० १५

३: भानुवर्मन् का शासन पत्र, ई०, ऐपिट० भाग, ६, पृ० ८८, श्लोक १

४: इंदुर शासन पत्र, ए०ई०, भाग १७, पृ० ३३६, पं० ३, द्वि०—यह माधव-  
वर्मा गोविन्दवर्मा का पुत्र था ।

५: वही, पृ० वही पं० ७-८

६: मुन्दल्ले शासन पत्र, ए०ई०, भाग २६, पृ० ११६, पं० ६

७: बगुमा शासन पत्र, ई० ऐपिट० भाग १८, पृ० २६७, पं० १२

८: गुणाकाति ताम्रपत्र, ए०ई०, भाग १८, पृ० ७६, पं० १-२

९: पेह्लवेमिशासनपत्र, ए०ई०, भाग १६, पृ० २५६, श्लोक १

१०: ए०ई०, भाग ६, पृ० १४५, पं० १४

११: अगाधस्वच्छगम्भीरो व्यालरत्नोपसेवितः [८]

महत्त्वा(त्वा)च्छैत्ययोगाच्च तुल्यो जलनिधिना नृपः ॥

— दूबि शासन पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६८-२६९, श्लोक १२

१२: तलेश्वर शासन पत्र, ए०ई०, भाग १३, पृ० ११८, पं० ५



अभिलेखों में शौर्य, दाढ्य एवं तेजस्विता का सर्वाधिक वर्णन हुआ है। वर्ण्यमान नृपति के इन गुणों के प्रति विशेष आग्रशीलता, अभिलेखीय कवियों की हृदयगत भक्ति की ही अभिव्यक्ति थी। इतना आवश्यक है कि इस अभिव्यक्तिरूपलतिका ने अतिशयोक्ति रूपी दृढ वृद्धा का आलिंगन कभी न छोड़ा।

ज्ञात्रप रुद्रदामन् (प्र०) समरभूमि में उपस्थित अपने समान पराक्रमी शत्रुओं को तो निभीके छोड़कर अपने बाणों का लक्ष्य बनाता, किन्तु दयावीर होने के कारण दुर्बलरिपुओं को दया का पात्र बनाना भी न भूलता।<sup>१</sup> वीरों पर ही वह अपनी वीरता की परीक्षा करता, दुर्बलों पर नहीं। क्योंकि उसने 'वीर' शब्द से उत्पन्न अभिमान के कारण स्वतंत्र रहने वाले लड़ाकू याँधियों को बलात् उखाड़ कर फेंक दिया तथा दक्षिणापथ नृपति सातकर्णों को खुले मैदान में दो-दो बार जीत कर भी निकटतम सम्बन्ध के कारण मुक्त कर देने के परिणामस्वरूप कीर्ति को प्राप्त किया।<sup>२</sup> उसकी दृढता का एक प्रमाण यह भी है कि उसने, मति सचिव एवं कर्म सचिवों के मना करने पर भी प्रभूत व्यय करके कष्टसाध्य, विशाल सुदर्शन फील का पुनरुद्धार करवाया।<sup>३</sup>

गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त ने शताधिक समरांगणों में उतरने में दक्षता प्राप्त की थी, फलतः वह स्वभुजबलपराक्रमेकबन्ध-पराक्रमांक उपाधि से विभूषित था।<sup>४</sup> शत्रुणां की शोभा को धारण करने वाले इस महारथी ने उत्तरभारत, दक्षिण भारत, सीमान्त राज्यों एवं यहाँ तक कि नेपाल को भी अपने पराक्रम का लोहा मानने को विवश किया।<sup>५</sup> दिग्विजय के कारण उसकी 'अप्रतिवार्यवीर्य' उपाधि सार्थक हो गई है।<sup>६</sup> उसके पुत्र चन्द्र-

१. गिरिनारलेख, इ० रेण्ट०, भाग ७, पृ० २६०, पं० १०

२. वही, पृ० २६०, पं० ११, १२

३. वही, पृ० २६१, पं० १५-१६

४. प्रयाग प्रशस्ति, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६, पं० १७

५. वही, पृ० ७-८, पं० १८-२२

६. सरण लेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २०, श्लोक ४

गुप्त (द्वि०) की 'अप्रतिरथ',<sup>१</sup> सिंहविक्रम,<sup>२</sup> 'विक्रमादित्य',<sup>३</sup> आदि उपाधियाँ उसके अपरिमित शौर्य को ही व्यक्त करती हैं। वंगयुद्ध में समवेत आक्रमणकारी शत्रुओं को वज्रास्थल से पीछे ढकेलते हुए उसने मानों खंभू से अपनी भुजा पर यश ही उत्कीर्ण किया।<sup>४</sup> कुमारगुप्त (प्र०) अपनी स्वर्ण-मुद्राओं में महीतल में एक अद्वितीय सुधन्वी चित्रित हुआ है।<sup>५</sup> शक्रायाम<sup>६</sup> स्कन्दगुप्त, स्वभुजजनित-वीर्य होने के कारण, मान एवं दर्प से उत्फुल्ल नृपसर्पों को विषाशून्य करने वाली प्रतिकाररूपी गरुडाज्ञा प्रदान करने वाला था।<sup>७</sup> 'स्वभुजबलाढ्य' इस 'गुप्तवंशैकवीर' ने 'समुदित बलकोश-पुष्पमित्रों' को जीतकर द्वातिपचरणापीठपर अपना वामपाद स्थापित किया- 'द्वातिपचरणापीठे स्थापितो वामपादः'।<sup>८</sup> इस सफलता की पृष्ठभूमि में उसके अकथनीय कष्टों की परम्परा है। पुष्पमित्रों से विचलितकुललक्ष्मी को रोकने के लिए उद्यत उसने (समर में) तीन रातें गंगी भूमि पर बिताई -

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनामोद्यतेन

द्वातितलक्ष्मणीये येननीता त्रियामा [१]

— भितरीलेख, श्लोक ४

मालवनरेश नरवर्मा को 'संग्राम' में उपस्थित देखने मात्र से भय-नष्टचेष्टा शत्रुगण भाग खड़े होते थे।<sup>९</sup> निरभ्र आकाश के सूर्य के समान उज्ज्वल और 'घोरदीप्ति' वाले गृहीतशत्रुविश्ववर्मन् (नरवर्मन् का पुत्र) को तो भयविह्वलाज्ञा शत्रु देख भी नहीं पाते थे।<sup>१०</sup> इस 'पार्थ समानकर्मा' नृपविश्ववर्मा<sup>११</sup> का पुत्र बन्धुवर्मा भी शत्रुओं एवं अभिमानीजनों के समूह को संहारने में अद्वितीय निपुण था।<sup>१२</sup>

१: बिलसदलेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ४३, श्लोक ५

२: हि०लि०क्वा०इ० (मुकजी, पावेल) सं० १६, पृ० १०

३: इ०म्यू०कै०(स्मिथ) पृ० १०६

४: मेहरौली स्तम्भलेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० १४१, श्लोक १

५: गु०मु०(अलेकर) पृ० ११६

६: कहाँमलेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६७, श्लोक १

७: जूनागढ़ लेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ५६, श्लोक २

८: भितरीलेख, वही, पृ० ५३, श्लोक २

९: वही, पृ०, ५३-५४, श्लोक ४

१०: गंग-धारलेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ७४, श्लोक ४

११: वही, पृ० ७४, श्लोक ७

परिव्राजक नृपति हरितन् अनेक समरविजयी वर्णित हुआ है ।<sup>१</sup>  
 अनेक समर व्यापार में शोभावान् मोंखरि श्री शार्दूल शत्रुनृपतियों के लिए काल-  
 स्वरूप था । — कालः शत्रुमहीभुजां ।<sup>२</sup> उसका पुत्र अनन्तवर्मा भी निपुण  
 धनुर्धर था ।<sup>३</sup> वाकाटक विन्ध्यशक्ति(द्वि०)(वत्सगुल्मशाखा) महान् संग्रामों  
 में शिववृद्धशक्ति था और क्रुद्ध होने पर तो वह देवताओं से भी अनिवार्य-  
 शक्ति हो जाता था—

महाविमर्देष्वभिवृद्धशक्तिः

क्रुद्धस्सुरैरप्यनिवार्य(शक्तिः) ।<sup>४</sup>

शौर्यादि से पृथ्वी का शासन करने वाले हूण राजा तोरमाण<sup>५</sup>  
 का पुत्र मिहिरकुल भी अतुलविक्रम था ।<sup>६</sup> विजययात्राप्रसंग में यशोधर्मन् की  
 सेना की धृति से रविमण्डल भी मोरपंख के चन्द्रक के समान निरस्तेज लगता  
 था ।<sup>७</sup> शौर्य के कारण ही हूण राजा मिहिरकुल ने अपने ब्रह्मापुष्पोपहार  
 से उसकै (यशोधर्मन् के) चरणों की अर्चना की थी [ब्रह्मा पुष्पोपहारैर्मिहिर-  
 कुलनृपेणाच्चर्वित [०] पादयुग्मं [॥]]<sup>८</sup> वर्द्धन-सम्राटों में राज्यवर्द्धन को कुबेर-  
 वरुणा-इन्द्र प्रभृति लोकपालों के तेज को धारण करने वाला चित्रित किया  
 गया है ।<sup>९</sup> समवेत, दुष्ट अश्वपी देवगुप्तादि राजाओं को उसने कशाप्रहार-  
 विमुक्त किया और शत्रुओं को उन्मूलित कर पृथ्वी का शासन किया, अराति-  
 भवन में जो उसका वध हुआ, वह मात्र विश्वासघात के कारण :—

१. लोह शासन पत्र, वही संख्या २१, पृ० ६६, पं० ६-७

२. बराबर शैलगुहालेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २२३, श्लोक २

३. नागार्जुनी शैलगुहालेख, वही, पृ० २२५, श्लोक ३-४

४. अजन्तालेख, इ०के०गे०वे०इ०, पृ० ६६, श्लोक २

५. लि०लि०इ०, पृ० १४०, श्लोक ३

६. वही, पृ० १४०, श्लोक ४

७. का०इ०इ०, पृ० १५३, श्लोक ६

८. का०इ०इ०, पृ० १४६-१४७, श्लोक ६

९. मधुवनशासन पत्र, इ०इ०, भाग ७, पृ० १५७, पं० ४-५

राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः

कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्व्वे समं संयताः ।

उत्त्वाय द्विषतो विजित्य वसुधांकृत्वा प्रजानां प्रियं

प्राणानुष्क्रितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः ॥ १

चालुक्य जयसिंहवल्लभ ने समरभूमि में अपने शौर्य से चंचललक्ष्मी को भी जीत लिया था ।<sup>२</sup> इसी वंश का कीर्तिवर्मा नलमार्य और कदम्बवंशीय नृपतियों के लिए कालरात्रि के समान था ।<sup>३</sup> उसका पुत्र मंगलेश भी पिता के समान ही वीर था । उसने पूर्वपश्चिम समुद्रतटों पर पिता के समान ही वीर था । उसने पूर्वपश्चिम समुद्रतटों पर पड़ाव डालने वाली अश्वारोही सेना की रज से दिशाओं पर मानों वितान ही तान दिया था मंगलेश के भतीजे पुलकेशिन् (द्वि०) ने सकलौत्तरापथेश्वर श्री हर्षवर्द्धन को पराजित करके अपना द्वितीय नाम परमेश्वर ही रख दिया था ।<sup>४</sup> शौर्याभिभूत गांग और आलुप उसके सेवक बन गए थे ।<sup>६</sup> उसने शक्तिशाली पल्लव-नरेश महेंद्रवर्मन् की समृद्धसेना को परास्त किया ।<sup>७</sup> यहाँ तक कि चोल-चैल पाण्ड्यनृपति भी उसकी छाया में रहने लगे ।<sup>८</sup> उसका पुत्र विक्रमादित्य (प्रवास्तविक अर्थों में रणारसिक<sup>९</sup> था । रिपुओं के रुधिरजल के लिए रसनायमान अपनी ज्वलित-धवल-निशित निस्त्रिंश खंभार से<sup>१०</sup> उसने नरेन्द्र को अनेक दिशाओं में जीता ।<sup>११</sup>

पूर्वीय चालुक्यवंश का संस्थापक कुब्ज विष्णुवर्द्धन अनेक समर-

१: बांसखेड़ा शासन पत्र, हि० लि० ई०, पृ० १४५, श्लोक १,

२: रेजोल लेख, ई०, रेपिट०, भाग ५, पृ० ६८, श्लोक ५

३: वही, पृ० ६६, श्लोक ६

४: वही, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ११

५: पुलकेशिन् (द्वि०) का शासन पत्र, ई० रेपिट० भा० ६, पृ० ७३, पं० ६-१०

६: रेजोल लेख, ई० रेपिट० भाग ५, पृ० ७०, श्लोक १६

७: वही, श्लोक, २६

८: वही, श्लोक, ३१

९: का० प्ले० ई० आ० प्र० म्यू०, भाग १, पृ० ५३, पं० २०

१०: वही, पृ० ५२, पं० ११-१२

११: वही, पं० १६

अर्जुन से उपमित होता था ।<sup>२</sup> क्लृप्ति-राजाओं में अंकर-गण इतना शक्तिशाली था कि वह नृपतियों के वंशों का प्रतिष्ठापक एवं बहुत बड़े हुए नृपवंशों का उन्मूलक था — नृपतिवंशानां प्रतिष्ठापयिता अत्युच्छ्रितानां उन्मूलयिता<sup>३</sup>। उसका पुत्र सुद्धराज भी अप्रतिहतगुरु होने के फलस्वरूप प्रजल-रिपुओं के बलाद्भूत दर्पीविभव के विध्वंस का कारण था ।<sup>४</sup>

मेनक गुप्तेन का तो शैशव से ही लहंग प्रितीय बाहु के समान था और परिणामस्वरूप 'समदपरगजघटा' को काटने पर उसने अपना सत्त्व प्रकाशित किया था ।<sup>५</sup> श्रीधरसेन (द्वि०) ने अपनी स्वाभाविक शक्ति और शिक्षाविशेष से अक्रिंत धनुर्योनों को विस्मित ही कर दिया था ।<sup>६</sup> श्रीधरसेन (तृ०) ने अपने धनुः प्रभाव से शत्रुओं के शस्त्र-कौशलाभिमान को ध्वस्त किया था ।<sup>७</sup> तरग्रह (चि०) धर्मादित्य ने प्रोद्दामोदार भुजदण्डों से शत्रुवर्ग के दर्प को दलित किया ।<sup>८</sup>

गुर्जर जयभट का प्रतापानल कण्टकभटसमूह को जलाने में दुर्लालित था ।<sup>९</sup> त्रैकूटक व्याघ्रसेन ने बड़े-बड़े वीरों से सम्पन्न सेना से दुर्ग-नगर और सागरों पर अधिकार जमाया था ।<sup>१०</sup> कदम्ब राष्ट्रकूट नन्नराज शत्रुओं को उल्लाह फेंकने वाला था ।<sup>११</sup> कदम्ब मृगेश 'स्वयं भयदरिद्र होने पर भी शत्रुओं को महद्भय प्रदाता था ।<sup>१२</sup> उसके पुत्र रविवर्मन् के लिए, अत्यधिक तेजस्वी होने के कारण दीप्ततेजा कहा गया है ।<sup>१३</sup> पल्लव परमेश्वरवर्मन् (प्र०) को भरत के समान 'सर्वदमन'<sup>१४</sup> और राजसिंह नरसिंहवर्मन् (चि०) के लिए युद्धार्जुन कहा गया है ।<sup>१५</sup> विष्णुवृण्डिन् गोविन्दवर्मन् अपरिमितबलपराक्रमवाला<sup>१६</sup> और

- १: पुलीबुद्रा शासनपत्र, ए०ई०, भाग १६, पृ० २५६, पं० ४
- २: वही, पृ० २५६--२५७ पं० १०-२१
- ३: वेदनेर शासन पत्र, का०ई०ई०, भाग ४(१), पृ० ४६, पं० १२-१३
- ४: वही, पं० १६
- ५: बोटोद शासनपत्र, भाव० पृ० ४०, पत्र १, पं० ३-४
- ६: वही, पं० ८-९
- ७: वही, पृ० ४१, पत्र २, पं० १
- ८: जैसर शासनपत्र, ए०ई०, भाग २२, पृ० ११८, पं० ३६
- ९: प्रिंस ऑफ वेल्स म्यू०, शासनपत्र, ए०ई०, भाग २७, पृ० २००, पं० ६
- १०: सूरतशासन पत्र, ए०ई०, भाग ११, पृ० २२०, पं० ५-६
- ११: संगलुद शासन पत्र, ए०ई०, भाग २६, पृ० ११४, श्लोक २
- १२: मृगेश का दानपत्र, इ०रेण्ट०, भाग ६, पृ० २४, श्लोक ५
- १३: भानुवर्मन् का शासनपत्र, वही, भाग ६, पृ० २८, श्लोक २.

स्केन्द्रक भानुशक्ति अनेक चातुर्दन्तगजघटाटोप युद्धों में लब्धविजय था ।<sup>१</sup>  
 वेंगी का सालंकायन इस्तिवर्मन् अनेक युद्धों में विख्यातकर्मा था ।<sup>२</sup> पाण्डव  
 वत्सराज तो मानों युद्धों से विजय को झीनकर ही लाता था ।<sup>३</sup> पश्चिमी  
 गंग कोंगणिवर्मा का शरीर दारुणारिगणविदारक रणों में प्राप्त  
 व्रणों से अलंकृत था ।<sup>४</sup> शैलोद्भव सैन्यभीत (द्वि०) बड़े-बड़े हाथियों के  
 कुम्भस्थलों को दलन करने में दुर्ललित असिधार सम्पन्न था ।<sup>५</sup> कामरूप के  
 भौमनारकनृपतियों में बलवर्मा का बल और कवच, कभी सण्डित नहीं हुए थे<sup>६</sup> ।  
 भास्करवर्मा ने भी युद्धों में सैकड़ों नृपतियों को परास्त किया था ।<sup>७</sup>

अन्यगुण ( शीलवान्, मधुर, प्रियम्बद, वाग्मी, विदग्ध, सत्यवान् ,  
 विनयी, मानी, ददा आदि ) ———

रुद्रदामन् सत्यप्रतिज्ञ<sup>८</sup> शासक था । गुप्तसम्राट् स्कन्दगुप्त  
 पराक्रमी होने के साथ विनीत<sup>९</sup> भी था । वाकाटक पृथिवीशंका के लिए,  
 सत्याज्ज्वकारण्य आदि गुणों के कारण 'युधिष्ठिर वृत्ति'<sup>१०</sup> कहा गया  
 है । औलिकर लाङ्घन यशोधर्मन् उग्र और मानी शासक था, उसने शिव के  
 अतिरिक्त किसी अन्य के लिए प्रणाम नहीं किया था — स्थाणोरन्यत्र  
 येन प्रणतिकृपणातां प्रापितं नोत्तमार्गं ।<sup>११</sup> उसका अङ्कारपूर्णा और उग्र  
 व्यक्तित्व,<sup>१२</sup> उसे आंशिक रूप में धीरोद्धत नायक की कोटि में रखता है ।  
 हूण नृपति तोरमाण सत्यादि गुणों से न्यायपूर्वक पृथ्वी का शासन करता

१: ए०ई०भाग २६, पृ० ११६, पं० २

२: ,, भाग ३१, पृ० ६ पं० १

३: बलनीशासन पत्र, ए०ई०, भाग २७, पृ० १४०, श्लोक २

४: सि०ई०, भाग १, पृ० ४५६, पं० २२३

५: पुरुषोत्तमपुर शासन पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६७, श्लोक ६

६: निधानपुर शासन पत्र, हि०लि०ई०, पृ० २३६, श्लोक ६

७: वही, पृ० २३६, पं० ३६

८: इ०ऐ०पिट०, भाग ७, पृ० २६०, पं० १०

९: भित्तरी लेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ५३, श्लोक २

१०: प्रवरसेन (द्वि०) का इन्दौर शासन पत्र, हि०लि०ई०, पृ० ११६,  
 पं० ४ २-५

११: मन्दसौर शिलास्तम्भ लेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० १४०-१४७, श्लोक ४

१२: वही, पृ० १४६-७, श्लोक ४-६

था ।<sup>१</sup> पुलकैशिन (द्वि०) की उपाधि ही सत्याश्रय<sup>२</sup> थी । कलचुरि कृष्ण-  
राज की शिक्षा विनयार्जन मात्र के लिए थी — 'शिक्षितं विनयाय'<sup>३</sup> ।  
कदम्ब कृष्णवर्मन् (द्वि०) सम्यक् प्रजापालन में दक्ष था ।<sup>४</sup> राष्ट्रकूट नन्न-  
राज कृती और 'वेदगध्योद्धतवेत्तस्'जनों का अधिपति<sup>५</sup> चित्रित हुआ है ।  
मैत्रक श्रीधरसेन (द्वि०) का विक्रम, संतारारतिपद्म की लक्ष्मी का परिभागे  
करने में बहुत दक्ष था ।<sup>६</sup> उसका पुत्र शीलादित्य (प्र०) कृती था । उसने  
अतिशय सत्कर्मों से अपना परमकल्याणस्वभाव अभिव्यक्त किया था ।<sup>७</sup>  
श्रीधरसेन (तृ०) परमभद्रप्रकृति था ।<sup>८</sup> उसका अनुज ध्रुवसेन (द्वि०) श्रुतवान्  
होने पर भी कभी गर्वित होता हुआ नहीं दिखायी दिया — 'श्रुतवानप्य-  
गर्वितः'<sup>९</sup> ।

गुर्जर नरेश दद (च०) प्रशान्तराग के व्यक्तित्व में नायक के सन्नि-  
सात्त्विक भाव — 'विलास' एवं 'माधुर्य'<sup>१०</sup> की विद्यमानता थी । वह प्रणय  
कुपितमानिनीजनों को प्रणामपूर्वक मधुरवचन कहकर अपने विदग्ध नागरिक  
स्वभाव को प्रकाशित करता था — प्रणयपरिकुपितमानिनीजन-प्रणामपूर्वक  
मधुरवचनोपपादितप्रसादप्रकाशीकृतविदग्धनागरिक-स्वभावः<sup>११</sup> ।<sup>१२</sup> पश्चिमी  
गांग माधव 'वक्तृप्रयवेत्तृकुशल'<sup>१३</sup> होने के कारण नायक के वाग्मि-  
त्व गुण से सम्पृक्त था ।<sup>१४</sup>

- 
१. मिहिरकुल का ग्वालियर शिलालेख, द्वि० लि० ३०, पृ० १४०, श्लोक ३  
२. कोप्परम शासन पत्र, स० ३०, भाग १८, पृ० २५६, पं० ६ - ७  
३. वेदनेर शासन पत्र, का० ३०, भाग ४, (१), पृ० ४६, पं० ८  
४. बन्नहल्लि शासन पत्र, स० ३०, ६, पृ० १८, , पं० १२  
५. संगलूद शासन पत्र, स० ३०, भाग २६, पृ० ११४, श्लोक २  
६. बोटोद शासन पत्र, भाव, पृ० ४०, पत्र १, पं० १०  
७. बोटोद शासन पद भाव० पत्र १, पृ० ४०, पं० १४  
८. वही, पत्र, १ पृ० ४१, पं० २३  
९. वही, पत्र २, पृ० ४१, पं० ८  
१०. सा० ३०, ३-५२  
११. शिरीषपट्टकग्रामदान सम्बन्धी लेख — प्रा० ले० मा०, भाग २, पृ० ४३  
१२. सि० ३०, भाग १, पृ० ४५७ पं० ५  
१३. द० ३०, २-१



पल्लव विजयस्कन्दवर्मन् (द्वि०) सत्यप्रतिज्ञ<sup>१</sup> तथा विष्णुगोप(प्र०) विवृद्धविनय<sup>२</sup> एवं सत्यात्मन्<sup>३</sup> था ।

राजकर्मचारी —

रुद्रदामन् का आनर्त्त और सुराष्ट्र प्रदेश का राज्यपाल सुविशाल धर्म, अर्थ तथा व्यवहार में प्रजानुराग उत्पन्न करने वाला, बलवान् , संयमी स्थिर, अभिमानरहित, आयौचित्यगुणसम्पन्न और कर्तव्यनिष्ठ अमात्य था उसने अपनी स्वामिभक्ति की प्रेरणा से तथा अपने स्वामी के धर्म एवं यश के वृद्ध्यर्थ सुदर्शनफील का पुनरुद्धार किया ।<sup>४</sup> इस क्रिया की पृष्ठभूमि में इस प्रान्तीयशासक की जनकल्याणी भावना का भी आभास मिलता है ।

समुद्रगुप्त का सन्धिविग्रहिक कुमारामात्य महादण्डनायक हरि- षोण भी स्वामिभक्त (भट्टारक-पादानां दासस्य ) था । स्वामी के सामीप्य से ही वह अपने को विकसित बुद्धिवाला मानता था ।<sup>५</sup> गद्य-पद्य पर उसका समान अधिकार, उसे एक श्रेष्ठ कवि का पद प्रदान करता है । प्रयाग प्रशस्त- प्रशस्ति उसकी प्रतिभा से प्रसूत एक उत्तम चम्पूकृति है । हरिषोण की ही भाँति , चन्द्रगुप्त (द्वि०)का सचिव (सन्धिविग्रह के कार्य में नियुक्त ) कौत्सशाव वीरसेन भी पाटलीपुत्र का एक प्रसिद्ध कवि था । वह शब्दार्थ-न्याय में निपुण एवं लोकव्यवहार में कुशल था —

कौत्सश्शाव इतिख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया [I.]

शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलीपुत्रकः<sup>६</sup> [II.]

धार्मिक होने के कारण उसने उदयगिरि में भगवान् शम्भु की गुहा का निर्माण करवाया (श्लोक ५ ) । चन्द्रगुप्त (द्वि०) का एक

१: अँगोदू शासन पत्र, ए०ई० भाग १५, पृ० २५१, पं० ६

२: वही, पृ० २५४, पं० १०

३: वही, पं० १२

४: गिरिनार लेख, ई०एच०एच०, भाग ७, पृ० २६१, पं० १६-२०

५: प्रयाग प्रशस्ति, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० ६-१०, पं० ३१-३२

६: उदयगिरि गुहा लेख, वही, पृ० ३५, श्लोक ४

अन्य सेवक, सुकुलदेशवासी, आम्रकादर्व, वीर पुरुष था । उसने अनेक समारों में विजय-यश-पताका प्राप्त की ।<sup>१</sup>

अचिर विजित सुराष्ट्र के गोप्ता (राज्यपाल) की नियुक्ति के प्रसंग में सम्राट स्कन्दगुप्त अनेक प्रकार से विचार करने लगा कि 'मेरे कर्मचारियों में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अनुकूल, बुद्धिमान्, प्रज्ञा-स्मरणशक्ति, सत्यता, सरलता, उदारता, नीतिज्ञता, मधुरता, दक्षाता से सम्पन्न, यशस्वी राज्य के प्रति निष्ठावान्, अनुरागी, विशेष सहायकों से युक्त, सभी प्रकार की परीक्षाओं में परिमार्जित बुद्धिवाला, प्रत्युपकार की भावना लिए हुए समस्त प्रजावर्ग का हितैषी, न्यायपूर्वक वित्तोपार्जन में प्रवीण, उपार्जित द्रव्यराशि के रक्षा में दक्षा, सुरक्षित सम्पत्ति की वृद्धि करने में समर्थ और परिणामतः ऐसी सम्पत्ति को सत्पात्रों में वितरण करने में तत्पर हो ।'<sup>२</sup> इस प्रकार के गुणों से समन्वित ऐसा कौन है ? क्योंकि वही उपद्रवबहुल सुराष्ट्र में शासन कर सकता है । ओ ! मैं समझ गया अकेला पण्डित ही इस भार को वहन करने में समर्थ है —

सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु

यो मे प्रशिष्यान्निलितान्सुराष्ट्रान् ।

आ ज्ञातमेकः खलु पण्डितो

भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥'<sup>१</sup> (श्लोक ११)

अन्त में जिस प्रकार देवतागण पश्चिम दिशा में वरुणा की नियुक्ति करने पर निश्चिन्त हुए थे, उसी प्रकार सुराष्ट्र में पण्डित को गोप्तारूप में नियुक्त कर स्कन्दगुप्त की चिन्ता दूर हुई (श्लोक १३) । स्पष्ट है उल्लिखित सभी विशेषताएँ, जिनकी खोज में सम्राट् था, पण्डित के व्यक्तित्व में रही होंगी ।

पण्डित का पुत्र (सम्भावतः गिरिनार का मण्डलाधिपति) 'चक्रपालित' भी पिता के समान भी पिता के अनेक गुणों से सम्पन्न था । वह शरणागतों का अभयदाता, उदात्त, कामाशील, प्रभुत्वगुणापेक्षित, नम्र, नीतिनिपुण, शूर, वीरों का सम्मान करने वाला, दक्षा, रिपुदमन ,

१: का०६०६०, भाग ३, संख्या ५, पृ० ३१, पं० ४

२: जूनागढ़ लेख, वही, संख्या १४, पृ० ५६, श्लोक ७-१०

दानी, अदीन, अनुकूलप्रत्युपकारी, उदार था । अतुलगुणसम्पन्न वह व्यक्तित्व स्वयं ही अपना उपमानस्वरूप था । वह अपेक्षाकृत अधिक सफल शासक, विशाल बाहुबल एवं आत्मगौरव के आलम्बन से किसी को न सताते हुए दुष्टों का मानमर्दन करता था । पुत्रवत् प्रजापालक चक्रपालित, सद्-व्यवहारी, सात्त्विक, पवित्र और यथावसर धर्मार्थकाम-सेवक, न्यायशील और प्रजा में सौहार्द बढ़ाने वाला था ।<sup>१</sup> ठीक ही है, पण्डित से उत्पन्न वह कैसे न्यायशील न हो :—

यो[ ( ८ ) जायतास्मात् खलु ] पण्डिता ?

त्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्रं ।

मुक्ता कलापाम्बुज-पद्मशीता-

न्यन्द्रात्किमुष्णं भविता कदाचित् । [ १ ] (श्लोक २५)

चक्रपालित, पितृभक्त, स्वामिभक्त, नीतिशास्त्रज्ञ एवं विश्ववि-  
श्रुतप्रतापवाला व्यक्ति था (श्लोक ३२-३३) । उसकी धार्मिक एवं जन-  
कल्याणि भावना का दृष्टान्त यह ही है कि घृत एवं स्तुतियों से देवताओं  
को आहुतिप्रदान कर, धन से ब्राह्मणों को और यथायोग्य मान से नाग-  
रिकों को सम्मानित कर, भृत्य, पूज्यजन एवं मित्रों को सन्तुष्ट करने के  
उपरान्त (श्लोक ३४) उसने प्रजाहितार्थ अपरिमित धन का व्यय करके  
(श्लोक ३५) सुविशाख की भांति, सुदर्शन फील का जीणोंद्वार किया  
(श्लोक ३७) ।

यशोधर्मन् के किसी पूर्वज का सेवक षष्ठीदत्त नृपतियों का  
आश्रय ग्रहण करने से प्रख्यातपुण्यकीर्ति था । वह धनाढ्य था, किन्तु अपने  
विनम्रभावों से उसने कामक्रोधादि षड्रिपुओं को निर्यत्रित कर लिया था ।<sup>२</sup>  
उसका पुत्र वराहदास यशस्वी विष्णु के अंशतुल्य, जितेन्द्रिय और योग्य था ।<sup>३</sup>  
उसके वंशज रविकीर्ति ने शुभ्र, दृढ स्मृतिनिर्धारण एवं शिष्टजनानुकूल पद्धति

१. जूनागढ़ लेख, का० ६० ई०, भाग ३, पृ० ५६-६०, श्लोक १४- २४

२. यशोधर्मन् का मन्दसौर शिलालेख, का० ६० ई० भाग ३, पृ० १५३,

श्लोक १०

३. वही, श्लोक १२

को अपना कर अपने कुल की मर्यादा को लांछित नहीं होने दिया (श्लोक १४) उसका ज्येष्ठ पुत्र भगवदोषा कार्यपद्धति में, अन्धकों के लिए उद्धव के समान अपने बन्धु-बान्धवों का सहायक था (श्लोक १६) । वह विविध न्याय-विधान में विधाता के समान गम्भीर, अर्थ एवं राज सम्बन्धी विषयों में विदुर सदृश दूरदर्शी था । ~~वह कवि~~ कवि होने के कारण वह संस्कृत एवं प्रकृत में उत्कृष्ट रचनाएँ कर लेता था ( श्लोक १७) । रविकीर्ति का द्वितीय पुत्र प्रजा को अभयदान करने वाला अभयदत्त था । सूक्ष्म एवं परोक्ष के विषयों का ज्ञाता अभयदत्त गुप्तचरों की सी ज्ञान-दृष्टि सम्पन्न था — (श्लोक १८) । राजा के प्रतिनिधि के रूप में यह सफलकर्मा व्यक्ति बृह-स्पति के समान चारों वृत्तों के कल्याणार्थ सतत प्रयत्नशील रहता और उनकी रक्षा करता (श्लोक १९) । अभयदत्त के अनुज दोषकुम्भ का सुपुत्र धर्मदोष ने भी अपने शासन-क्षेत्र में जातिगत सांकर्य को दूर किया, विद्रोह शान्त किए और सत्ययुग की भाँति प्रजा का मानसिक क्लेश हटाया (श्लोक २०) । वह अपने सुख की उपेक्षा कर, बिना किसी की सहायता लिए अपने स्वामी यशोधर्मा के गुरुराज्यभार को कठिन मार्गों में भी वहन करता रहा ( श्लोक २१ )। धर्मदोषा का कनिष्ठ भ्राता 'दत्ता', विद्वान्, दक्षिण सत्यवादी, लज्जावान् वीर, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, सात्साह, निर्दोष एवं स्वामी के कार्यों में आलस्यहीन था ( श्लोक २८ ) । प्रजाहितैषी होने के कारण उसने 'निर्दोष' नामरूप का निर्माण करवाया था (श्लोक २२) ।

विश्ववर्मन् का 'तृतीय चक्रु' के समान सेवक मयूराक्षक, उदार, देवद्विजगुरुबान्धव एवं साधुभक्त, शास्त्रसम्मत सद्व्यवहार पर चलने वाला था ।<sup>१</sup> धार्मिक और दूरदर्शी उसने, संसार की आसक्ति और ज्ञान-भंगुरता को देखकर, अपने न्यायार्जित धन को विष्णुभगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया —

न्यायागतेन विभवेन परांच भक्तिं

वित्यापयन्नुपरि चक्रुगदाधरस्य ॥ (श्लोक १८)

मयूराक्षक प्रजा और शौर्यसम्पन्न कुल में उत्पन्न हुआ था (प्रजाशौर्यकुलोद्गतः

स्वयं भी वह वीर और संयमी (प्रख्यातवीर्यो वशी) था (श्लोक २०)। शत्रुओं के मान भंग करने में सज्जाम उसने अमित्रों को भातृत्वप्रेम का पाठ पढ़ाया। धर्मार्थकाम के समर्थक उसको भगवान् ने रूप भी तो विशेष आकर्षक दिया —

पीनव्यायतवृत्तिलम्बिसुभजः खड्गव्रणारंकितः

कणान्तप्रतिसर्पमाननयनः श्यामवदातह्रविः ।

दर्पाविष्कृतसारशत्रुमथनो दुष्टाश्व [ — ] बली

भक्त्या वासुहृद्वान् च बान्धवसमोधम्मार्थिकामोदितः ॥

— (श्लोक १६)

उसने एक विशाल विष्णु मन्दिर बनवाया (श्लोक २१) और सार्वजनिक हित के लिए गर्गरातटपुर को बापी, तड़ाग, मन्दिर देव सभागृह, पेयजल-वाले कुप, नाना प्रकार के उपवन, एवं बांधों से ऐसा सजाया जैसे कोई स्वयं अपनी प्रिया का शृंगार करता है (श्लोक १६) ।

वाकाटक देवसेन का मंत्री हस्तिभोज गुणाधिवास, हितैषी, विनीत, प्रणयी, आत्मविश्वास से कार्य करने वाला, निर्माणा-भावना-सम्पन्न और दिक्पाल सदृश प्रजापालक व्यक्ति था। इन गुणों के अतिरिक्त 'पृथुपीनवक्ता' एवं सरोरुहाजा आदि के प्रयोग से उसके रूपविभव का भी आभास मिल जाता है।<sup>१</sup> शासक होने पर भी वह सद् व्यवहार एवं विनयशीलता के कारण अपने प्रियजनों से माता-पिता या मित्र के समान (सदैव) सुगम्य था। (श्लोक १५)। कालान्तर में हस्तिभोज का पुत्र वराहदेव, देवसेन के पुत्र हरिषेण का मंत्री बना। स्थिर, धीरचेता, त्यागी, कामाशील एवं उदार वराहदेव ने धर्म का आश्रय लेकर देश का शासन किया (श्लोक १६-२०) ।

गुहिल-वंशज अपराजित का सेनापति वराहसिंहराज अष्टशक्ति-सम्पन्न, भुजंगशत्रुओं को समाक्रान्त करने वाला और गुणावेष्टित अदाय-कीर्ति युक्त था —

१. अजन्ता लेख, ६०के०टे०वे०ई०, पृ० ७०, श्लोक, १२-१४

२. ५० उदयपुर लेख, २०ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ४-५

जनगृहीतमपि ज्ञायवर्जितं

धवलमप्युनुरजितभूतलं

स्थिरमपि प्रविकासि दिशो दश

भ्रमति यस्य यशां गुणवैष्टितम् ॥ (श्लोक ५)

कभी-कभी निम्नवर्ग के अधिकारियों के विषय में भी सूचना प्राप्त हो जाती है, जैसे खानापुर दानपत्र का कायस्थ (लिपिकार) सत्य-धर्म संस्थित तथा 'ब्रह्मासमन्वित' व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है।<sup>१</sup> किन्तु अभिलेखों में इस वर्ग के व्यक्तियों का चरित्र चित्रण न्यून और नगण्य है।

दानग्राही ब्राह्मणों के पाण्डित्य का परिचय प्रायः प्रत्येक दानलेख में सुलभ है, जिससे प्रभावित होकर नृपतिगण उन्हें भूम्यादिदान करने के लिए प्रेरित हुए होंगे।

स्त्री-पात्र-चित्रण (राजमहिषियों) —

भरतमुनि ने नायिकाओं को, दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री एवं गणिका—इन चार भागों में विभाजित किया है।<sup>२</sup> अभिलेखों में विशेष-रूप से नृपपत्नियों का ही चरित्र-चित्रण हुआ है और वह भी गाँठारूप में। 'मूर्धाभिषिक्त कुलशीलसमन्वित, गुणवती, वयस्था, मध्यस्था, क्रोधना, मुक्तेष्ट्या, नृपशीलज्ञा, समानरूप से दुःखसुख सहने वाली, शान्ति एवं स्वस्त्ययनों से पति की सतत मंगलैषिणी शान्त, पतिव्रता, धीरा तथा अन्तःपुर के कल्याण में रत'<sup>३</sup> — ये नृप पत्नियों के शास्त्रनिर्धारित गुण हैं, जिनकी विद्यमानता एक आदर्श नृपपत्नी के चरित्र में आवश्यक है। जहाँ तक अभिलेखों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि उनकी नायिकारं कवि की कल्पनाप्रसूत नृपपत्नियाँ नहीं। इसलिए उनमें उल्लिखित सभी गुणों का अन्वेषण, विषय की निर्धारित सीमाओं को भूलना है।

१. ए०ई०, भाग २७, पृ० ३१६

१. विष्णुकुण्डल माधववर्मन् का खानपुर दानलेख, ए०ई०भाग २७, पृ० ३१६ पंक्ति ३०

२. ना०शा०, २४।२३

३. वही, २४।३३, ३५

यहाँ नारीपात्र चित्रण का प्रारम्भ समुद्रगुप्त की पत्नी दत्ता से किया जाता है। वह पतिव्रता (व्रतिनी) बहुपुत्र पौत्र वाली तथा राज-प्रासादों में नित्य मुदित रहने वाली थी।<sup>१</sup> विश्वनाथ ने भी स्वीया नायिका को गृहकर्मपरा और पतिव्रता होना आवश्यक बताया है।<sup>२</sup>

वाकाटक महाराज रुद्रसेन (द्वि०) की अग्रमहिषी, चन्द्रगुप्त (द्वि०) की पुत्री प्रभावती गुप्ता उभयकुलालंकारभूता (गुप्त और वाकाटक) तथा 'अत्यन्त भगवद्भक्ता' थी।<sup>३</sup> वह एक वीर एवं राजनीति-निपुणा महिला थी। पति के दिवंगत होने पर जब उसका पुत्र शैशवावस्था में ही था, तो उसने स्वयं ही शासन की रज्जु अपने हाथ में ली और शासन-पत्र घोषणा का स्वाधिकार भी सुरक्षित रखा, जैसा कि उक्त पूना ताम्रलेख से स्पष्ट है। वाकाटक शासन-व्यवस्था में उसकी प्रभुता, पुत्र प्रवरसेन (द्वि०) के राज्यारोहण के पश्चात् भी यथावत् बनी रही। उसने रिथपुर दान लेख<sup>४</sup> पूर्ण स्वतंत्रता से उद्घुष्ट किया, जबकि उस समय उसके पुत्र प्रवरसेन (द्वि०) का उन्नीसवां राज्य-संवत्सर चल रहा था (पं० २६-३०)।

मगध के गुप्त नृपति आदित्यसेन की पत्नी कोणार्कदेवी जनकल्याण और धार्मिक कार्यों में विशेष रुचि केन्द्रित करती थीं। उसने एक पुष्करिणी का निर्माण करवाया जिसका उल्लेख मन्दारगिरि लेख में है।<sup>५</sup> काशी नरेश प्रकटादित्य की माता धवला अपने पति बालादित्य के लिए ऐसी ही पतिव्रता सिद्ध हुई, जैसे चन्द्रमा के लिए रोहिणी, शिव के लिए गौरी और वासुदेव के लिए लक्ष्मी —

तस्य धवलेतिजाया पतिव्रता रोहिणीव चन्द्रस्य ।

गौरीव शूलपाणीलक्ष्मीरिव वासु [देवस्यः॥]<sup>६</sup>

१: एरण शिलालेख का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २०, श्लोक ५

२: सा० द०, ३।५७

३: प्रभावतीगुप्ता का पूना ताम्रलेख, द्वि०लि०इ०, पृ० ११३, पं० ८

४: सि०इ०, भाग १, पृ० ४१५-४१८

५: का०इ०ई०, भाग ३, संख्या ४४, तथा ४५

६: प्रकटादित्य का सारनाथ लेख, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २८५ पं० ४



भास्करवर्मन् के दूबि शासन पत्र का कवि वर्ण्यमान नृपतियों के नामों को सार्थक दिखाने की कला में विशेष प्रयत्नशील प्रतीत होता है। यदि नरपति का नाम किसी पौराणिक-चरित के अनुकरण पर रखा हुआ मिलता है तो उसकी पत्नी का साम्य वह उस पौराणिक चरित की पत्नी से देना नहीं भूलता। तभी तो वह महेंद्रवर्मा की पत्नी की उपमा, 'शची' से<sup>१</sup> और उसके पुत्र नारायणवर्मा की पत्नी की उपमा पद्मा (लक्ष्मी) से देता है।<sup>२</sup> 'स्थिर' किसी पौराणिक चरित्र का नाम नहीं इसलिए उसकी पत्नी सुनयना (नयनदेवी) का साम्य वह परम्परागत रूप से लक्ष्मी से देता है, जिसमें स्थिर नाम को सार्थक करने का अवसर कवि को नहीं मिल पाया। सुनयना को कवि ने लक्ष्मी से उपमित कर उसे रूपिणी और मानिनी बताया है —

‘देवी श्रीरिव रूपिणी (प्रियतमा) कान्ताभवन्मानिनी ॥’<sup>३</sup>  
उत्तम प्रमदाओं के लिए रूप ‘अनेक गुणों में एक प्रमुख गुण है।’<sup>४</sup>

कालकालविरुद्ध से प्रसिद्ध पल्लव नरेश की महिषी अपने पति के लिए इतनी ही प्रिय थी, जितनी शिव को पार्वती —

या कालकाल इति विश्रुतपुण्यकीर्तिः :

कान्ता नितान्तयिता परमेश्वरस्य ॥<sup>५</sup>

पल्लवनरसिंह विष्णु की पत्नी (सम्भवतः उपर्युक्त महिषी) अपने पति के प्रेक्ष का एकाधिकार पाकर ऐसी शोभित हुई, मानों उसने लक्ष्मी के गर्व को ही क्षीन लिया हो।<sup>६</sup> नारीजनों के लिए पताकास्वरूप रंगपताका नाम्नी उस रानी की धार्मिक भावना का अनुमान यहीं से किया जा सकता है कि उसने शिव मन्दिर का निर्माण करवाया —

१: ए०६०, भाग ३०, पृ० २६६, श्लोक २४

२: वही, पृ० ३००, श्लोक २७

३: वही, पृ० ३०१, श्लोक ५०

४: ना०शा०, २४।१०

५: सा००६०, भाग १, संख्या २६ पृ० २३, श्लोक १

६: वही, पृ० २३, श्लोक २

निर्मापितमिदन्धाम तथा चन्द्र [शिखा] मणौ : [1]

पता (कयेव) नारीणां रम्यं रंगपताक (या।।) १

तीसर्वेपल्लव लेख में लावण्य , मृदुता, विलास एवं शुचिता सम्पन्न एक पल्लव महिषी के लिए विधाता की निर्माण सिद्धि ही कहा गया है । ब्रह्मा ने आकार सुन्दर सङ्घर्षों विलासवती स्त्रियों को बनाने के परिणामस्वरूप, अपने कौशल को पूर्णात्ता तक पहुँचाने के पश्चात् उसे बनाया था—

आकारसुन्दरविलासवतीसङ्घ-  
सर्गाप्रबन्धचिर [संस्कृत को] श्लस्य [1]

लावण्यमार्दवविलासमृजासमग्रा

निर्माणसिद्धिरिव या प्रथमस्य धातुः ।। २

वह ऋत्रिम माधुर्य के कारण विलोभनीय एवं विभ्रमहावभाव से विभूषित थी । ३

स्थानीय शासकों की पत्नियों—

भानुगुप्त के सङ्घोद्धा स्थानीय शासक गोपराज की पत्नी को 'पतिव्रता' से उच्चस्तर 'पतिप्राणा' उपाधि से सम्मानित किया जाना चाहिए । शत्रुओं से लड़ते हुए जब गोपराज ने वीरगति प्राप्त की तब 'भक्ततुरक्ता', 'प्रियाकान्ता' उसकी पत्नी ने अग्नि का आलिंगन कर पति का अनुगमन किया । उसके द्वारा प्रदर्शित भारतीय नारियों का यह उज्ज्वलतम रूप, एरण शिलालेख में उत्कीर्ण है । ४

बलनी शासन पत्र के अनुसार मेकलाराज्य के पाण्डुवनृपति नागबल की पत्नी इन्द्रभट्टारिका दयाशील, औदार्य एवं चातुर्यादि गुणों से समन्वित

१: सा०६०६०, भाग १ , संख्या २६, पृ० २३, श्लोक ३

२: वही, संख्या ३०, पृ० २४, श्लोक १

३: वही, ,, ,, श्लोक २

४. का०६०६०, भाग ३, संख्या २०

थी ।<sup>१</sup> इन्द्रभट्टारिका के पुत्र भरतबल की महिषी 'लोकप्रकाशा' एक अमर-सम्भवा देवी की भांति उच्चकीर्ति से सम्पृक्त थी । धर्मार्थरता 'लोकप्रकाशा' नयविनय सम्पन्न पुत्र पौत्रों से युक्त थी ।<sup>२</sup>

लाखामण्डल लेख में वर्णित यदुवंशी भास्कर की पत्नी जयावली गुणाधिक्य के कारण पति की प्राणश्रांति बनी ।<sup>३</sup> जालन्धर-नृपतिचन्द्रगुप्त से परिणीता जयावली की पुत्री ईश्वरा को भी पातिव्रतधर्म के कारण सावित्री का पद दिया गया है — 'तस्यास्तनया साध्वी सावित्रीवैश्वरेति नाम्नासीत् ।'<sup>४</sup> पति की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने प्राणानाथ के पार-लौकिक पुण्य के लिए एक धार्मिक स्थान (मन्दिर) का निर्माण करवाया (श्लोक २०) ।

राजसेवकों की पत्नियाँ —

यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) के किसी पूर्वज द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक रविवर्मा की पत्नी भानुगुप्ता एक साध्वी महिला थी ।<sup>५</sup> गुहिल-वंशीय अपराजित के सेनापति वराहसिंह की धर्मपत्नी यशोमती ने विषम-विषयग्राहकलित संसार सागर को पार करने के लिए स्थिर पोताकार विष्णु-मन्दिर को बनवाकर अपनी एकनिष्ठ वैष्णवभक्ति का परिचय दिया ।<sup>६</sup> सीमन्तिनियों की धुरि (श्लोक ७) वह नारी, अपने व्यक्तिगत जीवन में भी गैहनी, प्रणायिनी, कीर्तिशालिनी, कुमांगों से चित्त को रोकने वाली और अनन्धती के समान विनयान्विता थी —

तस्यनाम दधती यशोमती

गैहनी प्रणायिनी यशोमती [I]

चित्तमुत्पथगतं निरनन्धती

सा बभूवविनयादरनन्धती ॥ (श्लोक ६)

१: ए०ई०, भाग २७, पृ० १४१, श्लोक ५

२: वही, पृ० १४१-१४२, श्लोक १०

३: ज०१०२०२०३०, भा० २०, पृ० ४५७, श्लोक १८  
(वि०—पहले यह लेख जालन्धर लेख कहलाता था । )

४: वही, श्लोक १६

५: यशोधर्मन् का मन्दसौर शिलालेख, का०ई०ई०, भाग ३, पृ० १५३, श्लोक १५

## द्वादश अध्याय

### भाव-भाषा-साम्य

( आदान, समकालीनप्रभाव तथा प्रदान )

वेग से आगे गतिशील होने की तैयारी जब वर्तमान स्थिति से एक पग पीछे हट कर की जाती है, तब साधना को सिद्धि सहज ही प्राप्त हो जाती है। हृदयचालित साहित्य की गति भी यंत्रचालित यान की ही भाँति है, जो सवेग अग्रसर होने के लिए चक्रों के एक-दो घुमाव पीछे भी छोड़ देता है। यान की जो गतिशील होने की 'शक्ति' है वह 'शक्ति' कविता के क्षेत्र में कवि की जन्मजात प्रतिभा है, जिसके बिना काव्य सृष्टि सम्भव नहीं। इसे 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रतिभा के बल पर ही कवि की काव्य-यात्रा दिगन्तरों को नापती है। यान में जो चालक की यंत्र सम्बन्धी बहुज्ञता है, साहित्य में वही व्युत्पत्ति है, जिसके प्रभाव से कवि सुस्थित होकर मार्गों के सम्यक् परिचय के साथ, अपना कविता-यान निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाता है। काव्यज्ञान सर्वप्रकारेण सुन्दर होने पर भी व्युत्पत्ति के बिना पथभ्रष्ट हो सकता है। पूर्वकवियों ने क्या लिखा, उनकी प्रतिभा किस दिशा की ओर अग्रसर होकर सफलता का आलिंगन कर बैठी? जिस संसार में हम रहते हैं, उसके रीति-रिवाज, सभ्यता-संस्कृति, परिपाटियाँ और जीवन सम्बन्धी नियम क्या हैं, आदि सबका ज्ञान कविता के लिए अपेक्षित है, अन्यथा शक्ति या प्रतिभा का स्फुरित-प्रकाश, अन्ध-कार में ज्योतिरिंगणों की भाँति निराधार भटकता फिरेगा; उसे स्थिर धरातल न मिल सकेगा। इसलिए काव्य और लोकशास्त्र का अध्ययन व्युत्पत्ति के अन्तर्गत प्रतिभा का क्षेत्रनिर्धारण व्युत्पत्ति से ही सम्भव है। काव्य की तृतीय आवश्यकता, अभ्यास है। अभ्यास सतत-साधना का नाम है। पूर्णता के उद्देश्य को लेकर चलने वाला यह बीच का प्रयास है। इसका परिणाम काव्य का परिमार्जन है। इस प्रकार काव्य सृष्टि के तीन क्रमिक कारण स्थिर होते हैं— शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास।<sup>१</sup>

१. ५०—का०मी०(प्रथम अधिकरण)अ०४,५; का०प्र०(प्रथम उल्लास) तथा—

नैसर्गिकी च प्रतिभा हुतं च बहुनिर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणां काव्यसम्पदः ॥ काव्या०१।१०३

राजकीय तथा अन्यान्य सेवाओं में रहने पर भी अभिलेखीय कवियों की शक्ति को वही सम्मान मिलेगा, जो लौकिक संस्कृत साहित्य के कवियों की प्रतिभा को प्राप्त होता है। अभ्यास भी उनका समानान्तर ही चला, तभी तो अभिलेखों में हमें उच्च कवितों के भी उदाहरण यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। जैसे, प्रयाग प्रशस्ति में प्रकट हरिषेण की प्रतिभा तथा मन्दसौर लेख में कलकी वत्सभट्ट की शक्ति, उनकी सतत काव्य साधना के ही परिणाम हैं। वत्सभट्ट ने तो अपनी कृति के उपसंहार में स्पष्ट ही लिखा है — पूर्वा वेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना (श्लोक ४४)। यहाँ प्रयत्न शब्द से वत्सभट्ट की एकाग्र साधना व्यंजित होती है। प्रत्येक साधना का एक आधार होता है। यह आधार ही व्युत्पत्ति है। लौकिक संस्कृत कवियों की भाँति ही अभिलेखीय कवियों ने पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन, मनन और अनुकरण किया। काव्य के इस उपजीव्य-उपजीवक भाव का संसार का कोई भी साहित्य उदाहरण बन सकता है। पूर्ववर्ती कवि अनु-वर्ती कवियों को सदैव प्रभावित करते रहे हैं। अध्ययन से मस्तिष्क में पड़े प्रतिबिम्ब का यत्किंचित् स्फुरण तो होगा ही। प्रतिबिम्ब के इस स्फुरण के दो परिणाम हैं।— सात्त्विक और उच्च परिणाम को 'काया' या 'प्रभाव' अथवा 'आदान' कहेंगे। दूसरा परिणाम गर्हित और हैय है— जिसका नाम नकल या काव्यचोरी है। महाकवि बिल्हण ने इसी नकल को करने वालों के लिए कहा — काव्यार्थचोराः प्रगुणीभवन्ति ।<sup>१</sup> व्युत्पत्तिजन्य आदान में इस 'नकल' को मान्यता मिली है और न मिलेगी। यह नकल, एक कुत्सित कर्म के रूप में ही त्याज्य होगी।

इस प्रकार अभिलेखीय कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों का अध्य-यन-मनन किया और उनका प्रभाव ग्रहण किया। वत्सभट्ट ने तो कालिदास को ही अपना आदर्श माना। कवि रविकीर्ति ने अपने लिए कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्ति : (देहोललेख, श्लोक ३७) कह कर इस बात की ओर सङ्ग संकेत किया कि उसने उक्त दो महाकवियों की स्पृहाणिय कीर्ति को पाने के लिए उन्हीं का जैसा प्रयास किया। कालिदास तो आज तक

१. ३० — क०मी० — (प्रथम-अधिकृत) ३०-४, ५-क०प्र० (प्रथम-उल्लास)

समग्र भारतीय साहित्य को प्रभावित करने के लिए सर्वाधिक सज्जाम रहा । फिर 'मंजरियों' जैसी मधुरसान्द्र उसकी उक्तियाँ में ' अभिलेखीय कवियों को भी ' प्रीति ' कैसे न होती । काल-क्रमानुसार यहाँ सभी प्रारम्भिक कवियों के, उनके उत्तरवर्ती, सातवीं शताब्दी पर्यन्त के अभिलेखों पर पड़े प्रभाव का संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है । ये प्रारम्भिक लौकिक कवि भास, अश्वघोष, कालिदास शुद्रक, भारवि आदि हैं, जिन्होंने इस कालावधि के अभिलेखों पर अपनी उक्ति अथवा भावसाम्यपरक छाया प्रतिबिम्बित की । यह 'आदान' जो अभिलेखों के कवियों ने लौकिक संस्कृत साहित्य से किया, सर्वप्रथम भास से ही प्रारम्भ किया जा रहा है —

### ‘क’ — आदान

भास—

‘कृत्वा सुरभूमितलंप्रभिन्नं’

— बालचरित० ३।४

‘तुरंगबुरनिपातज्जुणामार्गा धरित्रिं (त्री)

— भरतबल का बहनी शासनपत्र, २०६०,

भाग २७, पृ० १४०, श्लोक ४

‘नृपभवनमिदं सहस्रमालं

जिगमिषतीव नभो वसुन्धरायाः

— अविमारक० ३।१३

‘प्रसादमालाभिरलंकृतानि धरा

धरां विदायुर्यैव समुत्थितानि ।

विमानमाला सदृशानि यत्र

गृहाणि पूणान्द्रुकरामलानि ॥’

— बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख,

का०६०६०, भाग ३, पृ० ८१, श्लोक १२

‘समुदितबलवीर्यं’ रावणं नाश-  
यित्वा’

— प्रतिमा० ७।२

‘समुदितब[ल]कोशा[न्प्रथमित्रांश्च जि]  
त्वा’

— स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ

लेख, का०६०६०, भाग ३,

संख्या १४, श्लोक ४

“विहितकनकशृंगं गोसहस्रं ददामि”

— कर्णभार १।१८

“अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः”

— प्रयाग प्रशस्ति, का०इ०ई०,  
भाग ३, सं० १, पं० २५

“यस्याह्वेषु रिपवः कथयन्ति  
शौर्यं”

— प्रतिज्ञा० २।६

अपि च जित[मे]व तेन

प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोऽपि

— स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख  
का०इ०ई०, भाग ३, सं० १४

श्लोक ४

उपेत्य नागेन्द्रतुरंगतीर्णं  
तमारुणिं दारुणाकर्मदक्षम् ।  
विकीर्णबाणाग्रतरंगभंगे  
महापावाभे युधि नाशयामि ।

— स्वप्न० ५।१३

तुंगतुरंगतरंगे प्रवरत्करिमकरजनितविष-  
यावत्तो (रै) [१]

अविरलमुदीर्णश्ले विजृम्भमाणो समुद्र इव

— कूरम शासन-पत्र का संशोधित पाठ्य  
२०ई०, भाग १७, पृ० ३४१,

श्लोक १०

अश्वघोष —

“चन्द्रमरीचिशुभे द्वे वारिधारे”

— बुद्ध० १।१६

“यश्चश्चयश्चन्द्रमरीचिगौरं”

— मा०सं० ५२४ का मन्दसौर लेख,  
२०ई०, भाग २७ पृ० १५ श्लोक ७

“हर्म्येषु सर्वर्तुसुखाश्रयेषु”

— बुद्ध० २-२६

“सर्वर्तुसुखरमणीयाद्रिजयनिवासात्क-  
लिंगनगर-वासकात्”

— इन्द्रवर्मन् (पूर्वीगांग) का तैक्कलि  
शासनपत्र, २०ई०, भाग १८, पृ० ३०।  
पं० १-२, तथा अन्यान्य पू०गांग  
शासन पत्र ।

“निःसारं पश्यतो लोकं

तोयबुद्बुद्बुलम् ।”

— सौन्दर० १५।६३

(समान निर्वेदात्मक भाव) —

इ०—गंगधालेख, का०इ०ई०, भाग ३,

संख्या १७ श्लोक १८ तथा अन्य लेख

(अन्यत्र उद्धृत )



(शिव के लिए) —

अथ मौलिकतस्येन्दो-  
विशदेदर्शनांशुभिः ।  
— कुमार० ६। २५

(पिनाकी) —

स्मितरवगीतिषु यस्य दन्तकान्तिः ।  
द्युतिरिव तडितां निशि स्फुरन्ति  
— इत्यादि, यशोधर्मन् विष्णु-  
वर्द्धन का मन्दसौर स्तम्भ लेख, हि० लि  
६०, पृ० १३१, श्लोक १

(पुनरुक्ति प्रयोग) —

हेमताम्रसताडितप्रिया  
तत्कराम्बुविनिमीलितेदाणा ।  
सा व्यगाह्यत तरंगिणीमुमा  
मीन-पंकितपुनरुक्तमेखला ॥  
— कुमार० ८। २६

श्रुतातिशयेनोद्भासितश्रवणः

पुनः पुनरुक्तेनैव रत्नालंकारेणालंकृतश्रोत्र  
— शीलादित्य (द्वि०) का लुणसडि  
शासन-पत्र, भाव० पृ० ४८, पत्र २  
पंकित ६

(देवनदी वर्णन) —

सारम्यलुब्धप्रमरोपगीते-  
हिरण्यहंसावलिकैलिलोलैः ।  
चामीकरीयैः कमलेर्विनिद्रे-  
श्च्युतैः परागैः परिपिंगतोयाम्  
— कुमार० १३। २७

(द्र०--दशपुरवर्णन) —

द्र० — बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख,  
का० ६०६०, भाग ३, सं० १८  
श्लोक ८-९

द्र० — सुमेरु की सुनहरी धूलि कण  
का वर्णन,  
कुमार० १४। १६-२०  
युगपत्, द्र०-कुमार० १४३

द्र० —

करि-तुरगचरण से दण्डुण सुमेरु  
पर्वत तथा परिणामतः कनकरज  
से वितानित व्योम  
— अमरावती का पल्लव लेख,  
सा० ६०६०, भाग १, पृ० २६-२७  
पंकित २८-३१

शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यो  
मौक्तिकानि च्युतान्यधः ।

अध्याह्नवज्रोत्रमुप्त-  
कीर्तिबीजांकुरश्रियम् ॥

—कुमार० १६।२२

विनीतारिगजकुम्भविगलित-मुक्ताफल-  
च्छलप्रविकीर्णविमलयशोवितानेन —

—दद प्रशान्तराग का शिरीषपत्रक  
ग्रामदान लेख — प्रा०ले०मा० ,  
भाग २, पृ० ४१ (का०मा०)

परस्परलङ्घते ह्य हाथियों  
के दांतों से समुत्पन्न

अग्नि— कुमार० १६।३२

लंग<sup>और</sup> हस्तिदन्त की टक्कर  
(परिणामतः उसके टूटने से)

उत्थित अग्नि से उदीपित रणभूमि  
— पुलकेशिन् (द्वि०) का आम्रवटवक  
ग्रामदान लेख, प्रा०ले०मा०, भाग ३  
पृ० ११६ (का०मा०)

युद्ध में नाचते हुए कबन्ध

—कुमार० १६।४६-५०

द्र० — 'नृत्यद्भीमकबन्ध' — ऐहोल लेख,  
इ०ऐ०ए०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ५

लीलास्मितं सदृशनाचिरिव  
त्वदीयम्

— रघु० ५। ७०

स्मितरवगीतिषु यस्य दन्तकान्तिः ।  
(यशोधर्मन् कालीन मन्दसौर शिला<sup>स्तम्भ</sup>लेख  
का०इ०इ०, भाग ३, सं० ३५,  
श्लोक १

ज्याघातरेखाकिणाला-  
ङ्कनेन भुजेन — रघु० १६।८४

घोराणामाह्वानां लिखितमिव जयं  
श्लाघ्यमाविर्दधानो  
वक्षस्युदामशस्त्रव्रणकठिनकिणान्ध्रि-  
लेखान्कलेन

— आदित्यसेन का अपसद शिलालेख,  
का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २०२, श्लोक ३

(भगवान् विष्णु के लिए) —  
अजितो जिष्णुरत्यन्तं

— रघु० १०।१८

सजयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः ।

— स्कन्दगुप्त का जुनागढ़ शिलालेख,  
का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १४, श्लोक १

तत्फणामण्डलौदर्विर्मणितो-  
तितविग्रहम् — रघु० १०।७

(वैसे ही फणामणि का प्रकाश) —  
“फणामणिगुरुभार [तत्का]न्ति  
दूरावनम्रं  
स्थगयति रुचिमिन्दोर्मण्डलं यस्य  
मुध्नाम् [१]”  
— यशोधर्मन् कालीन मन्दसौर स्तम्भलेख,  
का०इ०इ०, भाग ३, सं० ३५, श्लोक ३

दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।

— रघु० ७-५६

तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः

— रघु० ७-६३

एकातपत्रां भुवमेकवीरः

— रघु० १८-४

जगति भुजबलाड्यो(द्वयो) गुप्तवर्षेकवीरः

— स्कन्दगुप्त का भितरीलेख, का०इ०इ०,  
भाग ३, संख्या १३, श्लोक २

इति शिरसि स वामं पाद-  
माधायराज्ञां

— रघु ७।७०

दिशिपचरणापीठे स्थापितो वामपादः

— भितरीलेख, का०इ०इ०, भाग ३,  
संख्या १३, श्लोक ४

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः  
शिखरिणामिव सागरमापगाः ।

— रघु० ६।१७

इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गता [ः]

पलाशिनीयं सिकताविलासिनी ।

समुद्रकान्ताः चिरबन्धनोषिताः

पुनःपतिं शास्त्रयथोचितं ययुः ॥

— स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, का०इ०इ०,  
भाग ३, सं० १४ श्लोक २८

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणा-  
मजस्रमाहूतसहस्रेनेत्रः ।  
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बा-  
न्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥

— रघु० ६ । २३

(मौखरि यज्ञवर्मा के लिए) —

यस्याहूतसहस्रेनेत्रविरह्णामा सदैवाध्वरैः

पौलोमीचिरमश्रुपातमालिनां धा(ध)तेकपोलि

— अनन्तवर्मन् का नागार्जुनी शैलगुहा-  
लेख, का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २२४,  
श्लोक १

स सैन्यपरिभोगैण  
गजदानसुगन्धिना ।  
कावेरीं सरितां पत्युः  
शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥

— रघु० ४।४५

कावेरी द्रुतशफरी विलोलनेत्रा  
चोलानां सपदि जयोद्यतस्य यस्य ।  
प्रश्वोतन्मदगजसेतुरङ्गनीरा  
संस्पर्शं परिहरति स्म रत्नराशेः ॥

— ऐहोललेख, इ० ऐण्टि० भाग ५

पृ० ७०, श्लोक ३०

नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श

— रघु० ७।५१

नृत्यद्भीमकबन्धं<sup>३</sup>किराज्वालासङ्घः<sup>[२]</sup>

रणे ।

— ऐहोललेख, श्लोक ५

आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां

मनः परस्त्रीविमुखः प्रवृत्तिः

रघु० १६—८

परदारनिवृत्तचित्तवृत्तेः

— ऐहोललेख, श्लोक ६

प्रसादाभिमुखे तस्मिन्-

श्चापलापि स्वभावतः ।

निकर्षो हेमरेखेव

श्रीरासीदनपायिनी ॥

— रघु० १७।४६

लक्ष्मीर्भावितचापलापि च कृता

शौर्य्येण येनात्मसात्

— ऐहोललेख श्लोक ५

गगनमश्वरत्नुरोद्धतरेणभि

नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥

— रघु० १८।५०

यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटौषिताश्व-

सेनारजः पटविनिर्मितदिग्वितानः [॥]

— ऐहोल लेख, इ० ऐण्टि०, भाग ५,

पृ० ६६, श्लोक ११

(दशरथ के लिए) —

सैन्यरेणुमुषिताकंदी धितिः ॥

— रघु० ११ । ५१

तथा — द्र० — रघु० ११।५६

बालेयच्छविधूसरेण रजसा मदांशु संलज्ज्यते

पर्यावृत्त शिखण्डचन्द्रक इव ध्यामंस्त्रिमण्डलम् ।

— यशोधर्मन् का मन्दसौर स्तम्भ लेख,

का० इ० इ०, भाग ३, सं० ३५, श्लोक

६

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्  
कुशं द्विषामकुशमस्त्रविद्वान् ।  
मानोन्नतेनाप्यभिवन्ध मूर्ध्ना  
मूर्ध्नाभिषिक्तं कुमुदो बभाषो ॥

— रघु० १६।८१

नरपति-भुजगानां  
मानदप्पौत्फुणानां  
प्रतिकृति गरुडा[जिं]  
निर्व्विषी[जिं]वावकर्ता ॥

— स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, का० ६०६  
भाग ३, सं० १४, श्लोक २

(दशरथ के लिए) —

यमकुञ्जरजलेश्वर-वज्रिणां  
समधुरं मधुरं चितविक्रमम् ॥

— रघु० ६।२४

धनवर्णगणैर्द्वान्तकसमस्य

— प्रयागप्रशस्ति, का० ६०६, भाग ३,  
संख्या १, पृ० २६

टि० — क्रमशः समदर्शिता, दान-  
शीलता नियमन(शासन-प्रणाली)  
एवं ऐश्वर्यशालिता के कारण ये  
चारों दिक्पाल राजाओं के उप-  
मानभूत हैं ।

पंचमं लोकपालानामुद्युः  
साधर्म्ययोगतः ।

— रघु० १७ । ७८

विहित इव विधात्रा पंचमो  
लो[कपालः] लः [॥]

— प्रह्लादपुर स्तम्भलेख (तिथि अनिर्णयित)  
का० ६०६, भाग ३, पृ० २५०

(वाणी के लिए) —

बभौ सदशनज्योत्स्ना  
सा विभोर्वदनोद्गता ।

— रघु० १०।३७

स्मितज्योत्स्नाभिषिक्तेन

वचसा प्रत्यभाषत ।

— रविवर्मन् का देवगिरी शासन पत्र,  
६०६, भाग ३३, पृ० ६१, श्लोक १३

जह्नुकन्यां सगरतनय-

स्वर्गसौपानपंक्तिम् ।

(पूर्व)मोघ० ५०

मुनिवसिति [। ५ ] स्वर्गसौपानरूपाम्

— कुमार-गुप्त का विलसद स्तम्भ लेख,  
इन्सक्रिप्सन्स आफ द अली गुप्त  
किंगज (भारत), पृ० ६

कैलासस्य त्रिदश्वनिता-  
दर्पणास्यातिथिः स्या ।  
(पू०) मेघ० ५८

कैलासतुंगशिखरप्रतिमस्य यस्य  
दृष्ट्वाकृतिं प्रमुदितैर्वदनारविन्दैः ।  
विद्याधराः प्रियतमासङ्गिताः सुशोभा-  
मादर्शविम्बमिव यान्त्यवलोच्यन्तः ॥  
— गंगाधार शिलालेख, का० ई० ७६०,  
भाग ३, सं० १७, श्लोक २१

शृंगोच्छ्वायेः कुमुदविशदैर्यै  
वितत्य स्थितः खं  
राशीभूतः प्रतिदिनमिव  
त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥  
(पू०) मेघ० ५८

यशःसदृशमात्मनो भवन-  
मेतदुत्थापितं  
हरस्य हरहासरूपप्रतिमान-  
मत्यद्भुतम् ॥  
— सा० ई० ७६०, भाग १, संख्या २४,  
श्लोक ६, पृ० १३

विद्युत्त्वन्तं ललितवनिताः सैन्दवापं सचित्राः  
संगीताय प्रहृतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।  
अन्तस्तोर्यं मण्डिमयभुवस्तुंगमम्रं लिहाग्राः  
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।  
— (उत्तर) मेघ० १

वपलत्पताकान्यबला-सनाथा  
न्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।  
तदिल्लता-चित्र-सिताब्भ्रुकूट-  
तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥  
— (वत्सभट्टिरचित) मन्दसौर लेख,  
का० ई० ७६०, भाग ३, पृ० ८१,  
श्लोक १०

स्मारकादि अभिलेखों पर, जिनमें तिथि निरूपण के प्रसंग में कवि  
सविस्तार श्रुवर्णन करना अभीष्ट समझता है, श्रुसंहार की विशेष क्वाया  
पड़ी । ऐसा प्रतीत होता है कि श्रुवर्णन करते समय इन अभिलेखीय कवियों के  
स्मृतिपटल पर श्रुसंहार का स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहा होगा । वत्सभट्ट ने तो  
मानो श्रुवर्णन में कालिदास को ही अपना आदर्श बनाया हो । इतना अवश्य  
है कि अधोलिखित उद्धरणों में कालिदास ने जैसा वर्णन शिशिर का प्रस्तुत  
किया, वैसा वर्णन, वत्सभट्ट ने हेमन्त के लिए समुपस्थित किया । इसका  
कारण यह है कि 'श्रुसन्धि' में बीतती और आती हुई श्रु का अन्तर स्पष्ट

नहीं प्रतीत होता । सन्धिस्थल की ऐसी अस्पष्ट स्थिति में दो श्रुतियों का समान वर्णन असम्भव नहीं —

|                                    |                                  |
|------------------------------------|----------------------------------|
| न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं          | रामासनाथ[र]वने दरभास्करांशु-     |
| न हर्म्य-पृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् । | वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने ।     |
| न वायवः सान्द्रतुषारशीतला          | चन्द्रांशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्त- |
| जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम् ॥  | हारोपभोध(ग)रहिते हिमदग्धपद्मे ॥  |

श्रु०सं० ५।३

मन्दसारलेख, का०इ०ई०,

भाग ३, संख्या १८, श्लोक ३१

|                              |                            |
|------------------------------|----------------------------|
| पयोधरैः कुंकुमरागपिंजरैः     | स्मरवशगतर्णराजनवल्लभांगना- |
| सुखोपसेव्यैर्नवयोवनोष्पभिः । | विपुलकान्तपीनोरु-          |
| विलासिनीभिःपरिपीडितोरसः      | स्तनजघनघनालिंगननिर्भ-      |
| स्वपन्ति शीतं परिभूयकामिनः ॥ | त्स्सिततुङ्गिनिहिमपाते ।   |

श्रु०सं० ५।६

— वही (वत्सभट्टि) श्लोक ३३

वत्सभट्टि ने श्रुतवर्णन में ही नहीं, अपितु दशपुर के वर्णन में भी कालिदास का प्रभाव ग्रहण किया । कालिदास ने शरद्वर्णन के प्रसंग में जैसा लिखा, दशपुर उस प्रकार की शारदी शोभा से सामान्यतः ही सम्पृक्त है —

कारण्डवाननविघटितवीचिमालाः  
कादम्बसारसचयाकुलतीरदेशाः ।  
कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य  
प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्यः ॥

श्रु०सं० ३।८

अथवा —

सौन्म्यादहंसमिथुनैरुपशोभितानि  
स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलशोभितानि ।  
मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमात्रा -  
न्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि ॥

श्रु०सं० ३।११



वत्सभट्ट ने भी इसी प्रकार 'कविसमये' का आंशिक आश्रय लेकर दशपुर के समीपवर्ती भूभाग का सौन्दर्य उपस्थित किया । इसलिए वर्यविषय और वर्णनशैली में, कालिदास तथा उसमें अधिक अन्तर नहीं —

प्रफुल्ल पद्माभरणानि यत्र सरांसि कारण्डव-संकुलानि ॥

विलोलवीचीचलितारविन्दपतद्भुजः पिंजरितेश्च हंसैः ।

स्वकैसारोदारभरावभुग्नेः क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्चभान्ति ।<sup>१</sup>

कृती कलाब्दी के यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) के मन्दसार लेख<sup>२</sup> में वसन्तवर्णन सम्बन्धी दो पद्य हैं (श्लोक २५-२६)। निदर्शना नामक कूप की खनन क्रिया इसी ऋतु में हुई थी । प्रथम पद्य में प्रोषितों के मन को भेदन जैसे करते हुए स्मरणार्थनभ कोकिलप्रलाप तथा भृंगगुंजन — ये दो प्रमुख वर्ण्य हैं । द्वितीय कन्द में मानिनी जनों के मान को शिथिल करने वाले वासन्ती पवन का चित्रण है । यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो इन दोनों पद्यों की पृष्ठभूमि में कालिदास के अधोलिखित कन्द की आत्मा परिलक्षित होती है । 'मानसं मानिनीनां' — शब्दद्वय तो लेख (श्लोक २६) और कालिदास के निम्नोद्धृत श्लोक, दोनों में दर्शनीय है —

समदमधुराणां कोकिलानां च नादः

कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।

इष्टुभिरिव सुतीक्ष्णानांसं मानिनीनां

तुदति कुसुमचापौ मन्यथोद्वेजनाय ॥<sup>३</sup>

ऋतुविशेष का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए 'पवन' ही प्रकृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपादान है । यह कामरूप पवन, वसन्त में गन्धवह है, तो ग्रीष्म में ताप का उग्र-सारथि ; पावस में जल-बिन्दुओं का उदार वितरक, तो शरद् में धान की सुगन्ध का प्रचारार्थकारी ; हेमन्त में वृत्तशिथिल पीत-पत्रों के भूमिशयन का सफलव्यवस्थापक है, तो शिशिर में हिमकणों का समदशी नियामक । एक ही समय में भी इस बहुकर्मा पवन के अनेक कार्यकलाप दिखाकर ऋतुविशेष का सांग वर्णन सम्भव है । कालिदास ने ऋतुसंहार के अनेक स्थलों पर इसी पवन के बहुविध गतिविधियाँ

१: का०३०६०, भाग ३, पृ० ८१, श्लोक ७-८

२: वही, भाग ३, संख्या ३५

३: ऋ०सं० ६।२७, इस सम्बन्ध में श्लोक ६।२१ भी द्रष्टव्य है ।

प्रदर्शित कर प्रकारान्तर से ऋतुविशेष का चित्र समुपस्थित किया है, जैसे—

(शरत् पवन) —

आकम्पयन्फलभरानतशालिजालानानर्त्यस्तरवरान्कुसुमावनप्रान् ।

उत्फुल्लपंकजवनां नलिनीं विव्वन्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नभस्वान् ॥<sup>१</sup>

अपराजितकालीन उदयपुर लेख के कवि दामोदर ने भी केवल 'प्रावृषीण्य पवनों' के विभिन्न क्रियाकलापों को दिखाते हुए प्रकारान्तर से पावस के सांगवर्णन करने में कालिदास का ही अनुकरण किया ।<sup>२</sup>

नैसर्गिक अरुणामा के कारण पल्लव या मंजरियाँ प्रिया-धरोष्ठों से अथवा कामिनीमुख से उपमित होते हैं — 'कान्तामुखद्युति-जुषामपि चोद्गतानां शोभां परां कुरबकद्युतिमंजरीणाम्'<sup>३</sup> — ऐसे वर्णन मात्र काव्य परम्परा के अन्तर्गत ही ग्राह्य हैं । इस परम्परा से अभिलेखीय लेख भी समान रूप से ही प्रभावित हुए, जैसे—प्रियाधरोष्ठारुणपल्लवेषु (कवि रविल)<sup>४</sup> ।

मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने पुष्करवाचसमुत्था मायूरी मार्जना के कारण 'जीमूतस्तनितविशंकिमयूरी' का वर्णन किया —

जीमूतस्तनितविशंकिभिर्मयूरी—

रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।

निर्द्गादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था

मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥

—माल० १-२०

'हरह' अभिलेख (५२४ ई०) के रचयिता रविशान्ति ने यज्ञ-धूमजाल से मेघाशंकि शिखिकुल को समान ही मुखरित किया —

मुखरयति समन्तादुत्पतद्धूमजालं

शिखिकुलमुरममेघाशंकि यस्य प्रसक्तम् ॥<sup>५</sup>

१. ऋसं० ३।१०, इस सम्बन्ध में ऋसं० २।१७ (ग्रीष्म समीरणा), ऋसं० ३।१५ (शरत् पवन) आदि पद्य भी द्रष्टव्य हैं ।

२. २० ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ६, (उद्धरण प्रकृतिचित्रण के अध्याय में द्रष्टव्य)

३. ऋसं०, ६-१८

सुबन्धु—

लगभग ६२० ई० में रचित अपने हर्षचरित गद्यकाव्य में बाण-भट्ट ने (सुबन्धुरचित) वासवदत्ता का सादर उल्लेख किया (१।११) । सुबन्धु की इस व्यापक प्रसिद्धि के लिए लगभग एक शताब्दी अवश्य लगी होगी; इसलिए उसे छठी शताब्दी पूर्वार्द्ध में मानना तर्कसंगत है । यहाँ, इस शताब्दी के पश्चाद्वाती अभिलेखों में ही इस प्रख्यात गद्यकृति वासवदत्ता का प्रभाव-निरूपण किया गया है —

“मित्रोदयहेतुः” (सुमेरु सदृश )

— वासव०, पृ० १७  
(चौ० संस्क०)

“पूर्वाचलेन्द्र इव मित्रोदयानुकूलमहिमा”

— पूर्वीय चातुर्व्य इन्द्रवर्मन् का  
कोण्डागूरु शासन, ८० ई०, भाग १८  
पृ० ३ वं० १४-१५

“मेरुरिव विबुधास्तयो”

— वासव०, पृ० ६

आसीदन्तिसहस्रगाढकटको

विद्याधराध्यासितः

सद्वंश-स्थिर उन्नतो गिरिरिव

श्रीकृष्णागुप्तो नृपः ।

— आदित्यसेन का उपसद्

शिलालेख (लगभग ६७२) हि० लि० ६०,  
पृ० १४६, श्लोक १

“पारिजात इवाश्रितनन्दनः”

— वासव०, पृ० २१

अव्यालःस्वारीह[ः]कल्पद्रुमवत्

समृद्धिभूरिफल[ः] ।

च्छायापाश्रितजनतापरिवेष्टित-

पादमूलो यः [।।]

— भास्करवर्मन् का निधानपुर ता

शासन, हि० लि० ६०, पृ० २३८, श्लोक २५

(युद्धप्रसंग) —

नृत्यद्भीमकबन्धवद्भु-

१. नृत्यत्कबन्धविधुरे

किरणज्वालासहस्र[ः]रणौ ।

— वासव०, पृ० ३०-३१

— रेहोल शिलालेख, ई० रे० ८०,

२. भारतसमरभूम्येव नृत्य-  
त्कबन्धया

भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ५

— वासव० पृ० ७७

३. ननर्त चिरं कबन्धः ।

“उदयाचलकूटकोटि-प्रकृढजपा-  
कुसुमकान्तिभिरिव”  
(सूर्य के लिए)

— वासव०, पृ० २२३

“त्रिदशरक्तजपाकुसुमं नवं दिशतु वो  
विजयं रविमण्डलं ॥”

— निकुम्भाल्ल शक्ति का बगुम्रा

शा० प०, ई० रेण्टि०, भाग १८

पृ० २६७ (६५४-५५ ई०)

पं० १-२

शूद्रक (लगभग छठी सदी)<sup>१</sup>

मृच्छकटिक ने अभिलेखों को विशेष प्रभावित नहीं किया। एक उदाहरण यहाँ अवश्य उद्धरणिय है, किन्तु उसे प्रभाव न कह कर यदृच्छया भावसाम्य-मात्र कहना ही उचित है। चारुदत्त जब अधिकरण मण्डप पर ले जाया गया, तो उसने उसे समुद्र के समान देखा। यह कथन रूपक पर आधारित है —

चिन्तासक्त-निमग्न-मन्त्रि-सलिलं दूतोर्मिं शङ्खोष्ठाकुलं  
पर्यन्तस्थित-चार-नक्र-मकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।  
नाना-वाक्क-कंक-पद्मा-रुचिरं कायस्थसर्पास्पदं  
नीति-क्षुण्णतटं राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ।<sup>२</sup>

इस भयानक वर्णन के पीछे चारुदत्त का हृदयगत भय है। किन्तु भास्कर-वर्मन् के दूबि शासन पत्र में समुद्र का सांग्रूपकनिबन्धन कोमल और सात्त्विक अर्थ में हुआ है, जिसमें ज्ञान पर समुद्र का आरोप कर उसके दर्शन-व्याकरणादि अंगों पर समुद्र के अंग सटीक आरोपित किए गए हैं —

येन व्याकरणादको नयतिमिः सांस्थोरुनक्रो महान्  
[मी]मांसा व(ब)हु[सा]रसानुसरितस्तर्कानिलावी[जितः] ।  
व्यास्थानोर्मिपरम्परातिगहनो न्यायार्थेनाकुलः (कुल-)  
स्तीर्णो(ऽ)ज्ञेय-सरित्पति-प्रकरणाः[स्रो]तोविऽऽऽऽ[॥]

१. हि० सं० लिट० (मेक्डोनेल), पृ० ३०५

२. मृच्छ० ६-१४

३. ए० ई०, भाग ३०, पृ० ३०२, श्लोक ५५

भारवि—

भारवि<sup>१</sup> मैं आकर संस्कृत काव्यधारा ने सत्सा एक नवीन मोड़ लिया । अश्वघोष, कालिदास की शान्त, गम्भीर धारा अकस्मात् अतिशय अलंकार-योजना के कारण, उपलविषम और शतधा तरंगायित प्रतीत होती है । इसका प्रभाव यत्किंचित् मात्रा में अभिलेखों पर भी पड़ा । रेहोल लेख<sup>२</sup> (सातवीं सदी पूर्वार्द्ध) का कवि रविकीर्ति तो इस काव्यधारा के प्रति विशेष आग्रही प्रतीत होता है । कालिदास और भारवि से उसने आठ माँगा और यथोप्पित प्राप्त किया । भारवि से तो उसने दुहरा प्रभाव ग्रहण किया। एक और जहाँ उसने उक्ति और भावों का आदान किया, वहाँ अतिशय अलंकार-(विशेषतः यमक) योजना और शैली-गत विशेषताओं के लिए भी हाथ फेलाया । उक्ति और भावों के कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं —

‘वीतजन्मजरसं’ — किरात० ५। २२

वीत्तरामरणजन्मनो

— रेहोल लेख, श्लोक १

‘वपुः प्रकर्षात्’,

--वही, ३। २

‘वपुः प्रकर्षात्’ --वही, श्लोक ६

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं—

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं

— वही, ५। ६

पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम्

— वही, श्लोक १०

‘शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः’(सरितः) ‘कावेरी-स्त(द्रुत)शफरीविलोलनेत्रा’

— वही ६। १६

— वही, श्लोक ३०

प्रश्च्यातन्मदसुरभीणा निम्नगायाः ( कावेरी के लिए) —

क्रीडन्तो गजपतयः प्यांसि कृत्वा । प्रश्च्यातन्मदगजसेतुरद्वनीरा

— वही, ७। ३५

— वही, श्लोक ३०

१. ‘स्थितिकाल’ ६०० ई० के आसपास — ५०-सं० सा० ६० (पाण्डेय)

पृ० ६७

२. ई० रेण्ट०, भाग ५, पृ० ६७-७३

बाणभट्ट—

संस्कृत साहित्य के महान्तम गद्यकार बाण, हर्ष का दर-बारी कवि था । इसलिए उसका समय सातवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध निश्चित है । हो सकता है वह इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक दो दशक भी लाँघ गया हो । ऐसी स्थिति में सातवीं सदी के अन्त तक ऐसे बहुत कम अभिलेख शेष रहते हैं, जिनमें बाण के भाव और भाषा साम्य देखे जाँय । फिर समकालीन प्रभाव के लिए लगभग एक शताब्दी की अधि युक्तियुक्त सम्झी जाने के कारण, <sup>विवेच्य अन्वाधे के</sup> अभिलेखों पर पढ़े बाण के प्रभाव का प्रश्न उठता भी नहीं । तथापि हर्षचरित के लिखे जाने का समय (६२० के आस पास) निश्चित सा हो जाने के कारण, बाण को सर्वथा छोड़ देना उचित नहीं । बाण ने हर्षचरित में लिखा कि प्रवरसेन की कीर्ति, “सेतुबन्ध” के माध्यम से इसी प्रकार सागर पार पहुँची, जिस प्रकार सेतुबन्ध की सुविधा से कपि सेना सागरपार पहुँची थी—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला ।

सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥<sup>१</sup>

आदित्यसेन के ६७२ ई० के अपसद लेख में भी प्रायः समान ही भाव है । उसमें आदित्यसेन की राज्य लक्ष्मी में अत्यधिक आसक्ति के कारण सापत्न्यवैर से रुष्ट उसकी कीर्ति का सागरपार तक चले जाने का समासौक्तिपरकवर्णन है—

“कीर्तिश्चिरं कोपिता । याता सागरपारं—”<sup>२</sup>

१: हर्ष० १।१४

२: हि०लि०३०, पृ० १५३, श्लोक २६

उक्ति और भावों के आदान के अतिरिक्त, दानलेख अपने प्रारूप-गठन के लिए प्रारम्भिक संस्कृत नाटकों से पर्याप्त प्रभावित हुए । दानलेखों की प्रस्तावना पर नाटकों के आनुषंगिक तकनीकों का स्पष्ट आभा है । स्पष्टतः यों कहा जा सकता है कि दानलेखों का 'स्वस्ति' से लेकर 'समाजापयस्तु वस्सम्बिदितं' पर्यन्त भाग संस्कृत के प्रारम्भिक नाटकों की घोषणाओं की परम्परा पर है । संस्कृत नाटकों में जनसमुदाय को किसी घोषणा से अवगत कराने के लिए सम्बोधित किया जाता है और दानलेखों में भी दानसम्बन्धी राजघोषणा, स्थान-विशेष में उपस्थित जनता को सुनाई जाती थी । दोनों का शब्दविन्यास समान ही होता है । संस्कृत के प्राचीन नाटक उस समय तक पर्याप्त प्रचार में आ चुके थे, जब दान-लेखों का श्री-गणेश हुआ । इसलिए स्पष्ट है कि संस्कृत के प्राचीन नाटकों ने दानलेखों को प्रभावित किया । उदाहरणार्थ मालविकाग्निमित्र में आए एक आदेश का पूर्वभाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है —

‘स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिपुष्य(पुष्य)मित्रो  
वैदिशस्थं पुत्रमायुष्यश्मन्तमग्निमित्रं  
स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति । विदितमस्तु । १

यहाँ, सेनापति पुष्यमित्र के घोषणास्थान 'यज्ञशरणा' (यज्ञागार) के उल्लेख में वही वाक्यविन्यास है, जो दानलेखों में प्राप्त होता है । यह पुष्यमित्र का आदेशपत्र है, जिसे उसका पुत्र अग्निमित्र पढ़ता है । यहाँ प्रारम्भ में मंगलसूचक 'स्वस्ति', स्थान (यज्ञशरणा) 'अनुदर्शयति' तथा 'विदितमस्तु' आदि शब्द विशेष महत्वपूर्ण हैं । दानलेखों में भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग मिलता है —

‘ओं स्वस्ति । विजय-श्वेतकाधिष्ठानाद् — २

१. माल० अंक ५, पृ० २२५ (चॉ०)

२. सामन्तवर्मन् का धनन्तर शासनपत्र, ए०ई०, भाग १५, पृ० २७७, पंक्ति १



प्रस्तावना और व्यावसायिक भागों के सन्धिस्थल भी दान-  
लेखों में नाटकों के समान ही होते हैं —

‘ श्री-साम[न्त]व(र्)म्मा कुशली [१] हामनीभोगविषये  
यथाकाल-व्यवहारिणः सकरणा (सकरणान्) समाज्ञापयति विदितमस्तु—’<sup>१</sup>

भास, कालिदास से भी पूर्ववर्ती नाटककार हैं। उसके नाटकों  
में भी ऐसे स्थल सहज सुलभ हैं, जो दानलेखों के घोषणा-भाग के पूर्वरूप  
प्रतीत होते हैं —

‘ भो भो मधुरावासिनः शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः । अस्य  
खलु दैत्येन्द्रपुरार्गलोत्पाटनपटो सर्वदात्रपराह्मुखावलोकितो वसुदेवसम्भवस्य  
वासुदेवस्य प्रसादात् पुनरधिगतराज्यस्योग्रसेनस्य शासनमिदानीमवधुष्यते ।’<sup>२</sup>

दानलेखों में इस घोषणा का सर्वाधिक महत्त्व है। इसी  
के द्वारा नृपतिवंश का कथन बड़े विस्तार से किया जाता और इसी के द्वारा  
सामान्य जनता को दान सम्बन्धी विवरणों से अवगत कराया जाता था।  
इसलिए उत्तरकालीन दानलेखों की घोषणाएँ परिमार्जित साहित्यिक वाक्य-  
विन्यास के साथ निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहीं, जबकि नाटकों में  
स्थान की परिमितता के कारण ये घोषणाएँ अपनी पुरातन संक्षिप्त-  
पद्धति पर ही अग्रसर होती रहीं।<sup>३</sup>

शासनपत्रों की घोषणा का एक अन्य प्रकार भी देखा जाता  
है, जिसमें लिखा जाता था कि अमुक दानकर्ता नृपति के वचनों से अमुक  
ग्रामवासी या जनसमुदाय विज्ञप्त होने चाहिये —

— ‘ श्रीदामोदरवर्मणो वचनने कंगूरग्रामेयका [ः] वक्तव्या [ः]’<sup>४</sup>

१. सामन्तवर्मन् का धनन्तर शासनपत्र २०ई० भाग १५, पृ० २७७, पं० १२-१५

२. बालचरित, (भास) अंक ५, पृ० १००

३. द्र०—मुद्रा०—अंक ३, पृ० ११६, (चौ०); वही, अंक, ३, पृ० १३७;

मुद्रा०—अंक ३, पृ० १४६ (प्रमाणलेखपत्र) (चौ०);

मृच्छ० अंक ४, पृ० २२४; उत्तर० अंक ७, पृ० ३५०; उत्तर० अंक ७, पृ०

३७६ (चौ०); अनर्घ० अंक ५, पृ० ३१७ (चौ०)

४. दामोदरवर्मन् का मट्टेपाड शासनपत्र, २०ई०, भाग १७, पृ० ३२६, पं० ३-४

अथवा—<sup>स्य</sup> श्रीप्रवरसेनवचना(द्) ।

घोषणाओं या संदेशों के इस प्रकार के दृष्टान्त भी संस्कृत नाटकों में सुलभ हैं —

चाणक्य—<sup>१</sup> शौणोत्तरे ! शौणोत्तरे ! मद्बचनात् कायस्थ-  
मवलदत्तं ब्रूहि—<sup>२</sup> इत्यादि ।

वंशावली परिगणन के पश्चात् दानकर्ता नृपति के लिए 'कुशली' लिखे जाने की एक व्यापक परम्परा थी । इसका कारण यह है कि स्थानीय अधिकारी, कर्मचारी और सामान्य प्रजाजन राजा की कुशलता जानने के लिए विशेष समुत्सुक रहते थे । जनता की नृपति-स्वास्थ्य-सम्बन्धिनी इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए शासनपत्रों में 'कुशली' शब्द का प्रयोग स्वाभाविक ही था । साहित्य में भी कुशलता पूछने या व्यक्त करने की एक प्राचीन परम्परा देखी जाती है —

<sup>१</sup> पृथिव्यां राजवंश्यानामुदययास्तम्यप्रभुः ।

अपि राजा स कुशली मया काङ्क्षित-बान्धवः ॥

— स्वप्न ० ६।६

निष्कर्ष यह है कि शिल्पविधान की दृष्टि से भी संस्कृत अभिलेख लौकिक संस्कृत साहित्य के आंशिक स्रोति हैं ।

### ख— समकालीन प्रभाव

आत्मप्रकाशन में सर्वथा उदासीन होने के कारण प्राचीन संस्कृत कवियों का तिथिनिर्धारण एक ऐसी समस्या है, जिसका कोई समाधान नहीं । ऐसी स्थिति में बाह्य एवं अन्तर् प्रमाणों के आधार पर शताब्दीविशेष के नामोल्लेख मात्र से उनका समय निर्णीत होता है । सौ वर्षों के बृहत् काल-कलेवर के शून्य में निराधार लटकाए गए इन कवियों के जीवन की 'अथङ्गति' को निश्चित खूँटी का अवलम्बन प्राप्त नहीं । इस हिलदुल-समस्या में यहाँ, संस्कृतकवियों एवं अभिलेखीय कवियों के पारस्परिक

१. वाकाटक प्रवरसेन (दि) का चम्पक ताम्रपत्र, सि. इ., भा. १ पृ. ४२१ पं. १७

२. मुद्रा०, अंक ३, पृ० १४६(चौ०)

भाव-आदान-प्रदान के निरूपण में एक शताब्दी का बृहत् कालज्ञान ही उपयुक्त समझा गया है ; दो शताब्दियों के अन्तः प्रविष्ट एक सौ वर्ष की कालावधि नहीं ।

उस यातायातविहीन युग में यह पारस्परिक प्रभाव की बात भी एक सीमा तक ही तर्कसंगत लगती है । प्राचीनकाल में उत्तर भारत में रचा गया काव्य तत्काल पल्लव नरेशों के अभिलेखों को प्रभावित कर बैठा हो, यह कथन युक्तियुक्त नहीं । प्रभावित कर भी सकता है, किन्तु परिस्थिति विशेष के कारण । परिस्थिति भी ऐसी कि कांची का वह अभिलेखीय कवि किसी यात्रा के प्रसंग में उत्तर भारत आया हो और संयोग से अपने लेख को रचने से पूर्व उसने वह काव्य पढ़ लिया हो, अथवा उत्तर-भारत का वह काव्यप्रणीता भारत-भ्रमण-प्रसंग में कांची पहुँच कर अपने काव्य का सार्वजनिक प्रकाशन कर बैठा हो । किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ सदैव सम्भव नहीं । इसलिए अधिकांश समकालीनप्रभाव, वास्तविक प्रभाव न हो कर यदृच्छया भावसाम्य हो सकते हैं । किसी राजदरबार से सम्बद्ध होने वाले कविविशेष के सन्दर्भ में यह पूर्णसम्भव है कि उसने उस राजवंश के समकालीन अभिलेखों को प्रभावित किया हो अथवा उनसे प्रभावित हुआ हो; जैसे गुप्त नृपतियों के अभिलेख और उक्त राजवंश के दरबार से सम्बद्ध लोकप्रिय कालिदास ।<sup>१</sup> यहाँ कालिदास का नाम केवल उदाहरण-स्वरूप ही समझना उपयुक्त है, तत्त्वतः देखा जाय, तो कालिदास सरीखा व्यक्तित्व देशकाल<sup>भी कालिदासों के घर है, जो अपने जीवनकाल</sup> में ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया, हो और जिसने अपने अनवरत भ्रमणों से भारत की भौगोलिक-दूरियों को अपने आंगन का विस्तारमात्र माना हो। उसके लिए सब कुछ सम्भव है कि उसने अपने जीवन काल में ही अभिलेखों को भी प्रभावित किया होगा अथवा तत्कालीन अभिलेखों के चमत्कारपूर्ण भावों का सप्रयत्न संग्रह कर उन्हें प्रसंगानुकूल अपने विचारों में अनुवादित किया होगा । सर्वप्रथम यहाँ कालिदास से ही समकालीन प्रभाव निदर्शन किया जा रहा है—

- 
१. टि० — पाश्चात्यविद्वान् कालिदास को गुप्तकाल में हुआ मानते हैं । हो सकता है चन्द्रगुप्त (द्वि०) (३७५-४१४ ई०) के नवर्त्तनों में एक होने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले इस कवि का प्रारम्भिक जीवन समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) के शासनकाल में व्यतीत हुआ हो ।

गंगा का प्रवाह प्रारम्भिक अवस्था में ऊर्ध्वमुखी था 'गंगेवोर्ध्व-  
प्रवर्तिनी' (रघुवंश १०।३७) । प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के यश के उपमान  
'गंगपय' के लिए भी 'उपर्युपरि' पद प्रयुक्त हुआ ।<sup>१</sup> इसके अतिरिक्त कुमार-  
सम्भव और जूनागढ़ शिलालेख (स्कन्दगुप्त) के अधोलिखित उद्धरणों में भी  
पर्याप्त साम्य है —

— 'उपमानमभूद्विलासिना' <sup>२</sup>

— 'बभूव नृ(नृ)णासुपमानभूतः' <sup>३</sup>

अभिलेखों में गुप्तनृपति 'अप्रतिरथ' उपाधि से सादर वर्णित  
होते हैं । प्रयाग प्रशस्ति से ही इसका प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है । अभि-  
ज्ञान शाकुन्तल में भी इस 'विरुद' का प्रयोग है —

— 'जयति वसुधामप्रतिरथः' <sup>४</sup>

मालव सं० ५२४ के मन्दसौर लेख <sup>५</sup> का कवि 'रविल' कालि-  
दास का समकालीन रहा होगा । मन्दर्भित लेख में गुप्तनृपतियों का प्रसंग  
भी आता है कि मन्दसौर नृपति प्रभाकर और गुप्तों के अच्छे सम्बन्ध न थे,  
किन्तु इससे क्या, साहित्य के पारस्परिक प्रभावों के लिए राजनीतिकारण  
विशेष बाधक नहीं होते —

— इतस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः (बालव्यजनैः)

— कुमार० १- १३

— यशश्च यश्चन्द्रमरीचिगौरं (श्लोक ७)

— रविलकृत मन्दसौरलेख(४६७-६८६)

१: का०इ०ई०, भाग ३, संख्या १, श्लोक ६

२: कुमार० ४।५

३: का०इ०ई०, भाग ३, संख्या १४, श्लोक १६

४: अभि०शा०, ७।३३

५: ए०ई०, भाग २७, पृ० १२-१८

भट्टि—

सम्भवतः स्वयं वलभीनरेश श्रीधरसेन(च०) के आश्रय में रहने पर भी भट्टि ने समकालीन वलभी लेखों के साथ प्रभाव-विनिमय नहीं किया । भट्टि का समय सातवीं सदी का प्रथमाद्वैत है ।<sup>१</sup> यहाँ जो दो उदाहरण दिए जा रहे हैं, वे गुजरात से लगभग ढेढ़-दो हजार मील दूर—कलिंग और कामरूप के हैं । ऐसी स्थिति में भट्टि और इन अभिलेखों में जो भावों की समानता प्रतीत होती है, उसे यदृच्छया समकालीन भाव साम्य कहकर ही सन्तोष लिया जा सकता है—

अध्यास्त सर्वर्तुसखामयोध्याम्

भट्टि० १।५

सर्वर्तुसुखरमणियाद्विजयकलिंग -

नगरात् — हस्तिवर्मन् का उल्लेख

शासन-पत्र, २०ई०, भाग १७, पृ०

३३२, पं० १, (लगभग ५७८ ई०)

अथास्तमासेदुषि मन्दकान्ता

पुण्यज्ञायेणैव निधां कलानाम् ।

समालतम्बै रिपुमित्रकल्पैः

पद्मेः प्रहासः कुमुदेर्विषादः ॥

भट्टि० ११।१

श्रीमानरिदमनेन्द्रश्चन्द्र इवा-

खण्ड[ल]मण्डलो ह्यपर [ः]।

सज्जन-कुमुदानन्दो

दुर्जनमनुजाब्ज (ब्ज)-संज्ञैः ॥

— भास्करवर्मन् का द्वि

शासन-पत्र, २०ई०, भाग ३०,

पृ० ३०३, श्लोक ६४

भारवि( छठीं शताब्दी )—

सातवीं सदी की अवधि तक कालिदास के पश्चात् सर्वाधिक लोक-प्रिय संस्कृत कवि, 'किरातार्जुनीयम्' के रचयिता भारवि हैं । उसकी, सम-कालीन अभिलेखों के साथ भावों की परिवृत्ति के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं —

१. ५०—हि०सं० पौ० (हे), भाग १, पृ० ५१

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठः

— किरात० २।५६

— स्मितरवगीतिषु यस्य दन्तकाणि

धुतिरिव तडिता निशि स्फुरन्त

— यशोधर्मन् का मन्दसौर

स्तम्भ लेख, हि०लि०इ०,

पृ० १३१, श्लोक १ (५३ ई०)

भयंकरः प्राणाभृतां मृत्योर्भुजइवापरः।

असिस्तव तपःस्थस्य न समर्थयते शमम्॥

— किरात ११।१७

— खड्ग द्विति(ती)मबाहुरेव

— धरसेन(द्वि०) का पति

ताना शासन पत्र, ए०ई०, भाग ११

पृ० ८२, पं० ११-१२ (५७ ई०)

तथा अन्य बलभी शासन पत्र

भूरेणुना रासभधूसरेण

— किरात० १६।७

— बालेयच्छविधूसरेण रजसा

— यशोधर्मन् कालीन मन्द-

सौर स्तम्भलेख, का०इ०ई०, भाग ३

संख्या ३५ श्लोक ६ (५३२ ई०)

(शिव के लिए) —

बधूः शरीरेऽस्ति न वास्ति मन्मथः

— किरात० १८।३१

— यस्यार्द्धस्थितयोषितोऽपि हृदये

नास्थाथि चेतो भुवा

भूतात्मा त्रिपुरान्तकः स जयति

श्रेयः प्रसूतिर्भव ॥

— ईशानवर्मन् का हरह लेख,

हि०लि०इ०, पृ० १४२, श्लोक १

( ५५४ ई० )

बाणभट्ट—

बाण का गद्य साहित्य और समकालीन अभिलेखीय साहित्य, दोनों भाषा और भाव के दृष्टिकोण से बिम्बित प्रतिबिम्बित प्रतीत होते हैं। इस पारस्परिक प्रभाव को एक संयोग कह कर भी टाला जा सकता है; वैसे, बाण का विस्तृत देशाटन और जीवन काल में ही अर्जित भारव व्यापी यश भी इस भाषा-भाव विनिमय के कारण हो सकते हैं—

भीरुरित्यंश

शूरोऽपि सततमयशोभीरुः

— हर्ष० पृ० १२३ (चौ०)

— 'प्रशान्तराग' दद का शिरीष-

पत्रक ग्रामदानलेख, (६२८ई०)

प्रा० ले० मा०, भाग २, पृ० ४२

(शिव के पादपांसु) —

श्रियं वरां वश्चरमादिशंतु ते

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता

भवद्विषाः श्री घनपादपांसवः ॥

दशास्यबूढामणिचक्रचुम्बिनः ।

सुरासुराधीशशिखामणित्विषा-

सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो

मनान्तराय्ये (मनन्तरं ये) विलसन्ति संचये ।

भवच्छिदस्त्रयम्बपादपांसवः ॥

— अमरावती (पल्लव) लेख, सा० ई० ३०,

— काद० (पूर्व) श्लोक २

भाग १, पृ० २६, श्लोक १

(पण्डित पुस्तकालय काशी संस्क०

१६५६)

— 'दिग्गज इवानवरतप्रवृत्तदानाद्री' <sup>द्व</sup> 'दानाद्रीपाठा (पा)ना प्रतिदिनं येन  
कृतकरः' द्विपेन्द्रायितं

— काद०, पृ० ६

— नन्नराज का तिवरखेड शासनपत्र

(६३१ई०), २०ई०, भाग ११

पृ० २७६, पं० ४-५

"तरंगबुद्बुदचंचला" (लक्ष्मी के लिए)

लक्ष्म्यास्तद्वित्सलिलबुद्बुदचंचलायाः

— काद०, पृ० २२१

— हर्ष का बाँसखेडा शासन पत्र,

हि० लि० ३०, पृ० १४६, पंक्ति १३

प्रणयकलहपितकामिनी प्रसाद-  
नोपायचतुरः

प्रणयपरिकुपितमामिनी जनप्रणामपूर्व-

मधुरवचनोपपादितप्रसादप्रकाशी कृतविदग्ध-

— काद०, पृ० २५

नागरिक-स्वभावो दद प्रशान्तराग

का शिरीषपत्रक ग्रामदान लेख, (६२८ई०)

प्रा० ले० मा०, भाग २, पृ० ४३



दिग्गजेनैव कल्पतरावाकान्ते  
सिंहासने भरेण शिलीमुखव्यति-  
करकम्पिता लता इव नेमुरा-  
यामिन्यः सर्वदिशः

--काद० पृ० ११७-१८

(कृष्णाराज कलचुरि के लिए)

— वनवारणायुथपेनेवाविशंकं विचरता  
वनराज्य इवावनमिता दिशो

-- बुद्धराज का सरस्वती शासन-

पत्र, का० २०६०, भाग ४ (१)

संख्या १५, पं० ६-७

(तारपीठ का यश) —  
“स्थिरस्यापि नित्यं भ्रमती...  
धवलस्यापि सर्वजनरागकाशिताः”  
(यशः) — काद० पृ०, ११४-१५

अपराजित के सेनापति वराहसिंह  
का यश—

“जनगृहीतमपि दायवर्जितं

धवलमप्यनुरजितभूतलम् [१]

स्थिरमपि प्रविकासि दिशो दश

भ्रमति यस्य यशो गुणावेष्टितम् ॥”

— उदयपुर लेख (६६०-६१ ई०)

२०६०, भाग ४, पृ० ३१ श्लोक ५

(बाहु वर्णन) —  
राज्यलक्ष्मीलीलोपधानेन (बाहुना)  
-- काद०, पृ० १२३

विष्णु के दोर्दण्ड का वर्णन—

“लक्ष्मीलीलोपधानं”

--वही, उदयपुर लेख, श्लोक २

दण्डी (७ वीं सदी) —

दण्डी ने दशकुमार-चरित के आरम्भ में परम्परित रूपक  
योजना से भगवान् विष्णु (वामन) के अहि०घ्रदण्ड का वर्णन-परक-मंगला-  
चरणा प्रस्तुत किया ।<sup>१</sup> उसी प्रकार भाव एवं अभिव्यक्तीकरणा के तनिक  
अन्तर के साथ परम्परित रूपक के माध्यम से दामोदर कवि ने भी उदयपुर  
लेख में “शौरि” के दोर्दण्ड प्रशंसापरक मंगलाचरणा सुनियोजित किया ।<sup>२</sup>

१: द०कु० पूर्वपीठिका श्लोक १, (चो०)

२. अपराजित का उदयपुर लेख, २०६०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक २,  
(६६०-६१ ई०) अन्यत्र उद्धृत ।

दण्डी ने 'राजहंस' नामक नृपति की प्रशंसा में लिखा कि उसके विशाल भुजदण्ड, समस्त शत्रुयोद्धाओं, चंचल अश्व एवं गजरूपी मकरों से भीषण सैन्यसागर को मथने के लिए मन्दराचल पर्वत के समान थे—<sup>१</sup> तत्र वीरभट-पटलोत्तरंगतुरंगकुंजरमकरभीषणसफलरिपुगणकटकजलनिधिमथनमन्दरायमाण-समुदण्डभुजदण्डः<sup>१</sup> । प्रायः इसी प्रकार का वर्णन सपदि विमथितो मन्द-रीभूय येन,<sup>२</sup> — आदित्यसेन के अपसद शिलालेख (लगभग ६७२ ई०) में भी प्राप्य है। दण्डी ने राजहंस की कीर्ति के लिए अन्य उपमानों के साथ 'गिरिशट्टहास' भी चुना।<sup>३</sup> राजसिंहेश्वर मंदिर के बाहर उक्त मंदिर की शुभता दिखाने के लिए उसे 'हरहास' से ही उपमित किया गया है —

यशः सदृशमात्मनो भवनमेतदुत्थापितं  
हरस्य हरहासरूपमतिमानमत्यद्भुतम् ॥<sup>४</sup>

दक्षिणात्य दण्डी लगभग इसी समय पल्लव-राज्याश्रित थे। अतः तत्कालीन अभिलेखों और दण्डी में पारस्परिक प्रभाव स्वाभाविक ही था। किन्तु शुभता का उक्त उपमान सदियों पहले मेघदूत में भी प्रयुक्त है।<sup>५</sup>

माघ (सातवीं सदी उत्तरार्द्ध) —

अत्यधिक क्लिष्टकाव्य का सबल समर्थक होने के कारण माघ का काव्यवर्ग सामान्य रुचि के काव्यमार्ग से पृथक् ही है। परिणामतः वह अपने जीवन काल में उतना लोकप्रिय न हो सका, जितनी लोकप्रियता की, उसकी प्रतिभा से आशा की जाती थी। भारवि से उच्चतर शिखर पर चढ़ने की धुन में समकालीन काव्यों से उसका लेन-देन न हो सका। फिर अभिलेखीय साहित्य से आदान-प्रदान की तो बात ही क्या। कतिपय स्थलों पर हुए समान वर्णनों को परम्परा का निर्वाह-मात्र ही कहा जायेगा, विचारों की परिवृत्ति नहीं, जैसे माघ ने शिशुपाल-

१: द०कु०, पूर्वपीठिका, पृ० ४

२: का०इ०इ०, भाग ३, पृ० २०३, श्लोक ८

३: द०कु०, पृ० ४ (पूर्वपीठिका)

४: सा०इ०इ०, भाग १, सं० २४, पृ० १३ श्लोक ६

५: मेघ० (पू०) श्लोक ५८

ब्रध के एक स्थान पर समान वर्ण ( रंग ) की युगपत् उपस्थित के लिए 'पुनरुक्त'<sup>१</sup> शब्द प्रयुक्त किया । मैत्रक शीलादित्य ( द्रि० ) के लुणसहि शासन-पत्र तथा अन्यान्य बलभी शासनों में भी 'पुनरुक्त' पद का लगभग समान ही प्रयोग मिलता है —

श्रुतातिशयेनोद्भासितश्रवणः पुनः  
पुनरुक्तेनैव रत्नालंकारेणालंकृतश्चात्र [ : ]<sup>२</sup>

## ग— प्रदान

( अभिलेखों का अपने उत्तरवर्ती ग्रन्थों पर प्रभाव )

'व्युत्पत्ति' के अन्तर्गत केवल पुस्तकावलोकन या काव्यशास्त्रों का गहन अध्ययन ही नहीं, अपितु देशाटन, भौगोलिक अध्ययन सामाजिक परम्पराओं का सूक्ष्मानुलोकन, उत्सवों, मेलों और समारोहों के दर्शन आदि क्रियायें भी हैं । कालिदास की आसेतु-हिमाचल विस्तृत भौगोलिक यात्राओं को, हम उसके साहित्य का सूक्ष्मानुलोकन करने पर सर्वथा सत्य मानने को तैयार हैं । कुमारसम्भव का हिमाद्रिवर्णन, 'मेघ' की रामगिरि से ( रामेटक म० प्र० ) कैलास-<sup>पर्वत</sup> अस्तका प्रस्तावित यात्रा, रघुवंश ( १३ वें सर्ग ) में वर्णित पुष्पक विमान का लंका से अयोध्या तक का उड़्डयन और उड़्डयन-काल में राम के मुख से कथित समुद्र और भारतभूमि के भौगोलिक-चित्रण भले ही कहीं-कहीं कविसमर्थों पर आश्रित हों, कालिदास के विस्तृत देशाटन का परिचय देते हैं । बाणभट्ट ने भी अपने यौवनारम्भ में घर से निकलकर अनेक स्थलों को देखा, अनेक गुरुकुलों में पढ़ा और जीवन के वैविध्य का सूक्ष्मानुलोकन किया ।

इस प्रकार संस्कृत के कवि काव्यनिर्माण के लिए देशाटन को भी विशेष महत्त्व देते थे । जनजीवन की जिज्ञासा लेकर देशाटन पर निकले

१. शिशु० ७।६४

२. लुणसहि शासन पत्र, भाव० पृ० ४८, पत्र २, पं० ६

इस उत्तरवर्ती सहृदय कवियों के मानस पटल पर इन शिलीभूत काव्यों का भी अवश्य बिम्ब पड़ा होगा। क्योंकि स्मारकादि लेख राजधानी, तीर्थ-स्थान, मन्दिर यात्रामार्ग आदि सामाजिक महत्व के स्थलों पर ही स्थापित किए जाते थे। वे अभिलेखों की किसी चमत्कारपूर्ण उक्ति को दुहराते-दुहराते दूर अपने यात्रा-दिगतिजों की ओर अग्रसर हो गए होंगे। परिणामतः वह आत्मसात् उक्ति या वे भाव उनके अचेतन-मन पर पड़ कर उस समय मौलिक बनकर उभरे होंगे, जब वे नये काव्य की सृष्टि करने के लिए स्वयं प्रजापति बने होंगे। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्ववर्ती अभिलेखीय कवियों और उत्तरवर्ती लौकिक संस्कृत कवियों के भावों और उक्तियों की समानता, सदैव एक संयोग है। साहित्य में इस संयोग का भी अपना स्थान है, किन्तु महत्वपूर्ण स्थानों में 'मौनमुखर' खड़े होकर ये अभिलेख, विस्तृत प्रमाण के लिए उन्नतचरणा सहृदय-साहित्य साधकों को आकृष्ट न किए हैं, यह सम्भव नहीं।

संयोग या यदृच्छा शासन-पत्रों के सम्बन्ध में अधिक समीचीन है। किन्तु यह भी एकान्त सत्य नहीं। वेदवेदांगविद् दानग्राही ब्राह्मण अपने आप में भी व्यापक सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग करता था। प्रसन्न होकर नृपति द्वारा उसे भूमिदान करना, —समग्र प्रजाजन के लिए एक ज्ञातव्य समाचार बन जाता था। परिणामतः भूमिदान की घोषणा, (जिसमें अनेक उच्च राजकर्मचारी और स्थानीय कर्मचारी सम्मिलित होते, और जो कि स्थानीय जनता को ऊँचे स्वर से सुनाई जाती) अपने आप में एक विराट् उत्सव का रूप धारण कर लेती थी। इसलिए शासन-पत्रों से शुद्ध साहित्य साधकों का परिचित होना असम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त कालिदास, बाणभट्टादि बहुत से कवि शासनपत्रों के उद्गम स्थान राजदरबारों के निकट सम्पर्क में भी थे। इस दृष्टि से उत्तरकालीन प्रमुख ग्रंथों के उद्घरण संक्षिप्ततः नीचे द्रष्टव्य हैं जिनकी उक्तियों में पूर्ववर्ती अभिलेखों के भावों का साम्य देखा जाता है। साहित्य ग्रन्थों में प्राप्य यह साम्य, सायास, अनजाने और संयोग— तीनों प्रकार का हो सकता है।

भारवि—

६३४ ई० के ऐहोल लेख में नामोल्लेख होने के कारण भारवि का स्थितिकाल छठीं शताब्दी के पश्चाद्वर्ती नहीं माना जाता।<sup>१</sup> सामान्यतः किरातार्जुनीय की रचना छठी सदी उत्तरार्द्ध<sup>उ०</sup> मानी जाती है।

इस 'अर्थगोर्व' महाकाव्य ने जहाँ ऐंडोल आदि उत्तरवर्ती अभिलेखों पर अपना प्रभाव छोड़ा, वहाँ सम्भवतः स्वयं भी पूर्ववर्ती अभिलेखों के प्रभाव से अपने को सुरक्षित न रक्कन रख सका ।

वण्डानिलोद्धततरंगसमस्तहस्तै

‘वीचिबाहुः पयोधिः’

युर्यस्याणविरपि बलानिनमस्क्रियन्ते।

— किरात० ३।६०

— गंग-धारलेख, का०इ०ई०,

भाग ३, लेखसंख्या १७, श्लोक ६

समुद्रगुप्त का, गंगा से उपमित

गंगा के प्रसंग में हिमालय वर्णन —

यश-प्रयाग प्रशस्ति, का०इ०ई०,

विततशीकरराशिभिरुच्छितै-

भाग ३, संख्या १, श्लोक ६

रूपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।

दधतमुन्नतसानुसमुद्रतां

धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥

— किरात० ५।१५

‘तुरगबुर से उत्थापित पृथ्वी के

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां

रजका हाथियों के मद से

प्रीतोभिर्मदजलमुक्ततामजस्रम् ।

शान्त होना; ५०— पाण्डव

— किरात० ७।३८

भरतबल का बहनी शासन-पत्र,

२०ई०, भाग २७, पृ० १४०

श्लोक ४(पाँचवीं सदी ई०)

भट्टि—

वलभी राजदरबार से सम्बद्ध होने पर भी यह आचार्यकवि, काव्य-प्रचुर मैत्रक शासन-पत्रों से किसी प्रकार प्रभावित न हुआ । अन्य अभिलेखों से भी वह अपने काव्य को तटस्थ रखने में समर्थ हुआ । भट्टिकाव्य की एक पंक्ति — ‘न अम्बकादन्यमुपास्थिताऽसौ’ (१।३), यशोधर्मदेव के

१. हि०सं०लिट०, (मैकहोनल), पृ० २७७

मन्दसौर लेख (५२५-५३५ई०) की — स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति कृपातां प्रापितं नोत्तमार्गं<sup>१</sup> पंक्ति से प्रभावित हुई सी प्रतीत होती है ।

दाढ़ी —

दाढ़ीका प्रसिद्ध गद्य-काव्य दशकुमारचरित अनेक उप-कथाओं का संगम होने के कारण घटनाप्रधान है । प्रशस्तियों जैसे तटस्थ प्रशंसा-वर्णन के लिए उसका कथानक अधिक अनुकूल नहीं था । इसलिए दाढ़ी अभिलेखीय साहित्य से अधिक प्रभावित नहीं हुआ । पूर्वशालीन अभिलेखों के जो भावसाम्य दशकुमार चरित में प्राप्त होते हैं, वे यथार्थ में प्रभाव नहीं, अपितु समान अभिव्यक्तियों के परम्परागत दुहराव हैं, जैसे—पाँचवीं सदी के ब्रह्मी शासन पत्र में यदि 'तुरगसुरनिपातज्ञाणामार्गा धरित्री'<sup>१</sup> यह वाक्यांश है, तो दाढ़ी में — 'रथतुरगसुरज्ञाणकोणिसमुद्भूते'<sup>२</sup>। कदम्ब रविवर्मन् के वैवंगरे शासनपत्र (५२४ई०) में यदि 'स्मितज्योत्स्नाभिषिक्तेन क्वसा प्रत्यभाषत ।'<sup>३</sup> यह श्लोकार्द्ध है तो दशकुमारचरित में 'स्मित-ज्योत्स्नाभिषिक्तदन्तच्छदः'<sup>४</sup>।

सम्राट् हर्ष (६०६-६४७ या ६४८ ई०) —

असंस्कृत-स्थिति में रत्नों से प्रकाश-किरणों का स्पष्ट निस्सरण नहीं होता । फिर भी समुद्रवेला का वर्णन करने में कवियों ने उसे रत्नप्रभा से आभासित कहा है । सम्राट् हर्ष ने भी नागानन्द नामक नाटक के एक स्थल पर लिखा—'एषा समुद्रवेला रत्नद्युतिरंजिता भाति' (४-४)। विश्ववर्मन् के गंगधार लेख<sup>५</sup> में भी समुद्र का समान ही वर्णन है — 'रत्नोद्गमद्युतिविरंजितकूलतालेः'(आविः) (श्लोक ८)।

१. का०इ०ई०, भाग ३, सं० ३३, श्लोक ६

१क. ए०ई०, भाग २७, पृ० १४०, श्लोक ४

२. द०कु०, पृ० १० (पूर्वपीठिका) (चौ०)

३. ए०ई०, भाग ३३, पृ० ६१ श्लोक १३

४. द०कु०, पृ० ४५०, (उत्तरपीठिका)

५. का०इ०ई०, भाग ३, संख्या १७

नरेन्द्र का साम्य चन्द्र से करना अथवा उसे 'नरेन्द्रचन्द्र' कहना एक काव्यपरिपाटी है, जैसे— 'नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितरणां रणौ जयत्यजय्यां (जय्यां) भुवि सिंहविज्रमः'।<sup>१</sup> सम्राट् हर्ष ने भी ऐसे प्रयोग किए, जैसे— 'चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः'।<sup>२</sup> इसी प्रकार सान्दर्भ्य के कारण राजा के लिए 'कुसुमचाप' या 'मन्मथ' का प्रयोग कविगण निस्संकोच कर बैठते हैं— उदाहरणार्थ— 'रूपेण यः कुसुमचाप इव द्वितीयः' (वत्सभट्ट)।<sup>३</sup> फिर सम्राट् हर्ष भी इस परम्परा का व्यर्थ समर्थन न करते — 'वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाम्युपैति'।<sup>४</sup>

### बाणभट्ट—

पूर्ववर्ती अभिलेखों के भाव-साम्य बाण में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। एक विस्तृत परिपाटी में चलने वाले भावों का निदर्शन यहाँ युक्तियुक्त नहीं; जैसे अभिलेखों में वर्ण्यमान नृपतियों के उपमानभूत नहुषा ययाति, भरत, भगीरथ आदि प्रसिद्ध पौराणिक चक्रवर्तियों का परिगणन किया जाता है, वैसे ही बाण ने भी किया।<sup>५</sup> अभिलेखों में जिस प्रकार नृपतियों को द्वितीय कामदेव कहकर उनके अतिशय रूप का वर्णन किया जाता है, वैसे ही बाण ने भी तारापीड के लिए 'अपरमकरकेतुः' कहा।<sup>६</sup> अभिलेखों में नृपतियों को 'व्रणविभूषित-शरीर' कहकर उनके शौर्यगुण की प्रशंसा की जाती है। बाण को भी इस दिशा में आग्रहशील देखा जाता है— 'कोदण्डगुणाकर्षणव्रणांकितप्रकोष्ठ'।<sup>७</sup> इसलिए यहाँ मुख्य-मुख्य भाव एवं उक्तिसाम्य ही उद्घरणिय हैं —

१. गु०मु०, फ० २१, सं० १७

२. रत्ना० १।४

३. का०इ०इ०, भाग ३, संख्या १८, श्लोक २७

४. रत्ना० १।८

५. काद०, पृ० ११४ ( पण्डितपुस्तकालय काशी संस्क०)

६. वही, पृ० ११६

७. वही, पृ० ७०



‘स्मितज्योत्स्ना’

—रविवर्मन् का देवंगेरे

शासन पत्र(५२४ई० ) ए०ई०,

भाग ३३, पृ० ६१, श्लोक १३

‘दशनज्योत्स्ना’

— हर्ष०, पृ० ३५ (चौ०)

यमर्त्थिविद्वत्प्रमदारिवर्गा

रसम्भावयाचिक्कुरनेकधकम्

—मा०संवत् ५२४ का

मन्दसौर लेख, ए०ई०, भाग २७,

पृ० १५-१६, श्लोक ६

(कवि रविल)

एकमप्यनेकधा गृह्यमाणाम्

— हर्ष०, पृ० १२४

(प्रासादमाला के लिए)

‘ धरां विदाय्यैव समु-

त्थितानि’ (वत्सभट्ट),

हि०लि०ई०, पृ० ८६

श्रवदारितरसातलोद्भूतमिव दान-

वलोकम् ( शबरसैन्यम् )

— काद०, पृ० ६०

‘विद्वत्कविकांचननिकाः

(क) षोपलभूती’ — मेर्कर शासन-

पत्र(४६६ ई०) ई०एचिट० ,

भाग १, पृ० ३६३

निकणोपलः शास्त्र-रत्नानाम्

— काद०, पृ० ६५

देश के विभिन्न भागों

का विस्तृत विवरण और वहाँ

से आए नरपतियों का यशोध-

र्मदेव के लिए प्रणाम करना ।

— ड० — का०ई०ई०,

भाग ३, सं० ३३, श्लोक ५

( लगभग ५२५- ५३५ ई० )

ड० — प्रायः समान वर्णन (तारापीठ के

लिए) काद० पृ०, ११६-११७

रवेर्भुजांगदा[श्चिष्टः]

नन्दन-प्रीतमा[न]सा[न]

तथा श्रीन्नभिर्वत्प्रीता

सुरारैरपि वत्तासि ॥

—रविवर्मन् का देवगैरे

शासन पत्र (५२४ ई०) २०ई०,

भाग ३३, पृ० ६०, श्लोक ६

नारायणावज्ञाःस्थलवसति सुखमुत्फु-

ल्लारविन्दहस्तया—

— निव्याजिमालिङ्गितौलदम्या

— काद०, पृ० ११४

देवी जयन्त्यसुरदारणाती क्ताशूला

--कवि भ्रमरसौम, छोटी

साद्री लेख(४६१ ई०) २०ई०,

भाग ३०, पृ० १२४, श्लोक १

( शिव के लिए )—

निश्चितशूलदारितान्धकमहासुरः

— काद०, पृ० ११३

जनोपजीव्यम[न]विभवः

—ध्रुवसेन(प्र०) का पलि-

ताना शासनपत्र (५२६ई०)२०ई०,

भाग ११, पृ० ११०, पं० ५

प्रणयिजनोपजीव्यमानविभवेन

— काद०पृ० १०७

शशितेव नभो विमलं कां[स्तु]

भमणिनेव शांगिणीवदाः ।

भवनवरेण तथेदं पुरमखिल-

मलंकृतमुदारं ॥

—वत्सभट्ट, मन्दसारलेख,

का०२०ई०, भाग ३, संख्या १८

श्लोक ४२

येन नन्दनराजिरिव पारिजातेन मधु-

सूदनवदाःस्थलीव कांस्तुभमणिना सुतराम-

राजत सा ।”

— काद०, पृ० १४१

विशाखदत्त—

मेकहोनल महोदय मुडारादास की रचनातिथि के विषय में कहते हैं कि 'सम्भवतः यह नाटक आठवीं शताब्दी ई० के पश्चात् नहीं लिखा गया

होगा ।<sup>१</sup> यदि इसे सातवीं सदी<sup>२</sup> की रचना भी मान ली जाय तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि मौलिक तथा विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कवि विशाख ने इस नाटक की रचना से पहले यज्ञोधर्मन् के मन्दसौर स्तम्भलेख (छठी शताब्दी) को अवश्य देखा या सुना होगा । भारत के विभिन्न भागों से आए हुए, यज्ञोधर्मन् के चरणों में प्रणत सामन्तों का जैसा वर्णन उक्त अभिलेख में है, वैसा ही वर्णन चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में मुद्राराक्षस नाटक में । नाटक में उन भावों की ही आवृत्ति नहीं, अपितु समान अभिव्यक्ति के साथ कतिपय शब्द भी दुहराए गए हैं :—

आलोहित्योपकाठान्तलवनगह[नो]पत्यकादामहेन्द्रा-  
 दागंगाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणःपश्चिमादापयोधेः[१]  
 सामन्तेर्यस्य बाहुद्रविण हृतम[दि]ः पादयोरानमद्भि  
 शूहारत्नांशुराजिव्यतिकरश्वला भूमिभागाःक्रियन्ते[१]<sup>३</sup>  
 — अभिलेख (कवि वासुल)

आश्लेन्द्राच्छिलान्तस्खलितसुरधुनी शीकरासारशीतात्  
 आतीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचौ दक्षिणास्याणविस्य ।  
 आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां  
 शूहारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ॥  
 — नाटक (विशाख)<sup>४</sup>

माघ—

अपने शिशुपालवध-महाकाव्य में तीन गुणों का सानुपातिक सम्मिश्रण करने वाले महाकवि माघ का समय सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक निश्चित किया जाता है ।<sup>५</sup>

सामान्य कवियों की भाँति भावों के विनिमय में माघ,

१: हि०सं०लिट्ट०(मैक्डोनेल) पृ० ३०६ (मोतीलाल बनारसीदास, १९६२)

२: संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—पृ० २२२

३: हि०लि०ई०, पृ० १३७, श्लोक ५

४: मुद्रा० ३-१६

५: संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ७८

अभिलेखों से अपने को तटस्थ नहीं रख सके । सातवीं सदी की लक्ष्मणारेखा देखते हुए, माघ ने अभिलेखों से क्या लिया, यह ही सम्प्रति विवेच्य है । माघ ने अभिलेखों से न केवल भाव ही ग्रहण किए, अपितु विशेष शब्दों के विचित्र प्रयोग में भी वह अभिलेखों से प्रभावित प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ वैरियों के वृन्द के लिए 'वैर' का प्रयोग<sup>१</sup>। लौकिक संस्कृत में ऐसे प्रयोग साधारणतया नहीं किए जाते । हो सकता है द्वयक्षरानुप्रास ('वै औरैरे') की आवश्यकता को देखकर ही माघ इस दुर्लभ प्रयोग की ओर प्रवृत्त हुआ हो । लगभग पाँचवीं शताब्दी के, पाण्डवभरतचल के बहनी-पत्र में भी 'वैर' का ऐसा ही प्रयोग है ।<sup>२</sup>

युद्धों के सन्दर्भ में अभिलेखों में 'चतुर्दन्त'<sup>३</sup> पद प्रायः प्रयुक्त होता है । गजयुद्ध के लिए यह पद रूढ़ है । माघ ने भी उसी अर्थ में इस को अपने महाकाव्य में स्थान दिया ।<sup>४</sup> हाथियों का प्रतिनिधि ऐरावत, जो इन्द्रगज होने के कारण स्वयं भी गजेन्द्र है, चारदाँतों वाला कहा जाता है । उसी के अनुसार सामान्य हस्तियुद्ध को 'चतुर्दन्तयुद्ध' कहा जाने लगा । हो सकता है एक हाथी का दूसरे हाथी से जूझने के कारण चार दाँतों के योग को देखते हुए यह पद प्रचार में आया हो ।

—चक्रवाक

इसीप्रकार माघ ने पञ्जी के लिए 'रथचरणसमाह्वः' ( रथ-चरणा = चक्र; आह्व = वाक् ) कहा है ।<sup>५</sup> यह विचित्र प्रयोग है, जो अपेक्षाकृत कम दृष्टिगोचर होता है । पाँचवीं शताब्दी के जूनागढ़ शिलालेख (स्कन्दगुप्त) में इसका तदवत् प्रयोग हो चुका था—'रथचरणसमाह्व-क्राँचिंसावधूतम्'<sup>६</sup>।

इनके अतिरिक्त पूर्ववर्ती अभिलेखों के भावसाम्य भी शिशुपाल बध महाकाव्य में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं । -

१: शिशु १६-१०० ( यह द्वयक्षर श्लोक है । )

२: 'गुणगणोदीपावैरो नरेन्द्रः' — २०ई०, भाग २७, पृ० १४२, श्लोक ११

३: द्र०—'अनेक-चातुर्दन्त-युद्ध' — मेरुप्रतापपत्र, ई० ऐण्टि०, भाग १, पृ० ३६३ (पाँचवीं सदी) इत्यादि ।

४: शिशु १६।६६ (सचतुर्दन्तमगच्छदाह्वम् ।।)

५: वही, ११।२६

६: हि०लि०ई०, पृ० ६८ श्लोक ३८

“बाह्यानि लोहतरंगसमस्तवर्तः”

( गार्विः )

— गंग-धर शिलालेख (पूर्वी  
सदी) इ०सी गुप्त हिमज(भा)  
पृ० २२

३० तरंगवर्तः (समुद्र)

शिशु० ३।३६

तथा—

प्रसारितोत्तुंगतरंगबाहुः ॥ शिशु० ३।७८

“प्रसादमालाभिरलंकृतानि

धरा विद्यायैव समुत्प्लिताति ।”

— बन्धुवर्मन् कालीन मन्द-  
सार लेख (५ वीं सदी) — का०इ०इ०,  
भाग ३, पृ० ८१, श्लोक १२

(रैवतश्रवण) —

निवासधूमं समरत्नभाभि-

धित्वोत्थितं भूमिनिबोरगाणाम् ।

— शिशु० ४।१

“सर्व्वर्तुसुखरमणियाद्विजय-

कलिंगनगरात् — हरिश्चर्यमन् का  
उलाम श०प०, (८ठी सदी) ७०६०,  
भाग १७, पृ० ३३२, पं० १ तथा  
अन्य पूर्वीय गंग शासन-पत्र

“सर्वतुनिवृत्तिकरे” (रैवतक)

— शिशु० ४।६४

“बालेयच्छविभूषरेण रजसा”

— यज्ञोधर्मन् कालीन  
मन्दसार लेख (८ठी सदी) हि०  
लि०इ०, पृ० १३३, श्लोक ६

भुरेणवोन्मसि नक्षयौदवक्रा-

श्चक्रीवदंगरुन्ध्रप्ररुचौ विसस्तुः

— शिशु० ५।८

“पशुपति की जटान्तर्गुहागंगा-

पय से उपमित समुद्रगुप्त का यशः

— इ० का०इ०इ०, भाग ३  
संख्या १, पं० ३१

धनकपिलजटान्ताभ्रा न्तगंगाजलीवः

शिशु० — ११।६४

इ०— शिशिरपास में प्रियालिंगन

इ०— शिशु० ६।६५

— बन्धुवर्मन् कालीन मन्द-

सार लेख, का०इ०इ०, भाग ३,  
संख्या १८, श्लोक ३३

वाध्याँ की बात की रघु से  
उत्पन्न आग—

मातंगानां दन्तसहोघट्टजन्ता  
मन्त्रैवच्छायावंचिच्छिताः ।

— करगलखंगोत्कृतपरनृपदन्ति-  
वन्तोऽन्यतवन्निर्वादीपिलरणा-  
भूमिः

— शिशु० १८।३४

— पुलकेशिन् (दि०)  
(सातवीं सदी पूर्वार्द्ध) का आश्रय-  
वक्रगामदान लेख, प्रा० ले० मा०, भाग ३  
(का० मा०), पृ० ११६

भवभूति—

कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मन् ( ८ वीं शताब्दी )<sup>१</sup> के आश्रयस्थ भवभूति पर अभिलेखों का विशेष श्रद्धा नहीं । फिर भी इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति उत्तररामचरित के कतिपय घोषणास्थलों पर शासनपत्रों की स्पष्ट छाया पड़ी ।<sup>२</sup> इस नाटक को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रणयन के पूर्व वह अनेक शासनपत्रों के विकसित-प्रारूप-गठन का अध्ययन कर चुका था । विकसित से तात्पर्य यहाँ यह है कि शासनपत्रों ने प्रस्तावना-प्रारूपशिल्प मूलतः प्रारम्भिक संस्कृत नाटकों से ही लिया था । कालान्तर में शासन-पत्रों को इस घोषणाशिल्प को विकसित करने का श्रेय निःसन्देह मिलता है ।

भट्टनारायण—

भवभूति की ही भाँति भट्टनारायण ( ८ वीं सदी पूर्वार्द्ध )<sup>३</sup> विरचित वेणी संहार नाटक के भाव और भाषा पक्ष पर पूर्ववर्ती अभिलेखों का प्रभाव

१: हि०सं० लिट० (मैक्डोनेल) पृ० ३०७, (मोतीलाल १९६२)

२. इ०—उत्तर० पृ०, ३४८-३४९ (अंक ७); पृ० ३७६ (अंक ७) (चौ०)

३. सं० सा० रू० (पाण्डेय आदि) पृ० २३०

नहीं। युद्ध के वर्णन में भट्टनारायण लिखित 'नृत्यत्त्रयन्धे'<sup>१</sup> उक्ति अवश्य रेहोललेख (नृत्यद्वितीयमन्ध-)<sup>२</sup> से लगभग एक शताब्दी पश्चात् की है, किन्तु ऐसी उक्तियाँ प्राचीनतर साहित्यिक ग्रंथों में भी प्राप्य हैं।<sup>३</sup> इसलिए यह रेहोललेख का सीधा प्रभाव नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार निहताशेषा-रातिक्कः<sup>४</sup> भी एक सामान्य उक्ति है, साहित्यिक संस्कृत ग्रंथों और अभिलेखों में जिसकी समान व्यापक उपलब्धि है।

## मुरारि—

अभिलेखों की प्रच्छन्न छाया अनर्घराघव नाटक के रचयिता मुरारि (लगभग ८००ई०) पर पड़ी। यह छाया मात्र की है, जिसे सक्रिय आदान नहीं कहा जा सकता—

(शिव का भुजंग) —  
 'फणामणिगुरुभार[ाक्का]  
 न्ति दूरावनम्रं'

— यशोधर्मन् विष्णुवर्द्धन  
 कालीन मन्दसौर स्तम्भलेख, हि०  
 लि०ई०, पृ० १३१, श्लोक ३

(नागकन्याएँ) —  
 मन्दोद्वृतेः शिरोभिर्मणिगुरुभारभिः  
 — अनर्घ ० १-५६

(पुलकेशिन् (द्वि०) के लिए) —  
 प्रकृत्या पुंश्चलीं लक्ष्मीं  
 सतीव्रतमकारयत् ॥

— पुलकेशिन् (द्वि०) का  
 आम्रवटवक्रगामदानलेख, प्रा०ले०  
 मा०, भाग ३, पृ० १९६ (का०मा०)

(रावण के लिए) —  
 त्रियो नानास्थानभ्रमण-  
 रमणियां चपलता-  
 भविच्छिद्य स्वस्मिन्नपि  
 भुजवने पूरयति यः ॥  
 — अनर्घ ० ३-४०

१: वैणि० १।२७

२: ई० रेण्टि०, भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ५

३: द्र०-कुमार० १६।३२, वासव० पृ० ३०-३१ आदि (चौ०)

४: वैणि०, अंक, ५, पृ० १५३



दामोदरमिश्र ( ८ वीं, ९ वीं शताब्दी )

कुमुदनाटक में यद्यपि अन्यान्य ग्रन्थों के उद्धरण भी निस्संकोच गुंथे गए हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि दामोदर मिश्र का इसमें अपना कुछ नहीं । गद्य एवं अधिकांश श्लोक दामोदर मिश्र की अपनी सृष्टि हैं, जिनके आधार पर ही कुमुदनाटक में लिख गए आदान का निरूपण युक्तियुक्त है ।

दानलेखों की घोषणाओं से अपनी नाटकीय घोषणाओं को प्रभावित करने के अतिरिक्त दामोदरमिश्र ने स्मारकलेखों से भी कुन्दोष्मी भाषा में तिथिवर्णन की कला ग्रहण की —

अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे

दशपुत्रनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः ।

— हनु० ७।२

अभिलेखों में विशेषतः स्मारकलेख ऐसे कुन्दोब्ध तिथिवर्णनों से भरे पड़े हैं, जैसे—होटी साद्री लेख में वर्णित कुन्दोष्मी तिथि ।<sup>१</sup> कतिपय स्थलों पर अभिलेखों की स्पष्ट क्राया के दर्शन भी हो जाते हैं—

लक्ष्मीस्तिष्ठति ते गौडे, वाचि भाति सरस्वती ।

कीर्त्तिः किं कृपिता राम येन देशान्तरं गता ॥<sup>२</sup>

आदित्यसेन के अप्सद किलालेख (लगभग ६७२ ई०) में भी कीर्त्ति का तद्वत् साम-  
त्यवैरजन्य देशान्तरगमन वर्णित है ।<sup>३</sup>

जयदेव ( ११ वीं सदी )

गीतगोविन्दकार जयदेव वंगवासी थे । काव्यकला की आवश्यक योग्यता के लिए उन्होंने अन्य शास्त्रों के साथ इतिहास का भी पर्याप्त अध्ययन किया होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दिल्ली के मेहरौली लेख<sup>४</sup> का भी

१: इ०—ए०ई०, भाग ३०, पृ० १२६, श्लोक १३

२: हनु० १४।८१

३: (अन्यत्र उद्धृत) का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २०४, श्लोक २६

४: का०इ०ई०, भाग ३, (श्लोक ११,) संख्या ३२

अध्ययन किया था, जिसमें चन्द्रगुप्त(द्वि०) की वंगयुद्ध सम्बन्धी सूचना भी प्राप्त होती है। इस लेख में लिखा है कि चन्द्र ने वंग के युद्ध में खड्ग के द्वारा अपनी भुजा पर कीर्ति (विजयलिपि) लिखी (श्लोक १)। यह वर्णन युद्धवीरता का पोषक है, किन्तु इसी का शृंगार रूपान्तर गीतगोविन्द में प्राप्य है। इस गीति काव्य में एक स्थल पर कामयुद्ध में तीव्रता नर्तों से वर्णित, परिणामतः रत्नावान् कृष्णा के शरीर के विषय में कहा गया है कि वह ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मरकत-शूल पर स्वर्णिकारों में 'रतिविजयलेख' उत्कीर्ण हो —

वपुरनुहरति तव स्मरसंगरखरनखरज्जतरेखम् ।

मरकतशूलकलितकलधातलिपेरिव रतिजयलेखम् ॥<sup>१</sup>

युद्ध में उत्पन्न वर्णों को विजय चिह्न अथवा यज्ञ सम्भावित करना एक उत्तम कल्पना है। वैसे, लेख के अतिरिक्त बहुत से पूर्ववर्ती काव्यों में भी इस कल्पना का सादर प्रयोग मिलता है।

यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) के एक मन्दसार लेख<sup>२</sup> के मंगलाचरणा में शिव की दन्तकान्ति का मनोरम वर्णन है। 'स्मिति-रव' एवं गीति की क्रियाओं में, रात्रि के समय विद्युत् उन्मेष की भाँति यह दन्त-कान्ति संसार को (मुँहबन्द की स्थिति में) तिरोहित और (अधरोष्ठों के कुलने की स्थिति में) प्रकाशित करती है। (श्लोक १)

दाँतों की उपमा विद्युत् और कौमुदी से दी जाने वाली कल्पना की पृष्ठभूमि में उनका स्वाभाविक शांक्त्य ही रहस्य है। आधुनिक हिन्दी काव्य में भी इस प्रकार की कल्पना सर्वत्र सुलभ है — 'अधरों में बिजली फँसी स्पन्द' (निराला, सरोजस्मृति)। संस्कृत कवि जयदेव ने भी प्राचीनराल से चली — लौकिक संस्कृत काव्यों एवं अभिलेखों में समानरूप से व्यवहृत इस परम्परा का निर्वाह किया। कृष्णा राधा से कहते हैं कि हे प्रिय ! यदि तुम कुछ भी कहती हो तो तुम्हारी 'दन्तप्रभाकौमुदी' 'घोर तिमिर' को हर लेती है —

१. गी०गो० ८।३

२. का०इ०इ०, भाग ३, सं० ३५

वदसि यदि त्रिचिदपि दन्तरुचि क्रोमुदी

हरति दारतिभरमतिघोरम् ।<sup>१</sup>

मधुपों के गुंजन में मधुरता तभी आती है, जब वे मधुपान मुदित हों ।  
ध्वनि की गुंज मत्स्थिति में भी सम्भव है । मधुर्वचित मधुरों से ऐसी गुंज  
की आशा करना व्यर्थ है — वत्सभट्ट का ऐसा विश्वास है, जिसका सहर्ष  
समर्थन जयदेव ने भी किया —

— मधुपानमुदितमधुरकुलोपगीतनगने (पों) मधुशाले ?

— मधुमुदितमधुपकुलकलितरावे ।<sup>३</sup>

श्री-हर्ष (१२ वीं शताब्दी)

स्वयं सरस्वती जिस श्रीहर्ष की रसनाग्रनर्तकी थी, जिसके संकेत से  
स्वयं शब्द मंत्रमुग्ध भुजंग की भाँति भ्रमने लगते थे, शृंगारामृतरीतगु नैषधीय-  
चरित का वह महान् कवि भी प्रभूत पूर्ववर्ती प्रभाव लेकर ही आगे बढ़ा । हो  
सकता है कि उसने सायास पूर्वकवियों के भावों का आदान न किया हो, और  
जो पूर्ववर्ती कवियों के भावों के साम्य उसके काव्य में आ गये हों, वे संयोग  
या मात्रयदृच्छ्या हों । उसमें वे संयोगवश आगत भाव कालिदास, भारवि और  
माघ के ही नहीं, अभिलेखों के भी हैं —

यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटोषिताश्व-

सैनारजः पटविनिर्मितदिग्वितानः ।

— ऐहोललेख, ई० ऐ० टी०,

भाग ५, पृ० ६६, श्लोक ११

( उसी का कमत्कारसमन्वित रूप ) —

सितांशुर्पैर्वियति स्म तद्गुणै-

र्मकासिवेम्नस्सहृत्त्वरी बहुम् ।

दिगंगनांगभरणं रणांगणौ

यशः पटं तद्भटवातुरी तुरी ॥

— न० १-१२

शब्दयोजना —

पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम् [ ]

— ऐहोल लेख, ई० ऐ० टी०,

भाग ५, पृ० ६६, श्लोक १०

स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बकम्

— न० ५-७६

शक्तिरशुभयः कीर्तयः

लब्धमुज्ज्वलं यतः शक्तिरशुभम् ।

— प्रयागप्रज्ञप्ति , का० ई० ई०

न० ५-१२२

भाग ३, संख्या १, पं० १५

आकार-सुन्दरविलासवतीसहस्र-  
सर्गप्रबन्धचिर[संस्कृतार्थ]श्लोक[ ]

पुरादृष्टिर्नैवामिमां विधातु-  
मभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः ।

लावण्यमार्दवविलासमृजसमृज  
निम्माणासिद्धिरिव या प्रथमस्य  
धातुः ॥

--न० ७-१५

सा० ई० ई०, भाग १, सं० ३०

पृ० २४, श्लोक १

श्रुतातिशयेनोद्भासितश्रवणः पुनः  
पुनरुक्तैरेव रत्नालंकारेणालंकृत  
श्रोत्र [ः]

१-

नलस्य नासीरसृजां महीभुजां  
किरीटरत्नैः पुनरुक्तदोषया ।  
अदीपि रात्रौ वरयात्रया तथा  
चमुरजोमिश्रतामिस्रसम्पदा ॥

— शीलादित्य(द्वि०) का लुण-  
सहि शासनपत्र, भाव०, पृ० ४८  
पत्र २ पं० ६ तथा ५०-अन्यान्य  
वलभी शासन-पत्र ।

— न० १६। ४

२-

पाणिपर्वणि यवः पुनराख्य-  
दैवतर्पणायवार्पणमस्य ।  
न्युप्यमानजलयौगितिलोर्ध्वः  
स द्विरुक्तकरकालतिलोऽभूत् ॥

— न० २१-१६

तथा ५०-पुनरुक्तयन्तीम् १०।६८

(यशोधर्मदेव के लिए)

(पाण्ड्यनृपति के लिए)

सामन्तैर्यस्य बाहुविणहृतम[र्द्ध]ः

वीरादस्मात् परः कः पदयुगयुगपत्

पादयोरानमद्भि-

पातिभूपातिभूय-

श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला  
भूमिभागाः क्रियन्ते[॥]

श्चूडारत्नोडुपत्नीकरपरिवरणा-  
मन्दनन्दनलेन्दुः

— मन्दसौर स्तम्भ लेख,

न० १२-१८

हि० लि० ई०, पृ० १३७

शैलोद्भवस्य [कुलजो र] उभाभीत गती -

इ०—“अतद्भातारिनारी”—इत्यादि

द्य (१) नासकृतकृतिभया द्विषद्गनानां (२)

ने० १२—२८

ज्यो [तस्मा] प्रवी (वो) प्रसमये रवा (स्व)

धिये (धे) व सार्द्ध-

माकर्म्मपतो नयन-प [त्तन] जलेषु चन्द्रः ॥

-- माधववर्मन् (द्वि०) का पुरु-

जातमपुर शासनपत्र, १८६०, भाग ३०,

पृ० २६७, श्लोक ६

अम्बिकादत्तव्यास--

अभिलेखों की क्षाया न केवल प्राचीन या मध्यकालीन रवियों पर पड़ी, आधुनिक-काल भी उनके प्रभाव से झुका न रहा। शिवराज-विजय के कवि पं० अम्बिकादत्त व्यास आधुनिक युग के प्रतिनिधि संस्कृत गद्यकार हैं। इनके ग्रंथ शिवराजविजय की रचना तक तो पाश्चात्यगवेषणा के परिणाम-स्वरूप अनेकों अभिलेखों का उद्घाटन और व्यापक प्रकाशन हो चुका था। इस-लिये उनके काव्य के अनेक स्थलों पर अभिलेखों की स्पष्ट क्षाया पढ़नी स्वाभाविक थी। यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा --

—“भुवनभवनदीपः” — मिहिरकुलकालीन ग्वालियर लेख, हि० लि०  
इ०, पृ० १४०, श्लोक २

—“दीपको ब्रह्माण्ड-भाण्डस्य” — शिवराज० पृ० ३

चम्पू—

चम्पू ग्रंथों ने अपने शिल्पगठन को छोड़कर अभिलेखों से अन्य कोई महत्व पूर्ण भीड़ नहीं माँगी। अभिलेखों के उक्ति साम्य जो चम्पूकाव्य ग्रंथों में प्राप्त होते हैं (जैसे, “धुतकदम्बकदम्बकनिष्पतत्”<sup>१</sup> अथवा “ब्रह्माण्डमरीचिचक्र चकोरचुम्बितचरणखचन्द्ररुचिनिचयेन,”<sup>२</sup>) वे परम्परागत हैं। उनका प्रचार

१: नल० १।४३ (मेरठ १६६४)

२: वही, पृ० १३१

शब्दान्तरों के साथ प्राचीन संस्कृत काव्यग्रंथों में भी यथावत् देला गया है। ऐसी स्थिति में अभिलेख सम्पूर्णहित्य के अग्रदूत हैं, यह तथ्य ही पर्याप्त संतोष का धरातल है।

### सुभाषित ग्रंथ—

सर्वथा विषयविपर्यय होने पर अभिलेखों के भावसाम्य सुभाषित ग्रंथों में न मिलते हैं, ऐसी बात नहीं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में कीर्ति के साथ साथ 'सम्प्रताना' शब्द बड़ा सार्थक और सटीक है।<sup>१</sup> इस शब्द की सशक्तता इतनी है कि 'कीर्ति के लता की तरह झूँटकर बढ़ने का अर्थ' पाठकों की आँखों में एक दृश्य उपस्थित कर देता है। शार्ङ्गधर-पद्धति के एक पद्य में इसी भाव का सव्यक्त रूप प्राप्त होता है।<sup>२</sup> इसमें तो स्पष्ट रूप से कीर्तिवल्ली के त्रिभुवन की (लताओं के माध्यम से) जकड़ने का वर्णन है।

समग्र संसार में व्याप्त होने पर कीर्ति को परलोक भेजने में भारतीय अतिशयोक्ति सदैव प्रस्तुत देती गई। पृथ्वी का भुजरूप उच्छिन्न प्रयाग स्तम्भ, समुद्रगुप्त की 'व्याप्तनिखिलावनितला' कीर्ति को त्रिदशपति के भवन तक भिजवाने का ही सबल माध्यम है, जैसा कि हरिषेण सम्भावित करता है। सुभाषितावली का अधोलिखित पद्य कीर्ति को स्वर्ग तो नहीं भेजता, किन्तु उसके चतुरदधिमज्जनजन्य शीत को दूर करवाने के लिए <sup>उसे</sup> मार्तण्डमण्डल <sup>को</sup> तो भेज ही देता है —

कीर्तिस्ते जातजाड्येव चतुरम्बुधिमज्जनात् ।

जातपाय धरानाथ गता मार्तण्डमण्डलम् ॥ ३

उत्तरवर्ती ग्रंथों में अभिलेखों के भावसाम्यों की प्राप्ति का, इस प्रसंग में बड़ा महत्त्व है। इसके आधार पर भी अभिलेखों को साहित्यिक ग्रंथों का समस्तरीय आदर दिया जा सकता है। यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि कतिपय अभिलेख साहित्य-समृद्धि की उस सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ से उनमें अज्ञा प्रदान करने की भी सक्षमता आ गई। यह अज्ञा भले ही संयोग हो

१. का० ३० ई०, भाग ३ संख्या १ पं० १५

२. शार्ङ्गधर-पद्धति १२३५

३. सुभाषितावलि: श्लोक २४५७ (PETERSON'S EDITION)

टि०— इस सम्बन्ध में सुभाषितावलि : के २६२७ तथा २५५६ संत्यक पद्य भी दृष्टव्य हैं।

भारतेतर देशों के संस्कृत अभिलेख

(नेपाल तथा बृहत्तरभारत)

देशों का भांगोलिक परिचय --

यहाँ, वे ही भारतेतर देश विवेच्य हैं, जिनमें प्रथम सदी से लेकर सातवीं सदी तक के संस्कृत अभिलेख प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से विवेचना के विषय नेपाल, वर्मा, मलाया, (कोच्चिन को छोड़कर) इण्डोचायना (हिन्द-चीन) का प्रायद्वीप और इण्डोनेशिया के कतिपय द्वीप समूह हैं। हिन्दचीन के प्रायद्वीप में श्याम, वियतनाम (जिसे कुछ समय पहले तक अन्नम कहा जाता था), लाओस, कम्बोडिया एवं कोच्चिन-चायना हैं। पहले वियतनाम के मध्यवर्ती तथा दक्षिणी-भाग का नाम 'चम्पा' था। लाओस, कम्बोडिया और कोच्चिन-चायना— ये तीन देश श्याम और चम्पा के बीच में हैं। प्राचीन समय में राजनीतिक इकाई के रूप में इन तीनों देशों का संयुक्त नाम 'काम्बज-देश' था।

मलयप्रायद्वीप, सागर का पानी पीने के लिए बाहर निकली, हिन्द-चीन की तृणाकुल जिह्वा के समान है। यदि बीच में मलाक्का का जल-डमरूमध्य का व्यवधान न होता, तो भांगोलिक मानचित्र में मलाया, सुमात्रा का स्पर्श करता हुआ दिखाया जाता। इसी तरह सुमात्रा, जावा से सुण्डा जलडमरूमध्य के कारण ही पृथक् है। जावा के पश्चात् पूर्व की ओर बाली तथा अन्यान्य लघुकाय द्वीपसमूह हैं। इनके उत्तरवर्ती कतिपय द्वीपों में बोर्नियो और सेलेबेस, बड़े तथा उल्लेखनीय द्वीप हैं। अभिलेखों की उपलब्धि के दृष्टिकोण से बोर्नियो ही इनमें महत्वपूर्ण है। फिलिपाइन-द्वीपसमूह अभिलेखों के लिए अज्ञात रहा।

प्राचीन मार्ग—

स्थल-मार्ग, जल-मार्ग तथा आंशिक स्थल और जल मार्ग से इस विस्तृत भू-प्रदेश में प्रथम शताब्दी ईसवी से भारतीयों के उपनिवेश स्थापित होने प्रारम्भ हो गए थे।<sup>१</sup> दक्षिणापूर्वी देशों और द्वीपों में जहाज भेजने वाले प्रसिद्धतम



चन्द्रगार्हों में पूर्वी भारत में ताप्रलिप्ति और पश्चिमी भारत में भड़ौच (ब्रौच) सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे ।

उपनिवेशीकरण का रहस्य —

भारत का जो इन देशों से सम्पर्क स्थापित हुआ, उसके पीछे किसी राजा की विजिगीषा न थी । बर्मी क्रानिकल के अनुसार बर्मा पर अवश्य कपिलवस्तु के शाक्यकुमार अधिराज ने आक्रमण किया था । इसी प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में राजेन्द्र चोल ने मलाया और सुमात्रा पर नासिनिक अभियान किया था । ये अपवाद रूप राजनीतिक अभियान इन देशों में अपने स्थायी प्रभाव छोड़ने में असमर्थ रहे । तत्त्वतः देखा जाय तो इस उप-निवेशीकरण की पृष्ठभूमि में राजसमाजों का हाथ नहीं था । यह तो व्यक्तियों और लघु समुदायों का व्यक्तिगत स्वार्थ से भरा साहसिक प्रयास मात्र था ।<sup>१</sup> इसके पीछे भारतीय यात्रियों की विशेषणा भी । उन्हीं के द्वारा व्यवहृत इन देशों के स्वर्णभूमि सुवर्णद्वीप आदि नामकरणों के पीछे उनकी स्वर्णतृष्णा का अनुमान लगाया जा सकता है । अतः व्यापार ही इन प्रदेशों के आविष्कार का प्रथम रहस्य था । हो सकता है भारत में सिंहासन पाने के प्रयास में भग्नाश कुछ भारतीय राजकुमारों ने भी कालान्तर में अपनी भाग्य-परीक्षा का जोर, इन द्वीपों और देशों को बनाया हो । तदनन्तर धर्मप्रचारकों ने भी अपने व्यापक धर्मप्रचारार्थ इन प्रदेशों को उर्वर समझा । स्थानीय सभ्यता और संस्कृति की तुलना में भारतीय नवा-गन्तुकों की संस्कृति उच्चतर थी । इसलिये श्रेष्ठतर भारतीय संस्कृति वहाँ की सभ्यता को पूर्णतः आच्छादित करने में समर्थ रही । केवल वाणिज्य व्यवसाय वाले लोग ही नहीं सानुपात ब्राह्मण और क्षत्रिय भी वहाँ बड़ी संख्या में गए, कालान्तर में उन्होंने संस्कृति-प्रसार के अतिरिक्त वहाँ अपने राज्य स्थापित करने भी प्रारम्भ कर दिए । भारतीय राजनीतिक प्रभुता, सम्भवतः सर्वप्रथम कौचिन-चायना और दक्षिण कम्बोडिया में बीजांकुरित

---

१. "It appears more probable that the colonization was the culmination of what was originally mere adventurous enterprise of individuals or small isolated groups who undertook the risky voyage for their personal ends"  
— ए. ई. को. सा- ई. ए., ५. ७

हुई । पूनान साम्राज्य की स्थापना यहीं हुई थी ।

इस तरह भारतीय उपनिवेशों का श्रीगणेश व्यापार से प्रारम्भ होकर राजनीतिक एवं सांस्कृतिक-प्रसार में परिणत हुआ । ये प्रारम्भ और परिणाम तीनों उसी प्रकार सिद्ध हुए जिस प्रकार अंग्रेजों का भारत में आगमन । अंग्रेजों का व्यापार, जिस प्रकार उनके राजनीतिक प्रभुता की भूमिका बना , उसी प्रकार उनके भारतीय सांस्कृतिक व्यक्तियों का भी। जिस प्रकार अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय जातियों के आगमन से भारत में सन् (ईसा वर्ष ) प्रचलित हुआ, उसी प्रकार काम्बोज आदि देशों में एक-सम्बन्ध । वहाँ के लोगों में इसी सम्बन्ध का सर्वाधिक प्रचार रहा, यद्यपि इस सम्बन्ध के जन्म से पहले ही, भारतीयों का इन प्रदेशों में आना-जाना प्रारम्भ हो गया था ।

भारतीयों ने नये प्रदेशों के वन पर्वत, नदी और नहरों के नामकरण में भारत के वन, पर्वत और नदियों के नामों को ही दुहराया । वहाँ भारतीय वातावरण लाकर ही वे दूरस्थ जन्मभूमि को भूल पाते । इसके लिए नदी पर्वत की नहीं, द्वीपों और भू-प्रदेशों के भी भारतीय नामकरण से उन्होंने अपने मन को स्थिर किया । चम्पा, काम्बोज के अतिरिक्त उदाहरण-स्वरूप निम्नांकित नाम यहाँ उल्लेखनीय हैं —

नग्नद्वीप = नीकोबार, कर्मरंग = लिंगर समीप, वलिद्वीप = बाली-द्वीप, यवद्वीप = जवा, सुवर्णद्वीप = सुमात्रा, मलयद्वीप = मलाया, वारुणा-द्वीप = बोर्नियो, कटाहद्वीप = कैला (कडार) ।

प्रमुख अभिलेखों का परिचय—

नेपाल—प्राचीन नेपाल में दो राजवंशों की पृथक्-पृथक् किन्तु लगभग समकालीन राजसत्ताएँ थीं । प्रथम राजवंश लिच्छवि अथवा सूर्यवंश था, जिसके शासन मानगृह से उद्घुष्ट होते थे । दूसरे वंश को ठाकुरी राजवंश कहते थे, जिसके शासनों का घोषणा स्थान 'कैलासकूटभवन' था । प्रथमवंश के अभिलेखों में मानदेव का चाहूंगुनारायण लेख<sup>१</sup>, जिसकी तिथि चौथी-पाँचवीं

प्रतापदी है, नेपाल के प्राचीन लेखों में सर्वश्रेष्ठ पादकृत है। अन्योन्य लेखों में मानदेवकालीनजयवर्मन् का लेख,<sup>१</sup> वसन्तसेन का लेख<sup>२</sup>, शिवदेव का लेख,<sup>३</sup> आदि उल्लेखनीय हैं। ठाकुरीवंश के लेखों में अष्टवर्मन् के दो लेख<sup>४</sup> और जिष्णु-गुप्त के तीन लेख<sup>५</sup> प्राचीन नेपाल के अभिलेखों में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

वर्मा— भारत के पार्श्वस्थित होने पर भी विवेच्यकालावधि में, वर्मा में संस्कृत अभिलेखों की अनुपलब्धि अरती है। अपवादरूप से अरकन के नीतिचन्द्र और वीरचन्द्र के दो लेखों<sup>६</sup> की प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु दोनों ही असाहित्यिक और निम्नरतरीय हैं। प्रथम लेख प्रसिद्ध बौद्धसूत्र<sup>७</sup> ये धर्मा हेतुप्रभा<sup>८</sup> है और द्वितीय, वीरचन्द्र द्वारा बौद्धस्तूप निर्माण सम्बन्धी स्मारक लेख।

मलाया—मलय अन्तरीप का दूसरा नाम मलक्का (MALACCA) भी था। यहाँ छोटे-छोटे संस्कृत अभिलेखों की उपलब्धि हुई है, किन्तु साहित्यान्वेषण के प्रसंग में उनकी उपेक्षा की जा सकती है। इनमें अधिकांश बौद्ध लेख हैं। कुछ लेख वेलैजली प्रान्त के उत्तर में भी प्राप्त हुए, जिनमें एक लेख, रक्तमृत्तिशावासी बुद्धगुप्त की मलयदेश-यात्रा का संकेत देता है।<sup>९</sup> मलय के लेखों में इस लेख की संख्या आठवीं है। ६ वां लेख, एक पंक्तिमात्र है—  
 “सर्व्वेण प्रकारेण सर्व्वस्मात् सर्व्वथा सर्व्वसिद्धयानासन्न”<sup>८</sup>। इसवाँ लेख प्रसिद्ध “अज्ञानाच्छीयते कर्म—” वाला बौद्धसूत्र है।<sup>६</sup> चारुवाँ लेख भी “ये धर्मा

१: इन्द्रजी — “नेपाल के अभिलेख” (इंस्टीट्यूट, भाग ६) , सं० २

२: वही, संख्या ३

३: वही, संख्या ५

४: वही, संख्या ६-७

५: वही, संख्या ६-११

६: ए०ई०, भाग ३२, पृ० १०३-१०६ (दोनों)

७: सुवर्णाद्वीप, भाग १, पृ० ८६

८: वही, भाग १, पृ० ८६

९: वही, पृ. ८६

हेतु प्रभवा<sup>१</sup> जॉइ सूत्र है । अन्योन्य प्राचीन मलय लेखों का भी धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व ही है, साहित्यिक नहीं ।

जावा-सुमात्रा-पश्चिमी , मध्य और पूर्वी जावा में संस्कृत अभिलेखों की प्राप्ति हुई है । पूर्वी जावा के लेख सातवीं शताब्दी के पश्चात् के हैं । मध्य जावा के लेखों में एक तुकमस ( TUK MAS ) लेख है। एक मात्र उल्लिखित इन्द्र उपेन्द्रवज्रा वाले उक्त लेख में 'जिलाबासुका' से निःसृत किसी स्रोत का वर्णन है । उस धारा की उपमानभूता भारतीय गंगा का भी उसमें उल्लेख है । सातवीं सदी तक की कालावधि में पड़ने वाले अन्य लेख, साहित्य की दृष्टि से महत्वहीन हैं ।

पश्चिमी जावा के वन्ताविया ( VANTAVIA ) प्रान्त में चार अभिलेख प्राप्त हुए । चारों ही लेख पूर्ण वर्मा के हैं, जिसकी राजधानी तारुमा थी - 'पुरा तारुमायाम्' - (लेख सं० २)<sup>२</sup> प्रथम लेख (Ci-ARU TON )<sup>३</sup> में तारुमनगरेन्द्र पूर्णवर्मा के पदद्वय, विष्णु के पदों से उपमित हैं -

विक्रान्तस्यावनिपतेः श्रीमतः पूर्णवर्म्मणः ।

तारुमनगरेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम् । [I]

द्वितीय लेख<sup>४</sup> भी पूर्ण वर्मा के पदलान्छनों ( तरयैदम्पादबिम्बम् ) के साथ उत्कीर्ण है । लेख के एक मात्र पद्य (स्रग्धरा) में पादबिम्बों के उल्लेख के साथ 'प्रचुररिपुशराभेयविख्यातवर्मा' पूर्णवर्मा के शौर्य की भी प्रशंसा की गई है । तृतीय शिलालेख (KEBON KOP) <sup>५</sup> इस तारुमेन्द्र के 'शैरावतोपम' हस्ति के दो पाँवों के चिह्नों के साथ उत्कीर्ण है - '[शैरा]-वताभस्य विभातीदम्पदद्वयम्' । चतुर्थ लेख (दुगु शिलालेख)<sup>६</sup> में प्रयुक्त पाँच कुन्दों में पूर्णवर्मा के द्वारा इक्कीस दिनों में 'गोमती' नहर निर्माण किए जाने का भव्य वर्णन है ।

१: सुवर्ण द्वीप, भाग १, पृ० ६०

२: इं०जा० (भाग २) पृ० २८

३: जम्बुशिलालेख, श्लोक १

४: इं०जा० (भाग २) पृ० २३-२४

५: वही, पृ० २४-२५

६: वही, पृ० २५-२६

६: बी०सं० (राहुल), पृ० ८६

सुमात्रा द्वीप में सातवीं सदी तक के संस्कृत अभिलेखों का अभाव है ।

गोर्नियो— मूलवर्मन् के चार लेख,<sup>१</sup> इस देश में खूबसूरत ब्राह्मण-धर्म के तत्कालीन सांस्कृतिक वैभव की सूचना देते हैं । प्रथम लेख में मूलवर्मन् के पशु, वनस्पतृजा, भूम्यादि विविध दानों के विषय में ब्राह्मणों को सम्बोधित किया गया है — “शृण्वन्तु विप्रमुध्याः” ( लेख—‘अ’ श्लोक १ ) । उक्त दानों के प्रकाशनस्वरूप इस लेख में धूप-स्थापना का भी उल्लेख है— “यूपोयं स्थापितः” ( वही श्लोक २ ) । द्वितीय लेख ‘ब’ के माध्यम से मूलवर्मा के पूर्वजों के विषय में सूचना प्राप्त होती है । बहुसुवर्णक यज्ञकर्त्ता मूलवर्मन्, कुण्डुंग का पाँत्र और अश्ववर्मन् का ज्येष्ठतम पुत्र था । तृतीय लेख ‘स’ में मूलवर्मा के द्वारा ‘वप्रकेश्वर’ तीर्थ में किए गए, बीस हजार गायों के दान का उल्लेख है — “द्विजातिभ्योऽग्निकल्पेभ्यः (भ्यो)विंशति-गर्गसिर्जस्रिकम्” । चतुर्थ अभिलेख ‘द’ अण्डित है, जिसमें पौराणिक भारतीय नृपति भगीरथ से इस मूलवर्मा का साम्य स्थापित किया गया है । पुरालिपि के आधार पर इन लेखों को देखने पर ब्राह्मणधर्मावलम्बी इस मूलवर्मा का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवी में स्थिर किया जाता है ।

चम्पा— चम्पा के प्रमुख लेखों में वो चन्ह लेख,<sup>२</sup> भद्रवर्मन् तथा शम्भुवर्मन् के माइसोन लेख<sup>३</sup> प्रकाशधर्म के लेख,<sup>४</sup> तथा दो अन्य माइसोन लेख<sup>५</sup> सांस्कृतिक महत्त्व के अतिरिक्त साहित्य-संरम से भी सम्पृक्त हैं । इस दृष्टि से चौदिन्ह लेख<sup>६</sup> साहित्यिक महत्त्व से सम्पन्न हैं । तत्त्वतः देखा जाय तो उपलब्धि और साहित्य-समृद्धि के दृष्टिकोण से काम्बुज के पश्चात् चम्पा के लेख ही आते हैं, जो नयी भूमि में उगी शाद्वल-भारतीय-संस्कृति की समृद्ध सूचना प्रदान करने में भी सर्वथा सक्षम हैं ।

१. इं०जा०(भाग २) लेख, -- (अ०३०स०६०) पृ० १७-१६

२. चम्पा० १

३. Myson Stealae लेख, क्रमशः चम्पा ४ तथा ७

४. TRA KIEU लेख, चम्पा ६; Myson Stalae लेख चम्पा १२; Myson Pedestal लेख सं० १४

५. विक्रान्तवर्मन् (१०) का लेख, वही १६, तथा विक्रान्त वर्मन् (?) का लेख, वही १७

६. चम्पा, २-३

काम्बुज— काम्बुज लेखों में भाषा और भाव दोनों का वैविध्य दर्शनीय है। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त स्थानीय भाषा और में लिखे लेखों<sup>१</sup> की भी वहाँ पर्याप्त उपलब्धि है। कुछ लेख ऐसे भी हैं जो आधे संस्कृत और आधे और में लिखे हैं,<sup>२</sup> किन्तु ऐसे लेखों के संस्कृत भाग की साहित्यिक-मूल्यांकन के विषय हैं। सातवीं सदी की परिधि में आने वाले काम्बुज के अभिलेखों में लगभग गार्हपत्य की इस दृष्टि से विशेष आकर्षक हैं।<sup>३</sup>

### गद्य, पद्य तथा चम्पू तत्त्व—

पद्य—सुदूर पूर्वीय देशों में अपना अतृपणा प्रभाव को छोड़ने में सत्तम भारतीय संस्कृति, पड़ोसी देश नेपाल की गार्ह-कालिंगन में क्यों आबद्ध न करती। किन्तु जहाँ तक अभिलेखीय साहित्य का प्रश्न है, सातवीं सदी तक इस देश में उसकी कभी आवश्यक्य जरूरी है। फिर भी यत्किंचित् सामग्री के आधार पर ही यहाँ उनका विवेचन व्योक्त है। मानदेव का चांगुनारायणालेख<sup>४</sup> प्रारम्भिक तिथिवर्णन को छोड़कर समस्त पद्यमय है। लेख में सत्रह छन्द हैं, जिनमें वे भी सम्मिलित हैं, जो अधुना स्तम्भ के भूमि-गर्भ में प्रविष्ट भाग में उत्कीर्ण हैं। समस्त लेख में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है<sup>५</sup> एक प्रशस्ति में इस छन्द का प्रयोग होना उचित ही है —

१. उदा०—२०का० (मजूमदार), संख्या २०, २१

२. उदा०—VAT SABAB INSCRIPTION २०का०, संख्या २३ तथा TRAU TASAR INSCRIPTION वही संख्या २४ टि०—इस द्वितीय (२४ संख्यक) लेख में तीन पंक्तियाँ संस्कृत और पाँच और भाषा में हैं। इसी प्रकार VAT PREI VAR INSCRIPTION (२०का०, संख्या २६) की सत्रह पंक्तियों में वस संस्कृत भाषा और सात और में है।

३. उ०— २०का० (मजूमदार) लेख संख्या १, २, ३, ८, १०, १२, १३, १६, १८, १९, २२, २५, २६, २८, २९, ३०, ३३, ३४, ३७ तथा परि० लेख संख्या २७, ३५, ४१

४. सि०३०, भाग १, पृ० ३६६-३६६

५. टि०—जिन श्लोकों का कुछ भाग दृश्यमान है, वे तो स्पष्ट ही शार्दूल-विक्रीडित छन्दमें हैं, किन्तु जो भूमिगर्भ में अदृश्य हैं उनमें भी श्लो छन्द के प्रयोग होने का अनुमान है। सम्भवतः १७ वें छन्द के पश्चात् भी आठ पंक्तियाँ भूमि में प्रविष्ट हों।

‘ शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम्’<sup>१</sup>। सकृत् शब्द समन्वित यह शब्द स्वभाव में ही गद्यम्बरपूर्ण होता है, किन्तु इस लेख में यह शब्द स्पष्ट एवं सरल है। यह सरलता इसी अभिलेख की अपना विशेषता नहीं अन्यत्र लेखों में भी यही शृङ्खलितता दर्शनाय है। उदाहरणस्वरूप विभुवर्म्न के सप्तधारा (काठमाण्डू के निकट) वाले लेख का अनुष्टुभ<sup>२</sup> या जिष्णु-गुप्त का पञ्चपतिनाथमन्दिर (लुङ्गेवर) वाले अभिलेख में प्रयुक्त श्रवरा<sup>३</sup> उल्लेखनीय हैं।

अरुन (वर्मा) में वीरवन्द के लेख में<sup>४</sup> दो अनुष्टुभ शब्द हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शब्द की दृष्टि से द्वितीय शब्द का द्वितीयाई दोषपूर्ण है — ‘ धम्मार्थिधनतराज्येण(न)बुद्धस्तूपस्त[नेति]’। यथा‘वेति’ के स्थान पर यदि ‘कृतं’ या अन्य शब्द होता, तो शब्द की रक्षा हो सकती थी; लेकिन ‘कृतं’ शब्द प्रथम शब्द में प्रयुक्त हो ही चुका है, इसलिए यहाँ एक लघु और दो गुरु वाला कोई अन्य शब्द ही उपयुक्त होता।

मलय प्रायद्वीप के मलानाविक बृहगुप्त के लेख<sup>५</sup> में प्रयुक्त दो शब्द (प्रथम शार्थार्थ— ये धम्मार्थ हेतु-प्रभवा द्वितीय— अज्ञानान्धीयते कर्म) ब्राह्म-सूत्रों के अनुवाद मात्र होने से साहित्य के तत्त्वों से रहित हैं।

मुलवर्म्न के कुटेई यूप लेख (बोर्नियो) भी शब्द की दृष्टि से सर्वथा दोषमुक्त नहीं। उसके यूप अभिलेखों में एक का ही उदाहरण (अनुष्टुभ शब्द) जिसमें विसन्धित्व दोष है, यथा पर्याप्त होगा—

तस्य पुत्रा महात्मानः त्रयस्त्रय उवाग्नयः [I]

तैथान्त्रयाणाम्प्रवरः तपोऽजलदमार्त्तितः<sup>६</sup> [II]

प्रथम पंक्ति में ‘महात्मानः’ और ‘त्रयः’ में सन्धि होने आवश्यक थी—

१: सुवृ० ति० (जैमिन्द्र) ३।२२

२: इ०, रेण्टि०, भाग ६, पृ० १७१

३: वही, पृ० १७४

४: ए०ई०, भाग ३२, पृ० १०६

५: ग्रे०ई०सी० बुलेटिन, संख्या ५

६: प्रा०भा०अ०अ० (अपभ्रंश) पृ० २३२



‘महात्मानस्त्रयः’—। इसी प्रकार द्वितीय पंक्ति में प्रवरः और सपोबल में सन्धि न होने के कारण अन्धविश्वास उत्पन्न है। यहाँ भी प्रवरस्तपोबल— दोनों वाच्य था।

जावानरेश्च पूषविर्मन् के जम्बू गिलानेश्च का एक मात्र छन्द—स्रग्धरा, अपने शब्द विन्यास और गठन के कारण मन को आकृष्ट करता है। भाषा संश्लेष एवं उचित समास-साधना के कारण यह इतना सुन्दर बन गया है कि किसी भी सांस्कृतिक संस्कृत—शास्त्रग्रन्थ के स्रग्धरा छन्द से टक्कर लेने का साहस कर सकता है।

चम्पा के अधिकांश अभिलेख पद्यबद्ध हैं किन्तु उनमें दो माहसोन अभिलेख<sup>२</sup> विशेष महत्वपूर्ण हैं। प्रथम लेख कहीं-कहीं क्षिण्डित है किन्तु इस कारण छन्दों के स्वरूपनिर्णय में बाधा नहीं पड़ती। इसमें अनुष्टुभ (श्लोक ३, ४, ६, ७, १५, १६), आयुर्वि (श्लोक ११, १२, १४, २६, २३), वसन्ततिलका (श्लोक ५) शिवारिणी (श्लोक ८, २४), मार्गलनी (श्लोक १०, १५), उपजाति (श्लोक २, ६, १३, १७-१६, २२, २३ तथा २८, २६) एवं शार्दूलविक्रीडित (श्लोक १, २०, २७, ३०) अर्थात् विविध लोकप्रिय छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये छन्द सरल सुव्यक्त और अलंकारों से युक्त हैं। जहाँ एक ओर आयुर्वि छन्द की शब्द योजना सहृदय व्यक्तियों को आकृष्ट करती है, वहाँ दूसरी ओर शिवारिणी की गैयता —

गुणानां साफल्यं भवति न किलैकत्रवर्जिनः

किमप्ययं सृष्टैर्वीरकमलयानैर्भगवतः ।

गुणा यत्राशेषा दधाति तु पराध्यामपि रतिं

महार्त्तं रत्नो यो हव जलनिधौ दुस्तरजले ॥ (श्लोक २४)

द्वितीय माहसोन लेख में भी, जो विक्रान्तवर्मन् (५०) का है, छन्दों की दृष्टि से रुचि केन्द्रित होती है। ग्यारह छन्दों वाले इस अभिलेख में इन्द्रवज्रा (श्लोक १), आयुर्वि (श्लोक २-८, ११) शार्दूलविक्रीडित (श्लोक ६) एवं स्रग्धरा (श्लोक १०) छन्दों का प्रयोग हुआ है।

१. काँ० सं०, पृ० ८६

२. चम्पा, पृ० १६-२६ तथा वही, पृ० २८-३१ (क्रमशः)

काम्बुज के लेखों में छन्दों का वैविध्य है। सांख्यिक संस्कृत के लोकप्रिय छन्दों के अनतिरिक्त नये-नये और कम प्रयोग में लाए जाने वाले छन्दों का गुम्फन इस देश का अत्यन्त भारतीय सम्पर्क का प्रतीक है। इन छन्दों में 'अपचछन्दसिक' भी एक है—

अभिवर्द्धयतीह यो ममात्मा  
 भगवद्रूपमिदं गुणार्त्तवः॥<sup>१</sup>  
 स तु यत् कुशलं लभेत विष्णोः  
 परमं प्राप्य पदं मध्यरात्रे ॥<sup>२</sup>

इस छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरण में सोलह तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में अठारह मात्राएं होती हैं। गुणावस्था भी इस पर समान रूप से देखी जाती है। पुष्पिताग्रा तथा मालभारिणी इसी छन्द के प्रकार विशेष हैं।<sup>२</sup>

अपचछन्दसिक की ही भाँति एक कम प्रयोग में लाया जाने वाला छन्द वैतालीय है। अन्य छन्दों की भाँति भारत से इस छन्द का भी निर्यात काम्बुज में हुआ। व्यंग मन्दिर लेख<sup>३</sup> के अठारह छन्दों में दो वैतालीय छन्द भी हैं (श्लोक १०—११)। इस छन्द में प्रथम और तृतीय चरण में चौदह तथा द्वितीय और चतुर्थ में सोलह मात्राएं होती हैं—

पशुपतिपदभागनुरं  
 पदमधिगच्छतु सान्वयो जनः ।  
 चिरमवतु क्षिताय देहिना -  
 ममपि भूमिधरो भुवस्स्थितिम् ॥ (श्लोक १०)

त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग भववर्मन् के लिंगस्थापना सम्बन्धी लेख में देखा जा सकता है।<sup>४</sup> और पृथ्वी छन्द रुद्रवर्मन् के अभिलेख में<sup>५</sup> पृथ्वी

१. गुणवर्मन् का ( PROASAT PRAM LOVEN ) लेख, काम्बुज (इ०का०, पृ० ४, श्लोक १२)

२. (आप्टे)<sup>सं. इ.</sup> हि० श०, पूरक, पृ० ६५८ (दिल्ली १६३३)

३. इ०का०, पृ० ८—१०

४. भववर्मन् का ( PHNOM BANTAY NAN ) अभिलेख, (काम्बुज, इ०का०, पृ० १०—११)

५. रुद्रवर्मन् का ( TA PROHM ) लेख, इ०का०, पृ० ५, श्लोक १

छन्द में जगण, सगण, जगण, सगण, जगण और तदनन्तर एक लघु और एक वनच्छ दीर्घ वर्ण होता है । यति षट्त्वे और नाँवे वर्ण पर होती है--

जितं विजितवाग्नासितसर्व्वदोषापरिणतं

निरावरणबुद्धिनोधिगतसर्व्वथासम्पदा [I]

जिनेन अरुणात्मना परस्तिप्रवृत्तात्मना

दिगन्तरविसर्पिनिर्मलवृ(त्र)क्ष्यञ्जः S1S[II] (श्लोक १)

प्रचलित छन्दों पर तो इन काम्पुज देश के कवियों ने सिद्धहस्तता दिखायी है । 'हन-वेई' मन्दिर - अभिलेख<sup>१</sup> के सभी सैंतालीस छन्द अनुष्टुप् हैं । इसी प्रकार ईशानवर्मन् के (SANKHOR PREI KUK) लेख<sup>२</sup> में अनुष्टुप् प्रयोग दर्शनीय है । जयवर्मन् (पृ०) के एक अभिलेख (TUOL PRAH THAT )<sup>३</sup> अधोपान्त आधा छन्द में है । अन्यान्य लोक-प्रिय छन्दों में ग्रग्धरा,<sup>४</sup> शार्दूलविक्रीडित,<sup>५</sup> वंशस्थ,<sup>६</sup> उपजाति,<sup>७</sup> इन्द्रवज्रा,<sup>८</sup> मालिनी,<sup>९</sup> वसन्ततिलका<sup>१०</sup> आदि हैं । छन्दों के प्रयोग में यदाकदा कवि अथवा ऋता की आसवधानी अवगती है, जैसे ग्रग्धरा के अधोलिखित चरण में आए 'जलनिधि'

१: इ०का०, संख्या १२

२: वही, संख्या १६

३: वही, संख्या ३२

४. ईशानवर्मन् का ( VAT CHAKRET ) मन्दिर लेख, इ०का०, पृ० ३०-३१, श्लोक ७; केदेई का मन्दिर लेख, वही, पृ० ३३, श्लोक ५; VAT PREI VAR लेख ( एक मात्र श्लोक ), वही, संख्या ३१ इत्यादि ।

५. कुल प्रभावती का ( NE AK TA DAMBANG DEK ) लेख, इ० का०, संख्या १, श्लोक १, ३-५; इ० का०, संख्या २, श्लोक १०-११ इत्यादि

६: इ०का० संख्या ८, श्लोक १-६

७: इ०का०, संख्या ८, श्लोक ७-८; वही, संख्या १६ श्लोक १

वही, संख्या २६, श्लोक १ आदि

८: वही, संख्या १६, श्लोक २ आदि

९: वही, संख्या २६, श्लोक ६; वही संख्या २६, श्लोक ८

१०: वही, संख्या १६, श्लोक ३

के स्थान में यदि केवल 'जलधि' पढ़ा जाय, तो दोष का परिहार हो जायेगा —

“पिण्डीभूते शकाप्दे (च्चे) वसुजलनिधिशर्वांसिरेमाधववादी”<sup>१</sup>

गद्य— प्राचीन लेखों में गद्य की न्यून उपलब्धि है। एक-दो उदाहरणों को छोड़ कर जो गद्य प्राप्त भी हुआ है उसका स्तर निम्नकोटि का है, उसे साहित्यिक गद्य होने का सम्मान नहीं दिया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक संस्कृत के गद्य साहित्य ने विदेशों को कम प्रभावित किया। पद्य कृतियों गद्य होने के कारण सरलता से कण्ठस्थ हो जाती हैं। यातायात-विहीन अन्धयुग में विदेशों में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार करने वाले साजसी यात्रियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे अपने पात्रों के साथ प्रचुर मात्रा में गद्य कृतियों को भी नये-नये भू-खण्डों में पहुँचा पाते। रामायण महाभारतादि<sup>२</sup> धार्मिक ग्रंथों का भार तो उनके लिए शक्य इसलिए हुआ कि उनका मुख्य उद्देश्य व्यापार के साथ संस्कृति-प्रसार का था। ऐसी स्थिति में जहाँ यात्रियों के कण्ठस्थ छन्दों ने नूतन भूप्रदेशों की घाटियों में संगीतमुखर पथर्वविध्य भरा, वहाँ गद्य प्रभाव के निर्यात में वे पिछड़ गए। यहाँ तक कि भारत की सीमाओं का स्पर्श करने वाला समानधर्मा नेपाल भी अपने अभिलेखों को भारतीय अभिलेखीय गद्य का स्तर नहीं दे सका।<sup>३</sup> वसन्तसेन (लेखसंख्या ३) शिवदेव (लेखसंख्या ६), अश्वमेध (लेखसंख्या ६-७) जिष्णुगुप्त (लेखसंख्या ६) आदि के लेखों में गद्य के दर्शन होते तो हैं किन्तु <sup>बढ़ गया</sup> निम्नस्तरीय हैं।<sup>४</sup> इसका कारण यह है कि जिस स्थल पर भारतीय शासन पत्र अपने साहित्यिक भाग को छोड़कर व्यावसायिक भाग को प्रवृत्त होते हैं, वहीं से इन लेखों का प्रारम्भ होता है :—

“ओं स्वस्ति मानगृहात्प[रमदै]वतबप्पभट्टारक महाराजजीपादा-

१. इ०सं०का०(बार्थ) पृ० ४१

२. “रामायण-पुराणाभ्यामशेषं भारतं ददत्”, इ० इ०सं०का०(बार्थ) पृ० ३१

३. इ०-नीरस गद्य के उदाहरण—शिवदेव का गोल्पाढि तौल लेख तथा अश्वमेध का सुन्दारा पटन लेख, ज० लि० आ० रि० ने० नॉ०००, लेख संख्या (क्रमशः) १, २, पृ० ७२ तथा ७४

४. इ०—नेपाल के अभिलेख, इ० रेपिट०, भाग ६,

पृ० १६३—१६४

तुध्यातः श्रुतन[य-दया]-दान-वात्तिय-पुण्यप्रतापविरसितसितकी तिभिष्टारक-  
मकाराज-श्री-वसन्तसेनः कुली" १

दो तीन उत्कृष्ट उदाहरणों को छोड़कर चम्पा का गद्य भी सामान्यतया व्यावसायिक की है —

" इदं भगवतः पुराणोक्तमस्य विष्णोरनादि-निधनव्याघ्र-  
भुवनगुरोः पूजास्थानं श्रीप्रकाशधर्मपादकारितम्" २

काम्बुजादि अन्य देशों का गद्य भी शिथिल एवं विवरणात्मक है ।

चम्पूतत्त्व—केवल गद्य की तुलना में गद्य-पद्य की योजना के प्रति विदेशी कवियों की आग्रहशीलता अधिक स्पष्ट है । यद्यपि चम्पू में गद्य-पद्य की युगपत् स्थिति में भी गद्य, पद्य की अपेक्षा निम्नस्तर का निम्नस्तर का ही रहता है, जैसे अधोलिखित पद्यगद्य-मिश्रण—

" संवत् ४१३

श्रीमानदेवनृपतेश्वरपाप्रसादात्

मन्त्र्याविशुद्धमतिना ज्यदेवनाम्ना [1]

लिंगजयेश्वरमिति प्रथितं नृलोके

संस्थापितं सनृपतेर्जगती हिताय ॥

—भगवतो(९)स्य लिंगस्य कारपापूजा [यं]

----- तावस्व ----- यनात्यन्दसमज्ञय[नीवी]—" ३

जिष्णुगुप्त के शासनकाल के एक लेख में भी जहाँ शारम्भ में 'स्रग्धरा' की छटा अपने पूर्ण निवार पर है, वहाँ पश्चाद्बली गद्य नीरस और असाहित्यिक है । ४

चम्पानरेश शम्भुवर्मन् का माइसोन लेख<sup>५</sup> स्थल स्थल पर त्रुटित है । उपलब्ध अंशों से सज्ज अनुमान किया जा सकता है कि यदि उक्त अभि-

१: वसन्तसेन का लेख, इंडोऐपिट०, भाग ६, पृ० १६७, पं० १-५

२: प्रकाशधर्म का ( DUONG MONG PEDESTAL ) लेख,

चम्पा, पृ० १५

३: नेपाल के अभिलेख, इंडोऐपिट०, भाग ६, पाठ्य पृ० १६७

४: नेपाल के अभिलेख, इंडोऐपिट०, भाग ६, पृ० १७४

५: चम्पा, संख्या ७

लेख अपनी अव्यक्त स्वरथा में होता, तो सम्भवतः एक उत्कृष्ट चम्पूकाव्य-  
कृति के रूप में सम्मानित होता । विश्रान्तवर्मन् (चम्पा) के मातृसीन अभि-  
लेख<sup>१</sup> में : छन्द ( प्रथम दो शार्दूलविक्रीडित, तृतीय श्लोक चन्द्रा-  
श्रान्ता, चतुर्थ प्रग्वरा ) और तदनन्तर लगभग सात पंक्तियों का एक गद्य-  
वाक्य है । गद्य के पाचात् फिर दो अव्यक्त छन्द हैं, एक प्रग्वरा और  
एक मालिनी । इस लेख का पद्य अपवाद रूप से उत्कृष्टतम बन गया है ।  
गठन एवं समास प्रचुरता के कारण यह गद्य सातवीं सदी के भारतीय संस्कृत  
गद्य के समानान्तर चलता हुआ प्रतीत होता है —

— भीमरुद्रमहादेवोग्राभिधानप्रधानसमुपबृद्धांताभिराविर्भा-  
वितविश्वमूर्तिना नलिनतामनलिनविष्टव्यवाहनप्रभुतुल्यसहायेन ससुरानुनि-  
गन्धर्वार्दिसकललोकविध्वंसनकरत्रिपुरमहासुरोदरेणानुमितानितप्रभावेण  
भगवता श्रीशम्भुभट्टेश्वरभट्टारकेण जितम् ।” ( पं० १२-१४ ) । इस गद्य के  
पाचात् ही “ इन्द्रादीनां सुराणां भुजबलमहतां न्वित्यजेताऽमुर्ध्व — ” प्रग्वरा  
छन्द का यह प्रथम चरण उपस्थित हो जाता है ।

चम्पानरेश प्रकाशधर्म का भट्टेश्वर महादेव वाला लेख<sup>२</sup> चम्पू-  
काव्य के सभी आवश्यकतत्त्व अपने में समाए हुए है । पद्य में जहाँ आलंकारिक  
रूपसज्जा पूर्णानिवार भरे हैं, ( अन्तिम विवरणात्मक गद्य को छोड़कर )  
वहाँ गद्य भाग भी समास प्रचुर एवं संगठित हैं । गद्य-पद्य का अशिक्षित सन्धि-  
स्थल भी अच्छे चम्पूकाव्य के रचनाकौशल को व्यक्त करता है ।

रसभाव —

विदेशी अभिलेखों में भावों की ही विशेष प्रतिष्ठा हुई।  
विभावानुभाव संचारी के संयोग से निष्पन्नमान रसधारा से आर्द्र स्थलों की  
उनमें न्यूनता है । वैसे, कविता के ‘रस’ से वे सर्वथा अपरिचित रहे हों,  
ऐसी बात नहीं । काम्बुजेश ईशानवर्मा का मंत्री सिंघ्वीर विद्वान् और कवि  
था । उसकी कविता के ‘रस’ का पान तो अन्यान्य विद्वान् भी करते थे—

विद्वान् योऽद्यापि विद्वद्भिर्भाषीतकवितारसः ।

श्रीशानवर्म्पनृपतेरभवन्मन्त्रिसत्तमः ॥<sup>३</sup>

उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि काम्बुज के विद्वान् इविता में  
 उस के महत्त्व को जानते थे । अभिलेखों के सन्दर्भ में, फिर भी, यही कथन  
 तर्क-संगत है कि उनमें भावाभिव्यक्ति का ही आश्रय है । इस धारा के  
 पृथुल-प्रवाह की, उनसे आशा करना व्यर्थ है, इसीकरों से ही यथासम्भव  
 पिपासा शान्त की जा सकती है ।

रतिभाव के दर्शन, भारत से गए हुए ग्राह्या क्रौण्डिन्य और  
 नाग कन्या सीमा के प्रथम सम्पर्क का वर्णन करने वाले अधोलिखित पद्य में  
 होते हैं —

ऽऽकुलासीद् भुजगेन्द्रकन्या ।  
 सौमेति सा वंशकरी पृथिव्याम् ।  
 आश्रित्य भावति विशेषवस्तु  
 या मानुषावासमुवास ॥ १

करुणारस की पूर्ण प्रतिष्ठा नेपाल के चांगुनारायण लेख में  
 देखते ही बनती है । धर्मदेव के दिवंगत होने पर वैधव्य-व्यथा से पीड़ित  
 उसकी सम्पूज्यना रानी राज्यवती सती होने को उद्यत होकर रूँधे हुए  
 कण्ठ से अपने प्रियपुत्र मानदेव से कहती हैं— ' हे पुत्र ! तुम्हारे पिता अब  
 स्वर्ग चले गए हैं । हाय ! तुम्हारे पिता के न रहने पर मेरे जीवित रहने  
 से क्या लाभ ? तुम तो राज्य करो किन्तु मैं अपने पति का ही अनुगमन  
 करती हूँ । पति के बिना इस वैधव्य की अवस्था में मेरा, भोग-विधानादि  
 आश्लामय प्रयोजनों से क्या मतलब ?' इस पर वह, पुत्र मानदेव से समझाए  
 जाने पर सती बनने के विचार को त्याग बैठी —

(च)  
 प्रत्यागत्य स गद्गदाक्षरमिदन्दीर्घं विनिश्चय्य च  
 प्रेम्णापुत्रमुवाच साश्रुवदना यातःपिता ते दिवं ।  
 का पुत्रास्तिमते तवाद्य पितरि प्राणवृथा किम्पम  
 राज्यम्पुत्रक का(धा)र्याहमनुयाम्यर्थव — भर्तुर्गीतिम् ॥

किम्मे भोगविधानविस्तरकृतेराशामर्थवन्धनैः  
 मायास्वप्ननिभे समागमविधौ भर्ता विना जीवितुम् ।<sup>२</sup>  
 इत्यादि ।

१. माइसोन लेख (चम्पा) बी०सं०(राहुल) पृ० १४६

२. चांगुनारायण लेख (नेपाल), सि०इ०, भाग १, पृ० ३६८, श्लोक ८-८



यहाँ शोक का आलम्बन दिवंगत धर्मदेव है । बार-बार उसके अभाव की बात करना उद्दीपन है । राज्यवती के उन्मुख-निर्वास अनुभाव है एवं स्मृतिविषाद-निर्वेदादि व्यभिचारीभाव हैं । इन सबका समन्वय शोताओं के हृदयों में वासनारूप में विद्यमान स्थायीभाव शोक को जगाने में सर्वथा समर्थ है; और प्रबुद्ध स्थायीभाव ही रस है ।<sup>१</sup>

क्रोध और गर्वोक्तियाँ रण्डिरस की स्थायी सम्पत्तियाँ हैं । विजययात्रा पर निकला हुआ नेपालनरेश मानदेव, पूर्वदिशा के राजाओं को अपने अधीनस्थ करके पश्चिमी-प्रदेशों की ओर उन्मुख हुआ । वहाँ जब उसने यह सुना कि कोई एक सामन्त दुष्टचरित वाला है, तो क्रोध से आगबबूला होकर उसका सिर कैंपने लगा । धीरे से अपने हस्तिकारोपमा स्तिष्ठ भुजा को हूकर उसने कहना प्रारम्भ किया— 'बुलारा जाने पर, यदि वह (दुष्ट सामन्त) पराक्रमाभिभूत होकर मेरे वश में नहीं आया, तो विधाता के रवे हुए अधिक शब्दों के प्रयोग से क्या लाभ ? यहाँ संज्ञोप में ही कहा जा रहा है —

सामन्तरय च तत्र दुष्टचरितं भुत्वा शिरः कम्पयन्  
बाहुं हस्तिकारोपमं स शनैः स्पृष्ट्वा त्रुवाद्गच्छितम् [I]  
आहूतो यदि नेति विक्रमवशादेश्यत्यसौ मे वशं  
किं वाक्यैर्बहुभिर्विधातृगदितैः संज्ञोपतः श्रूयते [II]<sup>२</sup>

आलम्बनभूत विरोधी सामन्त के दुष्टकृत्यों से उद्दीप्त मानदेव के क्रोध के अनुभाव हैं 'सिर कैंपाना और बाहुस्पर्शादि, जो क्रोध, अमर्षादि व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर पूर्णरसस्थिति को पहुँच जाता है ।

भारतीय अभिलेखों की ही भाँति विदेशी अभिलेखों में भी चतुर्विध उत्साह भाव का प्राचुर्य है । सांस्कृतिकतत्त्वों से सम्पृक्त होने के कारण इनमें धर्म पर आधारित उत्साह विशेष समृद्ध है । धर्म के अतिरिक्त <sup>आत्म</sup> प्रकार के उत्साहों की भी यथावसर समुपलब्धि होती है ।

१. 'प्रबुद्धस्थायिभाववासना वा रसः' — र० त०, तरंग ६,

पृ० ११८

२. बांगुनारायण लेख, (नेपाल), सि० ३०, भाग १, पृ० ३६६

अधोनिहित श्लोक में पूर्वदिशा की विजिगी या वाले मानदेव की वीरता का कितना सजग और युद्धोत्साह प्राप्त वर्णन है :—

प्रायात्पुर्वपथेन तत्र च शृठा ये पूर्वदिशा व्याः

सामन्ताः प्रणिपात-बन्धुरारिः प्रप्रष्टमोत्तिष्ठजः [1]

तानाज्ञावशवर्त्तिनो नरपतिः संस्थाप्य तस्मात्पुनः

निभीः सिंह इवाकुलोत्कट-सटः पश्चाद्भुवजग्मिवान् ॥<sup>१</sup>

शत्रुवर्ग ने भी अनेक भाँटा युद्धों में विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओं के प्रभाव की सीमा ज़ीटा कर दी थी — “अनेकपृष्ठमरसम्पात-विजयाधिगतज्योत्यप्रतापापवत्सकलशत्रुपताप्रभावेन”<sup>२</sup> इसी भाँति बम्पा-नरेश भववर्मन् स्व उसके प्राता का ज्योतिरक अधोनिहित वर्णन, उनकी “युद्धवीर” की उपाधि से सम्मानित करता है —

तस्यत्रीभववर्मणाः क्षितिपतेश्वरवितत्रयश्लाघिनो

वीर्य्योद्दामसपत्नसंघसमरस्पृष्टोभिमानाच्छ्रुतः ।

प्राता यः पृथिवीश्वरस्समभवद् दृष्टारिपताज्ञयः

तैजोवर्द्धितशसनो रविरिव प्राज्यप्रभावोदयः ॥<sup>३</sup>

बोर्नियो का एक नरपति मूलवर्मन् मरान् दानी के रूप में चित्रित हुआ है । उसने वप्रकेश्वर स्थान में ब्राह्मणों को बीस हजार गायें प्रदान कीं — “द्विजातिभ्यो (ऽ)ग्निकल्पेभ्यः (भ्यो)विंशतिंगो(र्गो) — सप्तसिकम् ॥”<sup>४</sup>

वसन्तसेन (नेपाल) एक विश्रुत दयाशील व्यक्ति था ।<sup>५</sup> वशवर्ती नृपतिर्गो के राज्यों को फिर लौटा देने में मानदेव की भी दया-वीरता की व्यक्त होती है ।<sup>६</sup>

१. मानदेव का चांगुनारायण लेख (नेपाल), सि० १०, भाग १, पृ० ३६६

• श्लोक १६

२. नेपाल के अभिलेख, सं० ५, इ०, सेप्टि०, भाग ६, पृ० १६६, पं० ५-७

३. बां० सं०, पृ० १४६, श्लोक २०

४. कुटेई ग्रुपलेख, इ० जा० (वशवर्ती) भाग २, पृ० १८, लेख संख्या २,

• श्लोक २

५. नेपाल के अभिलेख, संख्या ३, इ० सेप्टि०, भाग ६, पृ० १६७, पं० ३

६. “तानाज्ञा-वश-वर्त्तिनो नरपतिः संस्थाप्य तस्मात्पुनः” — चांगुनारायण

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है कि विदेशी अभिलेखों में धर्म पर आश्रित उत्साह भाव की पुष्ट अभिव्यक्ति हुई, क्योंकि अभिलेखों में विदेशी लैंगमन्दिर निर्माण और मूर्ति स्थापना सम्बन्धी हैं; जैसे काम्बुज नरेश भववर्मा का लिंगस्थापना सम्बन्धी निम्नलिखित श्लोक —

शरासनोभोगगितार्थदानैः  
हरस्थलौकद्वितयेन तेन ।  
त्रैयम्बकं लिंगमिदं नृपेण  
निवेशितं श्रीभववर्म्मानाम्ना ॥<sup>१</sup>

प्रजा का व्यसनरहित पालन करने वाला चम्पानरेश कन्दर्प-धर्मा, साक्षात् द्वितीय धर्म के ही समान था— 'श्रीमान् कन्दर्पधर्मेति साक्षाद्धर्म इवापरः ॥'<sup>२</sup>

भय भाव की जगह सृष्टि काम्बोज देश के ध्रुवपुर नगर के वर्णन में होती है। वह नगर भीषण अण्ड-संकुल था। उसमें उग्र स्वभाव वाले ( जंगली ) मनुष्य निवास करते थे। (यद्यपि यह वर्णन परिणामतः उस नगर के शासक के प्रति कविनिष्ठ रति<sup>भाव</sup> हो बनकर रह जाता है) —

पुनर्ध्रुवपुरं प्राप्य भीषणारण्यसंकटम् ।  
उद्धृप्तपुराणावासं यः पार्ति निरुपद्रव[म्]॥<sup>३</sup>

निर्वेद भाव की फलक जयवर्मा की अग्रमहिषी कुलप्रभावती के विष्णुमूर्तिस्थापना सम्बन्धी एक लेख में प्राप्त होती है। उसने सांसारिक भोगों को अनित्य और बुद्बुद के समान जगामगुर समझ कर विष्णुमंदिर के समीप आराम और तटाक का निर्माण करवाया था—

राजश्रीजयवर्म्माःप्रियतरा स -----  
कृत्वा बन्धुजनंच सांख्यसहितं वि ----- ।  
ज्ञात्वा भोगमनित्य बुद्बुदसमं स -----  
आरामं सतटाकमालययुतं ----- ॥<sup>४</sup>

१. भववर्म्मा का ( PHNOM BANTAY NAN ) लेख, २०क्र०, पृ० ११

२. भट्टेश्वर महादेव लेख (चम्पा), ब्रा० सं०, पृ० १४८, श्लोक ७

३. जयवर्म्मा (प्र०) का तन कन लेख, २०क्र०, पृ० ४६, श्लोक १४

४. कुलप्रभावती का ( NE AK TA DAMBANG DEK ) लेख, २०क्र०,

यदि पद्य खण्डित न होता तो रस अधिक स्पष्ट हो पाता । फिर भी उक्त पद्य में उत्तम प्रकृतिक कुलप्रभावली पर आश्रित सांसारिक भावों की अनित्यता के ज्ञान के आलम्बन की पाकर, गराम तटाकादि निमग्नता की समाजकल्याण-भावना से उद्दीप्त, तटाभंगुर जगत् के प्रति अतृप्ति रोषादि अनुभावों से स्पष्ट, निमग्नानिश्चय अन्य इषा विबोध से पुष्ट स्थायीभाव<sup>निर्बन्ध</sup>यहाँ शान्त रस का जो प्राप्त हो रहा है ।

देवविषयारति भाव से तो विदेहों के पत्थर-पत्थर गीति-मुक्त हैं, जैसे—

यं सव्वदेवास्ससुरेशुत्था  
ध्यायन्ति तत्तत्त्वविदश्च सन्तः ।  
स्वस्थ सुशुद्ध परमो वरेण्य  
ईशाननाथस्स जयत्यजस्रम् ॥<sup>१</sup>

एतद्विषयक अन्यान्य उदाहरणों में बांगुनारायण (नेपाल) लेख का प्रथम श्लोक<sup>२</sup> तथा जिष्णुगुप्त के लेख का मंगलाचरण उल्लेखनीय है ।<sup>३</sup>

### रीतिगुण—

रीति—विदेशी अभिलेखों ने प्रायः वेदभी-मार्गानुसरण ही किया; परिणामतः ये लेख उद्धतपदरचना से बचे रहे । यत्र-तत्र माधुर्यव्यंजक वर्णों से युक्त असमस्त अथवा स्वल्पसमासमयी पदावलियाँ ही परिचित्त होती हैं । भारत के लौकिक संस्कृत साहित्य उत्तरान्तर जटिलता की ओर आसर हो रहा था। उसका प्रभाव कुछ मात्रा में भारतीय अभिलेखों पर भी पड़ रहा था, किन्तु यह जटिलता यत्किंचित् रूप में भारत की भाँगोलिक सीमाओं में ही आबद्ध रही, वह पूर्व की दिशा की ओर जाने वाले किसी

१: विक्रान्तवर्मन् प्रथम का माइसोन लेख, चम्पा, पृ० २६, श्लोक १

२: सि०६०, भाग १, पृ० ३६७

३: नेपाल के अभिलेख, इ०रेण्ट०, भाग ६, पृ० १७४

जलपात में बैठने का साक्ष्य नहीं कर सकी । भारत की स्थल सीमाओं के सम्पर्क को प्राप्त करने वाले नेपाल ने भी अपने में इस जटिलता का आयात नहीं दिया । जहाँ तक गौड़ी और पांचाली का प्रश्न है, उदाहरण तो उनके भी प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु ढाल में नमक के अनुपात से । इन दो रीतियों की यथासम्भव उपलब्धि की पृष्ठभूमि में भी कोई भारतीय प्रभाव नहीं, अपितु वार्ण्यविषय का स्वरूप और पदसंघटनाविशेष से निर्मित होने वाले ह्रन्द ही कारण हैं । स्वस्थ गद्य के लिए अवश्य, शब्दाढ्यंजर और समास की अपेक्षा होती है, किन्तु नेपाल के गद्य में यह बात नहीं ।

वैकभी रीति के एक दो उदाहरण नीचे दृष्टव्य हैं । क्रौमल-वर्ण, समासन्वृत्तता एवं सरल भावाभिव्यक्ति से ऐसे ह्रन्द <sup>पाठको को</sup> सज्ज ही आकृष्ट कर लेते हैं —

भ्रान्ता विद्वरतो यस्य कीर्तिराशमुखेष्वपि ।

इतस्ततः येः सुजनैर्लुक्तातेति वण्यते ॥<sup>१</sup>

यह सारत्न्य और समास न्यूनता, अनुष्टुप् ह्रन्द के लघु कलेवर के कारण नहीं, स्रग्धरा जैसे बड़े ह्रन्दों में भी इन गुणों का पर्याप्त निर्वहण हुआ है; उदाहरणार्थ जज्ञा के पूणविर्मन् का यह लेख—

श्रीमन्दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो यःपुरा[ता]रुमाया[ः]  
नाम्ना श्री-पूणविर्मन् प्रचुररिपु-शराभेषविख्यातवर्मन्[ः]  
तस्यैवम्पादविम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदत्ताम्  
भक्तानां यन्नृपानाम्भवति सुतकर[ः] शत्यभूतं रिपूणाम् [ः]<sup>२</sup>

ओजोगुणाभिव्यंजकवर्णसम्पन्न, समासप्रचुर तथा उद्भट रचना ( गौड़ी ) का उदाहरणभूत विक्रान्तवर्मन् (जम्पा) के माइसौन लेख का यह गद्यांश है :—

“ गगनतलगमनकर्कश-कवर्क-वरपत्रेण दुरवगमपरमार्थभवेन वाहु<sup>०</sup> ~~व~~  
मानसगोचरातीतरूपेणाप्यवनि-वन-पवनसख-पवनवनदपथ-दश-शतकिरादी दित  
तनुभिरतनुप्रभावाभिः शर्वभव-पशुपतीशानभी मरुद्रमहादेवाँग्राभिधान--प्रधान-  
समुपबृह<sup>०</sup> ष्टाभिराविर्भार्वितविश्वमुर्तिना -- ”<sup>३</sup> इत्यादि

पांचाली रीत्यनुसारी प्रसन्न वर्णों की रचना में दीर्घ-समासों को स्थान नहीं दिया जाता । माधुर्य एवं ओजोगुणाभिव्यंजक वर्णों

से उतर वहाँ उसके जीवन-तत्त्व हैं, उदाहरणार्थ अधोलिखित-पद्य-

शक्तिद्वन्द्वनाम्ना द्विजपुंगवेन  
आयर्थिपत्न्या त्वमनायि यापि ।  
भविष्यतोर्गय निमित्तभावे  
विधेरविविक्तं सत्तु चेष्टितं हि ॥<sup>१</sup>

गुण-रस तत्त्व के उत्कर्ष-हेतु गुणों (माधुर्य, श्रोज, प्रसाद) के उदाहरण भी तीन रीतियों (देवर्षी, गाँधी, पांचाली) में ही क्रमशः दृष्टव्य हैं, क्योंकि रीतियों की गुणाभिव्यञ्जकता काव्यशास्त्र सिद्ध है। फिर भी गुणों के सानुपातिक-निदर्शन के उद्देश्य से यहाँ तीन गुणों के तीन उदाहरण मात्र पर्याप्त होंगे —

माधुर्य—

किम्पार्गमम किं हि जीवितसुखेस्त्वद्विप्रयोगे सति  
प्राणान्पूर्वमप्यज्जामि परतस्त्वं यास्यसीतो विवम् []  
इत्येवमुत्पन्नं कजान्तरगतेर्नैत्राम्बुमिश्रैर्द्वंद्वं  
वाक्माशैर्विहगिव पाशवशगा बद्धा ततस्तस्थुषी []<sup>२</sup>

श्रोजोगुण—

भैरवतर्तनविभ्रमचलितभुजसहस्रवर्द्धमानो यः ।  
श्रीवर्द्धमानदेवो माहितनरणाः सुरैर्नोऽव्यात् ॥<sup>३</sup>

प्रसाद—

निराधारमिदं माभूद् दग्धे कुसुमधन्वनि ।  
इति विश्वसृजा नूनं वपुर्गत्र निवेशितम् ॥<sup>४</sup>

१. भट्टेश्वरमहादेव लेख (चम्पा), बौ० सं०, पृ० १४६

२. बांगुनारायण लेख, (नेपाल) सि० इ०, भाग १, पृ० ३६८, श्लोक १०

३. नृपादित्य का (NUI BA-THE) लेख, २० का०, पृ० २७, श्लोक २

४. ईशान्वर्मन् का (SAMBOR PREI KUK) लेख, २० का०, पृ० २२, श्लोक ६

माधुर्यगुण सम्भोग एवं विप्रलम्भ शृंगारों तथा कलुषा रस में उत्तरोत्तर नम्रता जगता है। उक्त माधुर्य का उद्भवा, लीला होने के लिए उक्त मा के प्रति इसे गर मानदेव (नेपाल) के शब्दों का हृन्दोद्भव रूप है। प्रसंग प्रियनिधन<sup>जन्य</sup> शोक का है। टवर्ग एवं संयुक्त रेफ यद्यपि इस गुण से समन्वित कृति के लिए अर्जित हैं, किन्तु यहाँ उनका प्रयोग माधुर्य की समृद्धि पर विशेषाञ्ज नहीं लाता। शोकोनगा का उद्भवा विवताऽऽवृत्त्यपरक है; क्योंकि वीर और रौद्ररस के लिए इस गुण का प्रयोग काव्यशास्त्र - समर्थित है। इसमें भी देव (वर्धमान = यज्ञं शिव) - विषयार्तिभाव पर आधारित रौद्ररस की ही प्रतिष्ठा हो रही है। प्रसाद गुण एक सर्वरस साधारण गुण है। इससे समन्वित रचना की अर्थ प्रतीति अवगता मात्र से हो जाती है। उक्त उद्भवा में भी अर्थ, नवनीत सदृश ऊपर की तैरता हुआ प्राप्त हो जाता है। इस गुण में अर्थ की, आध समुद्र के मोलियों जैसी प्रयत्नसम्भव प्राप्ति नहीं होती। मोलियां अपने आप ही समुद्र के किनारे चमकती हुई, गुण-ग्राहक का स्वागत करने तत्पर रहती हैं। उनकी मोलियों की चमक से भारतेतर देशों के अधिकांश अभिलेख आलोकित हैं।

### श्लंकार—

विदेशी संस्कृत अभिलेखों में श्लंकारों का अभाव नहीं, किन्तु उनकी श्लंकार योजना उस स्तर की नहीं, जो भारतीय अभिलेखों में प्राप्त होती है। वैसे भारत के अभिलेखीय कवियों की भाँति ही विदेशी अभिलेखों के रचयिता भी अथालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों के प्रति विशेषा प्रवृत्त प्रतीत होते हैं।

### शब्दालंकार—

अनुप्रासों के श्रुत्यनुप्रास प्रकार में अनुप्रास क, व; श, ष, स; न, ण तथा ज, य में भेद नहीं समझा जाता, वैसे—

श्रीमती राजसिंहस्य जयिनो जयवर्मणाः । १

---

१. जयवर्मन् (प्र०) का कैदेई अंग लेख (काम्बुज), इ०का०, (मजूमदार), पृ० ४०, श्लोक २६



शब्दा -

— "या नानुशावारमुवास SS" १

— "मनोरथो विश्वसृजो व सर्गः" २

हेकानुप्रस के श्वां लिखित उदाहरण में द, ध, एवं र, <sup>की</sup> एक बार की आवृत्ति दर्शनीय है :—

— "पदन्दधानो गिरिकस्य भूधरः ।" ३

इसी भाँति निम्नलिखित उदाहरण में श, भ, प के प्रयोग—

— "शेते शेषभुजंगभोगरचनापयु<sup>ङ्ग</sup>पृष्ठाश्रितः ।" ४

वृत्त्यनुप्रस के कुछ उदाहरण नीचे दृष्टव्य हैं :—

— यमजनयत् प्रियतमं नय इव सुधियां सुखप्रसवम् ॥ ५

— प्रीत्ये प्रेषितः प्रेम्णा सम्पाधिपनराधिपम् ॥ ६

— विस्थातो ज्ञानवन्द्राख्यो गुणज्ञो गुणानां गुणो ॥ ७

— "वाक्पार्श्विर्विष्णीव पारमणा -

ब्रह्मा ततस्तत्पुत्री ॥" ८

- 
१. प्रकाशधर्म का भद्रेश्वरमहादेव वाला लेख (चम्पा) बी०सं०(राहुल)पृ० १४६, श्लोक १७
२. वही, पृ० १४८, श्लोक ६
३. बयंग ( BAYANG ) मंदिर लेख (काम्बुज), इ०क्र०, पृ० ६, श्लोक ३
४. रानी कुलप्रभावती का लेख (NEAK TA DAMBANG DEK INS.) (काम्बुज), पृ० १, श्लोक १
५. प्रकाशधर्म का भद्रेश्वरमहादेव लेख (चम्पा), बी०सं०, पृ० १४६, श्लोक २
६. जयवर्मन् (पृ०) का लेख ( KEDEI ANG TEMPLE ) इ०क्र०, पृ० ३६, श्लोक ८
७. जयवर्मन्(प्रथम)का लेख (TUOL KOK PRAH) इ०क्र०, पृ० ३६, श्लोक ३
८. बांगुनारायण स्तम्भ लेख(नेपाल) सि०इ०, भाग १, पृ० ३६८, श्लोक १०

अन्त्यानुपास के प्रयोग में भी विदेशी अभिलेखों के रचयिता विशेष सजग रहे —

प्राता यः पृथिवीं वरसमभवद् दृष्टारिपुत्रतयः  
तेजोवर्द्धितशसनो रत्रिरिव प्राज्यप्रभावोदयः ॥<sup>१</sup>

×                      ×                      ×

अथापि यो (S)लंकृततां प्रजानां  
आयात्यनिन्यप्रसवेर् [गुणानाम्]<sup>२</sup>

अथवा —

श्रीमारराजकुलव[श-विभूषणो] न  
श्रीमारलो[क-नृपतेः] कुलनन्दनेन ।<sup>३</sup>

शब्दालंकारों में 'यमक' ने भी इन अभिलेखों में नियत स्थान पाया । शब्दों या पदों की आवृत्तिजन्य स्वरसंगति को कौन कठारभूषण न बनाना चाहेगा । फिर भी भारतीय अभिलेखों की भाँति इन विदेशी अभिलेखों में यमक का वैविध्य नहीं । कुछ उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं :—

— नाम्ना श्रीपुणविम्मा प्रचुररिपु-शरामेधविख्यातवम्मा ।<sup>४</sup>

— त्रिविक्रमपराक्रमः<sup>५</sup>, "पायादपायात् स वः",<sup>६</sup>

"स्यन्दनान् स्यन्दमानान्"<sup>७</sup> "पुरा त्रपुराणां पुराणां"<sup>८</sup>

अथवा —

"तस्मिन्महीभृति महीमरिशसिनि शासति ।

पितृपैतामहीम्"—इत्यादि --<sup>९</sup>

१. प्रकाशधर्म का भद्रेश्वर महादेव लेख, (चम्पा), बी० सं० पृ० १४६, श्लोक २०

२. प्रकाशधर्म का भद्रेश्वर महादेव लेख, (चम्पा), बी० सं०, पृ० १४६, श्लोक १६

३. वी० चन्ह बट्टान लेख (चम्पा), बी० सं०, पृ० १४६, श्लोक ४

४. जम्बू पाषाण लेख (जावा), ई० जा० (चक्रवर्ती) भाग २, पृ० २५, श्लोक १

५. जयवर्मन् (प्र०) का कैदेई आ मन्दिर लेख, ई० का०, पृ० ३६, श्लोक २

६. विक्रान्तवर्मन् का (MY-SON STELAE) लेख, चम्पा (मजूमदार) पृ० ३२, श्लोक २

७. वही, पृ० ३२, श्लोक ३

८. वही, पृ० ३२, श्लोक ४

९. अंकोर बोरेई शिलालेख (काम्बुज) ई० का० (पुरक), पृ० ५६१, श्लोक ७

श्लेष-चम्पानरेश प्रकाशधर्म की प्रशंसा में लिखी गई अधो-लिखित पंक्तियों में 'शक्ति' एवं 'दण्डभेद' शब्दों में श्लेषानिवन्धन आकृष्ट करता है। अन्यान्य नृपतियों की शक्ति, दण्ड तथा भेद या भय देती हुई भी रिपुओं को नष्ट नहीं कर पाती अथवा अन्य राजाओं का दण्ड संलग्न भला (शक्ति) टूट जाने के भय की सीमा तक (भेद भय) लगाए जाने पर भी शत्रुओं को नष्ट नहीं कर पाता। किन्तु प्रकाशधर्म के साथ ऐसी बात नहीं, कार्तिकेय के समान वह पिना दण्ड-भेद के अथवा भाले में बिना दण्ड लगाए ही और उसे टूटने की सीमा तक न जीवने पर भी, शत्रुओं को नष्ट कर देता है :-

शक्तिः परस्य न रिपुं क्षापयति गमितापि दण्डभेदभयेन ।

(य)स्य त्वदण्डभेदा सकलमारिमभीर्भिन्नन्ति शक्तिभूत इव ॥<sup>१</sup>

उपर्युक्त पद्य में श्लेषा शब्दालंकार की परिधि लाँघ कर अर्थ-श्लेष की सीमा का स्पर्श करता हुआ प्रतीत हो रहा है।

स्त्रीशृङ्गार भववर्मन् के काम्बुज लेख के निम्नलिखित श्लोक में 'कला' शब्द का प्रयोग :-

अवाप्य षोडशकलाशशशंको याति पूर्णताम् ।

अस्या अपि यो लब्ध्वा न पर्यस्तः कदाचनः ॥<sup>२</sup>

अर्थालंकार— अलंकारों की सर्वसमर्थिता स्वामिनी उपमा का स्वागत किस देश में नहीं हुआ। जहाँ भारतीय साहित्य, इस अलंकार से पर्याप्त विभूषित है, वहाँ ये विदेशी कवि भी, इसकी स्वागत-सज्जा के लिए विविध प्रकार के तोरणों का निर्माण करना न भूले; उदाहरणार्थ यह श्रोती पूर्णपिमा—

साक्षात्काम इवांगवान्नरपतिः कान्ताविलासोत्सवः [१]<sup>३</sup>

१. प्रकाशधर्म का लेख (TRA = KIEU INSCRIPTION) चम्पा, पृ० १४,

श्लोक १

२. प्रा०भा०अ० (उपाध्याय), पृ० २३१, श्लोक १५

३. बांगुनारायण स्तम्भलेख (नेपाल), सि०इ०, भाग १, पृ० ३६६, श्लोक १३

यहाँ नरपति उपमेय, अंगवान् नाम उपान, इव वाचा-पद एवं कान्ता-  
विलासोत्सव धर्म-स्पष्ट हैं। इसी प्रकार—

आख्याजित इवानवग्रविरतः श्रीमानदेशी नृपः

कान्त्या शारदचन्द्रमा इव जगत्प्रज्ञादयन्सर्वदा ॥<sup>१</sup>

अथवा—

श्रीपतेः श्रीनरेन्द्रस्य कुण्डुंगस्य महात्मनः [1]

पुत्रोऽश्वर्म्मो(वर्मा)विख्यात(ी)वंशकर्ता यथाङ्गुमान्[1]<sup>२</sup>

सुप्तोपमाओं में इन्दुधवलं जीराण्णविं,<sup>३</sup> जैसे उदाहरण  
सुप्राप्य हैं।

मालोपमा के लिए काम्बुज नरेश जयवर्मन् की पत्नी रानी  
कुलप्रभावती की प्रशंसा में लिखा गया निम्नलिखित श्लोकांश उद्धृत किया जा  
सकता है :—

एकस्यैव श्वी नृपस्य दयिता

रवाहे(व) सप्ता(चिञ्चः)

रुद्राणीव हरस्य लोकविदिता

सा भीरिव श्रीपतेः ।<sup>४</sup>

उत्प्रेक्षा—सम्भावना व्यक्त करना भी सामान्य भाषाएँ  
का एक अंग हैं, इसलिए उत्प्रेक्षा के प्रयोग के लिए यहाँ आवश्यक नहीं कि  
उसकी परिभाषा का ज्ञान हो। इसलिए यहाँ नहीं कहा जा सकता कि  
रामायण-महाभारत या अन्योन्य भारतीय काव्य साहित्य के निर्यात के  
परिणामस्वरूप ही काम्बुज आदि देशों के लेखों में उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया  
गया। इस अंशकार के दो उदाहरण ही सम्प्रति पर्याप्त होंगे —

१. मानदेव का बांगुनारायण स्तम्भलेख(नेपाल), सि०ई०, भाग १, पृ० ३६७  
— ३६८, श्लोक ७

२. मूलवर्मन् का कुटेई ग्रुपलेख (बोर्नियो), ई०जा० (बुधुवी) भाग २, पृ० १८,  
श्लोक १

३. विक्रान्तवर्मन् का माइसोन लेख, बम्पा०, पृ० ३२, श्लोक २,

४. कुलप्रभावती का (NEAKTA DAMBANGDEK) लेख, २०का०  
पृ० २, श्लोक ४

संख्यातीततया यच्च कृतुनाममराधिपः ।

शतकृतुकृतुनाम मन्ये न बहुमन्यते ॥<sup>१</sup>

संख्यातीतकृतुयाजी ईशानवर्मन् को देवदत्त इलकृतु(इन्द्र) का अपने नाम के प्रति मन्दावर होने की विगत सम्भावना, हेतुत्प्रेक्षा की सृष्टि सज्ज ही कर बैठी है ।

इसी प्रकार 'श्रीहरि-पुष्करिणी' (काम्बुज) में लालारारागोपमेय कमलों के रक्तत्व के नष्ट हो जाने पर कवि ने सम्भावना व्यक्त की है कि उक्त पद्मों का वर्ण-परिवर्तनजन्य शुक्लत्व अथवा नूतन शुभल पद्म, मानों पुष्करिणीनिर्माता धार्मिक के धर्म में निश्चित मन की सूचना देते हों । इस वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा की सृष्टि कवि की उर्वर प्रतिभा का प्रमाण है —

लालारारागोपमेयन्निखिलपुरजनेत्लर्नितं पञ्जानां

रक्तत्वं यद्दलाग्रेष्वनुदिनमुदितं श्रीशरेःपुष्करिण्याम् ।

तन्निःशेषं विनष्टं भवति त्वत् पुनरसंस्कृतायां त्वयास्यां

धर्मे तेऽत्यन्तशुक्ला निहितमिह मनस्सूयन्तीव पद्माः ॥<sup>२</sup>

रूपक — रूपक का जटिल प्रकार प्राप्त नहीं होता । सभी उप-  
रूप रूपकालंकार के उदाहरण सरल और श्रुतिमत् हैं । श्लिष्ट 'कला' शब्द  
से पुष्ट कमला (शुद्ध) रूपक, काम्बुज के केदेई अंगमन्दिर लेख में कितना सुन्दर  
और सरल है —

राजा श्रीजयवर्ध्मेति योऽत्यशैतान्यभूभुजः ।

सौमवंशमलव्योमसोमस्सर्वकलान्वितः ॥<sup>३</sup>

इसी प्रकार जब कवि को चम्पा नरेश प्रकाशधर्मा के लिए  
'निर्मलमयूखपर्याप्तमण्डलज्ञापनायः' कहना अभिमत था, तो उसके वंश पर  
तीर पयोनिधि का आरोप उसने उचित ही किया ।<sup>४</sup>

---

१. ईशानवर्मन् का ( SAMBOR PREI KUK ) लेख (काम्बुज)

इ०का०, पृ० २२, श्लोक ५

२. केदेई अंग मन्दिर लेख, इ०का०, पृ० ३३, श्लोक ५

३. इ०का०, पृ० ३३, 'ब', श्लोक ७

४. भद्रेश्वर महादेव लेख (चम्पा), बौ० सं०, पृ० १४६

‘चम्पा काम्बोज आदि देशों के अभिलेख-कवि जटिल रूपकों के प्रयोग से दूर रहे’ — इस कथन के समर्थन में विक्रान्तवर्मन् (चम्पा) के लेख का ‘त्रिपुरदाह सम्बन्धी’ एक पद्य उद्धृत करने योग्य है —

सावित्रीज्यासनाथप्रणावदृढधनुर्मुक्तबाणारिघाणं  
कृत्वा सोमोरुपुंखं स्फुरदनलमुत्रं सारथीडाविरिंचम् ।  
अष्टाद्विंशधुर्यं सकलसुरमयस्यन्दनं विष्टमानां  
शान्त्यर्थं येन दाहो युगपदपि पुरा त्रैपुराणां पुराणां(णाम्)१

भुवन कल्याणार्थं शिव ने एक साथ त्रिपुरों का दाह किया । इस अभियान की तैयारी में उन्होंने प्रणावरूपी धनुष पर सावित्री रूपी ज्या बढ़ाई और उस पर विष्णुरूपी बाण रखा । स्फुरत् अग्निमुत्र इस बाण पर सोम ने उरुपुंख का कार्य किया । फिर देवसमुदाय रूपी रथ पर चारों वेदों के घोड़े जोते गए और बालक बनीं — इडा तथा विरिंचा । यदि उक्त प्रकार से पद्य में शब्दनिबन्धन किया जाता, तो समस्तवस्तुविषय सांग्रूपक उपस्थित हो जाता । किन्तु कवि ने आरोप विषय और आरोप्य-पाठा विषयों के बीच ‘कृत्वा’ पद रख कर सारे रूपक का धरातल ही ढग-मगा दिया ।

अतिशयोक्ति—भारतवर्ष १० में राजाओं के गुणगान करने वाले अभिलेखों में अतिशयोक्ति स्वरूप का विशेष आश्रय लिया गया । विदेशी अभिलेखों में भी यही बात है । भारतीय अभिलेखों की भाँति इनमें भी अतिशयोक्ति के उत्तरकालीन जटिल रूप नहीं । का. भा.मह और दण्डी की अजटिल परिभाषा के निरूपण पर ही इनकी परीक्षा उचित है । अतः अधोलिखित उदाहरणों में अतिशयोक्ति ही मानी जायेगी —

भववर्मन् का प्रताप—

अतिशेणायतो यस्य प्रतापश्शरदागमे ।  
रवेरप्यधिकस्सह्यो न हि सावरणैरपि ॥<sup>२</sup>

१. विक्रान्तवर्मन् का ( MY-SON STELAE ) लेख, चम्पा, पृ० ३२, श्लोक ४

२. हान वेई मन्दिर लेख (काम्बुज)इ०का०, पृ० १७, श्लोक ४

भववर्माने यह छद्मप्रवाद की सुप्त कर दिया कि अनेक गुणों का एक व्यक्ति ही ग्रन्थ नहीं हो सकता —

न गुणानामपेक्षारतां कश्चिद्वैकसमाधयः ।

इति छद्मप्रवादोऽयं गुणानां येन लुप्यते ॥<sup>१</sup>

अर्थान्तरन्यास—

विवृद्धिर्मेति त्रितयं यमेत्य

पद्मा च कातिश्च सरस्वती च ।

प्रायेण सत्स्थानमभिप्रपन्नं

सुजीजमानन्त्यफलाय कल्पम् ॥<sup>२</sup>

जिस नृपति को पाकर पद्मा, कान्ति और सरस्वती वृद्धि प्राप्त करती हैं — इस कथन के समर्थन हेतु छन्द के उगारार्द्ध में एक विशेष अर्थ का न्यास किया गया है — (ठीक ही है) उचित स्थान को पाकर सुजीज, (अपने वृज्ज के भविष्य में) अत्यन्त फल प्रदान करने के लिए होता है ।”

परिसंख्यालंकार— इस अलंकार का प्रश्नपूर्विकावाच्यव्यवहार—  
जैसे प्रकार इस श्लोक में देखा जा सकता है —

रागन्दधति भूपानांबुहारत्नमरीचयः ।

यस्य पादनक्षेत्रं व मनागसि न चेतसि ॥<sup>३</sup>

अधो नस्थ राजार्यों के बूहारत्नों की किरणों जिसके पादनक्षेत्र को सराग करती थीं, चित्त को नहीं । — यह प्रशंसा काम्बुज नरेश भववर्मन् के पुत्र की है ।

१. हानचेई मन्दिर लेख (काम्बुज), ३० का०, पृ० १८, श्लोक ११

२. प्रकाशधर्म का भद्रेश्वर महादेव लेख (चम्पा), का० सं०, पृ० १५०  
श्लोक ६

३. भववर्मन् का ( HAN CHEI ) मन्दिर लेख, ( काम्बुज ), प्रा०  
भा० ३० (उपाध्याय), पृ० २३१, श्लोक १८



विशेषोक्ति—इस अंशकार के लिए काम्बुज नरेश जयवर्मन् (५०) के एक सम्बन्ध ५०६ वाले लेख का विस्तृति सम्बन्धी प्रथम श्लोक लिया जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि अर्द्धभाग में उपा देने पर भी लोकमन्मथ मन्मथ शिव का मन चंचल नहीं कर पाया ।<sup>१</sup>

विरोधांशकार—इसकी योजना में विदेशी अभिलेखीय जवियों ने विशेष कुशलता दिखाई, उदाहरणस्वरूप—

- सुप्रकाशितशौर्यस्य संग्रामत्यागयोरपि ।  
भीरुत्वं यस्य विख्यातमश्रीर्विर्विजिनादपि ॥<sup>२</sup>
- जयतीन्दुलामालि(र)नैऋणविस्तरः ।  
स आदिरपि भूतानामनादिनिधनश्शिवः ॥<sup>३</sup>
- दिशतु विधुरहेतुस्सर्वलोकैकहेतुः -----<sup>४</sup>

सहोक्ति— विरोध की भाँति सहोक्ति के भी कुछ अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं । काम्बुज नरेश ने शत्रुओं के भटसंकुल परिव्राजल और उनके बन्धुस्नेहसिक्त मन को एक साथ सुझा दिया —

भटैरावेष्टित( )यस्य रिपूणां परिखाजलम् ।  
अप्युत्त सह चेतोभिर्बन्धुस्नेहाप्लुतैरपि ॥<sup>५</sup>

१. जयत्युमार्दकायोपि योगिनां प्रभवो ..... ।

पराबभूव यं प्राप्य मन्मथो लोकमन्मथः ॥

—जयवर्मन्(५०) का ( TUOL KOK PRAH ) लेख, २०का०, पृ० ३६, श्लोक १

२. भववर्मन् अथवा उसके पुत्र का काम्बोज लेख, प्रा०भा०अ०(उपाध्याय), पृ० २३१, श्लोक २८

३. ईशानवर्मन् का ( VAT CHAKRET ) लेख, २०का०, पृ० ३०, श्लोक १

४. विक्रान्तवर्मन् का (MY-SON STELAE) लेख, चम्पा, पृ० ३३, श्लोक ६

५. भववर्मन् का ( HAN CHEI ) मन्दिरलेख, २०का०पृ० १८, श्लोक ६

अथा, जयवर्मन् (प्र०) की यह प्रशंसा—

‘ उस कन्दर्पवपु ने अपने पराक्रम से शत्रुनोलिम्पिणियों के साथ समुद्रवसना पृथ्वी को भी अपने नीचे (अधीन) कर दिया—

येनकन्दर्पवपुश्चा समुद्रवसना मही ।

सत्कारिमुर्धमाणिभिः विक्रमरधरीकृता ॥<sup>१</sup>

प्रान्तिमान्— चम्पानरेश प्रकाशधर्म की दशरथ पुत्र राम सम्पन्न कर विधि पुरोगा लक्ष्मी ने उसका आश्रय लिया— यह कार्य उसने प्रभवश किया । अतः ऐसे स्थल पर प्रान्तिमान् अलंकार मानना ही युक्तियुक्त है—

दशरथनृपजो (S) यं राम इत्याश्रया यं

श्रयति विधि पुरोगा श्रीरको युक्तिरूपम् ॥<sup>२</sup>

अर्थापत्ति— इस अलंकार में ‘दण्डापूर्पिका’ न्याय से अन्य अर्थ की निष्पत्ति होती है ।<sup>३</sup> काम्बुज नरेश भववर्मन् ने जब भीतर उत्पन्न हुए दुर्गाह्य एवं अमूर्त होने से आचर ( अतः अपेक्षाकृत बड़े) षड्रिपुओं को जीत लिया, तो बाहरी शत्रुओं के विषय में स्वयं सम्पन्न जा सकता है—

अन्तस्समुत्था दुर्गाह्या मूर्त्यभावादतीन्द्रियाः ।

यदा षडरयो येन जिता जाह्वेषु का कथा ॥<sup>४</sup>

शब्दार्थालंकारसंकर— अलंकारसंकर में अनेक अलंकार परस्पर आ और आंगी रूप से वर्तमान रहते हैं, जैसे काम्बुजनरेश भववर्मन् की प्रशंसा वाले इस श्लोक में शब्दार्थालंकारसंकर की कृता —

सौमान्वयनभस्सोमो यः कलाकान्तिसम्पदा ।

रिपुनारीमुक्ताब्जेषु कृतवाष्पपरिप्लवः ॥<sup>५</sup>

१. जयवर्मन्(प्र०) का ( PRAH KUHHA LUON ) लेख, इ०का०, (पूरक)

पृ० ५६२, श्लोक २

२. भद्रेश्वरमहादेवलेख (चम्पा) बा०सं०, पृ० १४६, श्लोक २५.

३. सा०द०, १०।६३

४. इ०सं० का०(वार्थ) , पृ० १३

५. हन चेई ( HAN CHEI ) मन्दिर लेख, इ०का०, पृ० १७, श्लोक ३,

यहाँ 'सोमान्वयनमस्सोम' में रूपक है, रूपक के आधार 'शला' में श्लेष है। जब राजा कलासमन्वित जगदाह्लादक सोम बन गया, तो उसका एक व्यापार यह भी है कि वह तुषारपात करता है, जो कमलों के लिए घातक है। इस कल्पना से कवि ने शत्रुनारियों के मुँहों पर कमलों का आरोप किया (रूपक)। पतियों के युद्धों में मारे जाने के कारण उनकी आँखों का सजल होना स्वाभाविक है। यहाँ शत्रुनारियों के इस कलुषादशाचित्रण से वर्ण्यमान नृपति के शौर्य की व्यंजना मिलने से समस्त लोक में पर्यायीत अस्कारः स्पष्ट है।

### दोषनिरूपण—

रंग और सुगन्ध प्रचुर पूर्णविकसित गुलाब, सारे उपवन की श्री-सम्पन्न कर देता है। वह सौन्दर्य का व्यक्तरूप है और परिणामतः आकर्षण का केन्द्र। सौन्दर्यप्रेमी इस गुलाब को अपने दृष्टिपथ का आतिथ्य प्रदान करते हैं, इसके नेपथ्य में रहने वाले काँटों से परिचित होने पर भी उन्हें भुलाने का प्रयत्न करते हैं। यही वृत्ति मूल्यांकन के प्रसंग में दोषों के साथ करना, न्यायसंगत है। जहाँ गुण होते हैं वहाँ दोष भी न्यूनाधिक मात्रा में रहते ही हैं। पूर्ण-निर्दोष, वैसे भी, कोई वस्तु नहीं।

विदेशों में बोये गए भारतीय काव्यबीजों के लिए संस्कृति ने उर्वरक का कार्य किया। बीजों में अंकुर आए। ये अंकुर, सघनच्छाय वृक्षों के शिशुरूप थे। वैभवसम्पन्न वसन्त आया और सदियों तक भारतीय काव्य-प्रसून द्वीपान्तर भारत की दिशाओं में सुगन्ध भरने लगे। ये काव्य-प्रसून संस्कृति-प्रसार के प्रमाण हैं; इन्होंने विदेशों में भारतीयता फैलाई। इनकी सुरभि के प्रति भारत कृतज्ञ है। काँटें, वैसे <sup>उन</sup> सुमनों में भी देखे जा सकते हैं। इन काव्योद्यानों के पालियों को काँटों का ज्ञान बिलकुल न रहा हो, ऐसी बात नहीं। काम्बुज के भववर्मन् के एक लेख में पुनरुक्त शब्द अपने प्रकृत अर्थ में प्रयुक्त हैं।<sup>१</sup> इसी 'पुनरुक्ति' का व्यावहारिक रूप चम्पा के एक लेख से प्रस्तुत है—

१. ----- 'ज्वलता यस्य तेजसा । पुनरुक्त इवारोप प्रकारे जातवेदसः ॥

— (HAN CHEI TEMPLE) लेख, ३० सं० का०, (वार्थ),

श्रीमारराजकुल्व[ श-विभूषणो]न

श्रीमारलो[क नृपतेः]हृत्तनन्दनेन ।<sup>१</sup>

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'कुल' के पश्चात् वंश का प्रयोग उचित नहीं । वैसे भी, द्वितीय पंक्ति में प्रथम पंक्ति के भाव को दुहराए गए हैं ।

'ख' शब्द का अधिकप्रयोग कानों के लिए उद्बेजकर प्रतीत होता है, इसलिए 'जावा' में द्रुगु-शिलालेख के प्रथम श्लोक के तृतीय पाद—'(जा)ता रव्यातां पद्म-~~स्व~~क-परम्परा-क पुरीं प्राप्य—<sup>२</sup> में द्रुतिकृदुत्व दोष स्पष्ट है । पद्म शब्द परम्परा के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है, भले ही (जा) पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं मनीष्यलम्, अमरकोश (१- १०- ३६) आदि)कोशग्रंथों द्वारा उसके पुंलिङ्गत्व को भी मान्यता दी गई हो । इस-लिए काम्पुज के 'केदेई अंग' मन्दिर लेख में पुंलिङ्ग में प्रयुक्त पद्म<sup>३</sup> शब्द में अप्रयुक्त<sup>ल</sup>दोष है । । ह्रन्दाँ में पादपूर्ति मात्र के लिए कोई अक्षर रचना निरर्थक दोष का स्वागतकरना है । अधोलिखित श्लोक के प्रथमार्ध के अन्तिम अक्षर 'ह' में उक्त 'पद-दोष' है —

अग्नि[सा]त्कृतमात्मानं ह्लादिन्द्यां यश्चकार ह ।

निरपेतास्त्वकाये(ऽ)पि यियासुर्हृताः पदम् ॥<sup>४</sup>

न्यूनपदतादोष के लिए यह श्लोक लिया जा सकता है —

अतिषोणायतो यस्य प्रतापश्शरदागमे ।

रवेरप्यधिकरस्यो न हि सावरणोरपि ॥<sup>५</sup>

---

१. वो बन्ह शिलालेख (चम्पा ) बॉ० सं०, (राहुल ), पृ० १४६

२. पूर्णविर्मन् का लेख, जावा, ई०जा०भाग २, पृ० २६ (चक्रवर्ती)

३. 'धर्मे ते त्यन्तशुक्ता निहितमिह मनस्सुचयन्तीव पद्माः' — इ० का०, (मज्झिमदार) संख्या २६'ब' पृ० ३३ श्लोक ५

४. जयवर्मन् (प्र०) का ( TAN KRAN ) लेख, इ० का०, पृ० ४५, श्लोक १०

५. हन केई मन्दिर लेख, इ० का० (मज्झिमदार) , पृ० १७, श्लोक ४

यहाँ 'सावर्णाः' विशेषणपद है। तनुभिः 'अदि विशेषपद के अभाव में यहाँ न्यूनपदतादोष है। 'दुष्कृतत्वं चम्पानरेण शम्भुवर्मन्' <sup>लेख श्री</sup> शिव प्रसाद सम्बन्धी 'स्थित्युत्पत्ति प्रत्ययविशिनश्चरितः' — ११ पंक्ति में देखा जाता है। यहाँ 'शम्भु' का अनाचित्य है। 'उत्पत्ति' के पश्चात् 'स्थिति' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। बिना उत्पत्ति के स्थिति कैसी? और स्थिति के पश्चात् उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं। अन्त में विद्याविरुद्धत्वदोष के लिए निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

जयतीन्दुरविव्योमवाय्वात्मन्माजलानिलः ।

तनोति तनुमिश्रम्भुवर्म्याष्टाभिरजिलम्बगत् ॥<sup>२</sup>

भविष्य पुराण<sup>३</sup> के अनुसार शिव के आठ रूप हैं; जित, जल, अग्नि, वायु, आकाश, यजमान (होत्री), चन्द्र और सूर्य। अभिलान शाकुन्तल (१।१) में भी ये ही आठ रूप गिनाए गए हैं। उक्त उद्धरण में कवि, द्वारा कृत्विक् (यजमान या होत्री) के स्थान पर 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग विद्याविरुद्ध है।

प्रकृति और वस्तुवर्णन—

विदेशों के अभिलेखीय कवियों को नैसर्गिक सुषमा ने कम ही आकृष्ट किया। स्पष्टतः वहाँ के अभिलेखों का, साहित्य की अपेक्षा सांस्कृतिक महत्त्व अधिक है। भारतीय अभिलेखीय कवि मन्दिर स्थापना सम्बन्धी लेखों में जब तिथि अथवा समय के वर्णन की ओर प्रवृत्त होते थे, तब वे, प्रायः ऋतु के विशद एवं मनोमोहक चित्रण का अवसर नहीं नुकते थे। किन्तु विदेशों के अभिलेखीय कवियों के लिए, जहाँ वन-पर्वत, सर, सरिताएं, रवि-चन्द्र, तारक आदि आकर्षण के केन्द्र न बन सकें, वहाँ प्रकृति के परिवर्तनशील ऋतु परिधान भी वर्ण्यविषय न बन पाए। वे प्रायः प्रकृति चित्रण के

१. शम्भुवर्मन् का ( MYSON STELAE ) लेख, चम्पा, पृ० १०, पंक्ति ५

२. भववर्मन् का ( PHNOM PRAH VIHAR ) लेख, (काम्बुज), ६०का० (कोह्स), पृ० ४, श्लोक १

३. अभि० शा० (परि०) टिप्पणी पर उद्धृत, पृ० १—२,

अक्षरों को ब्रूते रहे और परिणामतः उनके स्तुतिगण का स्थान, इन्दी-  
वद नीरस काल-निरपण लेता रहा—

शरन्वशराङ्किताब्दे वृषोन्द्रजग्ने पुनर्वसुयुतेन्दो ।

चैत्रसितपञ्चानवमे स्थापितमवैश्वरं लिंगम् ॥<sup>१</sup>

स्वर्ण के अतिरिक्त चन्द्र-सूर्य-तारक आदि के प्रति भी ये कवि उदासीन हो रहे । किसी वर्ण्यविषय के प्रति अपने मत को पुष्ट करने की साधना में वे प्रकृति की ओर तो गए, किन्तु उन्होंने वापिस आने में देरी नहीं की । फलतः उनकी रचनाओं में दृष्टान्तभूतप्रकृति के उपादानों का नाप्रोत्तेज्यमात्र ही पाया । उनके वर्ण्य-विषय भी अधिकांश रूप में धार्मिक ही हैं । चम्पानरेश विक्रान्तवर्मन् ने ईशानेश्वर मन्दिर में कोश और मुकुट स्थापित किए । दोनों कर्म एक साथ हुए और सदैव एक साथ रहे गए । दोनों की एकत्र स्थिति का वर्णन करने के लिए कवि के मस्तिष्क में उपमान-भूत चन्द्र(कोश) एवं सूर्य (मुकुट) काँध गए । किन्तु कवि को अभीष्ट यह दिखाना था कि चन्द्र और सूर्य की तो एकत्रस्थिति नहीं होती । एक के आने पर दूसरा अस्त हो जाता है, लेकिन उपमेयभूत ये कोश और मुकुट एक साथ देखे जा सकते हैं । ऐसे गाँठा प्रसंगों में चन्द्र और सूर्य का वर्णन चित्रात्मक और विशद कैसे हो सकता है —

सूर्योऽस्मिन्नुदयंगते ह्यम्बरो यात्यस्तमिन्दूदये

तस्मिंश्चास्तमितो रवि[ः] पुनरिति प्रायेणलोकस्थितः ।

ईशानेश्वरकोशनिर्मलशशी भद्रेशमोत्यंशुमान् \*<sup>२</sup> इत्यादि

इसी भाँति काम्बुज के वयंग मन्दिर के लेख के पास प्रसंगानुकूल पर्वतवर्णन का स्वर्णविस्तर था, किन्तु वह प्रसंग धर्म के पथ से तानिक बटकर साहित्य की सीमा में नहीं आ सका । 'पर्वत के शिखर में रत्नों की जग-मगाहट'— इस कथन में कवि-समय है । लेकिन फिर वही पौराणिक उपमान—

१. जयवर्मन् (१०) का ( TUOL PRAH THAT ) लेख, इ०का०, (मजुमदार), पृ० ४२, श्लोक १

२. विक्रान्तवर्मन् (१०) का ( CHAMXON STELAE ) लेख, चम्पा, पृ० २६-३०, श्लोक ६, —टि०—इसका चौथा वर्णन उल्लिखित और अस्पष्ट है ।

अयं पूर्वधा स्फुटरत्नमालिना

पदन्दधानो गिरिशस्य भुधरः ।

उपैतलोके बहु [-----]

[-----] मान्यतमे वि सन्नतिः ॥

दिवीक्षां मालिनिवस्तुप्रेरणा

पदारविन्देन यथा जगत्पतेः ।

बिभर्ति मानोन्नति [-----]

[-----] शिशुरार्यन्नगः ॥ १

वस्तुवर्णन भी विनों की उपस्थित करने में विशेष सफल नहीं हो पाया है । विविधतरङ्गकुल किसी मन्दिर के लिए 'नानातरङ्गणाकीर्ण' देवायतनमीडम्<sup>२</sup> लिखने मात्र से जीतार्यों की विम्वगुणा करने का अक्सर कहाँ मिल सकता है । कैदेई अंग लेख में भगवान् विष्णु के निमित्त बनाए गए एक पद्मबहुल सरोवर का वर्णन है । 'कमलदलागुं का लात्तारागोपमेय--' रक्तत्व सभी पौरजनों के लिए आकर्षण का केन्द्र था । यहाँ तक तो साहित्यिकवस्तुवर्णन सफल है । किन्तु, कवि की सम्पूर्ण पद्य साहित्य के नाम पर समर्पित करने का साहस नहीं हुआ । पुष्करिणी के निर्माता और संस्कारकर्ता की धर्मभावना के प्रति वह सत्सा सजग हो गया और कहने लगा कि कमलों के रक्तत्व नष्ट हो जाने के पश्चात् जो नवीन अत्यन्त श्वेत पद्म हैं, मानो वे संस्कारकर्ता के धर्म में निहित रागद्वेषहीन मन के संकेत देते हैं । वर्तमान धार्मिक की धर्मप्रशंसा ही कवि की अभीष्ट थी । इसलिये श्लोक के द्वितीयाह्न में वर्तमान इस उत्प्रेक्षा ने प्रथम दो चरणों के वस्तुवर्णन को और भी गाँठा कर दिया है ।<sup>३</sup>

तदनन्तर शङ्कुन्देन्दुशुभ्र, व्यक्तराग मनोज्ञ कमलोंके वनों का मनोरम वर्णन मुख्यरूप में किया जा सकता था, परन्तु प्रकृति अथवा वस्तु-वर्णन के प्रति निष्पृह कवि की तो संस्कारकर्ता के धार्मिक मन का ही विशेष गुणगान करना था —

१. वर्यग मन्दिर लेख, इ०का०(मजूमदार), पृ० ६, श्लोक ५-६

२. इ०-कैदेई अंग मन्दिर लेख, इ०का०, पृ० ३२, 'अ' श्लोक ४

३. वही ( पद्य अंकार निरूपण प्रसंग में उद्धृत )<sup>इ.का.</sup> पृ० ३३ 'ब' श्लोक ५

अथवा इ०सं०का०, (वार्थ ), पृ० ५६



चिरमपि सहजान्तारक्ततामाहुः क्त्वा  
 स्ववपुरतिमनोजं प्रंखुन्देन्दुशुभम् ।  
 वक्षति पुनरिदानीं यद्वनं पञ्जानां  
 कुशलकरणादनां त्वन्मनस्तत्र हेतुः ॥<sup>१</sup>

‘भारतेतर देशों के संस्कृत अभिलेखों के कवि प्रकृति या वस्तु-  
 चित्रण साम्य के प्रकार न कर पाये,’— इस निष्कर्ष से उनके महत्व पर कुछ  
 आँच नहीं आती । उनके साथ कुछ विवशताएँ थीं — न उन्हें प्राकृतिक  
 वातावरण ही उतना हृदयग्राही मिला और न उनके भीतर का कवि ही  
 उतना बन्धनहीन था जो ‘आज्ञा’ के सामने ‘स्वेच्छा’ को सम्मान दे  
 पाता । उनका इतना ही योगदान कम नहीं कि संस्कृति के प्रचारक होते हुए भी  
 उन्होंने विदेशी मिट्टी को संस्कृतभाषा के लिए काव्योर्वर किया । सुदूर-  
 पूर्व के समुद्रतटों में भारतीय काव्यपरिपाटियों को संकुशल उतारा । वहाँ  
 की घाटियों को संस्कृत छन्दों से गीतिमुखर किया, शिलाकुण्डों को सरसता  
 दी और मन्दिरलेखों को संस्कृत अंकारों से अलंकृत किया । उनके लेख, संस्कृत  
 और संस्कृति प्रसार के लिखित प्रमाण हैं । उन अज्ञातनामा संस्कृत कवियों  
 के प्रति कृतज्ञता प्रकट किए बिना भारत अपने को गुणाग्राहक कैसे कह सकता  
 है !

## एक विचार

संस्कृत साहित्य, विश्व के समृद्धतम साहित्यों में एक है। सर्वाधिक प्राचीन होने के कारण इसका महत्व अन्य साहित्यों से और भी अधिक बढ़ जाता है। संस्कृत साहित्य महाकाव्यों, गद्यकाव्यों, कथाओं और नाटकों तक ही सीमित नहीं। यंत्रक कि ज्योतिष, कौश, चिकित्सा आदि विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथों में भी इसकी प्राग्जनलहन्दा-योजना और साहित्य का प्रवेश है। पुराणों का विषय साहित्य से पृथक् होना चाहिए था, किन्तु भागवत सरीखे पुराण साहित्य में महाकाव्यों से भी आगे बढ़ गए हैं। अग्निपुराण के कृतिपय अध्यायों में संस्कृत काव्य लक्षणों को भी विषय बनाया गया है। संस्कृत का यही सर्वत्रगामी साहित्य अपनी अक्षर रसवर्षा से शासनपत्र जैसे विषयों को भी सरस और शार्दूल बनाए हुए है, फाड़ी-फाँड़ा, गिरि-गह्वरों और जंगलों के स्कान्त में जमे हुए कर्कश शिलाखण्डों को भी काव्यमूर्त किए हैं। ये प्रस्तरखण्ड, युग-युगान्तरों में क्षीणियों के आघातों की फनफनाहट से आज भी स्पन्दित-प्राण और सतृदय प्रतीत होते हैं। विराट् संस्कृत काव्य पुरुष के ये भी अंग हैं। हमारा भारतीय साहित्य जब तक काव्य-नाटकों की भाँति इन अभिलेखों को अपना समानधर्मा सदस्य नहीं बनायेगा, जब तक अपूर्ण समझा जायेगा और संस्कृत साहित्य के पाठक का ज्ञान तब-तक अपूर्ण होगा, जब तक वह अभिलेखों में बिखरे रसविन्दुओं को संघित कर ऊठहार नहीं बना लेता, क्योंकि हमारी साहित्यिक अभिलेखमाला संस्कृत साहित्य की द्वितीय रत्ना पंक्ति है। प्रथम पंक्ति काव्य नाटक, गद्य काव्य एवं चम्पू आदि काव्यांगों का मिश्रण है। प्रथम पंक्ति का महत्व तो स्पष्ट ही है किन्तु द्वितीय पंक्ति ही प्रथम पंक्ति का उत्साह बढ़ाती है। इसलिए संस्कृत साहित्य में इस द्वितीय पंक्ति को भी यथोचित सम्मान मिलना चाहिए। न्याय यही कहता है।

पद्य-गद्य-चम्पू निदर्शन में देखा जा चुका है कि अभिलेखों में पद्य शैलियों का विकास भी काव्यों के समान्तर हुआ। अपने लघु कलेवर में भी उनमें हन्दा का वैविध्य दर्शनीय है। अभिलेखीय गद्य की समृद्धि और भावाभिव्यञ्जकता, दण्डी, सुबन्धु एवं बाण को भी यत्किंचित् आकृष्ट करने में समर्थ हुई। 'चम्पूकाव्य' के अद्भुत होने का सम्मान भी हमारे अभिलेखों को ही मिलता है। सम्भवतः अभिलेखों के ही अनुकरण पर १० वीं शताब्दी

में संस्कृत साहित्य के प्रसाद को एक अतिरिक्त आधार देने के लिए चम्पू-  
 काव्य का मनोरम स्तम्भ निर्मित हुआ। 'रस-भावाभिव्यक्ति' में देखा जा  
 चुका है कि भारतीय अभिलेखों को, नवधा प्रकाशित होने वाली रसधारा  
 ने प्रचुर मात्रा में आप्लावित किया। काव्यों की भाँति वे अभिलेखों की  
 भी त्रिविध पदसंघटना (रीति) और गुणाभिव्यंजकता है। स्थल-स्थल पर  
 अंकारों की जगमगाहट से भी तात्प्रपन्न और प्रस्तरखण्डों के काव्यशरीर  
 उद्भासित हैं। अंकारों के ये रत्न, उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों से शतधा  
 कोणों में वर्गीकृत होने से त्रिम्व-प्रतित्रिम्व भाव से रहित अवश्य हैं, किन्तु  
 इससे इनके सौन्दर्य पर कोई ठेस नहीं पहुँचती, क्योंकि इनका सौन्दर्य अपने  
 छुट्ट और कृत्रिम रूप में ही है। अनाहूत अंकारों की स्वाभाविक मिलन-  
 सारिता जितनी आकृष्ट करती है, उतनी प्रार्थना पर बुलार गए अंकारों  
 की कृत्रिम मुस्कान नहीं। अभिलेखों का यह बाह्य काव्यसौन्दर्य, स्वाभा-  
 विकता को आधार बनाए हुए है। काव्यों में जिस प्रकार प्रकृति के उपादानों  
 और ऋतुओं का सावसर वर्णन करना लक्षणाग्रंथों से निर्दिष्ट है, उद्देश्य  
 भिन्न होने पर भी स्मारक लेखों के कवि, तिथि वर्णन के प्रसंग में ऋतुओं  
 के अहविध परिवर्तन जन्य प्रभाव को अपने हृदय में सुरक्षित किए रहे।  
 सूर्य मन्दिर का स्मारक लेख लिखते हुए, वत्सभट्ट एक बार फिर दणपुर  
 नगर से बाहर निकल कर नगर के समीपवर्ती बनों में घूमने लगा और शिशिर  
 वसन्त के सन्धिकाल में अणों के वैहड़े और सिन्धुवार फूलों को, अनंग के  
 बाणों का मूर्तरूप समझने लगा। अपराजित के उदयपुर लेख का कवि दामो-  
 दर, नृत्यनिरत पयूरों के पंखों को धुनने वाले और सजल जलधरों को तितर-  
 तितर करने वाले बरसाती पवन में सांस लेने लगा।

यदि आचार्यों ने नायकों को देवता या उच्चवंशज नात्रिय  
 होना आवश्यक माना, तो अभिलेखों के नायक भी अधिकांश रूप में उच्च-  
 वंशप्रभाव की हैं, जिनके कुलीनता, रूप, प्रजापालकत्व कलाप्रियता आदि  
 गुणों का विवेचन हो चुका है। इसकांटी ने उन्हें सुवर्ण की सिद्ध किया।  
 पूर्ववर्ती कवि सदैव उत्तरवर्ती साहित्यकारों के मार्ग-निदर्शक रहे हैं।  
 आदान-समकालीन-प्रभाव और प्रदान निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट सिद्ध हो  
 चुका है कि संस्कृत साहित्य में जिस अनुपात से दो साहित्यिक ग्रंथों में  
 भाषा और भाव साम्य देखा जाता है, उसी अनुपात से अभिलेखों में भी।  
 इस दृष्टि से अभिलेखीय कवि संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ कवियों के समकक्ष ही  
 जान पड़ते हैं। बृहत्तर भारत के अभिलेखों का संस्कृतितत्त्व, साहित्य से अवश्य

ऊँचा उठ गया है, किन्तु फिर भी देश, काल और परिस्थितियों को देखते हुए हम उनमें व्यस्त साहित्य से निराश नहीं होते ।

निष्कर्ष यह है कि प्रमदसोम आदि कुछ कवियों को छोड़कर अभिलेखीय कवि अपनी प्रतिभा और साधना में संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं । ये कवि भी अपनी साधना को सिद्धि तक पहुँचा चुके थे । उर्वर कल्पना भाषा और भाव साँझ भी इनका दर्शनीय है । एक ही कमी अवती है कि इन्होंने कम लिखा । इनके कम लिखने का कारण राजसेवा है । अपनी क्लेशरावस्था और यौवन में इन्होंने अधिक काव्यसाधना की होगी, किन्तु यथार्थ जीवन में प्रवेश करने पर परिस्थितियों ने इन्हें वेतनभोगी बनने के लिए विवश कर दिया होगा । राजसेवा में अविरत संलग्न होने के कारण इन्हें अधिक लिखने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ । गद्य और पद्य में रचनाबन्ध का चमत्कार दिखाने वाली प्रयाग प्रशस्ति का कवि 'हरिषोण' समुद्रगुप्त का सान्धिविग्रहिक (Minister of Peace & War) था । इस प्रतिभा सम्पन्न कवि के पास एक ही पद (Portfolio) नहीं अपितु अन्य विभाग भी थे । सन्धिविग्रहिक के साथ वह कुमारामात्य और महादण्डनायक भी था । अनेक विभागों का युगपत् संचालन करने के कारण लिखने के लिए उसे आजीवन एकान्त कक्षा प्राप्त होता । इसलिए सम्भवतः उसे प्रयाग प्रशस्ति की ३३ पंक्तियाँ लिखकर ही सन्तुष्ट होना पड़ा । इसी भाँति उदयगिरि गुप्तलेख का रचयिता कौत्सरशाव वीरसेन चन्द्रगुप्त (द्वि०) का सचिव, सन्धिविग्रहिक था । बत्सभट्ट की भी अपनी परिस्थितियाँ थीं । विषम परिस्थितियों के साथ उसका दुर्भाग्य भी था, कि उसे राज-सेवा भी प्राप्त नहीं हो सकी । उसे तो दैनिक परिश्रम से अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता था । इसी प्रकार अन्य अभिलेखीय कवियों के विषय में भी समझा जा सकता है ।

यह भी सम्भव है कि इन कवियों ने अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ, काव्य नाटक भी लिखे होंगे । जो सकता है कि अनेक संस्कृत ग्रन्थों की भाँति उनके ग्रंथ भी कालकवलित हो गए । नहीं तो अभिलेखों में अपनी काव्यसाधना का परिचय देने वाले केवल अपने एक-दो शिलालेख रचकर ही कैसे सन्तुष्ट हुए होंगे ! साधना अपना विकास चाहती है । चाहे राजकीय सेवाओं की विषम परिस्थितियाँ ही क्यों न रही हों, उनकी काव्य-तपस्या किसी न किसी काव्य के प्रणयन में अवश्य परिणत हुई होगी । रेहोल लेख का कवि रविकीर्ति अपने को 'कविताश्रितकालिदास-

भारविकीर्तिः' कहता है, इस उक्ति के पीछे, उल्लिखित बात का ही समर्थन है। यह लेख तो बाद की रचना है, जब वह इस पञ्चाक्षरी रचना में अपनी कविताश्रितकीर्ति को कालिदास और भारवि के काव्ययज्ञ के सम-कटा रखने लगा तो स्पष्ट है कि उसने इससे पहले अनेक कवितार्थ ग्रन्थ रूप में लिखी होंगी, जो तत्कालीन काव्य प्रशंसकों में भी पर्याप्त समादृत हुई होंगी। रविकीर्ति का कोई अन्य लेख प्राप्य नहीं। इसलिए स्वाभाविक रूप से हमारा अनुमान उसके द्वारा प्रणीत अन्य ग्रंथों की ओर उन्मुख होता है। शब्द-चयन और यमक-बन्ध जो इस लेख में प्राप्त होते हैं, एक लम्बी काव्य-तपस्या के परिणाम हैं। इस तपस्या के विकास के चरण उसके (अधुना लुप्त) ग्रन्थ ही रहे होंगे। इसी भौति सेनकपाट<sup>१</sup> और सिरपुर<sup>२</sup> लेखों का कवि सुमंगल भावानुसारी शब्दों के जादूगर के रूप में सामने उभरता है। क्या उसकी साधना पत्थर तक ही सीमित रही होगी। जिस प्रकार हम अनुमान करते हैं कि अपने मधुवन<sup>३</sup> और बासखेड़ा<sup>४</sup> शासनपत्रों में जड़े हुए कुन्दों का प्रणयन स्वयं उस सम्राट् इर्षा ने किया होगा, जिसने रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द सरीखे रूपक लिखे तो, इस अनुमान का भी आधार सुरक्षित है कि इन अन्यान्य अभिलेखीय कवियों ने कुछ ग्रन्थ भी लिखे होंगे। पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन (प्र०) 'विविचित्रित'<sup>५</sup> (जिसका मण्डगम्पटु लेख ५५) 'महाविलास' प्रक्सन लिखा था, इसका उल्लेख उसके मामण्डुर लेख<sup>६</sup> ६६ में है। इस प्रकार यदि सभी प्रतिभासम्पन्न अभिलेखीय कवियों के ग्रंथ उपलब्ध होते, तो सम्भवतः पहले से ही इनकी वही सम्मान मिलता, जो संस्कृत कवियों को मिलता आया है। परिणामस्वरूप मा भारती के मण्डार का कोना-कोना भी कितना भरा होता।

इन कवियों के ग्रंथों की अनुपलब्धि का धक्का तो सभी संस्कृत साहित्य के प्रेमियों को लगेगा ही, किन्तु अब भारत की सभी साहित्यिक संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे सभी प्रमुख साहित्यिक अभिलेखों को नये ढंग से प्रकाशित करें। शोध-संस्थाओं को तो इनके प्रकाशन में विशेष रुचि लेनी चाहिए। इनका प्रकाशन भी साहित्यिक ढंग पर हो, जैसे बम्बई से

१. ए०ई०, भाग ३१, पृ० ३१-३६

२. वही, भाग ३१, पृ० १६७-१६८

३. ए०ई०, भाग ७, पृ० १५५-१६०

४. हिलि०ई०, पृ० १४५-१४७

५. ए०ई०, भाग १७, पृ० १४-१७

६. इ०-वही, पृ० १५-१६

(काव्यमाला-सीरिज के अन्तर्गत) कुछ अभिलेखों का प्रकाशन, प्राचीन लेख-माला के नाम से किया गया। उन लेखों में पंक्ति संख्याओं का अभाव है। श्रीजयचन्द्र विमलंकार द्वारा सम्पादित 'उत्क्रीण लेखमाला' (पांच अभिलेख) में भी पंक्तिविहीन लेखों को इस कलात्मक ढंग से रखा गया है कि पुरित्व एक कविता-संग्रह सी प्रतीत होती है। 'फाग बन्धुओं' से सम्पादित 'अभिलेखमाला' पुस्तक भी अभिलेखों के साहित्यिक सम्पादन का एक अच्छा उदाहरण है। साहित्य के दृष्टिकोण से स्मारक लेख, प्रशस्तियाँ और दान लेख ही अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि शोध-संस्थाओं द्वारा इन सभी साहित्यिक अभिलेखों का सम्पादन पुरतकाकार रूप में होता रहे, तो संस्कृत साहित्य की सीमाओं को अधिक विस्तार प्राप्त हो सकता है। दानलेखों के व्यावसायिक एवं नीरस विवरणात्मक भाग, जो इतिहासादि विषयों के ही विशेष महत्व रखते हैं, साहित्यिक सम्पादन में छोड़े जा भी सकते हैं। उन व्यावसायिक विवरणों को संक्षेप में सम्पादकीय टिप्पणी में स्पष्ट किया जा सकता है। लेखों का आधोपान्त प्रकाशन पुरातत्त्व विभाग और ऐतिहासिक शोध-संस्थाओं के लिए ही छोड़ दिया जाय। क्योंकि साहित्यिक शोध संस्थाओं का कार्य तो अभिलेखीय-साहित्य प्रकाशन मात्र रहेगा। यदि साहित्यिक संस्थाओं द्वारा अभिलेख आधोपान्त ही प्रकाशित कर दिए जाँय, तब भी किसी साहित्यरसपिपासु को विशेष आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि नीरक्षीर विवेकी पाठक तो क्षीर के पकापाती रहेंगे। ऐसे प्रमुख-प्रमुख लेख याज्ञवल्क्य से या संवत् विशेष के क्रम से प्रकाशित किए जा सकते हैं, जैसे संस्कृत और प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्वान्-प्रवर श्री वी० वी० मिराशी महोदय ने कलचुरि-वेदि सम्वत् वाले लेखों को 'कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकैरम, भाग ४' के नाम से प्रकाशित किया। इस कार्य से इन्होंने अभिलेखों के जिज्ञासुओं का बड़ा उपकार किया। संवत् विशेष की यही क्रम-पद्धति अभिलेखों के प्रस्तावित साहित्यिक-प्रकाशन में भी अपनाई जा सकती है।

कवि, लेखक और अंकेताओं के प्रमादजन्य त्रुटियों के दूरीकरण के लिए भारत के प्रसिद्ध विद्वानों का एक अभिलेख-पाठ्य-संशोधन-परिषद् बने, जो अभिलेखों की भूलों का सुधार करे। इसी प्रकार, जो साहित्यिक लेख त्रुटित हैं, उनके संश्लिष्ट अंशों पर भी अर्थसंगतिवाले शब्दों का अवलेप लगाया जाय। उदाहरणार्थ, उच्चकोटि के साहित्यिक हृन्द होने पर भी आगे आने वाले दो पथों के त्रुटित अंश, पाठकों को ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे उनके हृदय के ही अंश टूट गए हों —



(१) रोषाक्रांधप्रवृद्धज्वलदनलशिखाकृत(क्रान्त)दिग्भवत्वात्  
 तेजोभिर्द्वादशाक्षप्रति----- राविराशु ।  
 ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्ररुद्रैः प्रलयभयभृतेरीक्षितं भ्रान्तदृग्भि-  
 त्तलांशवः पुनातु स्मरतनुदहन(नं)लोचनं विश्वमूर्तेः ॥<sup>१</sup>

(२) यावच्चंद्रकला हरस्य शिरसि श्रीः शार्ङ्गिणी वक्षसि  
 व्र(ब्र)ह्मास्यै च सरस्वती कृत ----- ।  
 [भोगे] भूर्भुजाधिपस्य च तडिधावद्घनस्योदरे  
 तावत्कीर्तिमहातनोति ध्वलामादित्यसेनो नृपः [॥]<sup>२</sup>

उल्लिखित छन्दों के खण्डित चरणों को इस प्रकार से ठीक किया जा सकता है —

(१) तेजोभिर्द्वादशाक्षप्रतिसरविरसत्तिग्मताराविराशु ।

(२) व्र(ब्र)ह्मास्यै च सरस्वती कृतमतिः शेषे धरा राजिता ।

इसी भाँति अन्य खण्डित साहित्यिक लेखों का पाठ्य भी ठीक किया जाय । वैसे, एपिग्राफिया इण्डिका, इंडियन ऐण्टिक्वेरी, कार्पस इन्स-क्रिप्शन इण्डिकैरम(चतुष्टय) में भी विद्वानों ने खण्डित अंशों के पाठ्य ठीक करने में प्रयास किया है ।<sup>३</sup> हरिषेण के अजन्ता गुहालेख<sup>३</sup> की अजन्तभाँति ऐसे बहुत लेख हैं, जिनका अधिकांश पाठ्य खण्डित है और जिनको अर्थसंगत-पाठ्य के अन्वेष की आवश्यकता है । 'अभिलेख पाठ्य संशोधक परिषद्' ऐसे लेखों की एक विस्तृत सूची तैयार कर सभी सदस्यों की सम्मति से उनमें अर्थ-संगतिपूर्ण शब्दों को जोड़ेगा । यह सारा कार्य भारत के पुरातत्त्वविभाग के तत्त्वावधान में होना चाहिए । ताकि उस संशोधित पाठ्य को राजकीय और सामाजिक मान्यताएं एक साथ प्राप्त हो सकें । संशोधित लेखों को उच्च पाठ्य-क्रमों में भी स्थान मिले । इस प्रकार संस्कृत साहित्य का द्वाितीज और आगे बढ़ जायेगा, या भारती की कच्छपी पर नये तार जुड़ जायेंगे और उसको नृत्य के लिए एक सर्वथा नूतन प्रांगण मिल जायेगा ।

१. फालरापाठन लेख, इ०ऐण्टि०, भाग ५, पृ० १८१, श्लोक १

२. आदित्यसेन का अपसद शिलालेख, का०इ०इ०, भाग ३, संख्या ४२, श्लोक २६

३. इ०के०टे०वै०इ०, पृ० ६६-७१



## परिशिष्ट

१- अभिलेखों का महत्त्व

२- भारतीय अभिलेखों में संक्षेपण की प्रवृत्ति

## १. अभिलेखों का महत्व

### (१) ऐतिहासिक महत्व —

समस्त प्राचीन भारतीय इतिहास के विश्वस्त स्रोत अभिलेख ही हैं। प्राचीन साहित्य एवं यात्रियों के विवरणों से भी इतिहास की पुष्टि हो सकती है किन्तु गौण रूप में। यदि प्राचीन साहित्य के ही आधार पर इतिहास खड़ा किया जाय, तो सदियों की मध्यान्तर-घाटियों को भरने के लिए या समस्त राजवंशों के परिचय प्राप्त करने के लिए हमारे पास अधिक सामग्री न होगी। कालिदास का साहित्य भले ही हमें तत्कालीन राजनीतिक भलक दे दे, किन्तु भारद्वाजों का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें वाकाटकों के अभिलेखों का ही आश्रय लेना पड़ेगा। ह्वेन-सांग का विवरण हर्षकालीन भारत की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है या हर्ष के अतिरिक्त पुलकेशिन (द्वि०) आदि कतिपय समकालीन नृपतियों के विषय में बता सकता है, किन्तु उसी समय विद्यमान प्रदेश-प्रदेश के अनेक छोटे-छोटे राजाओं का स्थानीय पृष्ठभूमि में परिचय, तो हमें अभिलेख ही देंगे।

तत्त्वतः देखा जाय तो साहित्य में जो कुछ भी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री हमें प्राप्त होती है, उसमें प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए हमें अभिलेखों की श्रृंखला में जाना पड़ता है। हर्षचरित में बाणभट्ट ने हर्ष के पुलकेशिन पूर्वजों का परिचय दिया। तदनन्तर बाण ने उसके अग्रज राज्यवर्धन की हत्या के विषय में लिखकर हर्ष को राज्यमिलने की बात चलाई। इसकी पुष्टि के लिए हमारे पास बांसलेढ़ा<sup>१</sup> एवं मधुवन<sup>२</sup> शासनपत्र हैं। जहाँ इन लेखों से समकालीन नृपति 'देवगुप्त' का परिचय प्राप्त होता है, वहाँ राज्यवर्धन की अरातिभवन में हल से की गयी हत्या के विषय में भी ज्ञान हो जाता है — 'प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः' (बांस-लेढ़ा शासन-पत्र—पं० ६)। कालिदास ने रघुदिग्विजय के सन्दर्भ में जो भारत का भौगोलिक और राजनीतिक चित्र प्रस्तुत किया, प्रयाग प्रशस्ति लेख उसी

१. ~~सं० ६, भाग २०, पृ० ५४-५८~~ हि. लि. ३, अ. १४५-१४७

२. ~~का० ६०६०, भाग ३, संख्या १३~~ सं. इ. भाग ७ अ. १५५-१६०

चित्र का ऐतिहासिक रूपान्तर माना जा सकता है ।

धनदेव का यदि अयोध्या लेख<sup>१</sup> प्राप्त न होता, तो हमें इस राज्य का ज्ञान न होता, प्रथम सदी में भी शुंगवंश का कुछ अस्तित्व था । यह धनदेव पुष्पमित्र शुंग की वंश-परम्परा में उठा था । गिरिनार लेख से ही हमें यह सूचना प्राप्त होती है कि दक्षिणाधिपति शातकर्ण को उसने दो बार युद्ध में हराया था (पं० १२) । अभिलेखों के ऐसे विवरण एक दूसरे नृपति का काल निर्धार्य करने में विशेष सहायक होते हैं और परिणामतः इतिहास के प्रासाद को एक दृढ़ धरातल प्राप्त होता है ।

अभिलेख, राजवंशों की सूचना देने और राजवंशविशेष के अन्यान्य राज्यवंशों के साथ हुए वैवाहिक और सामरिक सम्बन्धों को बात-लाने में भी विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं । भितरी लेख<sup>२</sup> को ही दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । एक ओर जहाँ इस लेख से श्रीगुप्त (आदि-राज ) से स्कन्दगुप्त तक, गुप्त-वंश के क्रम की सूचना मिलती है, वहाँ यह भी पता चलता है कि इस कुल का नेपाल के लिच्छविवंश से वैवाहिक सम्बन्ध था । स्कन्दगुप्त(५०) की पत्नी लिच्छवि-वंशजा थी, इसीलिए समुद्रगुप्त के लिए लिच्छविदोहित्र कहा जाता है । इसी लेख से पुष्पमित्रों का उपद्रव (श्लो० ४ ) और हूणों के आक्रमण ( श्लोक ८ ) सम्बन्धी सूचना ग्रहण करके इतिहास अपने को प्रमाणपुष्ट करता है ।

प्रभावतीगुप्ता के लेखों<sup>३</sup> से जहाँ हमें एक ओर वाकाटक वंश-क्रम का ज्ञान होता है, वहाँ यह भी सूचना मिलती है कि वह चन्द्रगुप्त (द्वि) की पुत्री थी । प्रवरसेन (द्वि०) के लेखों<sup>४</sup> से भारशिवों (नागों) के एक अज्ञातप्राय वंश को इतिहास में स्थान मिलता है । साथ ही इन दोनों वंशों के वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में हमको जानकारी प्राप्त होती है । लेखों में अपने वैयक्तिक वंशविवरण के अतिरिक्त, परम्परानुसार जहाँ अधीनस्थ

१. ए०ई०, भाग २०, पृ० ५४-५८

२. का०ई०ई०, भाग ३, सं० १३

३. उदा०—रिथपुर ताग्रशासन, सि०ई०, भाग १, पृ० ४१५-४१८

४. उदा०—चम्पक ताग्रशासन, वही, पाठ्य पृष्ठ ४१८-४२५

राजा अपने अधिराज का सादर नामगृहण करके अपनी और उसकी स्थिति और काल पर प्रकाश डालता है, वहाँ यदा कदा अधिराज भी अपने अधीनस्थ राजा का प्रसंगानुसार उल्लेख कर बैठता है। उदाहरणार्थ गंगाम शासन पत्र<sup>१</sup> में जहाँ शैलोद्भव माधव (द्वि०) अपने अधिराज (हर्ष का समकालीन) 'शशांक' का सादर उल्लेख करता है, वहाँ कदम्ब हरिवर्मा अपने अधीनस्थ राजा सैन्द्रक भानुशक्ति का;<sup>२</sup> जिसकी अनुशंसा से उसने 'मरदे' ग्रामदान किया।

प्राचीन भारतीय गणतंत्रों के अस्तित्व को बताने में भी अभिलेख ही सर्वाधिक समर्थ हुए। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में आर्जुनायन और यौधेय गणराज्यों<sup>३</sup> का उल्लेख है। अधुना प्राप्त अनेक सिक्कों से भी प्राचीन भारतीय गणों का पता चलता है। यदि अभिलेख न होते तो प्राचीन ग्रंथों से हम गणशासन प्रणाली के विषय में स्वल्प सामग्री ही प्राप्त करते।

अभिलेखों के प्राप्तिस्थानों से नृपति विशेष की राज्यसीमाओं का ज्ञान भी पुष्ट होता है। शाहजाज-गढ़ी और मानसैरा के लेखों से यदि अणक के राज्य की उत्तरपश्चिमी सीमा का ज्ञान होता है, तो मरकी, गविमठ, यारगुदी और सिद्धपुरा लेखों से दक्षिणी सीमा का। धौली लेख यदि उसके राज्यविस्तार का पूर्वी <sup>दक्षिणी</sup> चिह्न है, तो गिरनार लेख पश्चिमी। राज्यसीमानिर्दर्शन के अतिरिक्त अभिलेख प्रभाव-क्षेत्रों के भी स्पष्ट संकेत देते हैं। भले ही कांची और पल्लव राज्य समुद्रगुप्त ने स्वायत्त न किए हों, प्रयाग प्रशस्ति इन राज्यों में उसके प्रभाव को तो बतलाती ही है।

सुदूरपूर्व के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए भी अभिलेख ही सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुए। काम्बुज-चम्पा आदि देशों के इतिहास का निर्माण भले ही चीनी-आंकड़ों से भी कुछ मात्रा में सम्भव हो, किन्तु अभिलेखीय प्रमाणों के बिना वह इतिहास एक-पक्षीय ही रहेगा।

१. ए०ई०, भाग ६, पृ० १४३-१४६

२. ई० रेण्ट०, भाग ६, पृ० ३१-३२

३. का०ई०ई०, भाग ३, सं० १, पं० २२

## (२) सांस्कृतिक महत्व—

संस्कृति के विविध वर्णज्ज्वल चित्र भी अभिलेखों में देखे जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति में दान की अपार महिमा है, जैसे कि याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है — “दातव्यं प्रत्ययं पात्रे निमित्ते तु विशेषतः।”<sup>१</sup> और सर्वाधिक अभिलेख दानवर्ग में ही आते हैं। ये सभी लेख भारतीय नृपतियों एवं सामान्य जनता की उदार वदान्यता के प्रमाण हैं। दान के लिए सुपात्रता विशेष विचारणीय है। प्रत्येक दानलेख में पात्रगत औचित्य देखा जाता है। चारों वर्णों में दानगुणा के सर्वोत्कृष्ट पात्र ब्राह्मण हैं। स्मृतियाँ भी इस तथ्य का समर्थन करती हैं — “ब्राह्मण्यः सर्वदायान्प्रयच्छेत्”<sup>२</sup> इसलिए एक बड़ी संख्या के दानलेखों में ब्राह्मण ही दानग्राही व्यक्ति हैं, जैसे — “सिम्पुर वास्तव्य ब्राह्मणविष्णुशर्मणो”<sup>३</sup>। स्मृतियों में, ब्राह्मणों में भी वेदपराग ब्राह्मण को दिए गए दानका अनन्तफल होता है।<sup>४</sup> दानलेखों में ब्राह्मण की इस योग्यता पर विशेष विचार किया गया — उदाहरणार्थ— “वेदवेदांग इतिहासविदे (मातृगुण स्वामिने) ५ अथवा ‘नातुर्वेदाय’ (ब्राह्मणाय) ६। गोत्र, शाखा एवं वेद का उल्लेख, ब्राह्मणविशेष की श्रेष्ठता निदर्शन के निमित्त किया जाता था, जैसे— “भर्राजगोत्रवाजिसनयेयमाध्यन्दिनसब्रह्मचारिब्राह्मणसूर्याय”<sup>७</sup>। दक्षिण में अर्वाणा ब्राह्मणों का भी समान रूप से आदर था — “आर्वाणा हर्कारि (हर्कारि) सगोत्रवरुणायुर्याय त्रिवेदाय दत्तः”<sup>८</sup>।

निधानपुर सरीले दानलेख में, जिसमें शताधिक दानग्राही ब्राह्मण हैं, अनेक गोत्रों के नाम एक साथ ज्ञात होते हैं।<sup>९</sup> <sup>अभिर्हर्तृके</sup> कुछ ज्ञातव्य

१: या०स्मृ० १।२०३

२: विष्णुस्मृ० ३।८४

३: ध्रुवसेन(प्र०)का पलिताना शासन-पत्र, ए०ई०, भाग ११, पृ० १११, पं० ५

४: व्यास स्मृ० ४।४२

५: पुलकेशिन्(द्वि०) का तुम्पेयनूरु शासन-पत्र, का०प्ले०ई०आ०प्र०म्यू०, भाग १, पृ० ४४-४५, पं० १३-१५

६: स्कन्दवर्मन्(सालंकायन) का शासनपत्र, ए०ई०, भाग १३, पृ० ६, पं० ११

७: दद(प्रशान्तराग) के दो दानलेख, ए०ई०, भाग ५, पृ० ४०, पं० १६-१७

८: वाकाटक प्रवरसेन (द्वि०) का तिरौदी शासनपत्र, ए०ई०, भाग २२, पृ० १७२, पं० १८

९: ए०ई०, भाग १६, पृ० ११५-१२५ तथा वही, २४५-२५०

गोत्रों में कोण्डिन्य,<sup>१</sup> गार्ग्य,<sup>२</sup> आत्रेय,<sup>३</sup> वज्रगुप्त,<sup>४</sup> कुनक,<sup>५</sup> अग्निवेश्य,<sup>६</sup> शाण्डिल्यायन<sup>७</sup> आदि हैं। अश्वे, संगमसिंह के सुनखोल्ल दानलेख<sup>८</sup> में छन्दोगी, गालव, लोकाद्वी लोहायन, तथा पौण्ड्री—इन पाँच गोत्रों के ब्राह्मणों को 'शोणत्वा' ग्राम दिए जाने का उल्लेख है।

कदम्ब हरिवर्मन् के संगोली शासन-पत्र<sup>९</sup> में कुछ अस्मान्य गोत्र दृष्टिगत होते हैं, जैसे—कैम्बल, कालाक, आविष्ठ, वलन्दत, बोलिय। ये सभी अथर्ववेद में पारग थे (अथर्ववेदपारगभ्यः—पं० ६)। गोत्र के साथ प्रवर का भी यदा-कदा उल्लेख मिलता है। 'प्रवर' कुल में सम्भूत श्रेष्ठतम पूर्वज होता था, जैसे—'अंगिरसब्राह्मणस्य प्रवराय हरम्पस्वामिने'<sup>१०</sup>।

अथवा—'मारुतसगोत्रकांशिकप्रवर'<sup>११</sup>।

दानलेखों की पृष्ठभूमि में दानकर्ता की एक पवित्र आध्यात्मिक भावना विद्यमान रहती थी। मानवजीवन का ऐहिक और पारलौकिक पुण्य-लाभ एक महान्तम प्रयोजन था, चाहे उस दान के पीछे माता, पिता या

- १: महाजयराज का आरंग शासनपत्र, का०६०ई०, भाग ३, पृ० १६३, पं० ६
- २: नन्दन का अमोना शासनपत्र, २०ई०, भाग १०, पृ० ५१ पं० ३
- ३: ध्रुवसेन(प्र०) का एक दानलेख, २०ई०, भाग १७, पृ० १०६, पं० १५
- ४: ध्रुवसेन (प्र०) का काठियावाड शासन-पत्र, २०ई०, भाग १७, पृ० ११० पं० ३
- ५: ध्रुवसेन(प्र०) का शासनपत्र, २०ई०, भाग १७, पृ० १०५-१०८
- ६: भोजपृथिवीमल्लवर्मन् का शासन-पत्र, २०ई०, भाग ३३, पृ० ६३, पं० ५
- ७: पुलकेशिन्(द्वि०) का कोप्परम् शासनपत्र, २०ई०, भाग १८, पृ० २५६, पं० १०
- ८: का०६०ई०, भाग ४(१), पृ० ३३-३७
- ९: २०ई०, भाग १४, पृ० १६३-१६८
- १०: सैन्यभीत का शशांककालीन गंजाम शासन-पत्र, २०ई०, भाग ६, पृ० १४५ पं० २२-२३
- ११: नन्नराज का संगलूद शासन-पत्र, २० ई०, भाग २६, पृष्ठ ११५, पंक्ति १७

ज्येष्ठ माई को भी पुण्यलाभ प्राप्त कराने का उद्देश्य को !<sup>१</sup>

दान के एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही नहीं थे । बलभीश धरसेन (पृ०) के गु०व० संवत् २६६ वाले शासन-पत्र के अनुसार आचार्य भदन्त स्थिरमति निर्मित वप्पपादीयविहारस्थ बुद्धमूर्ति के निमित्त पुष्पधूपगन्ध - दीप-तैलादि तथा नानादिशास्त्रों से आए हुए भिक्षु-संघ के लिए श्रीवरपिण्ड-पातग्लानभेषजादि की व्यवस्था हेतु दो ग्राम (महेश्वरदासेनक तथा देवभ-द्रिपत्तिका) प्रदान किए गए थे ।<sup>२</sup>

उक्त शासनपत्र से स्पष्ट है कि दानलेखों के पीछे पूजाविशेष की वित्त व्यवस्था का भी उद्देश्य होता था, जैसे— 'बलि-चरुवेश्वदेवाग्नि-ज्योतिष्यनपंचमयायजक्रियोत्सर्पणात्<sup>३</sup>। पूजा के अतिरिक्त किसी मन्दिर-विशेष के संस्कारार्थ (मरम्मत) के लिए भी ग्रामदान किया जाता था ।<sup>४</sup> कूरम शासनपत्र में अन्यान्य पूजापकारणों के साथ 'महाभारत' के पाठ का भी प्रयोजन है ।<sup>५</sup> सांची लेख के अनुसार हरिस्वामिनी द्वारा दिए गए धन से, रत्नगृह एवं बुद्धासन में दीपप्रबन्ध के अतिरिक्त 'संघमध्यप्रविष्ट' एक भिक्षु की प्रतिदिन भोजन-व्यवस्था भी की जानी थी ।<sup>६</sup> यह विश्व-कल्याण की भावना भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है । मालवसंवत् ५२४ के मन्दसौर लेख में जो प्रपा, आराम या कूपादि के खनन का वर्णन है, उसमें भी यही भावना परिलक्षित होती है ।<sup>७</sup>

धर्मप्राधान्य हमारी संस्कृति का प्रथम लक्षण है । अभिलेखों में भी यह धर्म की प्रधानता सर्वत्र द्रष्टव्य है, जिसका विवरण पृथक् से देना

१. ड०— मधुवन शासन पत्र, ए० इ०, भाग ७, पृ० १५८, पं० १२-१३
२. इ०रेण्ट०, भाग ६, पृ० १२
३. संगमसिंह का 'सुनओ कल' शासन-पत्र, का०इ०इ०, भाग ४(१) संख्या ११, पं० ८-९
४. सर्वनाथ का लोह ताम्रपत्र शासन, इ० अ०गु० किं० (भा०) पृ० ४१
५. ड०—सा०इ०इ०, भाग १, पृ० १५०, पं० ५१-५२
६. का०इ०इ०, भाग ३, सं० ६२
७. ए०इ०, भाग २७, पृ० १६, श्लोक ११



उपयुक्त है। किन्तु प्राचीन भारत के धर्मविभिन्न परस्परविरोध के कारण नहीं। यह बात भारत एवं बृहत्तर भारत दोनों के अभिलेखों में देखी जाती है। प्राचीन-भारत, मध्यकालीन मुसलमान साम्राज्य वाला आदिशु भारत नहीं। एक ही वंशक्रम में भी पूर्वपूर्व नृपति के पादानुध्यात पृथक्-पृथक् धर्मों का अनुसरण करने वाले नृपतियों के दृष्टान्त हमें अभिलेखों से भी प्राप्त हैं। प्रभाकरवर्द्धन यदि 'परमादित्यभक्त' था,<sup>१</sup> तो उसका ज्येष्ठपुत्र राज्य-वर्द्धन परमसांगत (मधुवन, पं० ६)। तत्पश्चात् सिंहासनासीन होने वाला सम्राट् हर्ष (प्रारम्भिक जीवन में) परम माहेस्वर था (वर्ण, पं० ८) इसी भाँति पल्लव-विचित्र चित्र (महेन्द्रवर्मन् पृ०) के महगपट्ट लेख<sup>२</sup> से ज्ञात होता है कि उस मन्दिर में ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु की मूर्तियों एक साथ रखी हुई थीं। कदम्ब विष्णुवर्मन् के एक लेख के मंगलाचरण भाग में भी इन तीनों (त्रितय) की युगपत् प्रार्थना की गई है।<sup>३</sup> मर्तों की यह समन्वय-भावना केवल भारत तक ही सीमित नहीं रही; संस्कृति के साथ इसका नियति बृहत्तर भारत तक भी हुआ। काम्बोज के हर्शानवर्मन् के एक अधीनस्थ शासक ने शक संवत् ५४६ में, 'वत चक्रेत' लेख के अनुसार शिवविष्णु की एक संयुक्तमूर्ति स्थापित की थी — 'हरितनुसहितं स्थापयामास शम्भुम् ॥'<sup>४</sup>

वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था भी हमारी संस्कृति की एक विशेषता है। यत्र तत्र इस व्यवस्था के संचालन के लिए नृपतियों या शासकों को प्रेरित किया गया है, तथा वे इसी रूप में प्रायः वर्णित भी हुए हैं — 'साक्षा[द्] धर्मं इव सम्यग्व्यवस्थापिता(त)वर्णाश्रमाचारः[ः] (खरग्रह के लिए)'<sup>५</sup>। यशो-धर्मन् के मन्दसौर लेख<sup>६</sup> में वर्णित अभ्यदत्त, बृहस्पति के समान चारों वर्णों के कल्याणार्थ सतत प्रयत्नशील रहता, और उनकी रक्षा किया करता था (श्लोक १६)/उसके अनुज दोषकुम्भ का पुत्र धर्मदोष ने भी जातिगत

१. मधुवन शासनपत्र, स०ई०, भाग ७, पृ० १५७, पं० ४

२. स०ई०, भाग १७, पृ० १४-१७

३. 'हरनारायण-ब्रह्मत्रितयाय नमः सदा' — स० कर्णा०, भाग ६, पृ० ६१ (बिहूर में प्राप्त लेख)

४. इ०का० (मज्जिमदार), पृ० ३१, श्लोक ७

५. शीलादित्य (तु०) बलभीनरेश का जेसर शासन-पत्र, स०ई०, भाग २२, पृ० ११८, पं० ३८

६. का०ई०ई०, भाग ३, संख्या ३५

सांकेतिक को दूर किया (अंश २०), क्योंकि प्रायः वर्णों की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। किन्तु ऐसे उदाहरण भी प्राप्य हैं, जिन किसी ब्राह्मण ने क्षत्रिय से विवाह किया जो और उसके पुत्र को भी ब्राह्मण होने की ही मान्यता प्राप्त हुई हो। अजन्ता गुप्त के (घटोत्कच) लेख से विदित होता है कि ब्राह्मण 'सोम' का पुत्र नरेन्द्रसिंह क्षत्रियपत्नी से ही उत्पन्न हुआ था।<sup>१</sup> शान्तिवर्मन् (कदम्ब) के तानगुंड लेख<sup>२</sup> इस बात की भी सूचना देता है कि ब्राह्मण शस्त्र ग्रहण करने पर स्थायी रूप से क्षत्रिय बन कर राज्य का भोग कर सकता था। कदम्बों का प्रारम्भिक इतिहास इसका प्रमाण है। वर्णों तक चार ही थे — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। वैश्य, श्रेष्ठी (BANKERS) का कार्य भी करते थे।<sup>३</sup> कायस्थ शब्द, पदविशेष के लिए ही प्रयुक्त होता था।<sup>४</sup>

संस्कृति के 'कर्मवाद' एवं 'श्रुतिप्रामाण्य' आदिने अभिलेखीय समर्थन की खोज में दानलेखों के प्रशंसागर्ग एवं शापवेदिन् श्लोक ही पर्याप्त हैं। इसी प्रकार 'सामान्य निर्वेद भावना' एवं 'मोक्ष' की खोज के लिए स्मारक लेखों के प्रयोजन-विषय दृष्टव्य हैं। लोकनाथ के तिप्पेरह लेख में एक प्रसंग ऐसा भी आता है कि 'संसारसागरजलौत्तरणकचित्त' भवनाथ अपने भाई के पुत्र को राज्य देकर स्वयं 'श्रुषिसम' हो गया था।<sup>५</sup> यह संसार के सुख वैभव के प्रति अनासक्ति नहीं देता क्या? भारतीय-संस्कृति ने सांसारिक-सुखभोग का कभी समर्थन नहीं किया।

इस प्रकार अभिलेख अपने आप में प्रभूत सांस्कृतिक तत्त्वों को भी सुरक्षित किए हुए हैं। केवल अभिलेखों के आधार पर भी संस्कृति का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया जा सकता है।

### (३) धार्मिक महत्त्व —

अभिलेख, प्राचीन-धार्मिक जीवन के भी अकलुष दर्पण हैं, क्योंकि

१. इ०के०टि०वे०इ०, पृ० ८६, श्लोक ६-७

२. ए०क०ए०, भाग २७, पाठ्य, पृ० २००-२०२

३. इ०—सक्राई लेख, ए०इ०, भाग २७, पृ० २७-३३

४. इ०—दामोदरपुर आज्ञापत्र, ए०इ०, भाग १५, पृ० १३०-१३१ तथा अन्य पत्र

५. ए०इ०, भाग १५, पृ० ३०६-३०७, श्लोक ४

उन पर विभिन्न धार्मिक मतों एवं सम्प्रदायों की स्पष्ट छाया पड़ी ।

वैदिक धर्म-समुद्रगुप्त एवं कुमारगुप्त के अश्वमेध यज्ञ वैदिक परम्परा पर हैं । यज्ञ के लिए यूप स्थापना (विहार स्तम्भ लेख, का०इ०ई०, भाग ३, सं० १२, श्लोक ७) भी वैदिक धर्म के निर्देशों पर है । मौखरि बलवर्द्धन का यूप लेख<sup>१</sup> तथा मालवों का नन्दसा यूपलेख<sup>२</sup> भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हैं । वाकाटक विन्ध्यशक्ति(दि०) के वासिम ताम्रशासन<sup>३</sup> में वर्णित अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, वाजपेय ज्योतिष्टोम, बृहस्पति आदि यज्ञ भी वैदिक धर्म के सबल समर्थक हैं ।

वैष्णव धर्म-गुप्त सम्राट् वैष्णवधर्मावलम्बी थे । अभिलेखों में उनके लिए 'परमभागवत' शब्द व्यवहृत हुआ है । उनका राजविह्न विष्णु का वाहन गरुड़ था । समुद्रगुप्त के लिए तो 'गरुत्मर्दन' (प्रयाग प्रशस्ति) पं० २४ ) ही कहा गया है । मेहरोली लौह स्तम्भ के लिए 'विष्णुध्वज' नाम दिया गया है — 'विष्णोर्ध्वजः स्थापितः' ( का०इ०ई० भाग ३ संख्या ३२, श्लोक ३ ) ।

विष्णु मन्दिर को विष्णुस्थान भी कहते थे— 'विष्णोः स्थानमकारयद्भगवतः श्रीमान् मयुराक्षकः' (—का०इ०ई०, भाग ३, सं० १७ श्लोक २०) । एक ही विष्णु अनेक नामों से पूजित होता था— 'चक्र-गदाधर' ( वही, सं० १७, श्लोक १८ ) तथा 'चक्रभृत्' उसी के नाम के पर्याय हैं । पण्डित के पुत्र चक्रपालित ने 'चक्रभृत्' का एक मन्दिर बनवाया था ।<sup>४</sup> वासुदेव भी विष्णु का एक लोकप्रिय नाम है । 'संज्ञाध' का लौह ताम्रपत्र,<sup>५</sup> 'नमो भगवते वासुदेवाय'—पंक्ति से ही प्रारम्भ होता है । अमरावति के सेनापति वराहसिंह की पत्नी यशोमती ने 'विष्णुमविषयग्राहक' संसार सागर को तरने के लिए 'कैटभरिपु' का स्थिर पीताकार मन्दिर बनवाया था ।<sup>६</sup>

१. हि०लि०इ०, पृ० ५५-५६

२. वही, पृ० ५६

३. इ०हि०क्वा०, भाग १६, पृ० १८२

४. बुनागढ़ लेख (भाग २) हि०लि०इ०, पृ० ६६, श्लोक ४५

५. का०इ०ई०, भाग ३, सं० २५

६. उदयपुर लेख, इ०ई०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ८

शैवधर्म-कर्मवर्णन का लिंगलेख<sup>१</sup> जनता में भी विवर्धित के प्रचार की सूचना देता है। परमभागवत होने पर भी गुप्तसम्राट् धार्मिक-में उदार और सहिष्णु थे। इसके प्रमाणों में चन्द्रगुप्त (द्वि०) का उदय-गिरि लेख प्रस्तुत किया जा सकता है। यह लेख उसके 'सन्धिबिग्रह' मन्त्री कान्तसंज्ञाव वीरसेन<sup>का</sup> के। उसने भगवान् शम्भु की गुहा निर्मित करवाई— 'भगवत्या भगवत्शम्भोर्गुहामेतामकारयत्' (लोक ५) और इसके उद्घाटन के लिए उसने स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वि०) को आमंत्रित किया -- 'राज्ञैर्वह समागतः' (लोक ५)। परमभागवत सम्राट् ने इस आमंत्रण को सार्थक स्वीकार किया। इससे यह भी स्पष्ट विदित होता है कि गुप्त साम्राज्य धर्मनिरपेक्ष था। सबको अपने धर्मपालन की पर्याप्त स्वतंत्रता थी। राजकीय नियुक्तियों में भी किसी का धर्मविशेष, लेखमात्र बाधक नहीं था।

शैवधर्म भारत के सीमान्त प्रदेशों में प्रचलित था। कामरूप नृपति भास्करवर्मन् के निधानपुर<sup>२</sup> एवं दूषि<sup>३</sup> शासन-पत्रों के प्रारम्भ में 'शिशिशेखर' भस्मकटाविभूषित 'पिनाकी' की प्रार्थना की गई है। वज्रिणा में पालव नरेशों के भी कतिपय लेख, उनकी अन्य शिवभक्ति के परिचायक हैं।<sup>४</sup>

बृहत्तर भारत में भी शैवमत का पर्याप्त प्रचार था। वहाँ के अभिलेख इस तथ्य के प्रमाणों में रखे जा सकते हैं। चम्पानरेश शम्भुवर्मन् के एक लेख<sup>५</sup> के मंगलाचारा में शिव के लिए 'शूली' एवं 'स्थाणु' पर्याय व्यवहृत हुए हैं। इसी लेख में शिव को 'स्थित्युत्पत्तिप्रलय' का नियामक सर्वोच्च देव कहा गया है। प्रकाशधर्म<sup>६</sup> एवं विक्रान्तवर्मन्(प्र०)<sup>७</sup> के लेख तो 'नमश्शिवाय' से ही प्रारम्भ होते हैं। विक्रान्तवर्मन् के एक लेख से स्पष्ट हो जाता है कि शिव के साथ शैवमत सम्बन्धी पारंपारिक कथाओं का भी चम्पा

१. द्वि०लि०६०, पृ० ८०

२. वही, पृ० २३५, श्लोक १

३. स०६०, भाग ३०, पृ० २६७-२६८, श्लोक १

४. उदा०--सा०६०६०, भाग १, सं० २७, तथा सं० ३४ आदि

५. MYSON STELAE लेख, चम्पा, पृ० १०, पं० ५-६

६. LAI - CHAM लेख, चम्पा, पृ० २८, पं० १

७. MYSON STELAE लेख, चम्पा, पृ० २६

में व्यापक प्रचार था । मैसोन लेख<sup>१</sup> के मंगलाचरण में शिव के लिए शिवा-  
द्रिजायाः पतिः "नदद्वाहन (नन्दी) में नलने वाला", "शन्दर्पोर्मविगु-  
प्रदन्ने" एवं त्रिपुरदाक्क (शान्त्यर्थ) येन वाचो युगपदपिपुरा त्रैपुराणां पुरा-  
णाम् ) कहा गया है । ये सभी विशेषण, शैवमत सम्बन्धी भारत की  
पौराणिक कथाओं से अनुरूप हैं । इसी लेख के गद्यभाग में शिव के 'शर्व'  
'भव' 'पशुपति' 'ईशान' 'रुद्र' आदि पर्याय गिनाए गए हैं (पं० १२)!

काम्बुज में भी शैवमत के प्रचार के अभिलेखीय प्रमाण सहज  
सुलभ हैं । भववर्मन् के लिंगाधार लेख<sup>२</sup> के अनुसार ज्ञात होता है कि उसने  
एक त्रैयम्बकलिंग की स्थापना की थी —

त्रैयम्बकं लिंगमिदं कृमेण

निवेशितं श्री भववर्मनाम्ना ॥

काम्बुज नरेश ईशानवर्मन्<sup>३</sup> ने भी जन्म-जन्मान्तर में ईशान-भक्ति की वांछा  
रखते हुए (इच्छता भक्तिमीशाने स्थिराजन्मनि जन्मनि ) एक शिव-लिंग की  
स्थापना की थी ( तैनेह स्थापित-मिदं लिंगम्—श्लोक १०)। वास्तव में  
देखा जाय, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि सातवीं सदी तक काम्बुज में  
सर्वाधिक प्रचलित धर्म, शैवधर्म ही था । यत्र तत्र शिवमन्दिर निर्माणा सम्बन्धी  
एवं लिंग-स्थापना के स्मारक लेख प्राप्य हैं । भारतीय शैव मत में शिव, आठ-  
तनुओं से संसार में व्याप्त है । काम्बुज नरेश भववर्मन् के एक लेख (PHNOM PRAH  
VIHAR )<sup>४</sup> में शिव के इन आठों रूपों का उल्लेख है— 'तनोति तनु-  
भिहणम्भुय्योष्टाभिरखिलजगत्' (श्लोक १)। यद्यपि श्लोक के प्रथमाद्वै में  
अत्विक् के स्थान में 'आत्मन्' एक रूप लिखा गया है । 'आत्मन्' शिव के  
आठ रूपों में एक रूप नहीं है ।

शक्ति— अभिलेखों के माध्यम से, प्राचीन भारत में शाक्तमत  
की विद्यमानता के भी संकेत प्राप्त होते हैं। जो रूप शिव का रुद्र है, स्त्री-

१: चम्पा, सं० १७

२: आर्थ-इ०स० १०८० (पेरिस श्रृंख ५ ) , पृ० २८

३: इ०—SAMBOR PREI लेख, इ०का०, सं० १६

४: कोह्स-इ०स० १०८० (१६३७), भाग १, पृ० ४

पञ्चा में पार्वती का वही रूप शक्ति है । इसलिए पार्वती के सभी पर्यायों से एक शक्तिमत् कीर्तिपुष्टि होती है ।

अनन्तवर्षन् के नागार्जुनी शैलगुहालेख के मंगलाचरणा में महिषा-सुर के शिर में न्यस्त क्वाण्टूमूर 'देवी के 'पाद' की वन्दना की गई है ।<sup>१</sup> आगे इसी लेख में 'विन्ध्यभुधरगुता' में कात्यायनी की मूर्ति की स्थापना का वर्णन है (श्लोक ४) । महाराज सर्वनाथ के खोइ ताम्रपत्र<sup>२</sup> में वर्णित 'पिष्टपुरिकादेवी' भी पार्वती का ही स्थानीय नाम है ।

सामौली (मेवाड़) लेख में<sup>३</sup> इसी भाँति, महाजन समुदाय के नेता जेन्तक द्वारा अण्यवासिनी का मन्दिर बनवाए जाने का उल्लेख है । यहाँ भी 'अण्यपुरवासिनी' देवी दुर्गा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है ।

स्वामी कार्तिकेय— कुमारगुप्त कालीन विलसद स्तम्भलेख<sup>४</sup> में स्वामी महासेन के आयतन (मन्दिर)<sup>निर्माण</sup> का उल्लेख है ।

सूर्य—सूर्य को देवता का सम्मान ऋग्वेदिक काल से ही अविच्छिन्न रूप से दिया जाने लगा था । प्राचीन भारत में सूर्यपूजा के अभिलेख भी साक्षिभूत हैं । भारत के अन्य भागों की अपेक्षा मध्यभारत सूर्य भक्ति का अधिक उर्वर क्षेत्र रहा । मन्दसौर के पट्टवाय वर्ग ने<sup>५</sup> 'शिल्पावाप्त-धन-समुदय' से दीप्तरश्मि का मन्दिर बनवाया था (श्लोक २६) । स्कन्द-गुप्त के इन्दौर (इन्द्रपुर) ताम्रपत्र<sup>६</sup> में भगवान् सविता की पूजा ही मुख्य विषय है । मिहिरकुल कालीन ग्वालियर (गोपगिरि) शिलालेख<sup>७</sup> में भी रम्य गोपगिरि पर 'भानु - प्रासाद' के निर्माण का वर्णन है ।

१: का०६०६०, भाग ३, पृ० २२७, श्लोक १

२: वही, सं० २६

३: ६०६०, भाग २०, पाठ्य, पृ० ६६

४: का०६०६, भाग ३, सं० १०

५: ६०—का०६०६०, भाग ३, सं० १८

६: वही, सं० १६

७: वही, सं० ३७



लेख का मंगलाचरणा, लेख लिखवाने वाले व्यक्ति के उपास्यदेव की सूचना देता है। सैन्द्रिक निकुम्भात्सशक्ति के बगुप्ता शासन-पत्र,<sup>१</sup> (द्रुतविलिखित हृन्द में) 'प्रथमदिक् सरसी' के 'पृथुपंकज' सूर्य का मंगलाचरणा से प्रारम्भ होता है। इस-लिए उक्त नरेश को उपास्य देव, 'सूर्य' स्पष्ट ही है।

अन्यान्य देवता—अन्यान्य देवताओं में प्रमुख गणेश और कुबेर हैं। वैसे, वरुणा, इन्द्र, यम, काम, बृहस्पति आदि अनेक देवताओं का अभिलेखों में यत्र तत्र उल्लेख है किन्तु उपास्य के रूप में कम और तुलना करते समय उपमान के रूप में अधिक।

गणेश उपासना के आदि देव हैं। ग्यारह श्रेष्ठियों के सक्राई लेख<sup>२</sup> के मंगलाचरणा में महागणपति के मुख का भव्यवर्णन है (श्लोक १)। इसी लेख के तृतीय हृन्द में इस श्रेणी वर्ग ने अपने व्यवसाय के अनुरूप ही 'धनद' की प्रार्थना की है। प्रकाशधर्म के एक लेख<sup>३</sup> (चम्पा) में आद्यान्त (दो हृन्दों में) महेश्वर सत्ता धनाकर कुबेर की वन्दना की गई है। <sup>स्पष्ट है</sup> बृहत्तर भारत ने भी कुबेर को उसी रूप में सम्मान दिया, जिस 'धनदत्व' रूप में वह भारत में सम्मानित होता आया है। <sup>अभिलेख, नागपूजा के भी उदाहरण हैं। ब्रह्मपुर लेख १२१) में वीरणेश्वर स्वामी (शेषनाग) का भव्यवर्णन उपास्यदेव के रूप में है। तद्वत् आज भी हिमाचल की उपत्यकाओं में नागराजा, नागर्जा या नागेसा के नामों से सर्पपूजा होती है।</sup>

बौद्धधर्म—ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ भारत में बौद्धधर्म के अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं थी। अशोक के पश्चात् कुशाण नृपतियों की क्राया में यह धर्म पुनः पल्लवित हुआ और उसकी जड़ें भारत की भूमि में बढमूल हो गईं। इस समय के अनेक मूर्ति लेखों<sup>४</sup> से सिद्ध होता है कि मथुरा अहिच्छत्र, रामनगर आदि भू-प्रदेशों में हरियाली के समान बुद्ध की एक शान्त एवं अकलुष भक्ति व्याप्त थी।

वासिष्क के बुद्धमूर्ति-लेख<sup>५</sup>, सांची स्तम्भलेख<sup>६</sup> तथा हरि-

१: ई०ई०८०, भाग १८, पृ० २६५-२७०

२: ए०ई०, भाग २७, पृ० २७-३३

३: MY-SON PEDESTAL अभिलेख, चम्पा, पृ० २७

४: सिथियन काल के ब्राह्मी लेख, ए०ई०, भाग १०, पृ० १०६-१२६, लेख १, २, ६, आदि

५: सि०ई०, भाग १, सं० ४८

६: का०००ई०, भाग ३, सं० ७३



स्वामिनी वाला सांचीलेख<sup>१</sup> चन्द्रगुप्त (द्वि०) वाला सांची लेख<sup>२</sup> आदि अनेक लेख इस मत की पुष्टि करते हैं कि ब्राह्मणधर्मावलम्बी भारत में सांची प्राचीन काल से ही अविच्छिन्न रूप से बुद्धासन में दीप जलाए बैठा रहा । यह बौद्धतीर्थ था । यहां, बौद्धमतावलम्बियों के दान के माध्यम से भिक्षुओं के लिए निरन्तर भोजन व्यवस्था की जाती थी ।

सांची की भांति सारनाथ भी प्राचीन भारत में बौद्धधर्म का प्रसिद्धकेंद्र था । भिक्षु हरिगुप्त के सारनाथ लेख<sup>३</sup> के अनुसार उसने यहां एक बुद्धमूर्ति की स्थापना की थी । उत्तर भारत का तृतीय प्रधान बौद्धधर्म-केंद्र बोध गया था ( आज भी उसकी तद्बन्धु स्थिति है)। प्राचीनकाल में विदेशों के भी यात्री यहां आते और अपने जीवन की सफल बनाते । महा-नामन् स्वयं आप्रक्षीप(लंका) निवासी था। उसने बोधगया में बुद्धप्रसाद निर्माणा करवाकर अपनी बुद्धभक्ति को साक्षार रूप दिया ।<sup>४</sup> एक अन्य थेरवादी (स्थविर) महानामन् का बोधगया में देयधर्म लेख प्राप्त हुआ है<sup>५</sup>।

पश्चिमोत्तर भारत में कुषाणों आदि विदेशी आक्रमणकारियों की सत्ता सदियों तक चलती रही । उनमें अग्निष्ठादि सम्राट् बौद्धधर्म की ओर प्रवृत्त हो चुके थे । स्वात में प्राप्त तीन धम्मपदों के हन्दोबड़ संस्कृत भाषा-न्तर लेख,<sup>६</sup> पश्चिमोत्तर भारत में अनेक बौद्धधर्म की गतिविधियों के परिचायक हैं । वलभीनरेशों ने बौद्धभिक्षुओं को यथोचित सम्मान दिया । मैत्रक गुप्सेन के 'बला' शासन-पत्र से स्थानीय ('वलभीतलसन्निविष्ट'—पंक्ति ८) दुहड़ा महाविहार में अनेक भूटारह निकायों वाले भिक्षुसंघ की सूचना प्राप्त होती है ।<sup>७</sup>

१. का. इ. ई., भाग ३ संख्या ६२

२. का० इ० ई०, भाग ३, सं० ५

३. वही, संख्या ७५

४. वही, संख्या ७१

५. वही, संख्या ७२

६. वही, ए० ई०, भाग ४, पृ० १३३—१३५

७. ए० ई०, भाग १३, पृ० ३३६, पं० ८—९

भारतैतर देशों में बौद्धधर्म के प्रसार की सूचनाएं अभिलेखों से प्राप्त की सकती हैं, जैसे वर्मा में बौद्धसूत्रों वाले लेख प्राप्त हुए हैं। रुद्र-वर्मन् (काम्बुज) के एक लेख में मंगलाचरणा के रूप में (जिन) बुद्ध की प्रार्थना की गई है (TA PROMM लेख, ३० का० (मज्झिम) सं० ३)।

जैनधर्म—जैनधर्म भारत की उर्वर भूमि में सदाबहार स्रोत की तरह अन्य धर्मों के साथ सह अस्तित्व बनाए हुए बचता रहा। यह स्रोत न कभी ज़ीरा हुआ और न इस पर कभी बाढ़ आई। यह एक अजस्र धारा रही, जो अन्यधर्मों के प्रसार आतप में भी पंकशेषत्व को प्राप्त नहीं हुई।

सिथियन काल में, जिसमें थोड़े-थोड़े बौद्धलेखों की भी अधिक प्राप्ति है, जैन लेखों का अभाव नहीं। यदा-कदा जैनमूर्तियों के प्राप्ति<sup>१</sup> यह सिद्ध करती है कि जिस युग में उत्तर भारत में बौद्ध धर्म को विशेष प्रश्रय मिल रहा था, जैनधर्म अपने अस्तित्व की दीपशिला को अक्ष-म्पित बनाए रहा।

ब्राह्मणधर्म के समर्थक गुप्त-युग में भी यह धर्म अपनी दीपवर्तिका को स्नेहसिक्त किए रहा। ४२५-२६ के एक लेख में उदयगिरिगुहा में 'जिन-वरपाश्व' की 'आकृति' (मूर्ति) की स्थापना का वर्णन है।<sup>२</sup>

उत्तर भारत की अपेक्षा जैनधर्म का दक्षिण में अधिक प्रचार, अभिलेखों के माध्यम से ज्ञात होता है। पार्श्वनाथ वस्ती के दक्षिणावर्ती चन्द्रगिरि पर्वत पर एक सुन्दर लेख<sup>३</sup> है, जिसमें बर्हमान की वन्दना के पश्चात् उज्जयिनी से एक जैनसंघ के दक्षिण की ओर निर्गमन का सजीव वर्णन है। यह समाधि-लेख है। इस संघ के एक प्रसिद्ध आचार्य प्रभाचन्द्र ने समाधि लगा-कर अपने जीवन अपने-जीवन की इतिश्री की थी। कालान्तर में सात सौ जैन सन्यासियों ने भी प्रभाचन्द्र का ही अनुसरण कर अपनी ऐश्वर्यलीला समाप्त की। इसी प्रकार के अन्यान्य अनेक समाधि-लेख दक्षिण में (विशेषतः चन्द्रगिरि के आस पास) प्राप्त होते हैं।<sup>४</sup>

सं० २०१०

१. ड०—इक्कीस ब्राह्मीलेख, पृ० १०६--१२१, सं० ३, ४, ५, ७, ८ (इनमें ५ वाँ लेख जैन तीर्थंकर सम्भवनाथ पर है)

इस तरह अभिलेखों के माध्यम से भी जैन-धर्म की प्राचीन गति-विधि<sup>को</sup> का अनुमान किया जा सकता है ।

(४) सामाजिक महत्व— प्राचीन साहित्य के साथ अभिलेख भी प्राचीन समाज और सामाजिक परिपाटियों के रफटिक-दर्पण हैं । अधोलिखित विवरण इस निष्कर्ष का समर्थन करेंगे—

माता-पिता की सर्वाधिक सम्मान से देखा जाता था । लेखों में नृपतिगण तक अपने लिए— 'मातापितृपादानुध्यातः' कह कर गौरव का अनुभव करते थे । ऐसा लिखने की एक सामान्य परम्परा थी और यह वाक्य अधिकांश अभिलेखों में प्राप्य है । हर्ष के शासन-पत्रों से भी इस तथ्य की विशेष सूचना मिलती है कि अजित का, पिता के समान ही समादरणीय स्थान था, जैसा कि आजकल भी है । हर्ष अपने को राज्यवर्द्धन का अनुज बताकर स्वयंःकौतवत् 'तत्पादानुध्यातः' कहता है ।<sup>१</sup>

चाचा के प्रति भतीजे की पुनीतभक्ति का दृष्टान्त यशोधर्मन विष्णुवर्द्धन के मन्दसौर स्तम्भ लेख में प्राप्त होता है । इस लेख से सूचना मिलती है कि दत्ता ने अपने आदरणीय पितृव्य अभयदत्त की पुण्य स्मृति में निदर्शना नामक कूप खुदवा कर एक बबूतरे का निर्माण करवाया था ।<sup>२</sup>

विवाह की प्रथाओं में राजसमाज में स्वयम्बर भी प्रचलित था । गिरिनार लेख में रुद्रदामन् (प्र०) के लिए स्पष्ट लिखा गया है — 'स्वयं-वरानेकमात्यप्राप्तदाम्ना' [T] महादात्रपेण रुद्रदाम्ना<sup>३</sup> । यहाँ स्वयंवर प्रथा की सूचना के साथ 'अनेक' शब्द से बहुविवाह की प्रथा भी ध्वनित है ।

पातिव्रत धर्म पर विशेष बल दिया जाता था । समुद्रगुप्त की पत्नी को इसी प्रकार 'व्रतिनी' कहा गया है ।<sup>४</sup> पति से सतत प्रेम की प्राप्ति स्त्री के लिए विशेष सौभाग्य की बात थी । पल्लव परमेश्वर की पत्नी

१. उदा०— मधुवन शासन पत्र, २०ई०, भाग ७, पृ० १५७—१५८, पंक्ति ७-८

२. हि०लि०ई०, पृ० १३५, श्लोक २२-२३

३. इ०ऐपिट०, भाग ७, पृ० २६१, पं० १५

४. एरण्ड शिलालेख, का०इ०ई०, भाग ३, पृ० २०, श्लोक ५

को अपने पति का ऐसा ही अद्भुत प्रेम प्राप्त था ('कान्ता नितान्त - दयिता परमेश्वरस्य ॥')<sup>१</sup>

सती प्रथा का व्यापक प्रचार नहीं था। सती होने, न होने में कोई सामाजिक बन्धन भी नहीं था। गोपराज की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् स्वयं अग्नि का अलिंगन कर देहलीला समाप्त की,<sup>२</sup> किन्तु वाकाटक प्रभावती-गुप्ता के समान अन्य उदाहरण भी हैं, जिनसे विदित होता है कि पति की मृत्यु के पश्चात् भी स्त्रियाँ यथावत् सामाजिक सम्मान के साथ जीवित रह सकती थीं। लाजामण्डल लेख में वर्णित 'ईश्वरा' पति की मृत्यु के पश्चात् जीवित रहते हुए निरन्तर अपने दिवंगत पति का ध्यान करती रही। पति के पारलौकिक पुण्य के लिए ही उसने एक धार्मिक स्थान (मन्दिर) का निर्माण करवाया।<sup>३</sup>

धर्म और राजनीति के क्षेत्र, केवल पुरुषों के लिए ही सुरक्षित नहीं थे। उनमें स्त्रियों का भी समान प्रवेश था। गुहिल-अपराजित के सेनापति वराहसिंह की पत्नी के विष्णुमन्दिर का निर्माण करवाया।<sup>४</sup> फलतः उसने अपनी धर्मभावना को वास्तुकला के माध्यम से प्रत्यक्ष किया।<sup>४</sup>

मगधनृपति आदित्यसेन की पत्नी कोणदेवी ने जनकस्थापा के लिए एक पुष्करिणी का निर्माण करवाया<sup>५</sup>, जिसका पानी उसकी द्रवित धर्म भावना का ही परिणाम था। राजनीतिक क्षेत्र में 'उभयकुलालंकारभूता' प्रभावती-गुप्ता का उदाहरण उल्लेखनीय है। पति के निधनोपरान्त पुत्र की शैशवावस्था में उसने वाकाटक शासन की डोर अपने हाथ में ली और शासन-पत्र उद्घोषित किये। पुत्र प्रवरसेन (द्वि०) के राज्यारोहण के पश्चात् भी उसने शासन-पत्रों का अधिकार पुत्र के साथ-साथ अपने लिए भी सुरक्षित रखा।<sup>६</sup> इस प्रकार अभिलेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि प्राचीनभारत

१. सा०इ०इ०, भाग १ (सं० २६), पृ० २३, श्लोक १

२. का०इ०इ०, भाग ३, संख्या २०

३. ज०रॉ०ए०सो०, भाग २०, पृ० ४५७, श्लोक २०,

४. उदयपुर लेख, ए०इ०, भाग ४, पृ० ३१, श्लोक ८

५. का०इ०इ०, भाग ३, सं० ४४, ४५

६. इ०-रिथपुर दानलेख, सि०इ०, भाग १, पृ० ४१५-४१८

में रिवियों की समुन्नत दशा थी और जीवन के सभी क्षेत्रों में उनकी गति थी ।

समाज में वृद्धों का स्थान आदरास्पद था । ऋद्धम्ब रविवर्मन् अपने एक लेख को घोषित करते समय अन्यो के साथ ग्रामवृद्धों को भी सम्बोधित करता है ।<sup>१</sup> सामान्य जनता उत्सवप्रिय थी । ऋद्धम्ब रविवर्मन् के एक लेख में राजनिर्धारित धार्मिक उत्सव के स्पष्ट संकेत हैं ।<sup>२</sup> प्रत्येक उत्सव की पृष्ठभूमि में जनता का सक्रिय सहयोग अव्यक्त है ।

समुदाय विशेष में उत्पन्न व्यक्ति, जो विकोपार्जन हेतु सर्वथा भिन्न व्यवसाय भी अपना सकते थे । मन्दसौर के तन्तुवाय-समाज में सभी चुनकर नहीं थे, उनमें कुछ संगीत विद्या में निष्णात थे, कुछ कथाविद् थे तो कुछ ज्योतिर्विद् और सैनिक ।<sup>३</sup>

स्कंदगुप्तकालीन कर्नाम स्तम्भ लेख<sup>४</sup> से ग्रामीण सामाजिक वातावरण की एक फलक प्राप्त होती है । इस लेख में वर्णित 'कुकुभ' ग्राम 'साधुसंगमपूत' था । इस ग्राम के भट्टिसोम आदि निवासी अपने विचारों से महात्मा चित्रित हुए हैं ।

समाज कल्याण की ओर भी सभी सज्जन एवं समर्थ व्यक्तियों का समान झुकाव था । विश्ववर्मन् कालीन गंगधर शिलालेख में लिखा है कि मयूराजाक ने समाजकल्याणार्थ ही गर्गरातटपुर को वापी, तडाग, मन्दिर, उपवन आदि से अलंकृत किया ।<sup>५</sup> आभीर सेनापति रुद्रभूति ने ग्रामीणजनता के कल्याण के लिए ही रसापद्रकग्राम में 'वापी' तैयार की ।<sup>६</sup>

#### (५) आर्थिक महत्त्व—

अर्थशास्त्र एवं विज्ञानप्रचुर इस युग के लिए भी अभिलेख आर्थिक

---

१. कट्टवेरुवु दानलेख, का० प्ले० ३० आ० ५० म्यु० ( हैदराबाद )

भाग १ पंक्ति १५

२. इंडोपिट०, भाग ६, पृ० २५-२७

३. बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर शिलालेख, का० ३० इ०, भाग ३, पृ० ८२  
श्लोक १६—१७

४. का०इ०इ०, भाग ३, पृ० ६५-६८

५. स्कंदगुप्त किं० (गंगानाथ फाट) पृ० २२, श्लो० १६

६. रुद्रसिंह(५०)कालीन गुण्डा शिलालेख, सि०इ०, भाग १, पृ० १७६

महत्त्व के विषय के विषय बनने का पूर्ण सामर्थ्य अपने आप में संजोए हुए हैं ।

उस युग में भूमि के वर्गों में अग्रदा (UNSETTLED) अग्रस्त (न जोती गई), अस्तम्भ, विल, समुदायवाज्य एवं अप्रतिभर आदि होते थे। करों में उद्वंग, उपरिभर, धान्य (Tax in kind) एवं फिरण्य (CASH) आदि थे। उपरिभर खेतीहरों से लिया जाता था। ये राज्य के आयस्रोत थे। उद्देय या अग्रभूमि पर कर नहीं लिया जाता था। व्यक्ति के हाथों उसका पूर्ण स्वामित्व सुरक्षित था। करों से प्राप्त धन से प्रशासन संबंधी व्यय वहन करने के साथ राजा प्रजाकल्याणार्थ भी धन-व्यय करता था। रुद्रदामन (प्र०) ने पौराजानपद के कल्याणार्थ अपने कोष से निकाले गए विपुल धनसमूह ('मन्त्रा धनार्धेन'—पं० १६, गिरिनार लेख) से सुदर्शन भील का जीर्णोद्धार किया। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त के राज्यपाल पण्डित के पुत्र चक्रपालित ने भी धन का अप्रमेय व्यय करके<sup>१</sup> सुदर्शन भील का पुनः संस्कार किया, जिससे जनता को अन्य लाभों के अतिरिक्त भू-सिंचन कार्य में भी सुविधा प्राप्त हुई।

व्यवसायी वर्ग, व्यवसाय विशेष की उन्नति के लिए अपने निवास स्थान छोड़ कर अन्य प्रदेशों में भी बस जाया करते थे। कुमारगुप्त (द्वि) -- बन्धुवर्धन कालीन मन्दसौर लेख<sup>२</sup> से ज्ञात होता है कि लाटविषय (गुजरात) के बुनकर (तन्तुवाय) अपने प्रदेश को छोड़कर मन्दसौर में आकर बस गए (श्लोक ४) और वहाँ उन्होंने सूती कारखानों का स्थानीकरण (LOCALIZATION) किया।

इसी प्रकार सामोली लेख<sup>३</sup> के अनुसार विदित होता है कि अमी आजीविका की खोज में कुछ महाजन बटनगर से चले और उन्होंने अण्यकूपगिरि में एक खान खोदी। प्राप्त खनिज, सारे महाजन समुदाय की समृद्धि का कारण बन गया। इसी भाँति सक्राई लेख<sup>४</sup> में वर्णित ग्यारह बैंकियाँ (BANKERS

१. 'धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम्' — स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, हि० लि०

२. इ०, पृ० ६८, श्लोक ३५

३. का० इ० ६०, भाग ३, सं० १८

४. इ० इ०, भाग २०, पृ० ६७-६६

५. इ० इ०, भाग २७, पृ० २७-३३

में मण्डन और गर्ग ने अपने श्रेष्ठत्व की सर्वसत्त्वानुक्रमा (दया-दान-दानाणा) के द्वारा पूर्णता को पहुँचाया (श्लोक ७)।

श्रेणी के कार्यकलाप लगभग वही थे, जो 'चेम्बर ऑफ कॉमर्स' के होते हैं। श्रेणियाँ 'बैंकिंग' का कार्य भी करती थीं। व्यापार विशेष की पृथक् श्रेणियाँ भी होती थीं। जिस प्रकार मन्दसौर में तन्तुवायों की अपनी पृथक् श्रेणी थी, उसी प्रकार गुप्तकाल में इन्दौर में एक तैलिक श्रेणी थी, जिसमें समग्र स्थानीय तेल के व्यापारी सम्मिलित थे।<sup>१</sup>

सम्भवतः, राजाओं की धृत समितियों का एक सभापति या धृत में प्रयुक्त होने वाले धन का रक्षक (BANK HOLDER) होता था। दुर्गगा कालीन फाल्गुनापाठन लेख<sup>२</sup> में 'वोप्पक' ऐसा ही व्यक्ति था (श्लोक ७) जिसके पद का नाम 'जित्तिपधृतसभापति' था।

मन्दिर-मठ-विहारादि को दत्तधन मन्दिरस्थ कोष में जमा कर दिया जाता था। मन्दिर की संस्थाकोषगतधन को व्यापारादि कार्यों में लगाकर व्याज के माध्यम से उस धन की वृद्धि करती थी, जिससे दानकर्ता व्यक्ति का मूलभूत उद्देश्य नियमित रूप से निरन्तर गतिशील रहे। उक्त कथन के समर्थन में सांची शिलालेख<sup>३</sup> द्रष्टव्य है।

#### (६) प्रशासकीय महत्त्व—

युद्ध में अचिर-प्राप्त प्रदेश सुलभ उपद्रव होता है। ऐसे प्रदेश में सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही प्रशासन में सफल हो सकते हैं। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख<sup>४</sup> में वर्णित पणदिप्त ऐसा ही व्यक्ति था। यह लेख प्रशासकीय समस्या का सफल समाधान है।

प्राचीन भारत में राजा ही समग्र शासन का सर्वोच्च नीति-निर्धारक होता था। सान्धिविग्रहिक महादण्डनायक (प्रयाग प्रशस्ति पं० ३२-३३), मतिसचिव, कर्मसचिव (रुद्रदामन् का <sup>गिरिनार</sup> जूनागढ़) लेख पं० १७), कुमार-मात्य (उदा०—'शिखरस्वामी'—कर्मदण्डलिंगलेख, हि० लि० ६०, पृ० ८२, पं० ६) आदि उसके परामर्श दाता मंत्री होते थे। उनके परामर्श को ठुकराने का सर्वाधिकार, सम्राट् के पास सुरक्षित था। सुदर्शनफलील के पुनः संस्कार

१. का० ६०६०, भाग ३, सं० १६

२. ई० रेपिट०, भाग ५, पृ० १८०-१८३

३. का० ६०६०, भाग ३, सं० ६२

४. का० ६०६०, भाग ३, सं० १४



के पक्ष में रुद्रदामन् (प्र०) के कर्म सचिव और मति सचिव न थे, किन्तु उनकी एक न बली ।

प्रान्तीय प्रशासन का संचालक नृपति से नियुक्त, नृपपादानु-  
ध्याता, 'उपरिके' या 'गोप्ता' कभी-कभी राज-कार्यविशेष के लिए राजा  
को भी प्रभावित कर देता था । सुदर्शनभट्टील निर्माण में आनर्त्सुराष्ट्र के  
गोप्ता सुविशाख ने ऐसा ही किया था । ( गिरिनार ले० पं० १८-२० ) ।

प्रान्तीय प्रशासक का भी अपना सचिवालय होता था, जिसमें  
विभिन्न विभागों के अधिकारी होते थे । गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वि० )  
का पुत्र गोविन्दगुप्त वैशाली को मुख्यालय बनाकर तीरभुक्कित का शासन  
करता था । 'ब्लॉक' महोदय ने इसी स्थान से अनेक मुद्राओं को खोद-  
निकाल कर प्रान्तीय अधिकारियों की परिगणना में पर्याप्त योग दिया ।<sup>१</sup>  
इनमें --कुमारामात्याधिकरण, बलाधिकरण राभाठाधिकरण, विनयशूर  
(CHIEF CENSOR ) महादण्डनायक, तलवर, दण्डपाशाधिकरण, महा-  
प्रतिचार (CHIEF CHAMBERLAIN ) विनयस्थितिस्थापक (MINISTER OF  
LAW & ORDER ) और भट्टाश्वपति उल्लेखनीय हैं ।

प्रान्त, आजकल की भाँति ही जिलों (विषयों) में विभक्त  
होते थे ; विषय-प्रशासक विषयपति होता था । कुमारगुप्त (प्र०) के  
समय पुण्ड्रवर्द्धन का राज्यपाल चिरातदत्त था । चिरातदत्त के अधीन कोटिवर्ण  
जिले (विषय) का विषयपति वेत्रवर्मन् था ।<sup>२</sup> विषय के कार्यालय (DISTT.  
HEAD-QUARTERS ) को अधिष्ठानाधिकरण कहते थे । जिले  
के प्रशासन सम्बन्धी अधिकारियों एवं परामर्शदाताओं में नगरश्रेष्ठि, सार्थ-  
वाक, प्रथम कायस्थ आदि होते थे । पुस्तपाल भूमि के लेखा-जोखा का  
अधिकारी होता था । विषय मुख्यालय की अपनी ही मुद्रा (SEAL )  
भी होती थी, जैसे कोटिवर्णविषय की -- कोटिवर्ण<sup>व</sup> अधिष्ठानाधि-  
[करणस्य] ।<sup>३</sup>

१, आ०स०रि०, (१६०३-४) पृ० १०१-२०

२, प्रथम, दामोदरपुर ताम्रपत्र, ए० इ०, भाग १५, पृ० १३०-१३१

३, इ०-पंचम, दामोदरपुर ताम्रपत्र, ए० इ०, भाग १५, पृ० १४२-  
१४३ ।

जिले (विषय) के भी एक ऋह ( SUB-DIVISION ) को वीथी कहते थे ।<sup>१</sup> ग्रामों की शान्तिव्यवस्था एवं प्रशासकीय रैत्र-दैत्र के लिए महत्तर<sup>२</sup> एवं कुटुम्बियों<sup>३</sup> का विशेष महत्व था । बड़े गाँवों में शासन-व्यवस्था के लिए आठकुलों के प्रतिनिधियों का एक परिषद् होता था, जिसे 'ग्रामाष्टकुलाधिकरण' कहते थे ।<sup>४</sup>

राजकीय सेवा में पिता का पद, पुत्र प्राप्त कर सकता था । मैत्रक शीलादित्य (द्वि०) के लुणासहि शासन-पत्र का लेखक 'मदनहिल' दिविर-पति था । उसका पिता सन्धिविग्रहाधिकृत स्कन्दभट भी दिविरपति ही था ।<sup>५</sup> लेकिन पितृपरम्परागत सेवाओं के एकान्त-समर्थन में अधिक प्रमाण नहीं हैं । यों, किसी परिवारविशेष के लिए नृपतिकुल का विशेष आकृष्ट हो जाना भी स्वाभाविक ही था । यशोधर्मन् विष्णुवर्धन के मन्दसौर स्तम्भ-लेख<sup>६</sup> से ज्ञात होता है कि उसके पूर्वज, षष्ठीदत्त और उसके वंशधरों को (परम्परानुसार) अविच्छिन्न रूप से राजसेवा में रखते हुए चले आ रहे थे ।

पहाड़पुर ताम्रपत्र<sup>७</sup> से हमें नगर प्रशासन सम्बन्धी ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती है । नगर-पालिका को भी अधिष्ठानाधिकरण ही कहते थे । आधुनिक 'मेयर' उस समय 'पुरोग' शब्द से व्यवहृत होता था । 'मेयर' के लिए पुरपाल शब्द भी था । किन्तु गुणौर ताम्रपत्र में आया 'पुरपाल उपरिक'<sup>८</sup> एक ऐसा पद रहा होगा, जिसका अधिकारी अनेक नगरों के पुरोगों का अधीनाष्टा करता रहा होगा ।

निष्कर्ष यह है कि प्राचीन प्रशासन सम्बन्धी जानकारी के लिए भी हमें अभिलेखों का ही विशेष आश्रय लेना पड़ता है ।

१. इ०—पहाड़पुर ताम्रपत्र, ए०ई०, भाग २०, पृ० ६१-६३

२. इ०—फर ताम्रपत्र, भाव०, पृ० ३२ (पत्र २) पं० ३, तथा अन्यान्य (अनेक) शासनपत्र

३. इ०—'कुटुम्बिमहत्तर.....' भेत्ति का धुलेव शासन-पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० ४६ पं० १ (अन्यान्य अनेक लेख भी द्रष्टव्य)

४. सुलतानपुर ताम्रपत्र, ए०ई०, भाग ३१, पृ० ६१

५. भाव०, पृ० ४६, (पत्र २) पं० ३३

६. का०ई०ई०, भाग ३, सं० ३५

७. ए०ई०, भाग २०, पृ० ५६-६४

८. सि०ई०, भाग १, पृ० ३३३, पं० १६

## (७) निर्माणा सम्बन्धी महत्व—

निर्माणा सम्बन्धी सूचनाएँ भी सज्ज सुलभ हैं। सुदर्शन बांध<sup>१</sup> पर जब तीव्र वर्षा के कारण ४२० हाथ लम्बी, ४२० हाथ चौड़ी और ७५ हाथ (पं० ७-८) गहरी दरार पड़ गई थी, तो उस फील के सारे पानी का बह जाना स्वाभाविक ही था। फिर उस बांध का पुनः संस्कार किया गया। रुद्रदामन् (५०) के एक राज्यपाल सुविशाल ने उसे पहले से भी सुदृढ़ कर दिया क्योंकि उसकी दीवार तिगुनी लम्बी और तिगुनी चौड़ी करीब <sup>सुन्दरगुप्त के समय में भी जब</sup> ऐसी ही परिस्थिति आई, तो पण्डित के पुत्र चक्रपालित ने इसी बांध की अच्छी प्रकार प्रस्तरों की बिनाई करके ('सम्यग्घटितोपलेन') इसका जीर्णोद्धार किया।<sup>२</sup>

कन्हैरी ताम्रलेख में वर्णित एक चेत्य पाथाणा एवं ईंट से निर्मित था।<sup>३</sup> पल्लव महेन्द्रवर्मन् (५०) विचित्रचित्त के माहगम्पट्ट लेख<sup>४</sup> पल्लव-वास्तुनिर्माणा-कला का एक आश्चर्यजनक उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें लिखा है कि उक्त नृपति ने ब्रह्मा-विष्णु-महेश का मन्दिर ईंट, लकड़ी, धातु और लेप के बिना ही निर्मित करवाया था। अन्यान्य पल्लव लेखों में भी वास्तुकला के सन्दर्भ प्राप्त हैं। मन्दिर के आकार प्रकार (DESIGN) को निर्माता का विशेष उद्देश्य भी प्रभावित कर सकता था। गुच्छि अपराजित के सेनापति वराहदास की पत्नी यशोमती ने विष्णु संसारसागर को पार करने के उद्देश्य से जो विष्णु मन्दिर बनवाया, वह पोताकार था। मन्दिर चपटी छत वाले भी होते थे, जिन्हें 'वडवी' कहते थे।<sup>५</sup>

जावा नरेश पूर्णवर्मन् के टुगु शिलालेख<sup>६</sup> ( लगभग ५ वीं सदी ) में वर्णित गौमती-नहर निर्माणा, सभी देशों के सार्वजनिक-निर्माणा-विभागों के लिए एक शिलीभूत चुनौती है। उसने लगभग सात मील (६१२२ धनु । १ धनु = ४ हाथ ) लम्बी 'निर्मलोदका' (श्लोक ४) नहर केवल दक्कीस दिन में खुदवाई। पूर्णवर्मन् के राज्यारोहण से पहले उसके पिता ने भी 'चन्द्रभागा' नाम की नहर खुदवाकर कृत्रिम-जलसंचार-व्यवस्था से अपने प्रजाजनो को लाभान्वित किया था। यह अभिलेख जनकल्याण का ही नहीं, अपितु राजव कार्य-क्षमता का भी एक ऐतिहासिक उपदेश है।

१: ५०—रुद्रदामन(५०) का गिरिनार लेख, इ० रेण्टो, भाग ७, पृ० २५७

२: किलि०५०, पृ० ६८, श्लोक ३७

३: इ०के०टे०वै०५०, पृ० ५८, पं० ४

४: २०५०, भाग १७, पृ० १४—१७

(C) अन्यान्यविषयक महत्व—

भांगोलिक महत्व की दृष्टि से भी अभिलेख अनन्त ज्ञान के स्रोत हैं। इनसे प्राचीन राज्य, ग्राम, क्षेत्र आदि की सीमाओं का ज्ञान भी हमें प्राप्त होता है। अनेक नगरों और उनकी स्थिति की सूचना हमें साहित्य के अतिरिक्त अभिलेख भी देते हैं। उदाहरण के लिए पाटलीपुत्र,<sup>१</sup> दशपुर (मन्दसौर),<sup>२</sup> गोपगिरि (ग्वालियर),<sup>३</sup> नन्दवर्द्धन,<sup>४</sup> माहिष्मति,<sup>५</sup> उज्जयिनी,<sup>६</sup> अयोध्या,<sup>७</sup> कांची<sup>८</sup> आदि प्राचीन प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों की वास्तविक स्थिति का पता चलता है। ये नगर भारी संस्कृति से अभि-संबद्ध हैं।

देश के विभिन्न भाग, जैसे वंग<sup>९</sup> का मरूप,<sup>१०</sup> कोसल,<sup>११</sup> सौराष्ट्र<sup>१२</sup> आदि का परिचय हमें अभिलेखों के द्वारा भी प्राप्त होता है। अकेली समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति<sup>१३</sup> से ही उत्तर भारत, दक्षिणार्णव, मध्यदेश

१. चन्द्रगुप्त (द्वि०) कालीन उदयगिरि गुहालेख, हि० लि० ७६०, पृ० ८०, श्लोक ४

२. बन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख, का० ६०६०, भाग ३, संख्या १८, श्लोक ५

३. का० ६०६०, भाग ३, सं० ३७, श्लोक ६

४. भवदित्तवर्मा का रथपुर शासनपत्र, ए० ६०, भाग १६, पृ० १०२, पं० १

५. सुवन्धु का बहवानि ताम्रशासन, का० ६०६०, भाग ४(१), संख्या ६, पं० १

६. शंकरगंगा का अभोटा शासन पत्र, का० ६०६०, भाग ४, खण्ड १, पृ० ४१ पं० १

७. कर्मदण्ड लिंगलेख, हि० लि० ७६०, पृ० ८२, पं० १० तथा लाजापूर जाल-

धर लेख, ज० १०१०२०, भाग २०, पृ० ४५७, श्लोक २२

८. चालुक्य विक्रमादित्य (प्र०) का वेलनल्लि शासन पत्र, का० ७२०३० या ७२०

म्यु०, भाग १, पृ० ५३, पं० २२

९. मेहरौली लेख, का० ६०६०, भाग ३, सं० ३२, श्लोक १

१०. निधानपुर ताम्रशासन, हि० लि० ६०, पृ० २३६, पं० ४४

११. तीवर्देव का बलोद शासन पत्र, ए० ६०, भाग ७, पृ० १०५

पंक्ति १६

१२. का० ६०६०, भाग ३, सं० १४, श्लोक १२

१३. वही, संख्या १

एवं सीमावर्ती अनेक राज्यों का परिचय मिलता है। अभिलेखों के साथ महाभारत, बृहत्संहिता एवं संस्कृत-साहित्य से भी प्रमाण उपलब्ध करने पर प्राचीन राजनीतिक भारत का मानचित्र सहज ही में खींचा जा सकता है।

अभिलेख प्राचीन राज्य की विस्तार की सूचनाएं भी हमको प्रदान करते हैं। कुषाण कनिष्क के लेखों के आधार पर ही विदित होता है कि उसका राज्य पेशावर से सारनाथ तक विस्तृत था। तौरमाणिकालीन शरण<sup>१</sup> एवं उसके पुत्र मिहिरकुलकालीन ग्वालियर<sup>२</sup> लेखों से पता चलता है कि एक समय हुआ आधिपत्य मध्यभारत तक व्याप्त हो गया था। इसी प्रकार पल्लव लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके दक्षिण में चोलराज्य था—“विभूतिच्चोलानां”<sup>३</sup>।

सीमाओं के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय मार्गों को जानने में भी अभिलेख पर्याप्त सहायता करते हैं। जहाँ समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति से हमें दक्षिण भारत का अभियान-मार्ग ज्ञात होता है, वहाँ देवप्रयाग के ब्राह्मी लेखों<sup>४</sup> से उत्तराखण्ड का धार्मिक यात्रा मार्ग।

संस्कृत साहित्य में कालिदास भारवि आदि अनेक महत्वपूर्ण कवियों के कालनिर्णय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उनकी कालसीमाएँ निर्धारित करने में बाह्य साक्ष्यभूत अभिलेख, पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ऐहोल लेख लगभग ६३४ ई० का है, इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कालिदास एवं भारवि सन् ६३४ ई० से काफी पहले पैदा हो चुके थे। इस समय तक तो उनकी कीर्ति भी दिग्दिगन्त में व्याप्त हो चुकी थी। इसी लिए अपनी कीर्ति की तुलना रविकीर्ति ने उनकी कीर्ति से ही की (श्लोक ३७) ‘कालिदास-भारवि’ इस नामोल्लेख-क्रम से इसस्थ की अधिक पुष्टि हो जाती है कि उस समय भी कालिदास श्रेष्ठतर थे और भारवि से भी कहीं पहले उत्पन्न हुए थे।

अभिलेखों पर पड़े प्रभाव से भी कवि कालनिर्धारण कुछ मात्रा

१: का०इ०ई०, भाग ३, सं० ३६

२: वही, सं० ३७

३: सा०इ०ई०, भाग १, पृ० ३०, श्लोक ३

४: ए०इ०, भाग ३०, पृ० १३३-१३५

तक सम्भव है। अन्धुवर्मन् कालीन मन्दसौर लेख<sup>१</sup> (४७३ ई०) से स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि इस लेख के कवि वत्सभट्ट ने कालिदास के मेघदूत एवं अनुसंहार का प्रभाव ग्रहण किया। इसलिए कालिदास का समय, निश्चित रूप से ४७३ ई० से पहले होना चाहिए।

धुवह्लाण कालीन दधिमति-मातालेख<sup>२</sup> (६०८ ई०) में “सर्व मंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके” — श्लोक उद्धृत है। इस प्रसिद्ध उद्धरण से यह सूचना मिलती है कि देवी माहात्म्य सातवीं सदी से शताब्दियों पूर्व प्रणीत हो चुका था। उस यातायातविहीन युग में कुरु सभ्यता<sup>३</sup> उसके देश-व्यापी प्रचार में भी लगे होंगे। इसी भांति त्रैलोक्यमत्त के कल०वे० संवत् ६६३ वाले धुरेती शासन-पत्र<sup>३</sup> (पं० ४) में दण्डी के काव्यादर्श का चतुर्मुख-मुक्ताम्भोजवनःसवधुर्मम<sup>३</sup> (काव्या० १।१) श्लोक उद्धृत है। इससे दण्डी का पर्याप्त पूर्वभावित्व तो स्पष्ट है ही, साथ में यह भी सख्त अनुमित है कि इस समय तक दण्डी का उक्त ग्रंथ इतना ख्यातिप्राप्त हो चुका था कि उसका प्रभाव अभिलेखों में भी अपना प्रवेश पाने लगा।

सर्वमान्य तथ्य यह है कि अभिलेख हमारी विविध जिज्ञासार्थों के तुष्टिकेन्द्र हैं।

## २. भारतीय अभिलेखों में संक्षेपण की प्रवृत्ति

संक्षेपण की प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में प्रयत्न लाघव का सिद्धान्त है। कम प्रयत्न से वांछित पाठ्य प्रस्तुत हो जाय, अभिलेखों के लेखक इसी उद्देश्य से दैनिक व्यवहार के शब्दों के संकेतों अथवा मात्र वर्णों से व्यक्त

१. का० ३० ई०, भाग ३ संख्या १८

२. ए०ई०, भाग ११, पृ० २६६—३०४

३. का०ई०ई०, भाग ४, (१) पृ० ३६६—३७४

करने के पक्षापाती बने । अभिलेखों के सन्दर्भ में इसका एक दूसरा कारण भी था— आधारभूत-लेखन-सामग्री में स्थान का प्रभाव । प्रस्तर 107<sup>1</sup> एवं ताप्रपत्रों के अन्तिमभाग में, मूर्तियों के आधार या पृष्ठ पर अथवा सिक्कों की परिमित मोलाई के बीच लिखे जाने वाले विषय के लिए पर्याप्त स्थान न मिलने के कारण शब्दों के संक्षेपण की ओर अभिलेख-निर्माताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था । जिन मूर्तियों, शिलालेखों अथवा ताप्र-पत्रों पर ये 'संक्षेप' प्रारम्भ में ही मिलते हैं, वहाँ भी यह कारण युक्ति-संगत है कि अकैता ने लिखे जाने वाले विषय की अपेक्षा आधारभूत लेखन सामग्री के स्थानाभाव का अनुमान पहले ही कर लिया होगा, जिससे उसने अभिलेख के प्रारम्भ में प्रचलित शब्दों के प्रतिनिधि के रूप में उनके प्रथमा-क्षरों का ही प्रयोग करना उचित समझा हो । संक्षेपों वाले ऐसे अभिलेखों की भी कमी नहीं, जिनमें पर्याप्त स्थान खाली छूटा देखकर कोई यह विचार कर सकता है कि इस आधारभूत लेखन सामग्री में संक्षेपण की क्या आव-श्यकता थी । इस शंका का समाधान यह है कि शब्दों के संक्षेपों का इतना व्यापक प्रचार हो गया था कि अकैता ने उनके पूर्णरूप के प्रयोग में अपना समय नष्ट करना उचित न समझा । प्रारम्भ में आने वाले संक्षेपों के कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं :—

—सं० ६ है ३ दि १०"१

—सं० १० २ व ४ दि १०"२

—[सं० ७०] ४ ग १ दि ५"३

उल्लिखित उदाहरणों में 'सं' सम्बत् या सम्बत्सर, 'है' हेमन्त, 'दि' दिवस या दिन, 'व' वर्षाकाल और 'ग' (ग्री) ग्रीष्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उपसंहार में आरु संक्षेपों के दो उदा-हरण नीचे द्रष्टव्य हैं :—

१. सिथियन कालीन २१ ब्राह्मी लेख— ए० ३०, भाग १०, पृ० ११० ,

लेख सं० ३, पं० १

२. वही, पृ० १११, लेख संख्या ४, पं० १

३. वही, पृ० ११५, लेख संख्या ६, पं० १



—“सं [४०] ७ वा प ७ दि ७ अं”<sup>१</sup>

—“रा सं -----”<sup>२</sup>

यहाँ ‘वा’ (व) वर्षाकाल, ‘प’ पक्ष एवं ‘रा’ राज्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार प्रथम उद्धरण की तिथि होगी — संवत् ४०+ ७= ४७ के वर्षाकाल के सातवें पक्ष का सातवाँ दिन।

अन्यान्य लेखों में आए ‘पा’<sup>३</sup> माघ, ‘सु’<sup>४</sup> सुदि, ‘दु’<sup>५</sup> शुद्ध या शुक्लपक्ष एवं ‘ब’<sup>६</sup> बहुल (कृष्णपक्ष) के संज्ञित रूप हैं। महासामन्त समुद्रसेन के निर्माण ताम्रपत्र में ‘वैशाखे’ का संज्ञोप<sup>७</sup> न्यमानुसार नहीं। परम्परागत रूप से इसे ‘वै’ होना चाहिए था। जो सकता है कि लेखक ने, जिसप्रकार अजकल १६६६ के लिए केवल ‘६६’ वाले अन्तिम प्रमुख भाग से काम चलाते हैं, उसकाल की प्रथा के विरुद्ध अन्तिम वर्ण के द्वारा पूरे शब्द का प्रतिनिधित्व कराने का नया प्रयोग किया हो।

कृषि एवं भूमिदान सम्बन्धी मापों में ‘कुत्पवाप’ एवं ‘द्रोण-वाप’ शब्द हैं, भूमिदान या भूमिविक्रय सम्बन्धी लेखों में जिनका प्रचुरता से प्रयोग होता है। पलाहपुर ताम्रपत्र में इन दोनों के संज्ञोप, क्रमशः ‘कु’ एवं ‘द्रो’ हैं।<sup>८</sup> विनिमय माध्यम एवं राजकीय पदों के लिए भी संज्ञोपों का

१. विष्णुवर्धन माधव वर्मन् (द्वि०) का ईपुर शासन—२०६०, भाग १७  
पृ० ३३६, पं० १३

२. तलेश्वर पत्र—२० ६०, भाग १३, पृ० १२०, पं० २८

३. कामरूपनृपति भूतिवर्मन् का बडगंग लेख, ज० आ० रि० सो०, भाग ८,  
पृ० १३६, पं० ३

४. का०६०६०, भाग ३, सं० ८०, पं० १४

५. वडी, सं० ७१, पं० १४

६. २०६०, भाग ३०, पृ० १८१, पं० ३४

७. का०६०६०, भाग ३, सं० ८०, पं० १४

८. २०६०, भाग २०, पृ० ६३, पं० १६

आश्रय लिया गया, जैसे—रूपकाः (रूपये) के लिए 'रु' <sup>१</sup> और दूतक के लिए 'दु' (दु) <sup>२</sup> आदि । भास्करवर्मन् के निधानपुर दानलेख में दानग्राही ब्राह्मणों के जातीय पद 'स्वामिन्' के बार-बार प्रयोग की सम्भावना में उसे 'स्वा' <sup>३</sup> का संज्ञित रूप देना ही पक्ष्यकर समझा गया ।

एक पूरे शब्द के प्रयोग के पश्चात् आने वाले सम्बन्धित शब्द के केवल एक वर्ण का प्रयोग भी संज्ञोपण का एक प्रकार था, जैसे—

—चैत्रब <sup>४</sup>

—वैशाख शु <sup>५</sup>

—ज्येष्ठ ब <sup>६</sup>

—आवण सु <sup>७</sup>

—राज्य सं ५ पौष दि ३० <sup>८</sup>

—“स्थल द्रो”(स्थल द्रोण के लिए) <sup>९</sup>

अब तक के उदाहरणों में समग्र शब्द के प्रतिनिधिभूत एकवर्ण-परक स्वरूप का ही निदर्शन हुआ है । परन्तु भारतीय अभिलेखों में ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं, जिनमें शब्द विशेष के प्रथम दो वर्ण, शब्द

१. विष्णुषोण का स्थितिव्यवस्था पत्र—ए० ई०, भाग ३०, पृ० १८०  
पं० २३, या २४

२. प्रा०ले०मा०, भाग ३, (का०मा० ८०) लेख सं० १६४, पृ० १७५

३. द्र० —“मनोरथस्वामिन्” के लिए “मनोरथस्वा”—ए० ई०, भाग १६  
पृ० ११८, पं० १२ आदि

४. ई०, रेण्टि०, भाग ६, पृ० १२, पं० १६

५. गुर्जर दद 'प्रशान्तराग' के दो दान लेख — ए०ई०, भाग ५, पृ० ४१,  
प्रथम लेख, पं० २६, द्वितीय लेख पं० २८

६. भाव०, पृ० ५८, द्वि०पत्र, पं० ३१ (देवली पत्र)

७. ए०ई०, भाग ११, पृ० १११, पं० २८

८. तलेश्वर पत्र—ए०ई०, भाग १३, पृ० ११६, पं० २८

९. वैग्राम ताम्र पत्र, सि०ई० भाग १, पृ० ३४४, पं० २८

का प्रतिनिधित्व करते हैं :—

—‘कार्ति’, (कार्तिक के लिए) <sup>१</sup>

—‘फाल्गु’, (फाल्गुन के लिए) <sup>२</sup>

—‘बहु’, (बहुल अर्थात् कृष्णपक्ष के लिए) <sup>३</sup>

—‘संव्व प्रथ’, (संव्वत्सरे प्रथमे के लिए) <sup>४</sup>

तिथि संवत्सरों के अतिरिक्त दो वर्णों वाले संज्ञोप व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं के लिए भी प्रयोग में लाए जाते थे ; जैसे ‘वासु’, वासुदेव , एवं ‘विरू’ ‘विरूपाक्ष’ के लिए । <sup>५</sup>

कामरूप के सम्राट् भास्करवर्मन् के निधानपुर के लुप्त (अधुना प्राप्त) ताम्रपत्रों में इस संज्ञोपणा-प्रवृत्ति के और ही विचित्र उदाहरण प्राप्त होते हैं । इन पत्रों में भूमिदान सम्बन्धी विद्वत्सों के अर्थ में प्रयोग किए जाने वाले कतिपय समस्तपदों का केवल वह ही शब्द प्रतिनिधि बनाया गया है , जिसमें अर्थव्यक्ति की सर्वाधिक नामता हो, जैसे एकांश के लिए केवल ‘अंश’ । <sup>६</sup> ‘गोत्रसहिताध्यर्द्धांश’ सरीखे दीर्घसमास का ‘गोत्रांश’ <sup>७</sup> ही संज्ञोप मान लिया गया । इन नये संज्ञोपणा प्रयोगों से अनप्यस्त पाठक भ्रम में पड़ सकते हैं, — निधानपुर शासन का लेखक इस तथ्य के प्रति सजग था । इसीलिए उसने अपेक्षाकृत प्रारम्भिक पंक्तियों में इनके असंज्ञिप्त रूप ही लिखे हैं । <sup>८</sup>

१. समाचार देव का छुछाहाती आज्ञा पत्र, ए० इ०, भाग १८, पृ० ७७ , पंक्ति २३

२. भुलुण्ड का शासन पत्र--ए० इ०, भाग १५, पृ० २६१, पं० ८

३. काटपुर में प्राप्त धरसेन (द्वि०) का दानलेख-भाव०, पृ० ३७ , द्वि० पत्र, पं० १७

४. भोज पृथ्वी-मल्ल वर्मन् का शासनपत्र, ए० इ०, भाग ३३, पृ० ६३, पंक्ति ६

५. ५०— वाकाटक एण्ड गुप्ता एज, पृ० १३

६. ए० इ०, भाग १६, पृ० ११८, पं० १३

७. वही, पृ० ११८, पं० १५- १६

८. उदा०—‘वेदघोष स्वा एकांश’ —वही, पृ० ११८, पं० १३ तथा

‘गोत्रसहिताध्यर्द्धांश’ —वही, पृ० ११८, पं० १४

तत्त्वतः देखा जाय तो मांगलिक शब्दों के संकेत भी संक्षेप ही माने जायेंगे । संक्षेपों में शब्दों से होने वाले अक्षरविशेषों का प्रयोग होता है, जबकि संकेत वर्णमाला के अक्षर नहीं होते । उनकी आकृति भिन्न होती है । वे चित्रविशेष हैं, जो किसी शब्द के प्रतिनिधि मान लिए गए हैं । यह असामान्य आकृति, दीर्घ-परम्परा से मान्यताप्राप्त होती है। वर्णमाला के अक्षरों की भाँति इनका सामान्य प्रयोग वर्जित है । भारतीय अभिलेखों में सर्वाधिक प्रयुक्त संकेत हैं, सिद्धं<sup>१</sup> एवं ओम्<sup>२</sup> । इनका प्रयोग प्रायः अभिलेख के प्रारम्भ में ही होता है । इसी प्रकार एक संकेत स्वस्तिक 卐 है<sup>३</sup>, जिसकी विशेष आकृति ही शब्द का प्रतिनिधि है ।

- 
१. उदा०-सैन्यभीत माधववर्मन्(द्वि०) का पुरुषोत्तमपुर शासन-पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० २६६, पं० १, द्रोणसिंह का भमोड मोहोत ताम्रपत्र, सि०ई०, भाग १, पृ० ४०३, पं० १, माधव का पेनुकोण्ड ताम्रपत्र, सि०ई०, भाग १, पृ० ४५६, पं० १
  २. भेत्ति का धुलेव शासन, ए०ई०, भाग ३०, पृ० ४, पं० १, इन्द्रवर्मन् का अन्धवरम् पत्र, ए०ई०, भाग ३०, पृ० ४१, पं० १, शीलादित्य(तृ०) का जेसर शासन पत्र, ए०ई०, भाग २२, पृ० ११५, पं० १ इत्यादि
  ३. इ०- 卐 शकनृपतः -वीर पाण्ड्य का (कार्तल स्थित) ब्रह्मदेवस्तम्भ, ए०ई०, भाग ७, पृ० १११

## सहायक ग्रन्थ-सूची

( जर्नल, कैंटलॉग, सूत्रियाँ तथा पुस्तकें )

अभिलेख सम्बन्धी जर्नल तथा ग्रंथ

| क्रमसंख्या | संक्षेप                 | ग्रंथ तथा विवरण   |
|------------|-------------------------|---|
| १.         | आ०रि०वे०ई०              | आर्कैलॉजिकल रिपोर्ट ऑब वेस्टर्न इण्डिया   |
| २.         | आ०स०ई० (एनु०रि०)        | आर्कैलॉजिकल सर्वे ऑब इण्डिया (एनुवल रिपोर्ट )   |
| ३.         | आ०स०रि०                 | आर्कैलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट   |
| ४.         | इ०अ०गु०कि०              | इन्सक्रिप्शन ऑब द श्रीं गुप्त किंग्ज एण्ड दियर सक्सेसर्स, सम्पा०—गंगानाथ फा, प्रका०—वेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद १९१४ |
| ५.         | इ०के०टे०वे०ई०           | इन्सक्रिप्शन्स फ्रॉम द केव टैम्पल्स ऑब वेस्टर्न इण्डिया, संपा०—वर्गस तथा इन्द्रजी, १८८१                             |
| ६.         | इ०रे०टि०                | इंडियन रेण्टज्वेरी (भागों में)  |
| ७.         | ए०ई०                    | एपिग्राफिया इंडिका (भागों में)  |
| ८.         | ए०क०टि०                 | एपिग्राफिया कर्णाटिका (भागों में)<br>(मैसूर आर्कैलॉजिकल सीरिज)  |
| ९.         | ए०श्य०इ०टि० (आ०स०ई०)    | ए०श्य०इ०टि० इण्डिया (१९५३) ( आर्कैलॉजिकल सर्वे ऑब इण्डिया नम्बर ९)  |
| १०.        | क०ले०क०ऑ०स्टो०नितोर डि० | ए कलेक्शन ऑब द इन्सक्रिप्शन्स आन कॉपर प्लेट्स एण्ड स्टोन्स इन द नितोर डिस्ट्रिक्ट, मद्रास १९०५                      |
| ११.        | का०ई०ई० (भाग १)         | कॉपेस इन्सक्रिप्शनम इंडिकैरम भाग १ (हुल्श)  |
| १२.        | .. (भाग २)              | .. भाग २ ( स्टेन कोनो)  |



| क्रमसंख्या | संक्षेप                 | ग्रंथ तथा विवरण  |
|------------|-------------------------|--|
| २६.        | न्यू०इ०रेण्ट०           | न्यू इंडियन रेण्टक्वैरी  |
| ३०.        | प्रा०ले०मा०(का०मा०)     | प्राचीन लेख माला (काव्यमाला सीरिज)<br>निर्णाय०, बम्बई  |
| ३१.        | प्रोसी०ए०सी०ब०          | प्रोसीडिंग्स एशियाटिक सोसाइटी बंगाल  |
| ३२.        | भाव०                    | भावनगर= कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड<br>संस्कृत इन्सक्रिप्शन्स(भावनगर आर्कैला-<br>जिकल विभाग का)                |
| ३३.        | महाराष्ट्रा०प्रा०ता०शि० | महाराष्ट्रांतील कांही प्राचीन ताम्रपत्र<br>शिखिल प्रका० भारत इतिहास संशोधक<br>मण्डल, पुना ।                |
| ३४.        | सा०इ०इ०                 | साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स (भागों में)   |
| ३५.        | सि०इ०                   | सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, भाग १, सम्पा०<br>डी०सी०सरकार, कलकत्ता विश्वविद्यालय,<br>प्रकाशन १९४२               |
| ३६.        | सि०इ०बिहार              | सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स ऑफ बिहार,<br>सम्पा०राधाकृष्ण चौधरी, पटना १९५८                                       |
| ३७.        | हि०इ०सा०इ०              | हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शन्स ऑफ साउदर्न<br>इंडिया(१९२३ तक), सम्पा० सेवेल तथा<br>आयंगर, मद्रास विश्वविद्यालय । |
| ३८.        | हि०लि०इ०                | हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्शन्स<br>सम्पा०- डा० राजबली पाण्डेय, बॉ०<br>१९६२                          |

अभिलेख-सूचियाँ (LISTS)

|     |              |  |
|-----|--------------|--|
| ३९. | कीलहॉर्न लि० | कीलहॉर्न लिस्ट, ए०इ०, भाग ५, (परि०)      |
| ४०. | भण्डारकर लि० | भण्डारकरलिस्ट, ए०इ०, भाग १६-२३<br>(परि०) |



| क्रमसंख्या | संक्षेप | ग्रंथ तथा विवरण |
|------------|---------|-----------------|
|------------|---------|-----------------|

- |     |              |                                      |
|-----|--------------|--------------------------------------|
| ४१. | ल्यूडर्स लि० | ल्यूडर्स लिस्ट, २०६०, भाग १०, (परि०) |
| ४२. | हीरालाल सु०  | हीरालाल सूची (मध्यप्रदेश)            |

सिक्कों से सम्बन्धित पुस्तकें

( NUMISMATICS )

- |     |                       |  |
|-----|-----------------------|--|
| ४३. | इ०क्वा०               | इंडियन क्वाइन्स (रैप्सन) १८६७<br>STRASSBURG VERLAG VON<br>KARL J TRUBNER   |
| ४४. | इ०म्यू०के०            | इंडियन म्यूजियम कैटेलाॅग, वी०ए०स्मिथ   |
| ४५. | क्वा०इ०               | (द) क्वाइन्स ऑब इंडिया, सी०जे०ब्राउन   |
| ४६. | क्वा०ए०इ०             | क्वाइन्स ऑब एस्पण्ट इण्डिया,<br>कनिंघम   |
| ४७. | के०इ०क्वा०ब्रि०म्यू०, | ए कैटेलाॅग ऑब इंडियन क्वाइन्स इन<br>ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन, १९३६, जान<br>एल्सन  |
| ४८. | के०इ०क्वा०ब्रि०म्यू०  | ए०कैटेलाॅग ऑब द इंडियन क्वाइन्स<br>इन द ब्रिटिश म्यूजियम, सम्पा०—<br>एडवर्ड जेम्स रैप्सन, प्रका०—ट्रस्टीज<br>ऑब ब्रिटिश म्यूजियम (१९०८)<br>कैटेलाॅग ऑब क्वाइन्स ऑब गुप्ताज<br>एण्ड मौबरीज, (आदि) इन द प्रोविं-<br>सियल म्यूजियम, लखनऊ-इलाहाबाद<br>१९२० |
| ४९. | के०क्वा०गु०मौ०        | कैटेलाॅग ऑब क्वाइन्स इन द पंजाब<br>म्यूजियम (लाहौर) भाग १, आर०बी०<br>क्वाइटेड, १९१४  |
| ५०. | के०क्वा०प०म्यू०       | गुप्तकालीन मुद्राएँ, अनन्त सदाशिव<br>अस्तेकर, प्रका०, बिहार राष्ट्रभाषा  |
| ५१. | गु०मु०                |  |

| क्रमसंख्या | संक्षेप          | ग्रंथ तथा विवरण  |
|------------|------------------|--|
| ५२.        | डि० लि० ई० क्वा० | डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑफ इण्डियन<br>क्वाइन्स   |
| ५३.        | डि० लि० क्वा० ई० | डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑफ क्वाइन्स<br>एण्ड इन्सक्रिप्शन्स, सम्पा०—दयाल,<br>मुक्जी, प्राइस; राजकीय मुद्रणालय,<br>प्रयाग १९३६ |
| ५४.        | न्यू० क्रा०      | न्यूमिस्मेटिक क्रॉनिकल्स, १९१०   |
| ५५.        | भा० सि०          | भारतीय सिक्के, वासुदेव उपाध्याय,<br>प्रका०, भारती भण्डार, प्रयाग<br>(प्रथम संस्करण)                                      |

विदेशी के अभिलेख

|     |                        |  |
|-----|------------------------|--|
| ५६. | इ० क्रा०               | इन्सक्रिप्शन ऑफ काम्बुज, सम्पा०—<br>आर० सी० मजुमदार, प्रका०—एशिया-<br>टिक सोसाइटी, पार्क रोड, कलकत्ता  |
| ५७. | इ० क्रा० (कोइस)        | INSCRIPTIONS DU CAMBODGE<br>by G. Coedès; Pub: Hanoi<br>Imprimerie D'Extreme<br>Orient 1937  |
| ५८. | इ० सं० क्रा०           | INSCRIPTIONS SANSCRITES DU<br>CAMBODGE, by M. A. Barth<br>Pub: Imprimerie Nationale<br>PARIS 1885  |
| ५९. | इ० जा०                 | इण्डिया एण्ड जावा, भाग २, सम्पा०—<br>चटर्जी तथा चक्रवर्ती, प्रका०—प्रवासी<br>प्रेस, कलकत्ता, १९३३, (टि०—इस ग्रंथ<br>के द्वितीय भाग में ही अभिलेख संगृहीत<br>हैं) |
| ६०. | इ० ई० क्रा० सा—इ० ए० = | इंश्युएट इण्डियन कोलोनाइजेशन इन<br>साउथ—ईस्ट एशिया, १०—आर० सी०<br>मजुमदार, प्रका०—ओरियण्टल इन्स्टि-<br>ट्यूट, बम्बई १९६३   |

| क्रमसंख्या | संक्षेप                 | ग्रंथ तथा विवरण  |
|------------|-------------------------|--|
| ६१.        | ग्रे०इ०सी०(बुलेटिन)     | ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी बुलेटिन, कलकत्ता  |
| ६२.        | चम्पा                   | ANCIENT INDIAN COLONIES<br>IN THE FAR EAST VOL-I<br>CHAMPA ; by R.C. Majumdar<br>Pub: Punjab Sanskrit book<br>Depot LAHORE 1927<br>(Greater India Society Publica-<br>tion)<br>इ० चम्पा = ISSS OF CHAMPA |
| ६३.        | ज०ग्रे०इ०सी०            | Journal Greater India<br>Society (CALCUTTA)  |
| ६४.        | ज०लि०आ०रि०ने०ना०इ०      | A Journey of Archaeological<br>research in Nepal and<br>Northern India, by CECIL<br>BENDALL Pub: Cambridge<br>University Press 1886  |
| ६५.        | नेपाल के अभिलेख         | नेपाल के अभिलेख, सम्पा०-भगवानलाल<br>इन्द्रजी, इ०रेण्ट०, भाग ६  |
| ६६.        | प्रा०भा०आ०आ०<br>सम्पा०- | प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन<br>सम्पादक-वासुदेव उपाध्याय, मोतीलाल<br>बनारसीदास, १९६१  |
| ६७.        | बौ०सं०                  | बौद्ध-संस्कृति, १०-राहुल सांकृत्यायन,<br>प्रका०-आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता,<br>१९५२  |
| ६८.        | सुवर्णाद्वीप            | 'सुवर्णाद्वीप', खण्ड १-इंश्युण्ट इण्डियन<br>कॉलोनीज इन द फार ईस्ट, भाग २,<br>सम्पा० आर०सी०, मजुमदार, ढाका, १९३७  |

#### इतिहास

|     |            |  |
|-----|------------|--|
| ६९. | इ०हि०क्वा० | इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली                                      |
| ७०. | -----      | -उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग १,<br>डा० शिवप्रसाद खराल, प्रका०-वीर- |

| क्रमसंख्या | संक्षेप         | ग्रंथ तथा विवरण  |
|------------|-----------------|--|
| ७१.        | इंडियन इण्डिया  | इंडियन इण्डिया, १०-आर०के०, मुम्बई<br>प्रका० इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९५६                                  |
| ७२.        | कॉम्प्रेहेन्सिव | कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया,<br>भाग २, सम्पा० नीलकण्ठ शास्त्री, प्रका०<br>ओरियण्टल लॉन्गमेन्स- १९५७ |
| ७३.        | कैम्ब्रिज       | कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग १  |
| ७४.        | —               | भारत का अन्धकारयुगीन इतिहास<br>१०-के०पी०जायसवाल, काशी नागरी<br>प्रचारिणी सभा, सं० २०१४                     |
| ७५.        | वा०गु०ए०        | वाकाटक एण्ड गुप्त एज, १०-मजूमदार<br>तथा अस्तेकर, प्रका०-मोतीलाल बनारसी-<br>दास, १९५४                       |
| ७६.        | —               | हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, मजूमदार, कलकत्ता,<br>१९३१  |
| ७७.        | हि०सा०इ०        | (ए) हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया—<br>के०ए०नीलकण्ठ शास्त्री, मद्रास (प्र०संस्क०),<br>१९५५                        |

### पुरालिपि

|     |              |   |
|-----|--------------|---|
| ७८. | इ०पे०        | इंडियन पैलियोग्रेफी, १० बह्रत, कलकत्ता,<br>संस्करण  |
| ७९. | इ०पे०        | इंडियन पैलियोग्रेफी, १०-राजवती पाठेय<br>बाँ०, बाराणसी                                     |
| ८०. | इति०सा०इ०पे० | इतिवेण्ट्स ऑफ साउथ इंडियन पैलियो-<br>ग्रेफी-१०-ए०सी०, बर्नेस, द्वि० संस्क०,<br>लन्दन १८७८ |

| क्रमसंख्या | संक्षेप     | ग्रन्थ तथा विवरण   |
|------------|-------------|--|
| ८१.        | प्रा०लि०पा० | प्राचीन लिपिमाला—गौरीशंकर हीरा-<br>चन्द ओझा, द्वि० संस्क०, १९५८,<br>राजपूताना, प्यूजियम, ब्रजमेर |

### वैदिक-साहित्य

|     |        |   |
|-----|--------|---|
| ८२. | अथर्व० | अथर्ववेद  |
| ८३. | ऋ०     | ऋग्वेद  |
| ८४. | तै०सं० | तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेदीय)<br>प्रका०—स्वाध्याय मण्डल पारही (सुरत<br>बम्बई), १९५७ |
| ८५. | साम०   | सामवेद, बरौली, संस्क०   |

### स्मृतिग्रंथ

|     |          |  |
|-----|----------|--|
| ८६. | ना०स्मृ० | नारदस्मृति, प्रका०—एशियाटिक सोसा-<br>इटी, कलकत्ता, सं० १८८५              |
| ८७. | —        | बौधायन स्मृति—स्मृति समुच्चय से,<br>आनन्दाश्रम, संस्कृत ग्रन्थावली, १९०५ |
| ८८. | —        | बृहस्पति स्मृति—स्मृति समुच्चय से  |
| ८९. | —        | मनुस्मृति—चौ० संस्क०, १९५२   |
| ९०. | या०स्मृ० | याज्ञवल्क्य स्मृति—वैकटेश्वर, संस्क०श०सं०.                               |

| क्रमसंख्या | संक्षेप | ग्रन्थ तथा विवरण                          |
|------------|---------|---|
| ६१.        | —       | वसिष्ठ स्मृति—स्मृतिसमुच्चय से            |
| ६२.        | —       | विष्णु स्मृति—वा०संस्क०, १६६२,<br>वाराणसी |
| ६३.        | —       | व्यास स्मृति—स्मृति समुच्चय से            |
| ६४.        | —       | शंख स्मृति—स्मृति समुच्चय से              |

### रामायण-महाभारत

|            |  |
|------------|--|
| ६५. म०भा०  | महाभारत (पुराणोत्तिहास संग्रह, साहित्य<br>अकादमी, दिल्ली)                                |
| ६६. वा०रा० | वाल्मीकि रामायण, वैकुण्ठेश्वर संस्क०,<br>बम्बई, वि०सं० १६६०, तथा मद्रास<br>संस्करण, १६५८ |

### पद्यकाव्य

|             |  |
|-------------|--|
| ६७. क०सं०   | कृतसंहार, कालिदास, प्रका०वा०           |
| ६८. किरात०  | किराताकुनीय, १०-भारवि, वा०,<br>१६६१    |
| ६९. कुमार०  | कुमारसम्भव, १०-कालिदास, वा०,<br>१६६३   |
| १००. गी०गी० | गीतगोविन्द, जयदेव, वा०, वि०सं०<br>२०१८ |

क्रमसंख्या संक्षेप

ग्रन्थ तथा विवरण

|                 |  |
|-----------------|--|
| १०१. नै०        | नैषधीयचरित, श्री हर्ष, चौ०, १६५४   |
| १०२. बुद्ध०     | बुद्धचरित, १०—अश्वघोष, चौ०, १६६६   |
| १०३. भट्टि०     | भट्टिकाव्य, १०—भट्टि, चौ० १६५१   |
| १०४. मेघ०       | मेघदूत, कालिदास, चौ०, १६५३   |
| १०५. रघु०       | रघुवंश, कालिदास, चौ०, १६६१   |
| १०६. विक्रमांक० | विक्रमांकदेवचरित, १०—विल्हण, गवर्न-<br>मेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपॉ०, बम्बई १८७५,<br>तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,<br>संस्क०, १६५८ |
| १०७. शिशु०      | शिशुपालवध, माघ, चौ० १६६६   |
| १०८. सौन्दर०    | सौन्दरानन्द, अश्वघोष, चौ०संस्क०  |

गद्यकाव्य

|              |   |
|--------------|---|
| १०९. काद०    | कादम्बरी १०—बाणभट्ट, प्रका०—<br>पण्डितपुस्तकालय, काशी, १६५६     |
| ११०. दण्ड०   | दण्डकुमारचरित, १०—दण्डी, चौ०, १६५८                              |
| १११. वासव०   | वासवदत्ता, १०—सुबन्धु, चौ० १६५४                                 |
| ११२. शिवराज० | शिवराजविजय, १०—अम्बिकादत्त व्यास<br>व्यास पुस्तकालय, काशी, १६५७ |
| ११३. हर्ष०   | हर्षचरित, १०—बाणभट्ट, चौ०, १६५८                                 |



कृपसंख्या संक्षेप

ग्रन्थ तथा विवरण

११४. पं०त०

पंचतन्त्र, १०-विष्णु शर्मा, सम्पा०-  
जी०वि०भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९१९

११५. हितो०

हितोपदेश, १०-नारायण पण्डित  
निर्णाय०, बम्बई, १९२२

चम्पूकाव्य

११६. आनन्दरंग

आनन्दरंगचम्पू, १०-श्रीनिवास कवि,  
त्रिचनापल्लि, १९४८

११७. चम्पूरामायण

चम्पूरामायण १०-भोजराज, चौ०,  
१९५६

११८. चित्र०

चित्र चम्पू, १०-बाणेश्वर विद्यालंकार,  
वाराणसी, १९४०

११९. जीवन्धर०

जीवन्धरचम्पू, हरिश्चन्द्र भारतीय  
ज्ञानपीठ, काशी, १९५८

१२०. नल०

नलचम्पू, १०-त्रिविक्रमभट्ट सभा (आंशिक)  
प्रका० चौ०, १९३२, साहित्य भण्डार,  
मेरठ, १९६४ (आंशिक)

१२१. नृसिंह

नृसिंह चम्पू, १०-देवज्ञ सूर्य, चौ०, १९५६

१२२. मन्दारमरन्द०

मन्दारमरन्द चम्पू, १०-कृष्ण कवि,  
निर्णाय, १९२४, द्वि० संस्क०

१२३. यज्ञ०

यज्ञस्तोत्र चम्पू, १०-सोमदेव सूरि,  
निर्णाय०, १९०३

| क्रमसंख्या | संक्षेप        | ग्रन्थ तथा विवरण  |
|------------|----------------|---|
| १२४.       | रामानुज        | रामानुजचम्पू-१०-रामानुजाचार्य,<br>मद्रास राज्य क्रौरियण्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स<br>सीरीज, मद्रास, १९४२ |
| १२५.       | रामायणाचम्पू   | रामायणाचम्पू, १०-रामानुजाचार्य  |
| १२६.       | विश्वगुणादर्श० | विश्वगुणादर्शचम्पू, १०-वेंकटाध्वरि,<br>बम्बई, १८९६  |

### नाटक

|      |          |  |
|------|----------|--|
| १२७. | अनर्घ०   | अनर्घराघव, १०-सुरारि, चौ०, १९६०  |
| १२८. | अभिषेक०  | अभिषेक नाटक, १०-भास, चौ०,<br>१९६२  |
| १२९. | अभि०शा०  | अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, १०-कालिदास,<br>सम्पा० -रम०आर०, काले, बम्बई,<br>१९२० |
| १३०. | अवि०     | अविमारक, भास, चौ०, १९६२  |
| १३१. | उत्तर०   | उत्तररामचरित, भवभूति, चौ०, वि०सं०,<br>२०१६                               |
| १३२. | कर्ण०    | कर्णभार, भास, चौ० संस्क०,  |
| १३३. | नागानन्द | नागानन्द, १०-सम्राट् हर्ष, चौ०<br>संस्क०, १९३१                           |
| १३४. | प्रतिमा० | प्रतिमा नाटक, भास, चौ० तृ० संस्क०<br>१९५६                                |

| क्रमसंख्या | संक्षेप    | ग्रन्थ तथा विवरण  |
|------------|------------|---|
| १३५.       | प्रतिज्ञा० | प्रतिज्ञायोगन्धरायण, भास, चौ० ,<br>संस्करण                                      |
| १३६.       | बालच०      | बालचरित, भास, चौ०, १६६१   |
| १३७.       | माल०       | मालविकाग्निमित्र, कालिदास, चौ०,<br>१६५१, तथा बम्बई संस्क०                       |
| १३८.       | मुद्रा०    | मुद्राराक्षस, र०--विशालदत्त, <sup>सम्पा०</sup> डा० सत्य-<br>व्रत सिंह, चौ० १६५४ |
| १३९.       | मृच्छ०     | मृच्छकटिक, र०-शुक्र, चौ०, वि०सं०,<br>२०११                                       |
| १४०.       | रत्ना०     | रत्नावली, र०-हर्ष, चौ० १६५३   |
| १४१.       | विक्रमो०   | विक्रमोर्वशीय, कालिदास , चौ० ,<br>१६५३  |
| १४२.       | वैष्ण०     | वैष्णसंहार, भट्टनारायण, निणयि०,<br>१६२५   |
| १४३.       | स्वप्न०    | स्वप्नवासवदत्त, र०-भास, चौ०,<br>वि०सं०, २००२                                    |
| १४४.       | हनु०       | हनुमन्नाटक(हनुमान्) - वामोदर मित्र,<br>वैकटेश्वर, बम्बई, १६५८                   |

काव्यशास्त्र नाट्य शास्त्र - पिंगल  
तथा काव्यशास्त्र - इतिहास

|      |         |   |
|------|---------|---|
| १४५. | का०प्र० | काव्यप्रकाश, मम्मट, सम्पा०, डा० सत्य-<br>व्रत सिंह, चौ०, १६६० |
|------|---------|---|

| क्रमसंख्या | संक्षेप     | ग्रन्थ तथा विवरण   |
|------------|-------------|--|
| १४७.       | काव्या०     | काव्यादर्श, दण्डी, चौ०, १९५८   |
| १४८.       | —           | काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, निर्णयि, १९०९   |
| १४९.       | काव्यालंकार | काव्यालंकार, भामह, बिहार राष्ट्र-<br>भाषा परिषद्, पटना, १९६२                     |
| १५०.       | काव्यालंकार | काव्यालंकार, लुट्ट, निर्णयि संस्क०,<br>१९२८                                      |
| १५१.       | का०सु०वृ०   | काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पुना, १९२७   |
| १५२.       | चन्द्रा०    | चन्द्रालोक, १०—जयदेव, चौ०, १९६०  |
| १५३.       | द०रू०       | दशरूपक, धनंजय, चौ० १९५५  |
| १५४.       | ध्व०        | ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन, चौ० संस्क०   |
| १५५.       | ना०शा०      | नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, गायकवाड़<br>क्रोरियण्टस सीरिज, बड़ौदा, १९५४               |
| १५६.       | —           | रसगंगाधर, पं० <sup>राज</sup> जगन्नाथ, बनारस,<br>संस्कृत सीरिज, १९०३              |
| १५७.       | र० त०       | रसतरंगिणी, भानुदत्त (मित्र), वैकटे-<br>श्वर, बम्बई, १९५८                         |
| १५८.       | र० प्र०     | रसप्रदीप, बनारस, १९२५  |
| १५९.       | —           | वक्रोक्तिजीवित, कुन्तक, आत्माराम<br>एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५                      |
| १६०.       | वृ० र०      | वृत्तरत्नाकर, १०—भट्टकंदार, प्रका०—<br>मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर,<br>वि०सं०, २००१ |
| १६१.       | सर० कण्ठा०  | सरस्वतीकण्ठाभरण, भोजराज, निर्णयि<br>बम्बई, १९३४                                  |

| क्रमसंख्या | संक्षेप    | ग्रन्थ तथा विवरण  |
|------------|------------|---|
| १६२        | सा० द०     | साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, चौ०, वारा-<br>णसी ।   |
| १६३        | सुव० ति०   | सुवृत्ततिलक, चोमेन्द्र (ग्रन्थरत्नत्रयम्), चौ०,<br>१९३३                                   |
| १६४        | हि०सं० पो० | हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स—एस०के०डे,<br>प्रका०, कै०एल०, मुत्तोपाध्याय, कलकत्ता,<br>१९६० |

### कोश तथा डिक्शनरीज

|     |              |   |
|-----|--------------|---|
| १६५ | अमर०         | अमरकोश, १०—अमरसिंह, चौ०, १९५०,<br>द्वि० संस्क०  |
| १६६ | मेदिनी०      | मेदिनीकोश, १०—मेदिनी, चौ०, १९४०   |
| १६७ | —            | हिन्दी साहित्यकोश, प्रका०—ज्ञानमण्डल,<br>वाराणसी, सं०, २०१५                                       |
| १६८ | —            | पारिभाषिक शब्द संग्रह, केन्द्रीय हिन्दी<br>निदेशालय, दिल्ली, १९६२                                 |
| १६९ | सं०इ० डिक्श० | संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, सम्पा० बामन<br>शिवराम आप्टे, प्रका० मोतीलाल बनारसी<br>दास, दिल्ली, १९६३ |
| १७० | —(WEBSTER'S) | NEW WORLD DICTIONARY OF<br>THE AMERICAN LANGUAGE<br>(College Ed.) Cleveland & New York<br>1960    |
| १७१ | —            | THE UNIVERSAL DICTIONARY OF<br>THE ENGLISH LANGUAGE by<br>HENRY CECIL WYLD LONDON<br>1960         |

क्रमसंख्या संक्षेप

ग्रन्थ तथा विवरण

संस्कृत साहित्येतिहास

१७२. क्लै०सं०लिट०

क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, १०-२०वी०  
कीथ, एसोसिएशन प्रेस, कलकत्ता, १९२७  
(द्वितीय संस्करण)

१७३. सं०सा०रू०

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा-पाण्डेय,  
व्यास तथा हरिदत्त शास्त्री, साहित्य-  
निकेतन, कानपुर, १९६४ (सप्तम संस्करण)

१७४. हि०सं०लिट०

हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर, १०-  
मेक्डॉनल, प्रका०, मोतीलाल बनारसी-  
दास, १९६२

१७५.

विविध

१७५. अ०पु०

अग्निपुराण, कलकत्ता, सं० १८७६

१७६. अर्थ०

अर्थशास्त्र, १०- कोटित्य, बी०, १९६२

१७७. अष्टा०

अष्टाध्यायी, पाणिनि

१७८. उ० या० द०

उत्तराखण्ड-यात्रा-वर्णन, १०- डा० शि०  
प्र० डवरास, विशाल कार्यालय, नारा-  
यण कोटि चमौली, (प्र० संस्करण)

१७९. कविकल्पलता

कविकल्पलता, देवेश्वर, प्रका०- बंगाल  
एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, श०सं०,  
१८३४

१८०. गढ़वाल

गढ़वाल, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद,  
लॉ वर्ल्स प्रेस, १९५३

| क्रमसंख्या | संक्षेप                 | ग्रन्थ तथा विवरण  |
|------------|-------------------------|---|
| १८१.       | चिन्तामणि               | चिन्तामणि, भाग २, १०-रामचन्द्रशुक्ल<br>पं० संस्क०, वि०सं०, २०१६, सरस्वती,<br>मन्दिर, काशी ।                           |
| १८२.       | डिप्लो०सं०का०प्ले०ग्रा० | डिप्लोमेटिक आँव संस्कृत कॉपर प्लेट<br>ग्राफ्ट्स, १०-बहादुरचन्द्र हावड़ा, प्रका०-<br>नेशनल आर्काइव्स आँव इण्डिया, १९६१ |
| १८३.       | —                       | द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रका०, नागरी-<br>प्रचारिणी सभा, काशी, वि०सं० १९६०  |
| १८४.       | —                       | पाणिनिकालीन भारतवर्ष, १०-<br>वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र० संस्क०,<br>वि०सं० २०१२, जॉ०                                     |
| १८५.       | —                       | ललितविस्तर (बौद्ध ग्रंथ) मिथिला संस्क०  |
| १८६.       | —                       | शार्ङ्गधरपद्धति, भाग १, पिटर्सन, संस्क०<br>बम्बई, गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल बुकडिपॉ, १८८८                                   |
| १८७.       | शु० नी०                 | शुक्लनीति, वैकटेश्वर, बम्बई, संस्क०,<br>वि०सं० १९५२   |
| १८८.       | —                       | सुभाषितावली, पिटर्सन संस्क०   |
| १८९.       | —                       | भोज प्रबन्ध, १०-बल्लाल, मोतीलाल<br>बनारसीदास, १९५५  |